सातवें संस्करण की भूमिका

पहले छः संस्करणों का विद्यार्थी वर्ग, प्राध्यापक बन्धुओं तथा विद्वान पाठकों ने जो भव्य स्वागत किया उसके लिये हार्दिक आभार व्यक्त करता हूं तथा पुस्तक की इसी लोकप्रियता से प्रेरित होकर नये पाठ्यक्रम के अनुसार यह पूर्णतः संशोधित एवं परिमार्जित सातवां संस्करण आपके कर कमलों में प्रस्तुत कर रहा हूं।

इस के मुख्य नवीन आकर्षण

(1) नये पाठ्यक्रम के अनुसार पुस्तक को पुनः व्यवस्थित किया गया है।

(2) पुस्तक में राजस्थान यूनिवर्सिटी में अब तक पूछे गये प्रश्नों को सब तर संकेत दिया गया है।

(3) उत्पादन सम्भावना वक्र, उत्पादन प्रक्रिया में उद्यमी की उपयोगिता, अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त का महत्व, संयुक्त क्षेत्र, मजदूर क्षेत्र, आय के चक्राकार प्रवाह को प्रभावित करने वाले तत्व आदि अनेक प्रकार की नवीन पाठ्य-सामग्री जोड़ी गई है।

(4) सम्भावित परीक्षोपयोगी प्रश्नों की समग्र उत्तर सामग्री का समावेश

(5) स्वय-पाठी छात्रों (Non-collegiate) के लिये तो यह पुस्तक वरदान सिद्ध होगी क्योंकि पाठ्य-क्रम की विषय सामग्री को अत्यन्त सरल एवं शीघ्र ग्राह्य बनाया गया है।

(6) विषय सामग्री का भारत के संदर्भ में विश्लेषण है।

(7) पर्याप्त रेखाचित्रों का समावेश तथा नवीनतम आंकड़े।

आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि यह नवीनतम संस्करण विद्यार्थी वर्ग को अधिक लाभकारी सिद्ध होगा तथा प्राध्यापक बन्धुओं को कृति बहुत पसन्द आयेगी।

मैं पुनः अपने सब प्राध्यापक बन्धुओं, सह-धर्मियों तथा विज्ञ-पाठकों का आभार प्रकट करता हूं, जिन्होंने पुस्तक को लोकप्रिय बनाने तथा अमूल्य सुझाव देकर कृति को अधिक उपयोगी बनाने में सहयोग दिया है। भविष्य में भी सुझावों का सादर स्वागत है।

मैं अपने प्रकाशक श्री आनन्द मित्तल तथा मुद्रक का भी अत्यन्त आभारी हूं जिनके अथक प्रयासों से यह कृति यथाशीघ्र अपने नये परिवेश में आपके कर कमलों तक पहुंच पाई है।

"गुंजन"
A, प्रतापनगर, चित्तौड़गढ़ (राज.)

बी एल. ओझा

SYLLABUS OF

RAJASTHAN UNIVERSITY

FIRST YEAR T.D.C. ARTS EXAMINATION

ECONOMIC ORGANISATION

What is an Economy ? The nature of the economic problem. Problem of choice and allocation in the sphere of production and consumption. The role of the price system in this allocation.

The productive process, Production inputs : Land, labour and organisation. Supply of labour and the population problem. The concepts of optimum population and over population. Meaning of capital formation and factors influencing the supply of capital.

Circular flow of income. National income concepts. Relation between saving, investment and income. Inequality—its causes Factors in economy development of developing countries and natural resources, labour supply, technology, capital organisation and Government policy. The role of the Government in economic development.

Creation of money credit in a modern economy. Main features of the Monetary system : Institutions creating money and credit. Central Bank and Commercial banks. Their main functions and mutual relation (only elementary treatment). Supply of money and the price-level.

Forms of Business Organisation, Modern Corporation, Public Enterprises, Co-operative Enterprises. Main characteristics of the capitalist and pure communist system. Dominantly capitalist mixed economies and planned socialist mixed economies.

विषय-सूची

1

अर्थव्यवस्था, उसकी प्रकृति एवं केन्द्रीय आर्थिक समस्यायें या कार्य

(Economy, Its Nature & Central Economic Problems or Functions)

अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव व्यवहार का अध्ययन वैकल्पिक प्रयोग वाले सीमित साधनों का साध्यों के सम्बन्ध के रूप में करता है। आवश्यकतायें अनन्त हैं पर साधन सीमित हैं। अतः मानवीय आवश्यकताओं की अधिकतम सन्तुष्टि के लिए चयन और निर्णय की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जिस संस्थागत संरचना के अन्तर्गत मानव के उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं राजस्व सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओं का सम्पादन होता है, उस संस्थागत संरचना को ही अर्थव्यवस्था (Economy) या आर्थिक प्रणाली (Economic System) अथवा आर्थिक संगठन (Economic Organisation) की पद्धति कहते हैं। इसके अन्तर्गत वैकल्पिक प्रयोग वाले सीमित साधनों से अनन्त आवश्यकताओं व साध्यों की पूर्ति के द्वारा अधिकतम सन्तुष्टि के लिए चयन करने (Choice Making) तथा निर्णय लेने (Decision-Taking) की जिन-जिन समस्याओं का समाधान करना पड़ता है उन्हें अर्थव्यवस्था की मुख्य समस्यायें (Central Problems of Economy) या आर्थिक प्रणाली की केन्द्रीय समस्यायें (Central Problems of Economic System) कहते हैं। इन्हें आर्थिक प्रणाली या अर्थव्यवस्था के मुख्य कार्य (Main Functions of an Economy or Economic System) भी कहते हैं। अध्ययन के लिये हम अर्थव्यवस्था का अर्थ, प्रकृति, उसकी कार्यविधि तथा समस्याओं का अलग अलग शीर्षकों में अध्ययन करेंगे।

अर्थव्यवस्था या आर्थिक प्रणाली का अर्थ (Meaning of an Economy or Economic System)—अनेक विद्वानों ने अर्थव्यवस्था को परिभाषित करने का प्रयास किया है। प्रो० बेन्थम के अनुसार "अर्थव्यवस्था उत्पादन के सभी साधनों पर पारस्परिक रूप से आधारित नियन्त्रणों का समूह है।" दूसरे शब्दों में आर्थिक प्रणाली का अभिप्राय उस वैधानिक तथा संस्थागत ढाँचे (Legal & Institutional Framework) से है जिसके अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं का संचालन होता है। इसमें

स्पष्ट है कि जिस परम्परागत सरचना मे मानव की आर्थिक क्रियाओं—उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण एव राजस्व का सम्पादन होता है, वही अर्थव्यवस्था (Economy) या आर्थिक प्रणाली (Economic Syst m) कहलाती है।

अत्यन्त सरल शब्दो मे अर्थव्यवस्था (Economy) या आर्थिक प्रणाली (Economic Sy t m से हमारा अभिप्राय उस पद्धति से है जिसके आधार पर किसी क्षेत्र विशेष के रहने वाले लोग वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन की व्यवस्था के लिये पारस्परिक सहयोग देते है ताकि वे अपनी आवश्यकताओ की सन्तुष्टि कर सकें। प्रो ए जे ब्राउन (Brown) के शब्दो मे **"अर्थव्यवस्था शब्द का प्रयोग अधिकतर ऐसी प्रणाली के लिये किया जाता है जिसके द्वारा लोगों का जीवन निर्वाह होता है।** (An Economy is a system by which people get a living) जैसे रूसी अर्थव्यवस्था, अमरीकी अर्थव्यवस्था, भारतीय अर्थव्यवस्था आदि। जब हम भारतीय अर्थव्यवस्था की बात करते हैं तो भारतीय अर्थव्यवस्था का अभिप्राय उस व्यवस्था से है जिसमे भारतीय जनता द्वारा अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए वस्तुओ या सेवाओ के उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओ का सम्पादन किया जाता है।

डार्फमैन (Dorfman) के शब्दो मे **"अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उन सब सामाजिक नियमों, परम्पराओं तथा संस्थाओं का समावेश होता है जो समाज के सदस्यों मे विनिमय साध्य वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, व्यापार तथा उपयोग के लिये सहयोग पर नियन्त्रण रखते हैं।"** स्पष्ट है इस परिभाषा मे डार्फमैन समाज मे आर्थिक वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन, विनिमय एव उपभोग के लिए सहयोग पर सामाजिक नियमो, परम्पराओ और सस्थाओ के नियन्त्रण को महत्व देता है।

प्रो स्टिगलर (Stigler) के अनुसार **"आर्थिक प्रणाली उन आर्थिक सस्थाओं की कार्यविधि का अध्ययन है जो सामाजिक अथवा निजी संगठन के रूप मे आर्थिक वस्तुओ एव सेवाओ के उत्पादन एव वितरण का प्रबन्ध एव नियन्त्रण करते हैं।"** इस प्रकार का विचार प्रो॰ बोल्डिंग (Boulding) ने भी व्यक्त किया है। उनके शब्दो मे *"जब किसी सगठन का प्रमुख उद्देश्य वस्तुओ का उत्पादन, विनिमय तथा उपभोग होना है उसे हम आर्थिक सगठन कहते हैं।"*

प्रो हिक्स (J P Hicks) ने अर्थव्यवस्था की परिभाषा उपभोक्ताओं की आवश्यकताओ की तुष्टि के लिय वस्तुओ और सेवाओ के उत्पादन के लिये उत्पादकों एव श्रमिकों म सहयोग के परिप्रेक्ष्य मे दी है। हिक्स के अनुसार **"उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं की सन्तुष्टी के लिए वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन मे उत्पादकों एव श्रमिकों के सहयोग को आर्थिक प्रणाली अथवा अर्थव्यवस्था कहा जा सकता है।"** स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था म उपभोक्ताओ की आवश्यकताओं की तुष्टि हेतु अनेक उत्पादक एव श्रमिक उत्पादन म सहयोग देते हैं।

अर्थव्यवस्था, उसकी प्रकृति एवं केन्द्रीय आर्थिक समस्याएँ या कार्य

आजकल लगभग सभी राष्ट्रों में मानवीय आर्थिक क्रियाओं पर राज्य का न्यूनाधिक हस्तक्षेप अवश्य दृष्टिगोचर होता है। इस कारण अर्थव्यवस्था या आर्थिक प्रणाली का स्वरूप बहुत कुछ राज्य के हस्तक्षेप की मात्रा, प्रकृति तथा सीमा पर तो निर्भर करता ही है पर साथ-साथ आर्थिक प्रणाली के स्वरूप पर सामाजिक परिस्थितियों एवं परम्पराओं का भी प्रभाव पड़ता है। इन दोनों तत्वों के सन्दर्भ में अर्थव्यवस्था की उपयुक्त परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—"अर्थव्यवस्था या आर्थिक प्रणाली संस्थाओं का वह ढांचा है जिसके द्वारा उत्पादन के साधनों तथा उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के उपयोग पर सामाजिक नियन्त्रण किया जाता है।" (Economy or Economic System is the framework of institutions by which the use of the means of production and of their products is socially controlled)। अर्थव्यवस्था की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर उसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ
(Salient Features of an Economy)

1. व्यक्ति समूह ही अर्थव्यवस्था का आधार है—क्योंकि अर्थव्यवस्था की धारणा किसी क्षेत्र विशेष के लोगों के जीवन-निर्वाह पद्धति से सम्बद्ध है। अर्थव्यवस्था का अध्ययन किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले सब लोगों का अध्ययन है जो आजीविका कमाने के लिये उत्पादन प्रक्रिया में भाग लेते हैं तथा अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था का अभिप्राय भारत के रहने वाले सब लोगों की जीवन-निर्वाह सम्बन्धी क्रियाओं व उनके पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करने से है। स्पष्ट है कि **अर्थव्यवस्था मानव निर्मित होती है और मानवीय आर्थिक क्रियाएँ-उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण एवं राजस्व उसके अंग हैं।**

2. अर्थव्यवस्था की अनिवार्य क्रियाएँ (Vital Processes)—अर्थव्यवस्था की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें व्यक्ति-समूह के जीवन निर्वाह से सम्बद्ध तीन अनिवार्य प्रक्रियाएँ निरन्तर चलती हैं। (i) उत्पादन (Production) के अन्तर्गत वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन का समावेश होता है जो आवश्यकता, कुशलता, उत्पादन की तकनीक व आर्थिक साधनों की मात्रा पर निर्भर है। (ii) उपभोग (Consumption) अर्थव्यवस्था की दूसरी महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति समूह की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि वस्तुओं व सेवाओं के रूप में की जाती है। (iii) विनियोग (Investment) अर्थव्यवस्था की तीसरी अनिवार्य प्रक्रिया है जिसमें उपभोग पर उत्पादन आधिक्य को स्थिर अथवा इन्वेन्टरी निवेश में लगाकर देश में उत्पादन, आय एवं रोजगार को ऊँचे स्तर पर बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था में ये तीनों अनिवार्य प्रक्रियाएँ निरन्तर चलती हैं।

3 अर्थव्यवस्था का स्वरूप, उत्पादन व्यवस्था पद्धति एवं संरचना पर निर्भर करता है, जैसे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर निजी व्यक्तियों का स्वामित्व एवं अधिकार होता है और वे निजी लाभ के लिए उन साधनों का प्रयोग करते हैं। उत्पादन का निर्देशन एवं नियन्त्रण कीमत प्रणाली द्वारा होता है जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन सम्बन्धी सभी निर्णय केन्द्रीय प्राधिकार (Central Authority) द्वारा किये जाते हैं राज्य ही एकमात्र नियोजक होता है। राज्य ही संसाधनों का आवंटन उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोगों में करता है।

4 अर्थव्यवस्था का चौथा महत्वपूर्ण अंग विनिमय-प्रक्रिया है जिससे उपभोग सम्भव होता है। समस्त उत्पादन का अन्तिम उद्देश्य उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की तुष्टि करना है। सभी अर्थव्यवस्थाओं में चाहे उनका स्वरूप कुछ भी क्यों न हो उपभोक्ताओं को चुनाव की स्वतन्त्रता देने के लिये विनिमय-प्रक्रिया की व्यवस्था करनी पड़ती है जैसे परचून दुकानें, उपभोक्ता भंडार आदि, ताकि उत्पादित वस्तुयें एवं सेवायें अन्तिम उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराई जा सकें।

5 अर्थव्यवस्था में उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण आदि क्रियाओं के संचालन में मौद्रिक प्रणाली (Monetary System) महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह आर्थिक प्रणाली के संचालन का केन्द्र बिन्दु है। मुद्रा व्यवस्था के अभाव में आधुनिक बड़े पैमाने की उत्पत्ति सम्भव नहीं हो पाती।

6. अर्थव्यवस्था की क्रियाओं में उतार चढ़ाव आते रहते हैं किन्तु प्रत्येक अर्थव्यवस्था का प्रयास प्राय. आर्थिक विकास एवं स्थायित्व का होता है। अर्थव्यवस्था में आर्थिक मन्दी, आर्थिक तेजी और आर्थिक स्थिरता का क्रम निरन्तर चलता रहता है और इसी उतार-चढ़ाव की दशाओं को सामाजिक कल्याण के लिए नियन्त्रित किया जाता है।

7 अर्थव्यवस्था का विकास देश में उपलब्ध प्राकृतिक साधनों मानवीय साधनों, उनके प्रयोग एवं विकास, उचित सरकारी नीतियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर निर्भर है। यही कारण है कि कुछ अर्थव्यवस्थाएं विकसित, कुछ पिछड़ी और कुछ अर्द्ध विकसित हैं। किन्तु सब में विकास की अन्तर-प्रक्रिया विद्यमान है।

8 सरकार की भूमिका, हस्तक्षेप और नियन्त्रण निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं और अब पूँजीवादी देश भी अपनी पुरानी "स्वतन्त्रता की नीति" में विश्वास खोकर राज्य की बढ़ती भूमिका का समर्थन करते हैं।

आर्थिक संगठन, अर्थव्यवस्था या आर्थिक प्रणाली के स्वरूप
(Forms of Economy or Economic Systems)

मानव की आर्थिक क्रियाओं पर राज्य के हस्तक्षेप की मात्रा, प्रकृति तथा सीमा, सामाजिक नियमों, आर्थिक परम्पराओं तथा आर्थिक संगठन की संरचना की भिन्नता के कारण सभ्यता के विकास के प्रारम्भ से अब तक अर्थव्यवस्था के अनेक स्वरूप दृष्टिगोचर हुए हैं जिनमें प्रमुख हैं (i) पूँजीवादी या स्वतन्त्र उद्यम प्रणाली

अर्थव्यवस्था (Capitalism or Free Economy, (ii) समाजवादी या नियन्त्रित अर्थव्यवस्था (Socialism or Controlled Economy) (iii) मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy), (iv) नियोजित अर्थव्यवस्था (Planned Economy) (v) साम्यवादी अर्थव्यवस्था (Communist Economy) है। यो तो मोटे रूप मे प्रो लियाटिव (A Leontiev) के अनुसार "दो दुनिया—पूँजीवादी दुनिया और समाजवादी दुनिया—हो राजनैतिक अर्थशास्त्र के केन्द्र बिन्दु हैं।' मिश्रित या नियोजित अर्थव्यवस्थायें तो पूँजीवाद और समाजवाद के मैत्रीपूर्ण-संयोग मात्र है, जबकि साम्यवादी अर्थव्यवस्था समाजवाद का अति उग्र रूप है। इन विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाओ का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

1. पूँजीवादी अर्थव्यवस्था (Capitalism)—यह वह अर्थव्यवस्था है जिसमे उत्पत्ति तथा वितरण के प्रमुख साधनो पर निजी स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है और ये निजी व्यक्ति या सस्थायें अपने अधिकतम निजी लाभ के लिए पूर्ण प्रतियोगिता के आधार पर साधनो का प्रयोग करते हैं। इसकी विशेषतायें हैं (i) उत्पत्ति तथा वितरण के साधनो पर निजी स्वामित्व, (ii) सम्पत्ति का उत्तराधिकार नियमो से हस्तान्तरण, (iii) स्वतन्त्र प्रतियोगिता, (iv) निजी लाभ की प्रवृत्ति, (v) समाज मे धन का असमान वितरण, (vi) अर्थव्यवस्था का संचालन स्वतन्त्र मूल्य यन्त्र (Free Price Mechanism) से होता है, (vii) वर्ग-संघर्ष की प्रधानता होती है, (viii) निजी लाभ के लिए सामाजिक हितो की भी उपेक्षा होती है। (विस्तृत विवरण अध्याय 24 मे पढ़िये।)

2. समाजवादी अर्थव्यवस्था (Socialistic Economy)—इसमे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के बिलकुल विपरीत तत्त्व हैं। इसके अन्तर्गत उत्पत्ति तथा वितरण के प्रमुख साधनो पर समाज अथवा राज्य का सामूहिक स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है। इन साधनो का उपयोग सहकारिता के आधार पर अधिकतम सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से किया जाता है। इसकी मुख्य विशेषतायें है—(i) उत्पत्ति तथा वितरण के प्रमुख साधनो पर समाज या राज्य का सामूहिक स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है (ii) इसका उद्देश्य अधिकतम सामाजिक कल्याण करना होता है, निजी लाभ को विशेष महत्व नही दिया जाता (iii) अर्थव्यवस्था का संचालन स्वतन्त्र मूल्य यन्त्र पर न छोड़ा जाकर नियन्त्रित मूल्य यन्त्र से किया जाता है। (iv) अर्थव्यवस्था मे साधनो का प्रयोग नियोजित ढंग से किया जाता है (v) अर्थव्यवस्था मे सहकारिता की प्रधानता होती है। (vi) आर्थिक समानता स्थापित की जाती है। (vii) वर्ग-संघर्ष का समापन होता है (viii) सामाजिक न्याय एवं सुरक्षा प्रदान करने की व्यवस्था होती है। (विस्तृत विवरण अध्याय 25 मे पढ़िये)।

आजकल विश्व के अधिकांश भागो मे पूँजीवाद का बोलबाला है। अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली तथा जापान आदि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था

के परिचायक है तो दूसरी ओर रूस, चीन, पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी आदि साम्यवादी आर्थिक प्रणाली के अनुपम उदाहरण हैं। प्रथम मे निजी स्वतन्त्रता व निजी लाभ का तत्व है तो दूसरी में कठोर नियन्त्रण एव नियोजित अर्थव्यवस्था का बाहुल्य है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था समाजवाद का ही उग्र रूप है जिसमे निजी स्वतन्त्रता केवल नाम मात्र की ही होती है तथा खूनी क्रान्ति से समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त किया जाता है। समाजवादी आर्थिक प्रणाली के अनेक रूप हैं—(i) मार्क्सवादी समाजवाद हिंसक क्रान्ति पर आधारित समाजवाद है, जबकि (ii) राजकीय समाजवादी या सामूहिक समाजवादी ससदीय एव संवैधानिक तरीकों से समाजवाद की स्थापना च हते हैं। (iii) गिल्ड समाजवाद म उत्पादन के साधनो तथा लघु उद्योगों पर स्वामित्व तो सरकार का होता है जबकि उनका सचालन मजदूर सघो के हाथों में होता है, (iv) श्रमिक सघवाद मे उत्पत्ति के साधनो का स्वामित्व एव उनका सचालन दोनों मजदूरो के सामूहिक सघो द्वारा होता है, (v) फेबियन समाजवाद भी एक प्रकार का राजकीय समाजवाद है जिसमे शान्तिपूर्ण ढग से उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करके समाजवाद का मार्ग प्रशस्त किया जाता है। ब्रिटेन की लेबर पार्टी इस प्रकार के समाजवाद की पक्षपाती है। (vi) साम्यवादी आर्थिक प्रणाली के अन्तर्गत उत्पत्ति तथा वितरण के सभी साधनो का सरकारी स्वामित्व एव नियन्त्रण होता है। निजी स्वामित्व का पूर्ण उन्मूलन हो जाता है तथा वर्ग विहीन समाज (Classless Society) की स्थापना होती है जिसमे "एक सबके लिए तथा सब एक के लिए" के सिद्धान्त पर अर्थव्यवस्था का सचालन होता है इसमे हिंसक क्रान्ति की बू छिपी रहती है।

3 मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy)—उपर्युक्त दो प्रमुख आर्थिक प्रणालियो—पूँजीवाद एव समाजवाद के अतिरिक्त आजकल विश्व के अनेक विकासशील राष्ट्रो म मिश्रित अर्थव्यवस्था की लोकप्रियता बढ़ रही है। यह दो चरम सीमाओ के बीच एक मध्यम मार्ग है जिसमे दोनो के उग्र रूप के अवगुणो को छोड़कर उनके गुणो व विशेषताओ का वर्गीकरण किया जाता है अर्थात मिश्रित अर्थव्यवस्था समाजवाद एव पूँजीवाद का समन्वित रूप है जिसमे अर्थव्यवस्था का सचालन तीन क्षेत्रों–(i) निजी क्षेत्र (Private Sector) (ii) सहकारी क्षेत्र (Cooperative Sector) तथा (iii) सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) द्वारा किया जाता है, भारतीय मिश्रित अर्थव्यवस्था इसका अनुपम उदाहरण है जिसके अन्तर्गत (i) प्रजातान्त्रिक समाजवाद के रूप मे नियोजन एव नियन्त्रण की एक ढीली ढाली व्यवस्था है, (ii) इसमे उपभोक्ता की प्रभुसत्ता को सिद्धान्त रूप मे स्वीकार करके व्यवहार मे आवश्यक प्रतिबन्धों एव नियन्त्रणों की व्यवस्था है। चूँकि मिश्रित अर्थव्यवस्था पूँजीवाद एव समाजवाद का सम्मिश्रण (Mixture) है अत (iii) इसके अन्तर्गत साधनो का वितरण अ शत सरकारी निर्देशों द्वारा किया जाता है, (iv) निजी क्षेत्र को अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य की ओर प्रेरित किया जाता है, (v) नियोजित अर्थव्यवस्था इसी का एक परिष्कृत रूप है।

(विस्तार से आगे अध्याय 26 में देखिए)

विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में अन्तर के आधार तत्व
(Basic Elements of Distinction Among Various Economics)

आज विश्व में कई प्रकार की आर्थिक प्रणालियां (अर्थव्यवस्थाएं) पाई जाती है। यो तो अर्थव्यवस्था का स्वरूप बहुत कुछ साधनो के स्वामित्व एवं संगठन, सामाजिक नियमो, निर्णयो की प्रक्रिया एवं राज्य के हस्तक्षेप की मात्रा एवं प्रकृति पर निर्भर करता है पर अर्थव्यवस्था के स्वरूप पर काम करने की प्रेरणाओं, सामाजिक लक्ष्यों तथा निर्णय के अधिकार आदि तत्वो का भी प्रभाव पड़ता है। इन तत्वो का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1 **आर्थिक साधनों का स्वामित्व**—अर्थव्यवस्थाओ में भेद करने वाला मुख्य तत्व आर्थिक साधनो का स्वामित्व है। अगर उत्पादन के प्रमुख साधनो पर निजी व्यक्तियों व संस्थाओ का स्वामित्व होता है तो उसे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था माना जाता है। अमेरिका, ब्रिटेन तथा पाश्चात्य देशो मे उत्पत्ति के साधनो पर निजी स्वामित्व का बोलबाला है। अमेरिका म 80% विनियोग तथा ब्रिटेन में 55% विनियोग निजी व्यक्तियो या संस्थाओ द्वारा किया जाता है और इनके विपरीत अगर उत्पादन के साधनो पर निजी स्वामित्व न होकर सार्वजनिक स्वामित्व की प्रधानता होती है तो समाजवादी अर्थव्यवस्था कहलाती है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था म निजी स्वामित्व केवल नाम मात्र होता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था मे आर्थिक साधनो का स्वामित्व सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रो मे इस प्रकार बँटा होता है कि समाज को अधिकतम लाभ प्रदान करने की चेष्टा की जाती है।

2 **निर्णय की प्रक्रिया**—जिस अर्थव्यवस्था मे आर्थिक निर्णय मुख्य रूप से **बाजार प्रणाली** (Market system) के द्वारा अनेक क्रेताओ और विक्रेताओ की माग और पूर्ति के आधार पर अधिकतम लाभ के लिए किये जाते हैं उसे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था कहा जाता है। इसके विपरीत जिस अर्थव्यवस्था मे आर्थिक निर्णय **सरकारी आदेश प्रणाली** (Command system) पर निर्भर करते हैं उसे समाजवादी अर्थव्यवस्था का नाम दिया जाता है। साम्यवाद तो समाजवाद का बहुत ही कठोर रूप है जिसमे आदेश-प्रणाली सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। भारत जैसी मिश्रित अर्थव्यवस्थाओ मे आर्थिक निर्णयो के लिए बाजार प्रणाली तथा आदेश प्रणाली दोनो का सम्मिश्रण किया जाता है। नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्थाओ मे आदेश प्रणाली की प्रधानता होती है।

3 **राज्य हस्तक्षेप की मात्रा एव प्रकृति**—आर्थिक प्रणाली का स्वरूप बहुत कुछ सरकारी हस्तक्षेप की मात्रा एवं प्रकृति पर भी निर्भर करता है। पूंजीवादी प्रणाली में राज्य का हस्तक्षेप बहुत कम और अर्थव्यवस्था की स्थिरता की ओर ध्यान दिया जाता है। आजकल पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे भी राज्य का हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ता जा रहा है फिर भी समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में राज्य का हस्तक्षेप बहुत

अधिक होता है और पग पग पर अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण, नियमन एवं संचालन किया जाता है।

4 काम की प्रेरणाएँ—साधनों के सर्वोत्तम उपयोग के लिए प्रत्येक अर्थव्यवस्था आर्थिक प्रेरणाओं (Economic Incentives) को महत्व देती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक प्रेरणाओं का अधिकाधिक प्रयोग होता है जैसे—बोनस, वेतनवृद्धि, अधिक लाभ तथा पदोन्नति। जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में जहां एक ओर सकारात्मक प्रेरणाओं (Positive Incentives'—पदोन्नति, विशेषाधिकार, प्रशंसा व आर्थिक लाभ आदि का सहारा लिया जाता है वहां साथ ही काम में रुचि न लेने वालों के लिए सजा, पदच्युत करना व अन्य प्रकार से भय उत्पन्न कर नकारात्मक प्रेरणाओं (Negative Incentives) का भी प्रयोग किया जाता है।

5 साधन व साध्यों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण—जब देश के लोग निजी स्वामित्व व बाजार प्रणाली के आधार पर आर्थिक समृद्धि का मार्ग अपनाते हैं, चाहे विकास की गति धीमी ही क्यों न हो तो यह स्थिति पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को प्रकट करती है जबकि साधनों के सर्वोत्तम उपयोग से अधिकतम सामाजिक लाभ एवं कल्याण की भावना से संचालित अर्थव्यवस्था तीव्र आर्थिक विकास के लक्ष्य से प्रेरित होती है। उसमें आदेशित प्रणाली तथा सार्वजनिक स्वामित्व को प्रधानता दी जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त तत्वों के अवलोकन से स्पष्ट है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में निजी स्वामित्व, बाजार प्रणाली, उपभोक्ताओं की सार्वभौमिकता, मौद्रिक प्रेरणाएं एवं लोकतंत्र की प्रधानता होती है जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में सार्वजनिक स्वामित्व, आदेश प्रणाली, राज्य का अत्यधिक हस्तक्षेप, उपभोक्ताओं की सीमित सार्वभौमिकता, गैर मौद्रिक प्रेरणाएं तथा अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य आदि तत्व प्रबल होते हैं। अधिकांश अर्थव्यवस्थाएं "मिश्रित श्रेणी में होती हैं जिनमें इन विभिन्न तत्वों—निजी एवं सार्वजनिक स्वामित्व, बाजार एवं आदेश प्रणाली उपभोक्ताओं की सार्वभौमिकता, मौद्रिक एवं गैर मौद्रिक प्रेरणाएं तथा लक्ष्यों में ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण किया जाता है कि अर्थव्यवस्था में कम से कम समय में अधिकाधिक भौतिक एवं सांस्कृतिक समृद्धि सम्भव हो सके।

विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं की उपलब्धियों की तुलना—अर्थव्यवस्थाओं की उपलब्धियों की तुलना उनकी उत्पादकता, उपभोग एवं जीवन स्तर, जनसंख्या के व्यावसायिक वितरण तथा जीवन आशा आदि के आधार पर की जा सकती है। उत्पादकता प्रति व्यक्ति आय से स्पष्ट होती है। 1978 में पूँजीवादी राष्ट्र अमेरिका की प्रति व्यक्ति आय 8000 डालर थी, जबकि रूस जैसे समाजवादी राष्ट्र में प्रति व्यक्ति आय केवल 2800 डालर थी, भारत जैसी मिश्रित अर्थव्यवस्था में प्रति

व्यक्ति आय 150 डालर ही थी। अमेरिका तथा भारत की प्रति-व्यक्ति आय मे 54 1 का अनुपात है। दूसरे शब्दो मे भारत मे प्रति-व्यक्ति वार्षिक आय अमेरिका की प्रति व्यक्ति साप्ताहिक आय 180 डालर से भी कम है। अमेरिका विश्व मे सबसे अधिक प्रति-व्यक्ति आय उपार्जित करता है। अन्य पूँजीवादी राष्ट्रो—कनाडा की प्रति व्यक्ति आय 4500 डालर, ब्रिटेन की 3400 डालर तथा जापान की 2500 डालर थी।

प्रति व्यक्ति आय और उपभोग बहुत कुछ परस्पर सम्बन्धित होते हैं और वे जीवन-स्तर को प्रभावित करते हैं। अमेरिका मे उपभोग व जीवन-स्तर बहुत ऊँचा है जबकि पिछड़े राष्ट्रो मे जीवन स्तर नीचा है। जहा विकसित अर्थव्यवस्थाओ मे प्रति व्यक्ति उपभोग 3200 केलोरीज है वहा अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्थाओ मे प्रति व्यक्ति उपभोग 20 0 केलोरीज ही है। विकसित अर्थव्यवस्थाओ मे कृषि पर केवल 4 से 8% श्रम-शक्ति नियोजित होती है जबकि पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओ मे कार्यशील जनसख्या का 70 से 80% भाग निर्भर करता है। विकसित राष्ट्रो मे शहरी जनसख्या की प्रधानता होती है जबकि पिछड़ी अर्थव्यवस्था मे ग्रामीण जनसख्या अधिक होती है। उत्पादन की प्रणाली के आधार पर देखने से भी विकसित राष्ट्र अधिकाधिक मशीनीकरण की ओर अग्रसर हैं जबकि पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओ मे पुरातन पद्धतिया हैं।

आर्थिक समस्या का स्वरूप तथा अर्थव्यवस्था में समस्याओं का उदय
(Nature of Economic Problem & Origin of Economic Problems in Economy)

आर्थिक प्रणाली का स्वरूप चाहे कुछ भी क्यो न हो, प्रत्येक आर्थिक प्रणाली को कुछ आधारभूत आर्थिक समस्याओ का सामना करना पड़ता है। ये समस्यायें आवश्यकताओ की अनन्तता, साधनो की सीमितता एव उनके वैकल्पिक प्रयोगो के कारण अधिकतम सामाजिक सन्तुष्टि के लिए उनके मितव्ययितापूर्ण उपयोग से सम्बन्धित है। यही आर्थिक समस्याओ के उदय के तीन तत्व हैं—

1. **मानवीय आवश्यकतायें (Human Wants)**—मानव समाज का सम्पूर्ण अर्थतन्त्र आवश्यकताओ पर आधारित है। आवश्यकतायें ही आविष्कार की जननी तथा सभी आर्थिक क्रियाओ का उद्गम हैं। आवश्यकताओ की अनन्तता, विविधता उनको पूरक, प्रतियोगी एव पुनरावृत्ति प्रवृत्ति नयी-नयी खोजो को प्रेरित करती है जिससे अधिकाधिक आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव हो सके। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि मानवीय आवश्यकताएं अर्थव्यवस्था की चालक शक्ति (Drawing Force), तथा प्रेरक शक्ति (Motivating force) हैं।

2. **साधनों की सीमितता (Scarcity of Resources)**—आवश्यकताओ की अनन्तता है पर साधन सीमित होते है। मानवीय आवश्यकताओ की

पूर्ति के लिये दो प्रकार के साधन हैं (i) मानवीय साधन (Human Resources) इसके अन्तर्गत मानवीय श्रम का समावेश होता है (ii) मानवेत्तर साधन (Non-Human Resources) इसके अन्तर्गत मानवीय श्रम के अतिरिक्त सभी साधनों जैसे भूमि, पूँजी, भवन, खनिज तथा अन्य प्रकृति दत्त पदार्थों का समावेश होता है। अतः साध्यों के मुकाबले साधनों की सीमितता आर्थिक समस्याओं को जन्म देने वाला दूसरा महत्वपूर्ण कारण है।

3 चयन करना या निर्णय लेना (Choice-Making and Decision Taking)—यह आर्थिक समस्याओं के उदय का तीसरा महत्वपूर्ण कारण माना जाता है। सम्पूर्ण मानवीय आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम उद्देश्य अधिकतम मानव कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति है। आवश्यकतायें अनन्त है, साधन सीमित तो हैं ही पर साथ-साथ उनके अनेक वैकल्पिक प्रयोग भी हैं। अतः अधिकतम मानव कल्याण के लक्ष्य की पूर्ति के लिये सीमित साधनों के विभिन्न वैकल्पिक प्रयोगों में इस प्रकार चयन व निर्णय किया जाता है कि साधनों के मितव्ययता पूर्ण उपयोग से यथासम्भव अधिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति कम से कम त्याग से हो सके।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक समस्याओं का उदय, आवश्यकताओं की अनन्तता, साधनों की दुर्लभता या सीमितता तथा उनके वैकल्पिक प्रयोगों के चयन करने व निर्णय लेने के कारण होता है। जब साध्यों व साधनों की अनेकता के बीच निर्णय लेने या चयन की समस्या आती है तो वह आर्थिक समस्या है पर जब साध्य एक ही हो और साधन अनेक हो तो ऐसी समस्या आर्थिक समस्या नहीं बल्कि प्राविधिक समस्या (Technological Problem) कही जाती है।[1] अर्थव्यवस्था की जीवन्त प्रक्रियाओं (Vital Process of Economy) का विवरण आगे दिया जा रहा है।

अर्थव्यवस्था की जीवन्त प्रक्रियायें
(Vital Processes of an Economy)

अर्थव्यवस्था का अर्थ एवं आर्थिक समस्याओं की प्रकृति का अध्ययन करने के साथ साथ ये प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अर्थव्यवस्था के कुल उत्पादन का स्तर क्या है? उपभोग और पूँजीगत माल का कुल उत्पादन में क्या अनुपात है, अर्थव्यवस्था में विकास की दर क्या है? इन सबका उत्तर मोटे रूप में अर्थव्यवस्था की जीवन्त प्रक्रियाओं तथा उनके स्तर में है जो उपभोग, उत्पादन एवं विनियोग के रूप में माना जाता है। एक समृद्ध अर्थव्यवस्था में उत्पादन का स्तर जितना ऊंचा होगा उतना ही उपभोग या विनियोग का स्तर भी उंचा होगा। जबकि निर्धन अर्थव्यवस्थाओं में उत्पादन स्तर नीचा होने से उपभोग और विनियोग का स्तर भी

1. Multiplicity of ends and multiplicity of means raises economic problem but if end is one and means are many, then it is a technological problem

नीचा होना स्वाभाविक है क्योंकि निर्धनता का कुचक्र उन्हें निर्धन ही रखने में सक्रिय रहता है जब तक कि कहीं इस कुचक्र को तोड़ने का प्रयास नहीं होता।

उत्पादन का अभिप्राय वस्तुओं और सेवाओं में आर्थिक उपयोगिता का सृजन करना है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दुर्लभ साधनों का प्रयोग होता है। दो प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है पहली उत्पादक वस्तुएं (Producer's Goods) तथा दूसरी उपभोक्ता वस्तुएं (Consumer's Goods)। उत्पादक वस्तुएं, वे वस्तुएं हैं जो तुरन्त उपभोक्ता की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए उपलब्ध न होकर और अधिक उत्पादन के लिए प्रयुक्त की जाती है जैसे ट्रैक्टर, कपड़ा बनाने की मशीनें, मशीनों का निर्माण करने वाली मशीनें आदि जबकि उपभोक्ता वस्तुएं, वे वस्तुएं हैं जो उपभोक्ता को तुरन्त उपभोग के लिए उपलब्ध होती हैं जैसे रोटी, खाद्यान्न, वस्त्र इत्यादि।

इस प्रकार उपभोक्ता वस्तुएं उपभोग के लिए उपलब्ध वस्तु-संग्रह का सूचक है तो उत्पादक वस्तुओं का संग्रह समाज के उत्पादन सामर्थ्य का द्योतक है।

उत्पादन की प्रक्रिया के साथ साथ उपभोग की प्रक्रिया भी निरन्तर चलती रहती है। उपभोग की वस्तुएं जो तात्कालिक उपभोग के लिए होती है तथा जो उपभोग की एक ही प्रक्रिया में अपना अस्तित्व खो बैठती हैं ऐसी वस्तुओं को एक प्रयोग वाली उपभोग वस्तुएं कहते हैं जैसे रोटी, सब्जियां आदि। इसके विपरीत उपभोग की कुछ वस्तुओं की चिर-स्थायी प्रकृति होती है तथा जो बहुत समय के प्रयोग के बाद ही प्रयोगहीन होती हैं उन्हें चिर स्थायी प्रयोग वाली वस्तुएं (Durable Consumer Goods) कहते हैं। जैसे—रेफ्रीजरेटर, प्रेशर कुकर, कार, साइकिल, पंखा, रेडियो, आवास गृह आदि आदि।

जैसे उपभोग की वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं उसी प्रकार उत्पादन की वस्तुएं भी दो प्रकार की होती है—

(i) एक प्रयोग वाली उत्पादक वस्तुएं (Single Use Producer Goods'— ये वे उत्पादक वस्तुएं हैं जो उत्पादन प्रक्रिया में एक ही बार प्रयुक्त करने में अपना अस्तित्व खो बैठती हैं जैसे कच्चा माल, ईंधन या अन्य रासायनिक तत्व जो उद्योग में उत्पत्ति कार्य में काम आते हैं (ii) चिर स्थायी उत्पादक वस्तुएं (Durable Producer Goods)—ये वे उत्पादक वस्तुएं हैं जो उत्पादन कार्य में लम्बे समय तक प्रयुक्त होती हैं। जैसे मशीनें, कारखाना, सड़कें, जल, ट्रैक्टर आदि। इनका ह्रास धीरे-धीरे होता है अत: इनके रक्षण और प्रतिस्थापना की आवश्यकता पड़ती है।

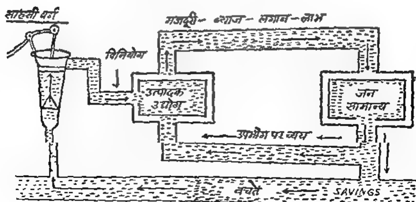
यदि समाज अपने उपभोग स्तर को ऊँचा करना चाहता है तो उसे अचल पूंजी संग्रह को बढ़ाना चाहिए। यह आर्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है। यह

अर्थव्यवस्था को गतिशील बनाये रखता है। विनियोग से रोजगार और उत्पादन बढ़ता है। लोगों की उत्पादकता की वृद्धि के कारण आय बढ़ती है। आय में वृद्धि से उपभोग और बचतें दोनों बढ़ते हैं। उपभोग के कारण उपभोक्ता माल की मांग बढ़ती है जिससे विनियोगों को और प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु विनियोग बचतों की मात्रा से सीमित होता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि अर्थव्यवस्था की तीन जीवन्त प्रक्रियाएँ हैं : (i) उत्पादन (Production) (ii) उपभोग (Consumption), तथा (iii) विनियोग (Investment)। अर्थव्यवस्था की क्षमता, विकास की दर, कुल उत्पादन में पूँजीगत तथा उपभोग उत्पादन का अनुपात ये सभी इन तीन प्रक्रियाओं की क्षमता व दर पर निर्भर करते हैं। किसी भी अर्थव्यवस्था में साहसी वर्ग द्वारा उत्पादक उद्योगों में विनियोग किया जाता है जिससे उत्पादन सम्भव होता है। उत्पादन के साधनों को उत्पत्ति में सहयोग देने के बदले प्रतिफल दिया जाता है—भूस्वामी को लगान, श्रमिक को मजदूरी, पूँजी को ब्याज व साहसी को लाभ मिलता है। इस प्रकार उत्पत्ति के साधनों के स्वामियों को जन सामान्य के रूप में आय प्राप्त होती है। वे इस आय का कुछ भाग तो उपभोग पर व्यय करते हैं। इससे उत्पादन उद्योगों में वस्तुओं और सेवाओं की मांग बढ़ती है तथा कुछ भाग बचा लेते हैं। ये बचतें बैंकों, बीमा कम्पनियों व वित्तीय संस्थाओं के पास जमा हो जाती हैं जहां से साहसी वर्ग उधार लेकर पुनः विनियोग करते हैं। अर्थव्यवस्था की जीवन्त प्रक्रियाओं की तुलना एक हैण्ड पम्प से की जा सकती है जिससे पानी निकाला जाता है और वह सभी क्षेत्रों में प्रवाहित होता है जैसा कि चित्र 1 में स्पष्ट होता है—

अर्थव्यवस्था की जीवन्त प्रक्रियाएं

(Vital Processes of an Economy)



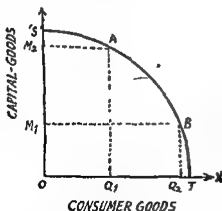
चित्र—1

उत्पादन संभावना वक्र अथवा उत्पादन सम्भावना परिधि की धारणा

The Concept of Production Possibility Curve (PPC) or Production Possibility Frontier (PPC)

अर्थ (Meaning)—उत्पादन प्रत्येक अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्या है इस कारण प्रत्येक अर्थव्यवस्था अपने उपलब्ध साधनों को उनके वैकल्पिक प्रयोगों में इस प्रकार सनियोजित करती है कि अधिकतम उत्पादन सम्भव हो सके। उत्पादन साधनों के प्रयोग से चाहे तो केवल पूंजीगत माल (Capital Goods) ही उत्पादित किये जायें, और चाहे तो केवल उपभोक्ता माल (Consumer Goods) ही उत्पादित किये जायें किन्तु व्यवहार में उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य मानव का अधिकतम कल्याण है अतः उपलब्ध साधनों का प्रयोग पूंजीगत माल और उपभोक्ता माल दोनों के उत्पादन में किया जाता है और दोनों ही प्रकार के उत्पादनों के विभिन्न संयोग अपनाए जा सकते हैं।

चूंकि साधन सीमित हैं और आवश्यकतायें अनन्त हैं अतः सीमित साधनों से अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पूंजीगत माल और उपभोक्ता माल के उत्पादन के जो विभिन्न संयोग अपनाये जाते हैं, अगर उन्हें रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जाय तो जो वक्र बनेगा वही *उत्पादन सम्भावना वक्र (PPC)* है अतः कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन से अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य से प्रेरित होकर साधनों के वैकल्पिक प्रयोगों से जो पूंजीगत माल और उपभोक्ता माल के उत्पादन संयोग प्राप्त हो सकते हैं उन्हें चित्र द्वारा दर्शाने पर जो वक्र बनता है वह अर्थव्यवस्था की दृष्टि से उत्पादन सम्भावना वक्र है जैसा चित्र संख्या 2 में है (चित्र उत्तर देते समय बनावें)



रेखा-चित्र–2

स्पष्टीकरण (Explanation)–उत्पादन संभावना वक्र (PPC) वह वक्र है जिसके विभिन्न बिन्दुओं पर दो या उससे अधिक वस्तुओं के उत्पादन के संयोगों को दर्शाया जाता है जो साधनों की निश्चित मात्रा से दी गई परिस्थितियों में उत्पादित की जा सकती है। चूंकि साधनों के वैकल्पिक प्रयोग हैं और मात्रा निश्चित है अतः एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाने पर दूसरी वस्तु का उत्पादन घटता है तथा दूसरी वस्तु की उत्पादन मात्रा बढ़ाने पर पहली वस्तु का उत्पादन घटता है जैसा चित्र 2 में उत्पादन सम्भावना वक्र (SABT) के A बिन्दु पर उपभोक्ता माल का उत्पादन OQ_1 तथा पूंजीगत माल का

उत्पादन OM_2 है किन्तु अगर उपभोक्ता माल का उत्पादन बढ़ाकर OQ_2 किया जाता है तो पूँजीगत माल का उत्पादन घटकर OM_1 ही रह जाता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—माना कि किसी भी अर्थव्यवस्था में दी गई निश्चित साधनों की मात्रा से पूँजीगत माल और उपभोक्ता माल की निम्न इकाइयां विभिन्न संयोगों में प्राप्त की जा सकती हैं।

उत्पादन सम्भावना तालिका (Production Possibility Table)

साधनों के विभिन्न संयोग	पूँजीगत माल (लाख इकाइयाँ)	उपभोक्ता माल (लाख इकाइयाँ)
उत्पादन की प्रथम सम्भावना	10	0
,, द्वितीय ,,	9	4
,, तृतीय ,,	7	7
,, चतुर्थ ,,	4	9
,, पाँचवीं ,,	0	10

इसे प्रो. सेम्यूलसन ने मक्खन एवं बन्दूकों के उत्पादन के उदाहरण द्वारा समझाया है। उपर्युक्त तालिका में यह मान्यता है कि विभिन्न संयोगों में प्राप्त उत्पादन की मात्रा अधिकतम है जो साधनों की दी गई मात्रा व दी गई तकनीकी ज्ञान के अन्तर्गत उत्पादित की जा सकती है।

रेखाचित्र द्वारा निरूपण—उपर्युक्त तालिका के अनुसार ही उत्पादन साधनों के विभिन्न संयोगों से उत्पादन सम्भावना वक्र खींचा जा सकता है जैसे इसी अध्याय के चित्र संख्या 3 में LRSTM उत्पादन सम्भावना वक्र है जिसके प्रथम संयोग L पर पूँजीगत माल का उत्पादन OL तथा उपभोक्ता माल का उत्पादन शून्य है इसके विपरीत बिन्दु M पर उपभोक्ता माल का उत्पादन OM है। किन्तु पूँजीगत माल का उत्पादन शून्य है जबकि बिन्दुओं R,S तथा T पर दोनों उत्पादनों का संयोग माना कि क्रमशः 8+2, 5+5 तथा 3+8 लाख इकाइयां हैं। रेखाचित्र में उत्पादन सम्भावना वक्र उपलब्ध साधनों के तात्कालिक परिस्थितियों में उपयोग से अधिकतम उत्पादन का द्योतक है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि तालिका और रेखाचित्र 2–3 में उत्पादन सम्भावना वक्र की धारणा से स्पष्ट है कि जब पूँजीगत माल अधिक उत्पादित किया जाता है तो उपभोक्ता माल के उत्पादन में साधन कम बचने से उपभोक्ता माल का उत्पादन कम होता है और इसके विपरीत उपभोक्ता माल का उत्पादन बढ़ाने पर पूँजीगत माल का उत्पादन घटता है। दोनों का उत्पादन बढ़ाने के लिए जब प्रयास किये जाते हैं तो उत्पादन सम्भावना वक्र ऊपर की ओर खिसकता है जैसे रेखाचित्र 5 में LABM बिन्दु जिन उत्पादन सम्भावना वक्र LABM को अंगीकृत

उत्पादन सम्भावना वक्र PRSTQ विकास एवं दोनो प्रकार की वस्तुओं के अधिक उत्पादन का द्योतक है।

नोट— (परीक्षार्थी इन ऊपर बताये गये चित्रो को अपने उत्तर मे लगाना न भूलें)

उत्पादन संभावना वक्र की अन्तर्निहित मान्यताएं (Assumptions)

उत्पादन सभावना वक्र अथवा उत्पादन सभावना परिधि की धारणा निम्न मान्यताओ पर आधारित है—

1 किसी समय विशेष पर साधनो की मात्रा स्थिर है।

2. साधनो के वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं अत: साधनो का स्थानान्तरण एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र या एक उपयोग से दूसरे मे हो सकता है और उनमे गतिशीलता है।

3 उत्पादन साधनो का प्रयोग उनकी पूरी क्षमता तक हो रहा है अर्थात् साधनो की पूर्ण रोजगार अवस्था है।

4. उत्पादन पद्धतिया, तकनीक तथा प्रौद्योगिकी ज्ञान मे कोई परिवर्तन नही होता।

5 उत्पादन सभावना वक्र उत्पादन के विभिन्न सयोगो मे उत्पादन की अधिकतम मात्रा (Maximum Production) की मान्यता पर आधारित है।

उत्पादन संभावना वक्र सम्बन्धी निष्कर्ष एवं उपयोग

चित्रो का प्रयोग करते हुए निम्न निष्कर्ष मुख्य हैं—

1. उत्पादन सभावना वक्र अधिकतम उत्पादन सम्भावना वाले संयोगों को बताता है जो दिए गये साधनो की मात्रा से परिस्थिति विशेष मे प्राप्त हो सकता है।

2. उत्पादन सभावना वक्र राष्ट्र मे साधनों के विभिन्न प्रयोगों मे आबंटन को दर्शाता है।

3. राष्ट्र व उत्पादन के आर्थिक साधनो मे वृद्धि से उत्पादन सभावना वक्र मूल बिन्दु से ऊपर की ओर खिसकता है और साधनो मे कमी से वह मूल बिन्दु की ओर नीचे आता है।

4. उत्पादन सम्भावना वक्र के नीचे होने का आशय उत्पादन का नीचा स्तर व पिछड़ेपन या अर्द्ध-विकसितता का द्योतक है जबकि ऊँचे उत्पादन सम्भावना वक्र का आशय उत्पादन का ऊँचा स्तर एवं विकसित होने का द्योतक है।

5. राष्ट्र द्वारा साधनो का प्रयोग पूर्णतया रोकने पर उत्पादन ठप्प होने से उत्पादन सम्भावना वक्र शून्य (मूल बिन्दु) 0 पर पहुंच जायगा और साधनो का प्रयोग बढने पर वह धीरे-धीरे ऊपर की ओर खिसकेगा।

6. विकसित राष्ट्रो का उत्पादन सम्भावना वक्र ऊँचा तथा पिछड़े या अर्द्ध-विकसित देशो का उत्पादन सम्भावना वक्र नीचा होता है जैसा चित्र 5 मे दर्शाया गया है।

7. उत्पादन सम्भावना वक्र साधनों के पूर्ण रोजगार की ओर अग्रसर करने या उत्पादन संगठन में सुधार लाने अथवा उत्पादन तकनीकी व प्रौद्योगिकी में परिवर्तन से ऊपर की ओर बढ़ता है जैसा चित्र 4-5 में है। एक बार के अप्राप्य संयोग भी प्राप्य संयोग होने लगते हैं।

8. उत्पादन सम्भावना वक्र के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु की ओर आने का आशय उत्पादन के प्रयोगों को बदलने का द्योतक है।

9. उत्पादन विधियों में सुधार होने पर उत्पादन सम्भावना वक्र ऊपर की ओर सरकता है अगर उत्पादन के सम्पूर्ण क्षेत्र में सुधार होता है चाहे वह मनुष्य साधनों से हो, नई वैज्ञानिक विधि से हो अथवा नये आविष्कारों से हो या नई तकनीकी या प्रौद्योगिक परिवर्तन से हो तो दोनों ही प्रकार के उत्पादनों में वृद्धि होती है। अगर परिवर्तन से सुधार केवल एक दिशा में हो तो साधनों का स्थानान्तरण होगा और उत्पादन स्तर उस क्षेत्र में बढ़ेगा जिस क्षेत्र में सुधार हुआ है तथा दूसरे में स्थिर होगा।

10. ज्यों ज्यों देश में बचतों से पूंजी विनियोग बढ़ता है तो ऊँचे विनियोग वाले राष्ट्र की उत्पादन सम्भावना वक्र ऊपर और नीचे विनियोग वाले राष्ट्र का उत्पादन सम्भावना वक्र नीचे होगा।

उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु के नतोदर (Concave) क्यों ?

उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु के नतोदर (Concave) इसलिए होता है कि ज्यो-ज्यो किसी क्षेत्र में साधनों की मात्रा बढ़ाई जाती है तो सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण सीमान्त उत्पादन लागतों में वृद्धि होती है। समान लागत लगाने पर भी उत्तरोत्तर वृद्धि की स्थिति में सीमान्त उत्पादन घटता जाता है। यद्यपि कुल उत्पादन बढ़ता है किन्तु उत्पादन की वृद्धि की दर से उत्तरोत्तर इकाइयों के प्रयोगों के साथ-साथ घटती जाती है अर्थात् उत्पादन वृद्धि घटती दर से होती है और इसी कारण उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु के नतोदर होता है। लागत की दृष्टि से देखने पर उत्पादन सम्भावना वक्र की आकृति मूल बिन्दु के नतोदर होने का कारण वर्द्धमान सीमान्त वृद्धि लागत (Laws of Marginal Increasing Costs) कार्यशील होता है।

आर्थिक संगठन,अर्थव्यवस्था या आर्थिक प्रणाली की केन्द्रीय समस्यायें

(Central Problems of Economy or Economic System)

अथवा

अर्थव्यवस्था या आर्थिक प्रणाली के मुख्य कार्य—

(Main Functions of an Economy or Economic System)

साधनों की सीमितता एवं उनके वैकल्पिक प्रयोग तथा आवश्यकताओं की अनन्तता के कारण ही साधनों एवं साध्यों के बीच उपयुक्त ताल-मेल बैठाने की

समस्याये प्रत्येक आर्थिक प्रणाली मे विद्यमान रहती हैं। चाहे अर्थव्यवस्था का स्वरूप कुछ भी हो, प्रत्येक अर्थव्यवस्था को आधारभूत कार्य सम्पन्न करने ही होते है अर्थात् इनसे सम्बद्ध आर्थिक समस्याओ का सामना करना ही पडता है।

प्रो हाम (Halm) के अनुसार आर्थिक प्रणाली के आधारभूत कार्य सात हैं तो दूसरी ओर प्रो सेम्यूलसन (Samuelson) के अनुसार आर्थिक प्रणाली के प्रमुख कार्य केवल तीन ही हैं जबकि प्रो लेफ्टविच (Leftwich), प्रो नाइट (F H Knight) तथा प्रो मेकोनेल (Mecconnel) के मतानुसार आर्थिक प्रणाली के प्रमुख कार्य पाच हैं। प्रो फरग्यूसन एव क्रेप्स के अनुसार प्रत्येक आर्थिक प्रणाली को तीन प्रकार के आर्थिक निर्णय लेने पडते हैं—(i) किस वस्तु का उत्पादन किया जाय, (ii) किस तरह उत्पादन किया जाय, (iii) उत्पादन को कौन प्राप्त करे।

प्रो नाइट तथा प्रो. लेफ्टविच ने आर्थिक प्रणाली के निम्न पाच आधारभत कार्यों अथवा केन्द्रीय समस्याओं का उल्लेख किया है—

(1) उत्पादन किस वस्तु का किया जाय,

(2) उत्पादन को किस प्रकार सगठित किया जाय;

(3) उत्पादन का वितरण किस प्रकार किया जाय;

(4) अल्पकाल मे स्वल्प पूर्ति का राशनिग कैसे किया जाए, तथा

(5) उत्पादन क्षमता को किस प्रकार कायम रखा जाय तथा उत्पादन क्षमता का विकास कैसे हो ?

प्रो सेम्यूलसन (Samuelson) के शब्दो मे "प्रत्येक आर्थिक प्रणाली को तीन मूलभूत समस्याओं का सामना करना पडता है—सम्भावित वस्तुओं व सेवाओं की क्या क्या किस्में कितनी मात्रा में उत्पादित की जाएँ, (ii) इन वस्तुओ के उत्पादन में आर्थिक साधनों का प्रयोग किस प्रकार किया जाए, तथा (iii) किनके लिए वस्तुओ का उत्पादन किया जाय अर्थात् विभिन्न व्यक्तियो या उनके समूहो में आय का वितरण कैसे हो ?

इस प्रकार के विभिन्न विद्वानो के विचारो के संकलन से किसी भी आर्थिक प्रणाली के आधारभूत कार्यों (Fundamental Functions) अथवा केन्द्रीय समस्याओ (Central Problems) को निम्न तालिका के रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है।

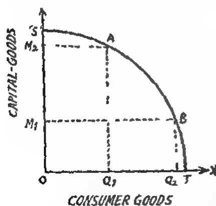
अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याएँ अथवा आधारभूत कार्य
(Central Problems or Fundamental Functions of an Economy)



1	2	3	4	5	6
क्या उत्पादन किया जाय और कितना उत्पादन किया जाय ?	उत्पादन कैसे किया जाय अथवा उत्पादन का संगठन कैसा हो ?	उत्पादन का वितरण कैसे (किनमे) हो ?	अल्पकाल में रोजगार कैसे किया जाय ?	साधनों के पूर्ण रोजगार की व्यवस्था कैसे हो ?	अनुरक्षण या आर्थिक विकास कैसे हो ?

आर्थिक प्रणाली के इन कार्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) क्या उत्पादन किया जाये और कितना उत्पादन किया जाय (What is to be produced and how much is to be produced)—प्रत्येक आर्थिक प्रणाली की सर्व प्रमुख समस्या या कार्य यह निर्धारण करना है कि अर्थव्यवस्था मे उपलब्ध साधनो से किन-किन वस्तुओ व सेवाओ का कितनी कितनी मात्रा मे उत्पादन किया जाए ताकि समाज मे उपभोक्ताओ की यथासम्भव अधिकतम सन्तुष्टि की जा सके। अर्थव्यवस्था मे क्या उत्पादन किया जाय इसके लिये यह देखना पड़ता है कि समाज मे कौन कौन सी आवश्यकताएँ समग्ररूप मे अधिक महत्वपूर्ण हैं। साधनों की सीमितता व उनके वैकल्पिक प्रयोग तथा आवश्यकताओ की अनन्तता के कारण उनमें सामंजस्य की समस्या रहती है। अर्थव्यवस्था में यह निर्धारण करना होगा कि कितना पूँजीगत माल उत्पादित किया जाय और कितना उपभोक्ता माल। अगर पूँजीगत माल के उत्पादन में वृद्धि की जाती है तो उपभोक्ता वस्तुओ की उत्पत्ति अपेक्षाकृत कम होगी। जैसे चित्र 2 मे स्पष्ट है कि पूँजीगत माल की उत्पत्ति बढ़ाने पर उत्पादन सम्भावना वक्र



चित्र 2

SABT के A बिन्दु पर पूँजीगत माल की OM_2 मात्रा तथा उपभोक्ता माल की OQ मात्रा ही रहती है। पर अगर उपभोक्ता माल की मात्रा को बढ़ाकर OQ_2 कर दिया जाता है तो पूँजीगत माल की पूर्ति घटकर केवल OM_1 रह जाती है। किसी भी अर्थव्यवस्था में केवल एक ही प्रकार की वस्तुओ के उत्पादन से अधिकतम

सामाजिक सतुष्टि के लक्ष्य की पूर्ति सम्भव नही होती। अत दोनो प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन करके उनम उपयुक्त सामन्जस्य बैठाने का प्रयत्न किया जाता है।

एक स्वतत्र उद्यम प्रणाली (पूजीवादी अर्थव्यवस्था) मे मूल्य यन्त्र (Price Mechanism) के द्वारा क्या उत्पादन किया जाय और कितना उत्पादन किया जाय समस्या का हल मिलता है। उपभोक्तागण समूह के रूप म जिन जिन वस्तुओ के लिए अपना मुद्रा रूपी नोट अधिक देने को तत्पर हैं उन उन वस्तुओ का उत्पादन किया जायेगा और जिन वस्तुओ के मूल्य नीचे हैं अर्थात् उपभोक्ता जिन वस्तुओ के मूल्य कम देना चाहेंगे उन वस्तुओ का उत्पादन कम होगा। अत मूल्य ही निर्धारित करते हैं कि क्या उत्पादन करना है और कितना उत्पादन करना है? उत्पादक उन वस्तुओ का उत्पादन करेंगे जिनके मूल्य ऊँचे हैं और उन वस्तुओ का उत्पादन घटायेंगे या बन्द करेंगे जिनके मूल्य नीचे हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाम उत्पादनकी मात्रा का निर्धारण भी कीमत प्रणाली द्वारा निर्धारित होता है। उत्पादक वस्तु का उत्पादन उस सीमा तक करेंगे जहाँ वस्तु की सीमान्त लागत (Marginal Cost) तथा वस्तु मे प्राप्त सीमान्त आगम (Marginal Revenue) बराबर होगे। क्योंकि तभी उत्पादक को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा अर्थात् माग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियाँ कीमत माध्यम से उत्पादन की मात्रा का निर्धारण करेंगी। उत्पादन की मात्रा पर माग के अतिरिक्त उत्पादन के साधनो की मात्रों की उपलब्ध पूर्ति का भी प्रभाव पडेगा।

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे कीमत प्रणाली निर्देशित या नियन्त्रित होती है। क्या उत्पादन किया जाय और कितना उत्पादन किया जाए उपभोक्ताओ की वरीयता या मूल्य यन्त्र पर नही छोडा जाता बल्कि इसका निर्धारण समाज के अधिकतम लाभ की दृष्टि से सरकारी आदेशों (Govt Decrees) के द्वारा होता है। मूल्य यन्त्र को कृत्रिम रूप से सामाजिक लक्ष्यो के अनुरूप बनाया जाता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था मे "क्या और कितना उत्पादन किया जाय" की समस्या का समाधान करने के लिए सरकारी आदेशो तथा नियन्त्रित कीमत प्रणाली का समन्वित उपयोग किया जाता है। अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य से प्रेरित मिश्रित अर्थव्यवस्थाओ मे आधारभूत एव प्रमुख क्षेत्रो मे सरकारी आदेशो का प्रभुत्व होता है जब कि कम महत्त्व के क्षेत्रो मे उत्पादन तथा वितरण कीमत यन्त्र द्वारा सचालित होते हैं। भारतीय मिश्रित अर्थव्यवस्था मे अस्त्र शस्त्र निर्माण, सार्वजनिक उपयोगी सेवाओ, अणुशक्ति आधारभूत उद्योगो व विद्युत् आदि म सरकारी आदेशो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है जबकि उपभोग उद्योगों म कीमत यन्त्र बहुत कुछ स्वतत्रतापूर्वक कार्य करता है।

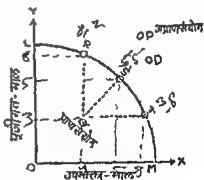
(2) उत्पादन कैसे किया जाय अथवा उत्पादन का सगठन क्या हो? (How is to be produced or what should be the organisation of production?)—प्रत्येक आर्थिक प्रणाली का दूसरा महत्वपूर्ण काय है कि वाछित वस्तुओ

का उत्पादन करने के लिए उत्पत्ति के विभिन्न सीमित साधनों को किस प्रकार संगठित किया जाय ? इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न साधनों के कुशलतम संयोग की प्राप्ति का प्रयास होगा जिसके अन्तर्गत (i) साधनों का प्रयोग अधिक महत्वपूर्ण कार्यों में होगा (ii) सर्वश्रेष्ठ तकनीकी विधियों का प्रयोग किया जायेगा और (iii) साधनों का दुरुपयोग रोका जायगा।

दूसरे शब्दों में अर्थव्यवस्था में उत्पादन के संगठन को कुशल एवं अनुकूलतम बनाने के लिए निम्न बातों को ध्यान में रखना होगा—

(i) साधनों को उन उद्योगों में आकर्षित किया जाय जिनके उत्पादन को उपभोक्ता अधिक वरीयता देते हैं तथा उन उद्योगों में साधनों को रोका जाये जिनके उत्पादन को उपभोक्ता कम चाहते हैं, (ii) साधनों का विभिन्न क्षेत्रों में उपयुक्त वितरण, (iii) साधनों के अनुकूलतम संयोग के लिए सर्वोत्तम प्रौद्योगिक विधियों का प्रयोग अपनाना, (iv) साधनों का आवण्टन ऐसा हो कि अधिकतम उत्पादन न्यूनतम लागत पर सम्भव हो सके तथा (v) वैयक्तिक फर्मों द्वारा उत्पत्ति के साधनों का कुशलतम उपयोग।

इसका रेखा चित्रीय स्पष्टीकरण भी किया जा सकता है। चित्र 3 में LM उत्पादन संभावना वक्र है जो उपलब्ध साधनों से पूँजीगत तथा उपभोक्ता माल के उत्पादन की संभावना बतलाती है। LM के भीतरी भाग के सभी बिन्दु प्राप्य संयोगों को बताते हैं जबकि इसके बाहर के बिन्दु P तथा D अप्राप्य संयोग (Unattainable Combinations) को बताते हैं। प्राप्य भाग में Q बिन्दु अकुशल संगठन का द्योतक है जबकि LM रेखा पर प्रत्येक बिन्दु जैसे R,S तथा T आदर्श संगठन के द्योतक हैं।



चित्र 3

स्वतंत्र उद्यम प्रणाली (पूँजीवाद) में उत्पादन का संगठन कीमत प्रणाली या मूल्य यंत्र द्वारा होता है। उत्पादकों का उद्देश्य न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन द्वारा अपने लाभ को सर्वाधिक करने का होता है अतः उत्पादक महँगे साधनों के स्थान पर सस्ते साधनों का प्रतिस्थापन करते हैं। स्वाभाविक रूप से नवीनतम मशीनों व आधुनिकतम प्राविधिक ज्ञान के प्रयोग व पूँजी प्रधान उत्पादन पद्धति को बढ़ावा मिलेगा। ठीक इसी प्रकार उत्पत्ति के साधन भी उन उद्योगों की ओर आकर्षित होंगे जहाँ उन्हें ऊँचा मूल्य पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त होगा।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में साधनों का संगठन अधिकतम लोगों के अधिकतम कल्याण के लक्ष्य से प्रेरित होने के कारण, पूर्वनियोजन के आधार पर होता है। मूल्य यन्त्र की भूमिका गौण होती है। यथासम्भव मानवीय साधनों का पूर्ण प्रयोग करने का प्रयास होता है। उत्पादन संगठन का निर्धारण करते समय अर्थव्यवस्था के अनेक तत्वों को ध्यान में रखा जाता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में उत्पादन के संगठन की समस्या का समाधान प्रभावी सरकारी हस्तक्षेप एवं नियन्त्रण में होता है। उत्पादन संगठन में मूल्य यन्त्र का प्रयोग उस सीमा तक किया जाता है जहां तक वह सार्वजनिक हित में होता है। अतः आधारभूत एवं बड़े पैमाने की उत्पत्ति में पूंजी की प्रधानता होती है तो लघु एवं कुटीर उद्योगों में मानव शक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। मानव शक्ति के समुचित उद्योगों का पूरा प्रयास किया जाता है। भारत में जनाधिक्य एवं बेकारी की समस्या के कारण श्रम-प्रधान एवं पूंजी-प्रधान उद्योगों का उचित समन्वय बैठाने का प्रयास किया जाता है।

(3) उत्पादन का वितरण किन में हो या वितरण कैसे किया जाए? (To whom the production is to be distributed or what shall be the basis of distribution?)—आर्थिक प्रणाली का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य या समस्या उत्पादन का उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में कुशल एवं न्यायोचित वितरण करना है। इसका निर्णय आर्थिक, राजनैतिक तथा नैतिक तत्वों के सामंजस्य से होता है।

स्वतन्त्र पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन का वितरण उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में कीमत प्रणाली द्वारा होता है। वस्तुओं की प्राप्ति क्रय-शक्ति या आय की मात्रा पर निर्भर करती है। जिनकी आय अधिक हो उन्हें उत्पादन का उतना ही अधिक भाग मिलेगा। किसी भी व्यक्ति की आय तीन बातों पर निर्भर करती है। (i) उत्पादन के साधनों की मात्रा (ii) साधनों के मूल्य (iii) कुशलता। जिन व्यक्तियों के पास साधनों की मात्रा अधिक तथा उन साधनों से प्राप्त मूल्य जितना ऊंचा होगा उतना ही उन्हें राष्ट्रीय आय में अधिक हिस्सा मिलेगा। यद्यपि मूल्य-यन्त्र कुछ सीमा तक साधनों के अनुचित वितरण को ठीक करता है उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व से उत्पन्न आय अंतर को मिटाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। इनमें प्रगतिशील करारोपण, मृत्यु कर, आर्थिक सहायता व अनुदान, सामाजिक सेवाएं आदि प्रमुख हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में वितरण सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप सरकारी आदेशों के द्वारा होता है। यथासम्भव आय का समान वितरण करने के लिए निजी सम्पत्ति, विशेषाधिकार आदि को समाप्त कर दिया जाता है। व्यक्ति की कुशलता व सामाजिक न्याय उत्पादन वितरण के आधार माने जाते हैं।

मिश्रित अर्थव्यवस्था मे उत्पादन का वितरण बहुत कुछ कीमत-यन्त्र द्वारा होता है । सरकार कीमत-यत्र के द्वारा होने वाले वितरण के दोषो को दूर करने के लिए न्यूनतम एव उचित वेतन प्रणाली, प्रगतिशील करारोपण, आर्थिक सहायता, सामाजिक सुरक्षा, अनुदान सम्पत्ति एवं आय की अधिकतम सीमा निर्धारण आदि के साथ-साथ निजी क्षेत्र की क्रियाओ पर प्रभावी नियन्त्रण की नीति का अनुसरण करती है । धन व आय की असमानताओं को कम करने तथा आर्थिक शोषण की प्रवृत्तियो को रोकने का प्रयास किया जाता है ।

(4) अति अल्पकाल मे राशनिंग व्यवस्था (Rationing in very short period)—अर्थव्यवस्था म अनेक बार ऐसी स्थितियां उत्पन्न होती हैं कि अल्पकाल मे किन्ही वस्तुओ की माग उनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है । ऐसी स्थिति में आर्थिक प्रणाली का महत्त्वपूर्ण कार्य (समस्या) मांग और पूर्ति के अल्पकालीन असन्तुलन को दूर करना है । ऐसी अवस्था मे स्थिर पूर्ति का राशनिंग दो प्रकार से करना पडेगा---पहला विभिन्न उपभोक्ताओ के बीच पूर्ति का आवटन ऐसे करना कि समस्त आय स्तरो पर उपभोक्ताओ को न्यायोचित मूल्यो पर वस्तु नियमित रूप से उपलब्ध हो सके तथा दूसरा दी हुई पूर्ति को समयावधि मे इस प्रकार वितरण करना कि अभाव की अवधि मे वस्तु की पूर्ति नियमित रखी जा सके ।

स्वतन्त्र उद्यम प्रणाली में कीमत प्रणाली (Price Mechanism)—अल्प काल म माग और पूर्ति के असन्तुलन को कीमत प्रणाली स्वत· समाप्त कर देती है । वस्तु की माग अधिक और पूर्ति कम होने से मूल्यो मे वृद्धि होगी और मूल्यो मे वृद्धि से माग घटकर पूर्ति के अनुकूल समायोजित हो जाएगी । इसी प्रकार समयावधि मे भी कुल स्थिर पूर्ति का राशनिंग मूल्य-यन्त्र से हो जाता है । पूंजीवादी अर्थव्यवस्था म सट्टा (Speculation) भी समयावधि मे वस्तु की पूर्ति व उपभोग को नियमित करता है । फसल के समय सटोरिये क्रय के सौदे करते हैं तथा पूर्ति का बहुत बड़ा भाग खरीद कर भविष्य मे ऊँचे मूल्यो पर बेचकर लाभोपार्जन का प्रयास करते हैं । अत· सट्टे के कारण अल्पकाल म वस्तु की पूर्ति के प्रवाह मे अधिक नियमित व समान होने की प्रवृति होती है । समयावधि म कीमतो का अन्तर (Gap) कम रहता है ।

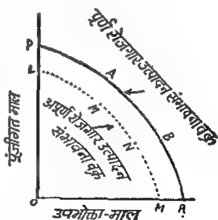
समाजवादी अर्थव्यवस्था मे अल्पकाल मे माग और पूर्ति के असन्तुलन को ठीक करने के लिए मूल्य-यत्र का सहारा नही लिया जाता वरन् राशन प्रणाली (Rationing) का सहारा लेकर प्रति परिवार या प्रति व्यक्ति के हिसाब से उपभोक्ता वस्तुओ और सेवाओ का प्रयोग प्राथमिकता के आधार पर नियोजित ढग से किया जाता है ।

मिश्रित अर्थव्यवस्था मे कीमत सयत्र को कायम रखते हुए दोहरी पद्धति का सचालन किया जाता है । एक ओर सरकार कुछ वस्तुओ के न्यूनतम एवं अधिकतम मूल्य निश्चित कर देती है जैसे भारत मे दवाइया, सीमेंट, लोहा आदि की कीमतें

निश्चित की गई हैं उससे अधिक कीमत लेने वाला दण्ड का भागी होता है। इसके विपरीत कुछ अनिवार्य वस्तुओं जैसे चीनी, गेहूं, चावल, सोडा आदि को राशनिंग व्यवस्था के अन्तर्गत बेचा जाता है। आजकल सरकार द्वारा उचित मूल्यों की दुकानों (Fair Price Shops) की स्थापना भी की जाती है। भारत इसका उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(5) साधनों का पूर्ण उपयोग या साधनों के पूर्ण रोजगार की व्यवस्था (Full Utilization or Full Employment of Resources)—प्रत्येक आर्थिक प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण समस्या या कार्य यह है कि उपलब्ध साधनों का पूर्ण उपयोग हो और सभी साधनों को पूर्ण रोजगार उपलब्ध हो सके। साधनों के पूर्ण रोजगार का अभिप्राय उनके उपयोग के उस स्तर से है जिसे समाज प्रयोग करने को तत्पर है। किस सीमा तक समाज अपने मानवीय या मानवेत्तर साधनों के प्रयोग का इच्छुक है जैसे कम उम्र में ही रोजगार पर लगना, अधिक समय तक काम, अवकाश की ऊँची उम्र होना या न होना तथा मानवेत्तर साधनों का वर्तमान में अधिक उपयोग करने पर भविष्य में भण्डार कम होना अथवा वर्तमान में कम उपयोग से भविष्य के लिए अधिक पूर्ति करना आदि है।

अगर समाज में साधनों के पूर्ण रोजगार की प्रवृत्ति हो तो समाज में पूँजीगत तथा उपभोक्ता दोनों प्रकार की वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। चित्र 4 में LM वह उत्पादन-सम्भावना-वक्र है जबकि साधनों को पूर्ण रोजगार उपलब्ध नहीं है अर्थात् साधनों के अनैच्छिक बेरोजगार या अर्द्ध बेरोजगार या अर्द्ध बेरोजगारी की अवस्था है जबकि PR वह ठोस रेखा है जो पूर्ण रोजगार की अवस्था में सम्भावित उत्पादन को प्रदर्शित करती है। LM के प्रत्येक बिन्दु पर उत्पादन का सम्भावित स्तर पूर्ण रोजगार की अवस्था में उत्पादन सम्भावना के वक्र PR के सभी बिन्दुओं से कम रहता है। इससे स्पष्ट है कि



चित्र 4

पूर्ण रोजगार की अवस्था में उत्पादन का स्तर बेरोजगार साधनों की अवस्था की अपेक्षाकृत ऊँचा होगा। अनैच्छिक बेकारी आर्थिक अकुशलता की चरम सीमा है। अतः नये साधनों की खोज व श्रम-शक्ति की वृद्धि पर रोजगार की अतिरिक्त व्यवस्था की जानी चाहिये।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में पूर्णरोजगार की व्यवस्था को कीमत प्रणाली पर आधारित किया जाता है। विनियोग व बचत पूर्ण रोजगार के आधार स्तम्भ हैं। ब्याज दर विनियोग की कीमत होती है। अगर ब्याज दर कम है तो विनियोग बढ़ेंगे और रोजगार भी बढ़ेगा। अगर विनियोग की मांग बचतों से अधिक है तो ब्याज दर बढ़ेगी तथा विनियोग की मात्रा प्राप्त बचतों के तुल्य होगी। पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का यह कटु अनुभव है कि केवल ब्याज दर ही पूर्ण रोजगार की स्थिति उपलब्ध नहीं करा सकती जैसे भीषण आर्थिक मंदी के समय। अतः राज्य की मौद्रिक नीति व राजकोषीय नीति का सहारा लेना पड़ता है।

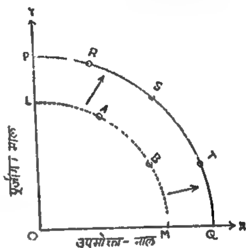
समाजवादी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की व्यवस्था योजनाबद्ध ढंग से प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। पूर्ण रोजगार को निजी बचतों व विनियोग पर न छोड़कर राज्य स्वयं नियोजित व्यवस्था से पूर्ण रोजगार उपलब्ध करता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में भी पूर्ण रोजगार प्रमुख लक्ष्य होता है। अतः कीमत संयत्र को पर्याप्त छूट दी जाती है और साथ-साथ सरकार भी रोजगार सम्वर्द्धन के प्रयास करती है। सार्वजनिक क्षेत्र में आर्थिक नियोजन का सहारा लिया जाता है। सरकार मौद्रिक, राजकोषीय, औद्योगिक एवं व्यापारिक नीति में इस प्रकार तालमेल बैठाती है कि अर्थव्यवस्था में साधनों के पूर्ण रोजगार की व्यवस्था हो जाय।

(6) **आर्थिक अनुरक्षण, विकास एवं लोच** (Economic Maintenance, Growth and Flexiblity)—आधुनिक युग में प्रत्येक आर्थिक प्रणाली की एक मुख्य समस्या न केवल अपनी वर्तमान उत्पादन क्षमता को भविष्य में भी बनाये रखना है बल्कि भावी भौतिक समृद्धि के लिए उत्पादन क्षमता का विस्तार एवं विकास करना भी है। आर्थिक प्रणाली में अनुरक्षण का आशय उत्पादन क्षमता को मूल्य ह्रास की व्यवस्था से यथास्थिर बनाये रखना है। मशीनों के निरन्तर प्रयोग से उनकी घिसावट टूट-फूट या समयावधि में नये आविष्कारों से उनके मूल्य में कमी को नयी पूंजी विनियोजन व्यवस्था से पूर्ववत स्तर पर बनाये रखना है।

आर्थिक विकास विस्तार या सम्वर्द्धन का अभिप्राय अर्थव्यवस्था में उत्पत्ति के साधनों किस्मों व मात्राओं में निरन्तर वृद्धि करना, नयी उत्पादन विधियों का विकास एवं प्रयोग, नयी वस्तुओं की उत्पत्ति तथा उत्पादन की विधियों में सुधार आदि से है। जनसंख्या में वृद्धि व श्रमिकों के प्रशिक्षण व कार्य कुशलता में वृद्धि से श्रमशक्ति का विकास होता है। इसी प्रकार वर्तमान उपभोग को कम कर पूंजीगत साधनों की वृद्धि की जा सकती है। उत्पादन विधियों में सुधार का सम्बन्ध नये आविष्कारों अनुसंधानों व नये उत्पादन साधनों की खोजों में निहित है जो बहुत कुछ आविष्कर्ताओं की रुचि के विद्वतापूर्ण उपोत्पाद (By Products) होते हैं पर अधिकांश अनुसंधान व सुधार लाभ की आकांक्षा के प्रत्यक्ष प्रतिफल होते हैं जैसा कि बड़े उद्योगों में स्थापित विकास शक्ति अनुसंधान केन्द्रों के लाभ इसके परिचायक हैं।

आर्थिक प्रणाली में विकास व विस्तार की प्रक्रिया अर्थव्यवस्था को उत्पादन के वर्तमान प्राप्य स्तर से भावी उच्च उत्पादन स्तर पर अग्रसर करती है जो वर्तमान में अप्राप्य सयोग को प्रदर्शित करती है। रेखाचित्र 5 द्वारा इसका निरूपण किया जा सकता है। चित्र मे LM वर्तमान उत्पादन सम्भावना वक्र है जबकि PQ भविष्य मे विकास एव विस्तार के फलस्वरूप उच्च उत्पादन संभावना वक्र है। LM रेखा के सन्दर्भ म PQ रेखा के R, S व T बिन्द वर्तमान म अप्राप्य सयोगो को बताते है क्योकि LM की परिधि से परे है पर जब अर्थव्यवस्था विकसित होकर PQ रेखा पर पहुँच जाती है तो जो पहले अप्राप्य सयोग थे वे प्राप्य सयोग बन जाते है। ज्यो ज्यो PQ रेखा O बिन्दु से ऊपर की ओर दूर होगी त्यो त्यो वह अधिक उत्पादन व विकास का द्योतक होगी।



चित्र 5

अर्थव्यवस्था के विकास विस्तार व वर्धन मे पर्याप्त लोच की भावना निहित है जिसमे उपभोक्ताओ की रुचि, फैशन मे परिवर्तन उत्पादन साधनो की उपलब्धता मे परिवर्तन टेकनोलोजी मे परिवर्तन अथवा सकटकालीन परिस्थितियो—युद्ध, प्राकृतिक प्रकोप मदी अथवा आर्थिक तेजी के समय मे साधनो के महत्त्वपूर्ण पुनर्वितरण से अर्थव्यवस्था मे समायोजन करना आवश्यक समस्या है।

पूँजीवादी (स्वतन्त्र-उद्यम प्रणाली) अर्थव्यवस्था में विकास, विस्तार एवं अनुरक्षण का कार्य भी बहुत कुछ मूल्य यन्त्र पर निर्भर करता है। अनुरक्षण के लिए ह्रास का मूल्य लागत के रूप मे कीमत मे सम्मिलित होने से कीमत वृद्धि उपभोग स्तर को कम कर उत्पादन क्षमता को बनाये रखने मे सहयोगी होती है। श्रमिको की दक्षता मे सुधार व विकास भी बहुत कुछ कीमत यन्त्र (Price Mechanism) से प्रेरित होता है। ज्यादा दक्षता व अधिक उत्पादन करने वाले श्रम को ऊँचे प्रतिफल की सभावना विकास व सुधार को प्रोत्साहित करती है। पूँजी निर्माण मे वृद्धि की प्रक्रिया भी अशत ब्याज और लाभ (क्रमश बचत व विनियोग की कीमत) से प्रभावित होती हैं। ब्याज बढ़ने पर बचत मे वृद्धि या लाभ की सम्भावना बढने से विनियोग मे वृद्धि की प्रवृत्ति होती है उत्पादन विधियो मे सुधार व विकास भी

लाभ की सभावना से होता है। सक्षेप में, प्रतिस्पर्धात्मक कीमतों के कारण तथा सर्वाधिक योग्य की जीत (Survival of the Fittest) के तत्वो से विकास, विस्तार व वर्धन की प्रक्रिया चलती है। फिर भी यह कहना युक्तिसगत है कि केवल कीमत यत्र ही विकास व अनुरक्षण की प्रक्रिया को स्पष्ट नही करती वरन् अन्य अप्रत्यक्ष तत्वों (ज्ञानोपार्जन, रुचि, प्राकृतिक सयोग आदि) का भी कुछ हाथ रहता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में अनुरक्षण या विकास की प्रक्रिया कीमत-सयत्र से सचालित नहीं होती वरन् राज्य की नीतियो के अनुरूप अधिकतम सामाजिक लाभ के तत्व से प्रभावित होती है। पूँजी का विनियोग सरकार वर्तमान और भविष्य के महत्त्व को देखकर करती है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था मे अनुरक्षण एव विकास के लिए कीमत प्रणाली तथा सरकारी नियन्त्रण का समन्वित प्रयोग होता है। सरकार उन क्षेत्रो में विनियोग और विकास योजनाएँ कार्यान्वित करती है जिन्हे निजी विनियोजक के हाथ म छोडना या तो सुरक्षा की दृष्टि स उपयुक्त न हो अथवा निजी क्षेत्र के साधनो से परे हो। कही-कही सयुक्त क्षेत्र का भी सहारा लिया जाता है और अर्थव्यवस्था के कुछ कम महत्वपूर्ण क्षेत्रो के लिए विनियोग निजी क्षेत्र मे छोड दिया जाता है जहाँ पर कीमत सयन्त्र को सीमित छूट दी जाती है। प्रो लेविस के मतानुसार मिश्रित अर्थव्यवस्था म सरकार आर्थिक नियोजन के द्वारा प्रति व्यक्ति आय को न गिरने देकर राष्ट्रीय आय म वृद्धि की दर म अधिक करने का प्रयास करती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. अर्थव्यवस्था या आर्थिक प्रणाली से आप क्या समझते हैं? एक अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याए (Central Problems) अथवा आधारभूत कार्य (Fundamental Functions) क्या-क्या हैं?

अथवा

अर्थव्य स्था किसे कहते हैं? उन मूलभूत आर्थिक समस्याओं का वर्णन कीजिये जिनको प्रत्यक अर्थव्यवस्था का हल करना पड़ता है।

(I. yr. T D C Raj 1973)

अथवा

अर्थव्यवस्था से आपका क्या तात्पर्य है एक अर्थव्यवस्था को किन आधारभूत समस्याओं का सामना करना पड़ता है समझाइये।

(I yr. T D C Raj 1977)

सकेत—अर्थव्यवस्था का अर्थ बताकर उसके बाद उसकी केन्द्रीय समस्याएँ—क्या उत्पादन किया जाय, कैसे उत्पादन किया जाय किनमे कितना वितरण हो, अल्पकाल में राशनिग की व्यवस्था कैसे हो, पूर्ण रोजगार व अर्थव्यवस्था के अनुरक्षण विकास कैसे—ये 6 आधारभूत कार्य हैं—इन्हे सक्षेप मे समझाइये।)

2. किसी अर्थव्यवस्था के कार्यकलापो (विशेषतया) उत्पादन, उपभोग एव विनियोग का पारस्परिक सम्बन्धो का उल्लेख कीजिये—अथवा अर्थव्यवस्था की जीवन्त प्रक्रियाओ को समझाइये ।

सकेत—अर्थव्यवस्था का सक्षेप म अर्थ बताकर अर्थव्यवस्था की जीवन्त प्रक्रिय (Vital Processes of an Economy) को सचित्र समझाइये ।)

3. अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याएँ या आधारभूत कार्य क्या हैं, पूँजीवादी एव समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ मे इन कार्यों (समस्याओ) का उत्पादन कैसे होता है ?

सकेत—अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्याओ के समाधान मे मूल्य-यन्त्र की भूमिका बताइये ।)

4. बाजार व्यवस्था (Market Economy) कीमत द्वारा शासित-प्रणाली है, कीमत प्रणाली के सफल सचालन मे मुख्य शर्तों व बाधाओ का उल्लेख कीजिये ।

सकेत—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे केन्द्रीय समस्याओ व आधारभूत कार्यों मे मूल्य-यन्त्र (Price Mechanism) की भूमिका अलग-अलग बताइये —फिर सफलता की शर्तें व सीमाएँ बताइये जो अध्याय 3 मे अलग-अलग शीर्षकानुसार बतलाये हैं ।)

5. स्वतन्त्र उद्यम प्रणाली (पूँजीवाद) मे कीमत-प्रणाली की कार्य विधि की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।

सकेत—प्रथम भाग मे स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली (पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अर्थ बताइये, फिर कीमत-प्रणाली का महत्त्व सभी समस्याओ के समाधान मे अलग-अलग बताइये तथा अन्त मे उसकी सीमाओ को बताकर मूल्याकन कीजिए ।)

6. कीमत प्रणाली बाजार व्यवस्था की उपज है जिसके अन्तगत उपभोक्ताओ व उत्पादको को चयन की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है । क्या चयन की स्वतन्त्रता वस्तुत व्यवहार में होती है ?

सकेत—कीमत प्रणाली पूँजीवाद की उपज कैसे है—यह बताइये । इसके लिए उपभोक्ताओ द्वारा मुद्रा व्यय से साधनो को आवटन, उत्पादको द्वारा कीमतो से मार्ग दर्शन होता है । कीमत प्रणाली के सफल सचालन मे अनेक शर्तें पूरी होनी चाहिये, वे व्यवहार मे पूरी नही होती, उनकी अनेक सीमाएँ हैं । अत. यह केवल मात्र भ्रम है (अध्याय दो में मूल्य-यन्त्र की सफलता व सीमाओ के सन्दर्भ में विवरण दीजिये ।)

7. प्रत्येक आर्थिक संगठन को किन प्रमुख आर्थिक समस्याओ का हल निकालना होता है । कीमत-प्रणाली द्वारा किये गये साधन आवटन मे क्या दोष हो सकते है ?

सकेत—अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याओ का उल्लेख कीजिए तथा कीमत प्रणाली के दोषो (अगले अध्याय) का उल्लेख कीजिये।

8 'एक अर्थव्यवस्था ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा लोग आजीविका प्राप्त करते हैं," इस कथन की व्याख्या कीजिये।

(प्रथम वर्ष कला-विशेष परीक्षा—1974)

सकेत—ब्राउन के इस कथन को समझाइये और दूसरी परिभाषाएँ देकर अर्थव्यवस्था (आर्थिक प्रणाली) का आशय स्पष्ट कीजिये। अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ बताकर उसके विभिन्न स्वरूप पूँजीवाद समाजवाद, मिश्रित आदि सक्षेप मे समझाना है।

9 एक अर्थव्यवस्था के आधारभूत काय कौन-कौन से हैं ? एक स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था में उनका समाधान किस प्रकार किया जाता है ?

(I yr T D C Raj 1976, 1979)

सकेत—अर्थव्यवस्था का सक्षेप मे अर्थ बताकर उसके 6 आधार भूत कार्यों का वर्णन कीजिये और प्रत्येक में पूँजीवाद के अन्तर्गत मूल्य यन्त्र द्वारा उनके समाधान को स्पष्ट कीजिये।)

10 सेम्यूलसन के अनुसार एक अर्थ प्रणाली की केन्द्रीय समस्याएँ क्या क्या हैं ? एक पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में उनका समाधान किस प्रकार किया जाता है ?

(I yr T D C (Non-Collegiate), 1974)

सकेत—सेम्युलसन के अनुसार अर्थ प्रणाली के तीन कार्यों केन्द्रीय समस्याओ को पूँजीवादी प्रणाली के सन्दर्भ मे समझाना है, चित्र देना है।)

11 अर्थव्यवस्था के विभिन्न कार्य कौन से होते हैं ? समाजवादी एव पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ किस प्रकार कार्य करती हैं ?

(Raj T. D C I yr 1978, 1980)

सकेत—अर्थव्यवस्था का सक्षेप में अर्थ बताकर उसके कार्यों को बताना है तथा तीसरे भाग मे दोनो में कार्य सम्पादन को समझाना है।)

2

साधनों के चयन व आवंटन की समस्या एवं मूल्य-यन्त्र की भूमिका

(Problem of Choice & Allocation of Resources & the Role of Price System)

साधन सीमित हैं और आवश्यकताएँ अनन्त हैं अत इन सीमित साधनो से अधिकतम आर्थिक लाभ या सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। यही नही साधनो मे सीमितता के साथ साथ उनके वैकल्पिक प्रयोग भी नयी समस्या उत्पन्न करते हैं। जैसे लोहे का प्रयोग रसोई के बर्तन, कीलें, बाल्टियाँ आदि बनाने के लिए भी किया जा सकता है या उसका उपयोग अस्त्र-शस्त्र ट्रैक्टर, मशीनें औजार बनाने के लिए भी किया जा सकता है ईटो से मकान भी बनाया जा सकता है या उनका प्रयोग कारखाने या सिंचाई कार्यों मे भी किया जा सकता है। अत साधनो की सीमितता के साथ उनके वैकल्पिक प्रयोगो को दृष्टिगत रखते हुए अगर उनका प्रयोग अधिक महत्वपूर्ण कार्यों मे किया जाए तो अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) का लक्ष्य पूरा होने मे सहायता मिलेगी।

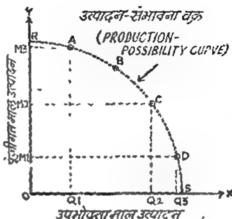
(A) साधनो का उपभोग एव उत्पादन मे आवटन की समस्या

(Problem of Resources Allocation Between Consumption and Production)

समाज के पास साधन सीमित होते हैं और उनके वैकल्पिक उपयोग हैं, पर साध्य अनेक हैं अत समाज को यह निर्णय करना पडता है कि साधनो को उत्पादन वस्तुओ (Production Goods) के उत्पादन मे प्रयुक्त किया जाय या उपभोग वस्तुओ के उत्पादन मे प्रयुक्त किया जाए। कोई भी समाज केवल एक ही प्रकार की वस्तुयें उत्पादन कर अधिकतम सामाजिक कल्याण का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता है अत दिए हुए साधनो का प्रयोग उत्पादक वस्तुओं तथा उपभोक्ता वस्तुओ दोनो मे इस प्रकार किया जाना है कि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके।

उदाहरण के लिए माना कि समाज मे दिए हुए ज्ञान एव परिस्थितियो मे पूँजीगत वस्तुओं (Production Goods) तथा उपभोग वस्तुओ के विभिन्न सयोग

क्रमश A,B,C तथा D उत्पादन-सम्भावना वक्र Production Possibility Curve-(PPC) पर दर्शाये गये हैं जैसा चित्र 1 मे स्पष्ट है।



चित्र 1

चित्र 1 म RABCDS उत्पादन-सम्भावना वक्र (PPC) है जो देश मे उपलब्ध साधनो से उत्पादक वस्तुओ तथा उपभोक्ता वस्तुओ (Production Goods तथा Consumption Goods) के विभिन्न सयोगो को बताती हैं। अगर पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन अधिक OM_3 किया जाता है तो उपभोग वस्तुओ का उत्पादन OQ_1 ही होगा। इसी प्रकार दूसरा सयोग (OM_2+OQ_2) तथा तीसरा सयोग ऐसा होता है जिसमे उपभोक्ता वस्तुओ का भाग अधिक OQ_3 बढाया जाता है तो उत्पादक माल घटकर OM_1 ही रह जाता अर्थात् एक प्रकार के माल की उत्पत्ति घटाने पर ही दूसरे प्रकार के माल की पूर्ति बढाई जा सकती है अन्यथा नही। हॉ अर्थव्यवस्था में विकास के फलस्वरूप साधनो की कुल मात्रा पहले की अपेक्षा बढ जाए या उनकी उत्पादन कुशलता मे वृद्धि हो जाए तो दोनो प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन मे एक साथ वृद्धि सम्भव हो जाती पर साधनो की पूर्ति व कुशलता यथास्थिर रहने पर एक प्रकार की वस्तुओ में उत्पादन वृद्धि दूसरी प्रकार की वस्तुओ की उत्पत्ति मे कमी किये बिना सम्भव नही होती जैसा क चित्र मे स्पष्ट है।

अत अब प्रश्न उठता है कि समाज मे उपभोक्ता वस्तुओ (Consumer Goods) की कितनी मात्रा उत्पन्न की जाये और कितना उत्पादन उत्पादक वस्तुओ Producer's Goods) का हो। उपभोक्ता वस्तुओ मे वे वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं जो उपभोक्ताओ की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपलब्ध हो जबकि उत्पादक वस्तुओ म उन वस्तुओं का समावेश होता है जो और अधिक उत्पादन मे सहायक होती हैं। यदि कोई समाज अपने-अपने ससाधनों की अधिक मात्रा उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन मे प्रयुक्त करे तथा उत्पादक वस्तुओ के निर्माण की उपेक्षा करे निकट भविष्य या वर्तमान म उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि से देशवासियो का जीवन-स्तर शीघ्र बढेगा पर यह वृद्धि अल्पकालीन ही होगी। क्योंकि उत्पादक वस्तुओ की उपेक्षा के कारण उपभोक्ता वस्तुओ को उत्पादन करने वाली शक्ति या

आधार ही कमजोर हो जायगा जिससे अन्ततः जीवन-स्तर घट जायेगा। इसके विपरीत अगर समाज उत्पादक वस्तुओ के निर्माण पर अत्यधिक साधनो का आवटन करे और उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन की उपेक्षा हो तो प्रारम्भिक अवस्था मे तो समाज का जीवन स्तर वहुत घट जायगा किन्तु भविष्य मे उपभोक्ता वस्तुओ का सम्भाव्य उत्पादन (Potential Production) कही अधिक होगा। अतः साधनो को दोनो प्रकार के प्रयोगो मे आवटन करने मे इस प्रकार का सन्तुलन एव समन्वय बैठाया जाना चाहिये कि वर्तमान मे उपभोग स्तर को बिना अधिक घटाये भावी जीवन स्तर मे काफी सुधार की सम्भावनाएँ बन सकें।

अत प्रत्येक अर्थव्यवस्था मे साधनो की स्वल्पता, उनके वैकल्पिक प्रयोगो तथा अनेक आवश्यकताओ के कारण उपलब्ध साधनो से (i) क्या उत्पादन किया जाय और (ii) कितना उत्पादन किया जाय कि ये दो समस्याएँ साधनो के आवटन को प्रभावित करती हैं। साधनो के आवटन मे मूल्य-यन्त्र की भूमिका का विवरण इसी अध्याय मे आगे दिया गया है।

(B) उत्पादन में साधनों के आवंटन या नियोजन की समस्या

(Problem of Allocation of Resources in Production)

प्रत्येक उत्पादन कार्य मे उत्पत्ति के पाच साधन—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध एवं साहस की आवश्यकता होती है। प्रत्येक उत्पादक अपने लाभ को अधिकतम करना चाहता है। वह अपने उत्पादन की अधिकतम मात्रा कम से कम लागत पर तैयार करके ही अधिकतम लाभ कमा सकता है। अत उत्पादक को उत्पादन के विभिन्न साधनो मे आदर्शतम सयोग (Optimum Combination) बैठाना पडता है। उत्पादन मे कुछ सीमा तक प्रतिस्थापन की प्रवृति होती है अतः उत्पादक महगे साधनो को सस्ते साधनो से प्रतिस्थापन करता रहता है और यह प्रतिस्थापन की प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि उत्पादन के सभी साधनो की सीमान्त उत्पत्ति एव उनकी कीमतो का अनुपात बराबर-बराबर हो जाय। अत उत्पादन कार्य मे उत्पत्ति के साधनो मे उपयुक्त आवटन की स्थिति मे निम्न शर्तें पूरी होनी चाहिये।

$$(i) \frac{MRPx}{Px} = \frac{MRPy}{Py} = \frac{MRPz}{Pz} \ldots\ldots \frac{MRPn}{Pn}$$

इसका अभिप्राय है कि उत्पादक को अधिकतम लाभ तभी सम्भव होगा जबकि वह उत्पत्ति के विभिन्न साधनो के सयोग इस प्रकार करे कि एक साधन की सीमान्त आय-उत्पादन (Marginal Revenue Product) तथा उसकी कीमत जो साधन-मूल्य (Factor Price) के रूप मे चुकानी पडती है, का अनुपात दूसरे साधनो की सीमान्त आय-उत्पाद व उनकी कीमतो के अनुपात के बराबर-बराबर हो जाय तभी साधनो का उत्पादन कार्य मे नियोजन आदर्शतम सयोग (Optimum Combination) को प्रदर्शित करेगा।

प्रथम सूत्र में कुल उत्पादन व्यय पर ध्यान नहीं दिया गया है जबकि व्यवहार में प्रत्येक उत्पादक के साधन सीमित होते हैं और वह उसी पूँजीगत व्यय से साधनों का आदर्शतम संयोग बैठाना चाहता है। अतः कुल उत्पादन व्यय (कुल उत्पादन लागत) के परिप्रेक्ष्य में साधनों के उत्पादन में अनुकूलतम संयोग के लिए यह दूसरी शर्त भी पूरी होना चाहिए —

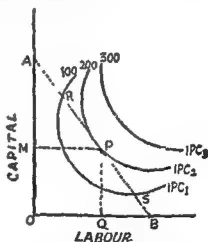
(ii) साधनों पर व्यय की जाने वाली कुल राशि निर्धारित पूँजीगत व्यय (लागत) के बराबर होना चाहिये। सूत्र के रूप में :—

$(Qx.Px)+(Qy\ Py)+(Qz\ Pz)+ \quad (Qn\ Pn)=$ Total Expenditure
अथवा Total Cost

अतः स्पष्ट है कि उत्पादन के क्षेत्र में साधनों के सर्वोत्तम आदर्श हेतु दोनों शर्तें पूरी होनी चाहिये तथा कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्भव होगा।

समोत्पाद वक्र विधि (Iso product Curve Method) —

उत्पादक द्वारा उत्पादन के विभिन्न साधनों के सर्वोत्तम संयोग के लिये समोत्पाद वक्रों की भी सहायता ली जाती है। समोत्पादक वक्र वह वक्र है जो उत्पत्ति के दो साधनों के ऐसे संयोगों को बताता है जिनसे प्राप्त उत्पादन बराबर है। अतः उत्पादक उन साधनों में संयोग करते समय यह देखेगा कि जिस समोत्पाद वक्र के कीमत अनुपात रेखा स्पर्श रेखा (Tangent) हो वही आदर्शतम संयोग को बताती है। चित्र 2 में IPC_1, IPC_2, तथा IPC_3 तीन समोत्पादक वक्र बताये गये हैं जो श्रम और पूँजी के विभिन्न संयोगों पर उत्पादन का अलग-अलग स्तर बताते हैं। IPC_2



चित्र 2

समोत्पादक वक्र के P बिन्दु पर साधनों की मूल्य आनुपातिक रेखा AB स्पर्श रेखा है यही आदर्शतम संयोग बिन्दु है। इसके अतिरिक्त IPC_3 वक्र उत्पादक के वर्तमान साधनों से अप्राप्य है जबकि IPC_1 के बिन्दु R और [redacted] कम उत्पादन मात्रा 100 बताते हैं अतः उत्पादक को पूँजी की OM मात्रा तथा श्रम की OQ मात्रा नियोजन में ही अधिकतम लाभ की सम्भावना है जहाँ प्रचलित कीमतों पर 200 इकाइयाँ उत्पादित की जा सकती हैं।

जिस प्रकार उत्पादक अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये विभिन्न साधनो मे अनुकूलतम सयोग बैठाने का प्रयास करते हैं उसी प्रकार विभिन्न उत्पादन साधनो के स्वामी—भूमि का भूस्वामी, श्रम का श्रमिक, पूँजी का पूँजीपति तथा साहस का साहसी अपने साधनो को विभिन्न प्रयोगो मे उनके मूल्य के अनुसार इस प्रकार *विभाजित करते हैं कि प्रत्येक उपयोग मे साधन की सीमान्त आय बराबर* हो जाय अर्थात् प्रत्येक उपयोग मे सीमान्त आय लगभग समान हो जाय अन्यथा उत्पादन साधन कम उपयोगी एव कम लाभप्रद उद्योगो से अधिक लाभप्रद उद्योगो की ओर आकर्षित होगे।

जैसे सीमेन्ट उद्योग से श्रमिक को वस्त्र उद्योग मे अधिक वास्तविक मजदूरी मिलती है तो श्रमिक सीमेन्ट उद्योग से वस्त्र उद्योग की ओर आकर्षित होगे। परिणाम स्वरूप सीमेन्ट उद्योग मे श्रमिको की पूर्ति कम और वस्त्र उद्योगो मे पूर्ति बढ जायेगी। इससे सीमेन्ट उद्योग मे मजदूरी बढेगी तथा वस्त्र-उद्योग मे मजदूरी घटेगी *और अन्तत: दोनो उद्योगो मे वास्तविक मजदूरी प्राय: समान* ही हो जायेगी। इस प्रकार कीमत यन्त्र अपने आप साधनो को एक उद्योग से दूसरे उद्योग की ओर आवटित करता रहता है।

(C) उपभोक्ताओं द्वारा उपभोग में साधन आवंटन

(Allocation of Resources for Consumption by Consumers)

प्रत्येक उपभोक्ता की आवश्यकताएँ अनन्त और साधन सीमित होते हैं। प्रत्येक उपभोक्ता इन सीमित साधनो से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। ऐसी अवस्था मे सब उपभोक्ता पूँजीवादी बाजार मे अपनी आय को विभिन्न उपयोगो पर इस प्रकार वितरित करते हैं कि प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता एव कीमत का अनुपात दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता एव उसकी कीमत के अनुपात के बराबर-बराबर हो जाय। गणितीय सूत्र के रूप मे हम इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :—

$$\frac{Mu_a}{P_a} = \frac{Mu_b}{P_b} = \frac{Mu_c}{P_c} = \frac{Mu_d}{P_d} \ldots\ldots \frac{Mu_n}{P_n} \quad \ldots$$

उपरोक्त समीकरण मे उपभोक्ता द्वारा अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए साधनो के आवटन की पहली शर्त पूरी होती है किन्तु इसमे उपभोक्ता के आय-प्रतिबन्ध पर कोई ध्यान नही दिया गया है जबकि व्यवहार मे प्रत्येक उपभोक्ता की आय आवश्यकताओ की तुलना मे कम होती है। अतः अगर उपभोग के लिये साधन आवटन मे हम आय प्रतिबन्ध (Income Constraint) को भी सम्मिलित करलें तो उपभोक्ता द्वारा अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए समीकरण (1) की शर्त पूरी होने के साथ समीकरण (2) की शर्त भी पूरी होना आवश्यक है :—

उपभोक्ता द्वारा अधिकतम सन्तुष्टि की दूसरी शर्त है कि उपभोक्ता की कुल आय उसके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं की मात्रा व उसकी कीमतों के गुणनफल के समग्र योग के बराबर होनी चाहिए। गणितीय सूत्र के रूप में —

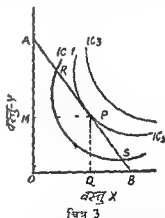
$$\text{आय Income} = \left(\text{वस्तु A की खरीदी गई मात्रा} \times \text{वस्तु A की प्रति इकाई कीमत}\right)$$
$$+ \left(\text{वस्तु B की खरीदी गई मात्रा} \times \text{वस्तु B की प्रति इकाई कीमत}\right)$$
$$+ \quad \left(\text{वस्तु n की खरीदी गई मात्रा} \times \text{वस्तु n की प्रति इकाई कीमत}\right)$$

अर्थात् $I = (A \times P_a) + (B \times P_b) + (C \times P_c) \quad .... \quad ....(N \times P_n) \quad (2)$

स्पष्ट है कि उपभोग के लिये साधन आवन्टन में अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करने के लिये न केवल समीकरण (1) की शर्त पूरी होनी चाहिये वरन् साथ-साथ समीकरण (2) की शर्त का भी पूरा होना अनिवार्य है। दोनों शर्तों के एक साथ पूरा होने पर ही अधिकतम सन्तुष्टि होगी।

तटस्थता वक्र विधि (Indifference Curve Method)

तटस्थता वक्र विश्लेषण के आधार पर भी उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि बिन्दु पर तब होगा जहा तटस्थता वक्र रेखा के मूल्य आनुपातिक रेखा (Price ratio line) स्पर्श रेखा (Tangent) होगी। चित्र 3 के रूप में IC_2 ऐसा तटस्थता वक्र है जो उपभोक्ता के x और y वस्तु के विभिन्न संयोगों को बताता है जहा उपभोक्ता की सन्तुष्टि समान है। AB मूल्य आनुपातिक रेखा है वह IC_2-वक्र के P बिंदु पर स्पर्श रेखा (Tangent) है, अतः उपभोक्ता के लिए x की OQ मात्रा तथा y वस्तु की OM मात्रा अधिकतम सन्तुष्टि का बिन्दु है।



चित्र 3

तटस्थता वक्र रेखा—IC_1 के R तथा S बिन्दु के संयोग उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान नहीं करते क्योंकि उपभोक्ता नीची तटस्थता-वक्र पर ही रहता है। P बिन्दु तटस्थता वक्र IC_2 पर है जो तटस्थता वक्र IC_1 से ऊपर है और अधिक सन्तुष्टि का द्योतक है। IC_3 उपभोक्ता के अप्राप्य संयोगों को बताती है क्योंकि उपभोक्ता की आय इतनी कम है कि वह अपनी वर्तमान आय से तटस्थता वक्र IC_3 के बिन्दुओं पर पहुचने में असमर्थ है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि उपभोक्ता भी अपनी सन्तुष्टि अधिकतम करने के लिए अपने साधनो (आय) को विभिन्न उपयोगो पर इस प्रकार व्यय करते है कि प्रत्येक वस्तु के उपयोग से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता एव कीमत का अनुपात दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा उसकी कीमत के अनुपात के बराबर हो जाय तभी उपभोक्ता को अपने साधनो के उपयोग मे अधिकतम सन्तुष्टि मिल सकेगी, अन्यथा नही। तटस्थता-वक्र के अनुसार भी उपभोक्ता की सन्तुष्टि विभिन्न उपयोगो के सयोगों मे उस समय अधिकतम होती है जब मूल्य आनुपातिक रेखा तटस्थता वक्र के स्पर्श रेखा (Tangent) होती है। इसमे हमारी यह मान्यता है कि उपभोक्ता अपनी आय को विवेक से व्यय करता है तथा उस पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण या बाधा नही है। बाजार मे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

कीमत प्रणाली अथवा मूल्य-यन्त्र

(Price System or Price Mechanism)

प्रो. रोबर्ट डार्फमैन के अनुसार कीमत संयन्त्र (Price mechanism) आर्थिक संगठन की वह पद्धति है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति एव संस्थाएं स्वय निर्णय लेती हैं कि वे अर्थव्यवस्था मे क्या योगदान दें तथा अपने योगदान को किस कीमत पर बेचें जो उसे स्वयं को तथा केता दोनो को स्वीकार हो तथा साथ ही केता भी दूसरों द्वारा प्रदत्त वस्तुओ और सेवाओ को उस कीमत पर प्राप्त कर सके जो विक्रेताओं को स्वीकार हो।

इस प्रकार कीमत-सयत्र एक ऐसा अचेतन, स्वाभाविक एव स्वचालित यन्त्र है जो वस्तुओ और सेवाओ के साथ-साथ साधनो की कीमतें निर्धारित कर उत्पादन प्रक्रिया को सचालित करता है। कीमत यन्त्र का महत्व निर्बाध एव स्वतन्त्र आर्थिक प्रणालियो मे ही अधिक है इसी कारण कीमत यन्त्र पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली का जीवन-दायक रक्त-प्रवाह है। पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली की सभी मूलभूत आर्थिक समस्याओ (क्या और कितना उत्पादन किया जाय? कैसे उत्पादन किया जाय? उत्पादन का वितरण किनमे हो? साधनो का विभिन्न क्षेत्रो मे आवटन, पूर्ण रोजगार एव विकास) का हल कीमत-सयन्त्र मे निहित होता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था मे कीमत सयत्र नियन्त्रित एव कृत्रिम होता है जबकि मिश्रित अर्थव्यवस्थाओ मे कीमत-सयन्त्र आर्थिक लक्ष्यो के अनुरूप बनाया जाता है।

प्रो. हाम (Halm) के शब्दों में "कीमत संयन्त्र वह पद्धति है जो करोडों लोगो के परस्पर आश्रित व्यक्तिगत निर्णयो तथा क्रियाओ पर आधारित होती है तथा उत्पादक साहसियो के स्वतन्त्र व्यक्तिगत निर्णयो का परिणाम होता है।

कीमत प्रणाली की मूलभूत बातें (Fundamentals of Price Mechanism)—

(1) कीमत संयन्त्र अनेक केताओ और विक्रेताओ के परस्पर आर्थिक निर्णय व क्रियाओ का सामूहिक प्रतिफल होता है। अकेला उत्पादक अथवा अकेला

उपभोक्ता कीमत-यन्त्र का संचालन नहीं करता क्योंकि एक का प्रभाव समूची अर्थ व्यवस्था में नगण्य होता है।

(2) कीमत प्रणाली आर्थिक संगठन में माग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों में परिवर्तन के द्वारा साधनों, वस्तुओं और सेवाओं के आवंटन का कार्य करती है। जिन वस्तुओं की माग घटती है उनकी कीमतें प्राय गिरती हैं और माग बढ़ने पर कीमतें बढ़ती हैं जबकि पूर्ति पक्ष में पूर्ति बढ़ने पर कीमतें प्राय घटती हैं जबकि पूर्ति घटने पर कीमतें बढ़ती हैं अत साधनों का आवंटन कम कीमत वाले क्षेत्रों से हटकर अधिक कीमत वाले क्षेत्रों में होता है।

(3) कीमत प्रणाली व्यक्तियों के स्वतन्त्र आर्थिक निर्णयों से स्वचालित (Automatic) रहती है। निर्णयों में समन्वय व तालमेल के लिए किसी केन्द्रीय अधिकारी की आवश्यकता नहीं पड़ती। माग में परिवर्तन स्वत सम्बन्धित प्रक्रियाओं को उत्पन्न कर नया सन्तुलन स्थापित कर देती है।

(4) उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों समूहों का एक दूसरे के निर्णयों व क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। अपने निजी लाभ की तलाश में रहने वाले अनेक उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के पृथक् पृथक् निर्णयों से स्वतः परिवर्तन उत्पन्न होते हैं जो उत्पादन प्रक्रिया को प्रेरित कर अर्थव्यवस्था का सचालन करते हैं।

(5) कीमत यन्त्र निर्बाध एवं स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में ही भली प्रकार कार्य कर सकता है और इसके सफल सचालन के लिए पूर्ण प्रतियोगिता, आर्थिक स्वाधीनता, पूर्ण रोजगार अवस्था, साधनों में पूर्ण गतिशीलता तथा द्रव्य का व्यापक प्रयोग आदि शर्तें पूरी होना आवश्यक है। इनके अभाव में कीमत सयन्त्र की सफलता संदिग्ध है।

(6) कीमत स्यन्त्र स्वचालित होते हुए भी अनिवार्यत सर्वोत्तम या उपयुक्त नहीं होता। क्योंकि निजी लाभ के सभी निर्णय सामाजिक दृष्टि से भी लाभदायक हो, आवश्यक नहीं है। कीमत सयन्त्र साधनों का बटवारा धनिकों के पक्ष में कर निर्धनों की दुर्दशा करता है। जहा एक ओर धनिकों के कुत्तों को दूध, मेवा, मिष्ठान मिलते हैं तो दूसरी ओर निर्धन रोटी के लिए तरसता है।

साधन आवंटन में मूल्य यन्त्र की भूमिका अथवा कार्य
(Function or Role of Price Mechanism in Allocation of Resources)

उत्पादन व उपभोग के क्षेत्र में साधन आवटन की समस्या बड़ी जटिल समस्या है। राज्य के हस्तक्षेप की मात्रा और प्रकृति के अनुरूप प्रत्येक अर्थव्यवस्था में साधनों के आवटन में मूल्य यन्त्र की भूमिका में अन्तर पाया जाता है। प्राय मूल्य यन्त्र अथवा कीमत प्रणाली के प्रमुख कार्यों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है (1) साधन आवटन कार्य (Resources Allocation Function) जिसमें मूल्य यन्त्र साधनों का विभिन्न प्रयोगों में आवटन करने में सहायक होता है। उन साधनों में एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में प्रतिस्थापन की प्रक्रिया का क्रम तब तक चलता है

जब तक कि आदर्शतम सामन्जस्य न बैठ जाय- (ii) साधनो में वितरण कार्य (Distributive Function among Factors of Production) मूल्य यन्त्र उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को सामूहिक उत्पत्ति में, उनका हिस्सा निर्धारित करने तथा उनमे सन्तुलन स्थापित करने में सहायक होता है (iii) समन्वय व सन्तुलन कार्य (Coordination and Balancing Function–) मूल्य यन्त्र विभिन्न वस्तुओ व सेवाओ, उत्पादन के साधनो आदि की माग एव पूर्ति में सन्तुलन बैठा कर तथा उनमें समन्वय स्थापित कर अर्थव्यवस्था के सफल सचालन में मदद करता है। (iv) मार्गदर्शन कार्य (Guiding Function)—मूल्य यन्त्र आर्थिक क्रियाओ में मार्गदर्शन का कार्य करता है । उपभोक्ता मूल्य यन्त्र की सहायता लेकर अपनी सन्तुष्टि अधिकतम कैसे कर सकते है, उत्पादक उत्पादन का सगठन कैसे तय करें कि कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन करके वे अपने लाभ को अधिकतम कर सकते हैं। क्या उत्पादन करें और कितना उत्पादन करें। इसी प्रकार उत्पादन साधन भी अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित करने म मूल्य यन्त्र से मार्ग दर्शन लेते है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था के स्वरूप व प्रकृति के अनुरूप इन कार्यों मे अन्तर प्रवृत्ति होती है—अत साधन आवटन मे मूल्य-यन्त्र की भूमिका का अध्ययन अलग अलग अर्थव्यवस्थाओं मे इस प्रकार है—

(अ) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में साधन-आवंटन में मूल्य यन्त्र की भूमिका
(Role of Price System in Resources Allocation in Capitalistic Economy)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था या स्वतन्त्र उपक्रम अर्थव्यवस्था में उत्पत्ति व वितरण के साधनो पर निजी व्यक्तियो या सस्थाओ का स्वामित्व होता है और वे उन साधनो को अपने निजी लाभ के लिए प्रतियोगिता के आधार पर प्रयुक्त करते हैं। अर्थव्यवस्था में वस्तुओ का मूल्यांकन (Valuation) कीमतो द्वारा होता है जिसमें कीमतें उपभोक्ता, उत्पादक तथा उत्पादन साधनो के स्वामियो की रुचि, आवश्यकता एवं प्राथमिकताओ की सूचक होती है अत कीमत यन्त्र साधनो के आवटन को निम्न प्रकार से प्रभावित करता है—

(i) क्या उत्पादन किया जाय ?—कीमतें उपभोक्ता वर्ग की रुचि एव आवश्यकताओ को अभिव्यक्त (Reflect) करती है। उपभोक्ता अपनी आयो को विभिन्न वस्तुओ पर व्यय करने को पूर्ण स्वतन्त्र होते है। अत उपभोक्ता अपने व्यय द्वारा यह निर्धारित करते हैं कि किन-किन वस्तुओ का उत्पादन हो। उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय को व्यय करते समय जिन-जिन वस्तुओ के पक्ष मे अपने मुद्रा रूपी वोट (Money-vote) अधिक देने को तत्पर होते हैं तो उत्पादको को ऐसी वस्तुओ के उत्पादन मे ही सामान्य लाभ से अधिक लाभ की आशा रहती है। अत वे उपभोक्ता की माग के अनुरूप वस्तुओ का उत्पादन करने में साधनो को लगाते है। इसके विपरीत जिन वस्तुओ के उपभोग पर उपभोक्ता अपनी आय व्यय करने को तत्पर नही है या कम उत्सुक है तो ऐसी वस्तुओ के उपभोग के लिए मुद्रा-रूपी-वोट कम

देने को तत्पर होंगे। इससे उत्पादकों को ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में साधन लगाने में सामान्य लाभ से कम ही लाभ मिलने की सम्भावना रहती है या हानि का भय रहता है। अत उत्पादक उत्पादन के साधनों को उन वस्तुओं के उत्पादन में आवंटित करते हैं जिनमें उपभोक्ता अपनी आय व्यय करते हैं अत. ऊंची कीमतों वाली वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

उपभोक्ताओं के अपनी आय को व्यय करने की इस प्रवृत्ति से अर्थव्यवस्था में कीमतों की एक ऐसी शृंखला बन जाती है जो उपभोक्ताओं के लिए वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्यों के रूप में साधनों के आवटन को प्रभावित करती हैं। जिन वस्तुओं पर उपभोक्ता अधिक व्यय करेंगे उनकी कीमतें बढेंगी। परिणामस्वरूप साधनों का आवटन ऐसी वस्तुओं के उत्पादन की ओर आकर्षित होगा और उन वस्तुओं के उत्पादन पर जिनके लिए उपभोक्ता अपनी आय का बहुत कम भाग व्यय करते है उन वस्तुओं की माग घट जायगी और मूल्य नीचे गिरेंगे जिनसे साधनों का आवटन उन वस्तुओं के उत्पादन में रुक जाएगा। जैसे अगर उपभोक्ता अनिवार्य वस्तुओं के उपभोग पर व्यय करते हैं तो साधनों का आवटन ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में होगा। पर अगर वे विलासिता की वस्तुओं पर अधिक व्यय करने लग जायें तो अनिवार्य वस्तुओं के उत्पादन में साधनों का आवटन रुक जायेगा और विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन पर साधनों का आवटन बढ जायगा। इससे स्पष्ट है कि पूजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमत-यन्त्र (Price Mechanism) उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को उद्योगों तथा साधन पूर्तिकर्ताओं तक पहुचाती है और उनसे उचित उत्तर निकलवाती है।

(ii) कैसे उत्पादन किया जाए ? (How to produce ?)—इस समस्या का हल भी पूजीवादी अर्थव्यवस्था में मूल्य-यन्त्र (Price Machanism) द्वारा होता है। प्रत्येक उत्पादक कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन कर अपने लाभ को अधिकतम करने की चेष्टा करता है अत इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्पादक साधनों की कीमत व उनकी सीमान्त उत्पत्ति को ध्यान में रखता है। वह महगे साधनों के स्थान पर सस्ते साधनों का प्रतिस्थापन तब तक करता जाता है जब तक कि उत्पादन कार्य में प्रत्येक साधन का सीमान्त आगम (MRP) व इनकी कीमतों के अनुपात परस्पर बराबर न हो जायें।

अर्थात् $\frac{MRP_a}{P_a} = \frac{MR_b}{P_b} = \frac{MRP_c}{P_c}$ की शर्त पूरी होनी चाहिए।

(iii) उत्पादन का वितरण किनमें हो (To whom is to distributed ?) देश में उत्पादन का वितरण भी पूजीवादी अर्थव्यवस्था में बहुत कुछ उत्पादन साधनों की कीमतों तथा साधनों के वितरण की मात्रा पर निर्भर करता है। जिन उत्पादन साधनों की कीमतें ऊची होंगी उनके स्वामियों को राष्ट्रीय आय में, अन्य बातों के

समान रहते हुए अधिक भाग मिलेगा और जिन साधनों की कीमतें नीची होंगी, उनको राष्ट्रीय आय में कम भाग मिलेगा।

(iv) साधनों के स्वामी या पूर्तिकर्ता (Resources Suppliers) भी अपने साधनों के आवंटन (Allocation) में वस्तुओं की कीमत से निर्देशित (Guide) होते हैं। वे अपने साधनों को उन फर्मों या उद्योगों के पक्ष में आवंटित करेंगे जो उपभोक्ताओं द्वारा मांगी जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन करती है क्योंकि उनके पक्ष में साधनों का आवंटन ही उन्हें अपने साधनों से अधिकतम लाभ उपार्जन में सहायक होगा। साधनों के पूर्तिकर्ता अपने साधनों को उन वस्तुओं के उत्पादन में आवंटित करने में राजी नहीं होंगे जिनको उपभोक्ता अधिक महत्व नहीं देते। कीमतें साधन आवंटन को निर्देशन करती हैं। उन उद्योगों में साधन अधिक हो जायेंगे जिनमें उन्हें अपेक्षाकृत ऊंचा पारिश्रमिक दिया जायगा और उन उद्योगों को छोड़ेंगे जिनमें पारिश्रमिक कम है।

(v) उपभोक्ता भी अपने साधनों को विभिन्न प्रयोगों पर इस प्रकार आवंटित करेंगे जिनसे उनको अधिकतम सन्तुष्टि मिल जाय। अधिकतम सन्तुष्टि के लिए वस्तुओं के मूल्यों तथा उनसे प्राप्त सीमान्त उपयोगिता की तुलना करनी पड़ेगी जैसे पीछे (C) शीर्षक के अन्तर्गत दी गई है। मूल्य रेखा ही अनुकूलतम संयोग को बताती है। उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि के लिये यह शर्तें पूरी करेगा।

(1) $\frac{Mu_a}{P_a} \quad \frac{Mu_b}{P_b} \quad \frac{Mu_c}{P_c}$ and so on (1)

(2) $I = (A \times P_a) + (B \times P_b) + (C \times P_c) + \ldots\ldots (N \times P_n)$

अर्थात् (i) प्रत्येक प्रयोग में भारित उपयोगिता समान हो तथा (ii) सभी वस्तुओं पर किये गये व्ययों का योग आय के बराबर हो जाय।

(iv) उत्पादकों को भी उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को उत्पादन कार्यों में लगाने में उनकी कीमत व उन साधनों की सीमान्त आगम (MRP) की ओर ध्यान देना पड़ता है जैसे कि पहले (B) शीर्षक में दिया गया है। उत्पादक भी विभिन्न साधनों का प्रयोग उनकी कीमतों के अनुसार ही करता है। वह महंगे साधनों के स्थान पर सस्ते साधनों को प्रतिस्थापित करता है और प्रतिस्थापन की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि उत्पादक को उत्पादन कार्य में सब साधनों की सीमांत आगम (MRP) उनकी कीमत के अनुपात बराबर न हो जाय। कीमत रेखा ही उन्हें अनुकूलतम संयोग को बताती है।

अर्थात् $\frac{MRP_x}{P_x} = \frac{MRP_y}{P_y} = \frac{MRP_z}{P_z}$ की शर्त पूरी होनी चाहिए।

कीमत प्रणाली के द्वारा उत्पादन साधनों का आवंटन तभी उपयुक्त कहा जाता है जबकि साधनों का आवंटन व्यक्तिगत हित और सामाजिक हितों को अधिकतम

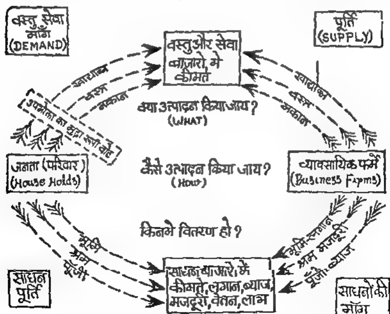
करने मे समर्थ हो । पर यह आवश्यक नहीं कि निजी हित हमेशा सामाजिक हितो से मेल खा जाय । हो सकता है कि साधनो के आवटन मे उत्पादको, उपभोक्ताओं व उत्पादन साधनो के पूतिकर्ताओ के निजी हित की मात्रा तो अधिक हो जाय पर सामाजिक दृष्टि से यह आवटन अनुपयुक्त हो । सभव है कि कीमत प्रणाली से साधनो का आवटन धनिको के लिए विलासिता की वस्तुओ के उत्पादन में हो जबकि निर्धनो की जीवन निर्वाह की आवश्यक अनिवार्यताओ के उत्पादन की उपेक्षा की जाती रहे । ऐसी स्थिति मे कीमत प्रणाली एक अन्धे व्यक्ति के समान साधनो का आवटन धनिको की आवश्यकताओ की पूर्ति में करती है जबकि निर्धनो की जिसके पास मुद्रा-रूपी वोट का अभाव है, उपेक्षा करती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे मूल्य-यन्त्र की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है । साधनो का आवटन, उपभोग, साधनो के विभिन्न प्रयोग मूल्य-यन्त्र द्वारा निर्देशित होते हैं ।

स्वतन्त्र उद्यम प्रणाली (पूंजीवादी अर्थव्यवस्था) में मूल्य-संयंत्र की भूमिका का चित्र निरूपण

(Diagrammatic Representation)

आर्थिक सगठन की तीन मूलभूत समस्याए—क्या उत्पादन किया जाय, कैसे



चित्र 4

उत्पादन किया जाय और उत्पादन का वितरण किनमे हो ?—को हल करने मे कीमत सयत्र की भूमिका को चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। उपरोक्त चित्र 4 मे हम देखते हैं कि जनता (परिवार) और व्यावसायिक फर्में मुख्यतः दो बार सम्पर्क में आते हैं। पहली बार वस्तुओ और सेवाओ के क्रय विक्रय के समय जब कि वस्तु बाजार में वस्तुओ और सेवाओ की माग और पूर्ति द्वारा कीमतो से साधनो का आवटन होता है तथा दूसरी बार जनता द्वारा उत्पादन साधनो के स्वामी के रूप में साधनो की पूर्ति व्यावसायिक फर्मों की साधनो की माग की पूर्ति करते समय जबकि साधन बाजारो मे साधनो की कीमतें, उनका विभिन्न फर्मो मे आवटन करती है।

चित्र 4 के ऊपरी भाग म उपभोक्ता अपने मुद्रा-रूपी वोट देकर खाद्यान्न, वस्त्र, मकान आदि की माग करते है और उत्पादक या व्यावसायिक फर्में कीमतो के आधार पर वस्तुओ और सेवाओ की पूर्ति करते है जिससे "क्या उत्पादन किया जाय और कितना उत्पादन किया जाय"—समस्या का हल होता है। चित्र के निचले भाग मे जनता उत्पादन साधनो की पूर्ति करती है तथा फर्में उनकी माग करती हैं। साधन-बाजारो मे उनकी माग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियो से कीमत-सयन्त्र उत्पादन साधनो के स्वामियो मे वितरण की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। श्रमिको की मजदूरी, भूमि का लगान तथा पूँजी का ब्याज कीमत-सयन्त्र द्वारा निर्धारित हो जाता है। जनता तथा व्यावसायिक फर्मों मे वस्तुओ के क्रय-विक्रय तथा उत्पादन साधनो के विक्रय-क्रय मे प्रतिस्पर्द्धा अधिकतम लाभ तथा न्यूनतम लागत या त्याग के उद्देश्य मे "उत्पादन कैसे किया जाय अथवा उत्पादन का सगठन कैसे हो ?" समस्या का हल निहित है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक सगठन की ये समस्याएँ परस्पर घनिष्ट सम्बन्धित हैं। क्या, कैसे और किसके लिए ये सब एक दूसरे पर आश्रित हैं, वस्तुओ और सेवाओ की माग साधनो की लागत व साधनो को वितरित होने वाले प्रतिफल पर निर्भर है और जनता की माग उनकी आय (मुद्रा रूपी वोट) वस्तुओ की उत्पत्ति क्या और कितनी का निर्धारण करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कीमत-सयन्त्र एक ओर वस्तुओ और सेवाओ के भाव निर्धारित कर साधनो का आवटन करती है तो दूसरी ओर वह उत्पादन साधनो की कीमतें-निर्धारित कर वितरण किनमे कितना हो प्रश्न का उत्तर देती है।

(B) समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में साधन आवंटन

(Allocation of Resources in Socialistic Economies)

समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ में स्वतन्त्र मूल्य-यन्त्र का कोई विशेष महत्व नहीं होता। समाजवादी अर्थव्यवस्था मे उत्पत्ति तथा वितरण के समस्त साधनों पर समाज या सरकार का स्वामित्व एव नियन्त्रण होता है। निजी लाभ (Private Profit) का कोई स्थान नहीं होता और न साधनो का स्वतन्त्र बाजार होता है

जिसमे पूर्ण प्रतियोगिता व निजी लाभ की दृष्टि से साधन का आवटन हो। समाज-वादी अर्थव्यवस्था मे साधनो का आवटन मूल्य-यन्त्र पर नही वरन् सरकारी आदेशो (Govt Decrees) पर निर्भर करता है। कितने साधन किन किन उद्योगो मे प्रयुक्त हो, इसका निर्णय सामाजिक मूल्यो (Social Valuations) के आधार पर देश की केन्द्रीय प्राधिकार (Central Authority) द्वारा किये जाते हैं। ऐसी अर्थव्यवस्थाओ मे सरकार कृत्रिम मूल्य-यन्त्र (Artificial Price-Mechanism) का सहारा लेती है। सरकार सामाजिक दृष्टि से जिन कार्यों मे साधनो के आवटन को हितकर समझती है उन्ही प्रयोगो मे निर्धारित मात्रा मे साधनो का आवटन होता है।

कुछ विद्वान अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि मूल्य-यन्त्र के अभाव में समाजवादी अर्थव्यवस्थाओ मे साधनो का आवटन ठीक ठीक नही होता तथा साधनो का अपव्यय होता है, पर अब यह धारणा प्रबल है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे अनेक सीमाओ के कारण समाजवादी अर्थव्यवस्था मे कृत्रिम मूल्य यन्त्र अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त रहता है। प्रो ऑस्कर लांगे (Oskar Longe) के मतानुसार **समाजवाद के अन्तर्गत साधनो का आवटन पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण होता है।**

(C) मिश्रित अर्थव्यवस्था में साधनो के आवंटन मे मूल्य-यन्त्र की भूमिका
(Role of Price Mechanism in Allocation of Resources in Mixed Economy)

मिश्रित अर्थव्यवस्था वह अर्थव्यवस्था है जिसमे पूँजीवाद तथा समाजवाद के तत्वो का मैत्रीपूर्ण सयोग होता है। इसके अन्तर्गत देश के आधारभूत साधनो पर सरकार का प्रभावी नियन्त्रण रहता है जबकि कम महत्वपूर्ण साधनो पर निजी स्वामित्व होता है। अर्थव्यवस्था के तीन प्रमुख क्षेत्र होते है—(i) सार्वजनिक क्षेत्र, (ii) सहकारिता क्षेत्र तथा (iii) निजी क्षेत्र। अधिकतर अर्थव्यवस्थाएँ न तो पूर्णतया अधिकेन्द्रित हैं और न पूर्णतया निर्बाध, परन्तु मिश्रित हैं। इनमे उत्पादन के साधनो के आवटन की समस्या अधिक जटिल है। जहाँ समाजवाद मे साधनो का आवटन सरकारी आदेशो से तथा पूँजीवाद मे मूल्य-यन्त्र से होता है वहाँ मिश्रित अर्थव्यवस्था मे दोनो ही व्यवस्थाओ का सम्मिश्रण किया जाता है।

स्वल्प एव सामाजिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण साधनो के आवटन का पूर्ण एकाधिकार सरकार के पास होता है। राज्य ऐसी वस्तुओ के आवटन मे मूल्य विभेद नीति, प्रत्यक्ष आदेश अथवा अभ्यंश (Quota) निर्धारण का सहारा लेता है जैसे लोहे का कितना भाग रेलो व मशीनो मे, कितना भाग उपभोक्ता वस्तुओ के निर्माण मे प्रयुक्त किया जाय। इसके विपरीत उन वस्तुओ व साधनो जिनकी पूर्ति पर्याप्त होती है तथा कम महत्वपूर्ण होते हैं सरकार उनके आवटन को सामान्य नियन्त्रण में मूल्य-यन्त्र के क्रियान्वयन पर छोड देती है, जैसा हम भारत मे देख रहे हैं। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे भी साधनो के आवटन मे कुशलता सरकारी नीतियो के प्रभावी क्रिया-न्वयन एव मूल्य-यन्त्र के सचालन की सफलता पर निर्भर करती है।

साधन आवंटन में मूल्य-यन्त्र की सफलता की शर्तें

(Conditions for Successful Working of Price Mechanism)

साधन आवंटन मे मूल्य-यन्त्र की भूमिका के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मूल्य-यन्त्र पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का तो आधार-स्तम्भ है ही, मिश्रित अर्थव्यवस्था मे भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है। पर मूल्य-यन्त्र साधनो के आवटन मे तभी सफल हो सकता है जबकि निम्न शर्ते पूरी हो। इन शर्तों के पूरी नही होने की अवस्था मे साधनो का आवटन सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त नही हो सकता। यही कारण है कि इन शर्तों की पूर्ति के अभाव में पूंजीवाद में साधनो का आवटन दोषपूर्ण होता है। ये शर्तें हैं —

1. **पूर्ण रोजगार अवस्था (Full Employment Stage)**—कीमत प्रणाली के सफल सचालन की पहली शर्त अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की अवस्था का पाया जाना है अगर अर्थव्यवस्था के साधनो में बेकारी अथवा अर्द्ध-बेकारी विद्यमान हो तो कीमत प्रणाली सुचारु रूप से नही चल पायेगी।

2 **बाजार) मे पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition)**—कीमत प्रणाली की सफलता की दूसरी महत्वपूर्ण शर्त साधन बाजारो तथा वस्तु बाजारो मे पूर्ण प्रतियोगिता होना है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे ही वस्तुएँ अथवा साधन अधिकतम लाभ वाले क्षेत्र मे प्रयुक्त किये जावेंगे और पूर्ण प्रतियोगिता ही न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ कमाने की प्रवृत्ति से साधनो को सर्वोत्तम उपयोगो मे वितरण करेगी।

3. **साधनो में पूर्ण गतिशीलता (Prefect Mobility)**—कीमत प्रणाली की तीसरी महत्वपूर्ण शर्त साधनो व वस्तुओ के बाजार मे पूर्ण गतिशीलता है। गतिशीलता के अभाव मे साधनो का एक स्थान से दूसरे स्थान अथवा एक उद्योग से दूसरे उद्योग और एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग मे न जा सकेंगे और न अधिकतम लाभ सिद्धान्त की प्राप्ति हो सकेगी।

4. **आर्थिक समानता (Economic Equality)**—कीमत प्रणाली की सफलता आर्थिक समानता मे निहित हैं अगर अर्थव्यवस्था मे आर्थिक असमानता हुई तो साधन सम्पन्न धनी व्यक्ति अर्थव्यवस्था में साधनो का आवटन अपनी विलासिता की वस्तुओ में प्रोत्साहित कर सकेंगे जबकि निर्धन व्यक्तियो की अनिवार्यताओ की भी उपेक्षा होगी। साधनो का आवटन सामाजिक दृष्टि से वांछित दिशा में नहीं होगा।

5 **आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)**—कीमत यन्त्र की सफलता आर्थिक स्वतन्त्रता पर निर्भर करती है। अगर अर्थव्यवस्था में उत्पादको एव उपभोक्ताओ पर कोई नियन्त्रण न हो, उन्हे उत्पादन तथा उपयोग में पूर्ण स्वतन्त्रता हो और साधनो के सग्रह, हस्तातरण एव प्रयोग में पूर्ण स्वतन्त्रता हो तो कीमत प्रणाली सुचारु रूप से चलेगी जबकि नियन्त्रण एव नियोजन होने पर सकट उत्पन्न हो सकता है।

6 साधनो पर निजी स्वामित्व (Private Ownership of Resources)—जब देश में उत्पादन साधनो एव उपभोग वस्तुओ पर निजी स्वामित्व होता है तो उसके स्वामियो को उनके प्रयोग एव आवटन की स्वतन्त्रता होती है और अधिकतम निजी लाभ के लिये साधनो का आवटन बडी सतर्कता से करते हैं।

7 विवेकपूर्ण निर्णय एव बाजार पूर्ण ज्ञान Rational Decision & perfect Knowledge of Market)—अगर उत्पादको एव उपभोक्ताओ के निर्णय बाजार की पूर्ण जानकारी पर आधारित एव विवेकपूर्ण हो तो कीमत प्रणाली सुचारु रूप से चलेगी और अगर इसका अभाव रहा तो विफल होगी।

कीमत प्रणाली की सीमाएं
(Limitations of Price Mechanism)

सैद्धान्तिक दृष्टि से मूल्य यन्त्र प्रणाली साधनो के आवटन को सर्वोत्तम बनाती है पर व्यवहार में मूल्य-यन्त्र प्रणाली के सफलतापूर्वक कार्य करने में अनेक बाधायें हैं। न तो किसी अर्थव्यवस्था में इसकी सफलता की पूर्ण शर्तें (पूर्ण प्रतियोगिता, साधनो का स्वतन्त्र बाजार, आर्थिक समानता, साधनो की पूर्ण गतिशीलता एव पूर्ण रोजगार की स्थितियाँ) होती हैं और मूल्य यन्त्र के कार्यान्वयन मे अनेक बाधाएँ आती हैं। अत. अर्थव्यवस्था में मूल्य-यन्त्र द्वारा साधनो का आवटन दोषपूर्ण माना जाता है और इसी कारण राज्य का हस्तक्षेप निरन्तर बढता जा रहा है। कीमत प्रणाली (Price System) की मुख्य सीमाएँ इस प्रकार हैं —

1 आर्थिक असमानता—कीमत प्रणाली के सफल कार्यान्वयन में बाधा उत्पन्न करती है। थोडी आय वालो की अपेक्षा अधिक आय वालो का साधनो पर अधिक नियन्त्रण होता है इससे साधनो का अपनिर्देशन (Misdirection) होता है जैसे पूँजीवाद में आर्थिक साधनो का विलासिता की वस्तुओ पर दुरुपयोग होता है जबकि निर्धन व्यक्तियो की अनिवार्यता की उपेक्षा की जाती है।

2. अपूर्ण प्रतियोगिता ही व्यावहारिक जीवन में क्रियाशील रहती है। पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना भ्रमात्मक है। वास्तविक जीवन में एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता ही रहती हैं अत साधनो का आवटन विवेकपूर्ण नही होने पाता।

3. जनोपयोगी सार्वजनिक सेवाओं व वस्तुओं में कीमत प्रणाली लागू नहीं होती—अस्पताल एव चिकित्सा सुविधायें शिक्षा, सडक एव रोड परिवहन, पुलिस, न्याय, पार्क, कानून एव व्यवस्था आदि ऐसी सार्वजनिक सेवाएँ हैं कि उनमें कीमत प्रणाली भ्रमात्मक है। कीमत प्रणाली तो सामान्यत निजी वस्तुओ एव सेवाओ पर ही क्रियाशील होती है।

4. आर्थिक स्वतन्त्रता एव उपभोक्ताओं की सार्वभौमिकता के अभाव के कारण कीमत प्रणाली मिथ्या सिद्ध होती है क्योकि व्यावहारिक जीवन में सरकार के बढते हस्तक्षेप से आर्थिक स्वतन्त्रता का अभाव है तथा उपभोक्ता की सार्वभौमिकता भी साधनो के अभाव, अज्ञानता एव बाह्य प्रभाव के कारण कोरी कल्पना है।

5 साधनो मे गतिशीलता का अभाव भी कीमत प्रणाली की बडी सीमा है क्योकि कीमत प्रणाली माँग एव सन्तुलन मे साधनो मे पूर्ण गतिशीलता मानकर चलती है जबकि व्यवहार मे साधनो मे पर्याप्त गतिशीलता का अभाव दृष्टिगोचर होता है ।

6 कीमत प्रणाली अर्थव्यवस्था मे व्यापार चक्रो को जन्म देती है । तेजी और मन्दी की स्थितिया आर्थिक साधनो के अपव्यय एव दुरुपयोग को जन्म देती हैं । आर्थिक मन्दी और युद्धोत्तरकालीन आर्थिक तेजी दोनो ही साधनो के आवटन को दोषपूर्ण बना देती है ।

7 पूर्ण रोजगार की अवस्था कोरी कल्पना है । व्यवहार मे तो अनेक साधन अर्द्ध बेरोजगार एव बेकार होते है । अत स्वतन्त्र कीमत प्रणाली मे मानवीय भौतिक साधनो का पूर्ण एव उचित उपयोग नही हो पाता । कीमत प्रणाली शोषण को जन्म देती है ।

8 कीमत प्रणाली से अर्थव्यवस्था मे कोई आधारभूत परिवर्तन सम्भव नहीं होता । बडे पैमाने पर साधनो मे वाछित दिशा मे गतिशीलता लाने मे कीमत-प्रणाली बडी सुस्त एव क्रूर होती है । अर्द्ध एव विकासशील राष्ट्रो मे कीमत प्रणाली द्वारा साधनो का आवंटन तीव्र विकास के लिये वाछित दिशा मे सम्भव नही होता ।

9 श्रीमती बारबारा वूटन के अनुसार कीमत प्रणाली मे दो प्रकार के दोष हैं—(i) वे दोष जिनका निराकरण पूँजीवाद के समापन मे निहित है तथा (ii) वे दोष जिनका निराकरण पूँजीवाद मे कुछ सुधार करने मे सम्भव हो जाता है ।

इस प्रकार कीमत प्रणाली का साधन आवटन म उसकी अनेक सीमाओ के कारण महत्व निरन्तर घटता जा रहा है । अब यह प्रणाली जीर्ण (Obsolete) हो गई है । अत आधुनिक युग मे कीमत प्रणाली के सम्बन्ध मे सशोधित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता बढी है ।

कीमत प्रणाली की आलोचनायें अथवा दोष
(Criticisms or Defects of Price Mechanism)

व्यावहारिक जीवन मे स्वतन्त्र मूल्य यन्त्र प्रणाली के सफलतापूर्वक काम करने मे अनेक बाधाएँ उत्पन्न होने से उसमे अनेक दोषो का प्रादुर्भाव हुआ है । सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं—

1 **सम्पन्नता के बीच गरीबी**—कीमत प्रणाली माग और पूर्ति के अनुसार साधनो का आवटन उन व्यक्तियो के पक्ष मे करती है जिनके पास ज्यादा से ज्यादा मुद्रा रूपी वोट हैं अत निर्धनो की अनिवार्यताओ की उपेक्षा की जाकर समृद्ध वर्ग की विलासिताओ का उत्पादन होता है । जहाँ एक ओर मुद्रा के अभाव मे गरीब

रोटी के लिये तरसते हैं वहा दूसरी ओर धनिकों की विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन होता है।

2 कीमत प्रणाली आय वितरण के नैतिक पहलू को उपेक्षा करती है—उत्पादन करने मे साधनो का सगठन करते समय महगे साधन को सस्ते साधन से प्रतिस्थापित किया जाने की प्रबल इच्छा होती है अतः अगर मशीनो व यन्त्रो से लाखो लोग बेकार होते हैं और उनकी रोटी रोजी छिन जाती है। कीमत प्रणाली इस नैतिक पहलू पर ध्यान नही देती।

3 कीमत प्रणाली से आर्थिक असमानता को भी बढावा मिलता है क्योंकि कीमत प्रणाली साधनो का हस्तान्तरण सम्पत्ति के स्वामित्व एव उनकी कीमतो के आधार पर करती है। अत' निर्धनो को कम आय जबकि धनिकों को अधिक आय प्राप्त होने से आर्थिक विषमता बढती है।

4. कीमत प्रणाली अल्पकाल मे माँग और पूर्ति मे असन्तुलन को न्यायोचित ढग से निपटाकर समृद्धों के पक्ष मे कार्य करती है अतः मूल्य यन्त्र का यह दोष नैतिक दृष्टि से अनुपयुक्त है।

5. विकासशील एव पिछड़े राष्ट्रों मे तीव्र आर्थिक विकास के लिये स्वतन्त्र मूल्य यन्त्र प्रणाली कारगर सिद्ध नहीं होती। यही कारण है कि समाजवादी राष्ट्रो मे कृत्रिम मूल्य यन्त्र को बढावा दिया गया है।

6. अति उत्पादन (Over Production) तथा कम उत्पादन (Under Production) अथवा व्यापार चक्रों की स्थितिया स्वतन्त्र कीमत सयन्त्र के कारण ही उत्पन्न होती हैं जो आर्थिक क्षेत्र मे अस्त-व्यस्तता उत्पन्न कर देती हैं।

7. अव्यावहारिक एव मिथ्या धारणा है—कीमत प्रणाली अनेक मिथ्या एव काल्पनिक मान्यताओ पर आधारित है जबकि व्यवहार म न तो पूर्ण रोजगार की व्यवस्था है, न पूर्ण प्रतियोगिता है, न आर्थिक स्वतन्त्रता व पूर्ण गतिशीलता दृष्टि-गोचर होती है। उपभोक्ता की सार्वभौमिकता भी कोरी कल्पना है। अत. कीमत प्रणाली अव्यावहारिक सिद्ध होती है और उसके कल्पित लाभ स्वप्न बनकर रह जाते हैं। कीमत प्रणाली की सीमायें भी इसे अव्यावहारिक बना देती हैं।

इन सब आलोचनाओं के कारण अब कीमत-प्रणाली विश्वसनीय नहीं रही है क्योंकि उसकी सफलता की शर्तें पूरी नही होती। इसीलिये श्रीमती बारबरा वूटन का कहना है कि कीमत सयन्त्र तभी विश्वसनीय हो सकता है जबकि पूँजीवादी आर्थिक सगठन को बदलकर राज्य हस्तक्षेप को वृद्धि की जाये। यद्यपि कीमत सयन्त्र असख्य व्यक्तियो के पृथक् पृथक् निर्णयो म समन्वय स्थापित कर अर्थव्यवस्था का सचालन करता है तथा बडी सीमा तक उपयुक्त आर्थिक निर्णयों के लिये आधार तैयार करता है फिर भी अनेक दोषो के कारण अब इसका महत्व कम होता जा रहा है। इसके दोषों के बावजूद भी समाजवादी एव मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले राष्ट्र

कीमत प्रणाली का सहारा लेते हैं। पूँजीवादी का तो यह प्राण ही है। समाजवादी राष्ट्रो मे कीमत प्रणाली का प्रयोग हिसाब-किताब की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मिश्रित अर्थव्यवस्था मे कीमत सयन्त्र बहुत कुछ निर्णय का आधार प्रस्तुत करता है। ऐसी अर्थव्यवस्थाओ मे केन्द्रीय सत्तायें अप्रत्यक्ष रूप से कीमतो का सहारा लेती हैं। अतः स्पष्ट है कि समाजवादी तथा मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं मे कीमत सयन्त्र कतिपय सुधारो के साथ अपनाये जाने की प्रवृत्तिया प्रबल होती जा रही हैं। अब कीमत सयन्त्र निर्बाध नहीं वरन् नियन्त्रित हैं, कृत्रिम हैं।

क्या समाजवादी अर्थव्यवस्था मे साधनों का आवटन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की तुलना में श्रेष्ठ होता है ?
(Comparative Superiorty in Allocation of Resources in Socialistic System over Capitalistic System)

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे साधनो का आवटन पूँजीवादी प्रणाली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है, क्योकि—

1. समाजवादी अर्थव्यवस्था मे साधनों का आवटन अधिकतम सामाजिक लाभ की वृद्धि से प्रेरित होता है जिसका लक्ष्य "अधिकतम लोगो का अधिकतम लाभ" (Maximum Good of the Maximum Number) होता है जबकि पूँजीवाद मे साधनो का आवटन निजी लाभ की सकीर्ण मनोवृत्ति के अनुसार होता है।

2. समाजवाद मे प्रयास एव गलती के द्वारा भी सामान्य साम्य (General equilibrium) सांख्यिकी तरीको से प्राप्त किया जा सकता है जबकि पूँजीवादी मे केवल मात्र सयोग (Chance) पर निर्भर करता है।

3. समाजवाद मे आय के समान वितरण के कारण साधनो का आवटन सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप होता है जबकि पूँजीवाद मे आय और धन के असमान वितरण से साधन किंचित धनिको की आवश्यकता पूर्ति की ओर आकर्षित होते हैं।

4 समाजवाद मे साधनो के उपयुक्त आवटन से पूँजी निर्माण की गति तेज होती है तथा विनियोग सम्बन्धी निर्णय बहुत विवेकपूर्ण होते हैं जबकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे कीमत प्रणाली पूँजी निर्माण को हतोत्साहित भी कर सकती है।

5. समाजवादी अर्थव्यवस्था मे साधनो के गलत आवटन का गुणात्मक (Cumulative) प्रभाव नहीं पड़ता है।

6. समाजवादी अर्थव्यवस्था मे वास्तविक लागत का नापना अधिक सरल रहता है जबकि पूँजीवादी उत्पादन की वास्तविक लागत को ठीक-ठीक मालूम करना कठिन होता है।

7. समाजवादी अर्थव्यवस्था मे कृत्रिम मूल्य यन्त्र से साधनो का आवटन वांछित दिशा मे कर तीव्र आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है जबकि पूँजीवाद मे यह सम्भव नही होता है।

इन सब कारणो से पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे साधनो का आवटन अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।

उचित साधन आवंटन का महत्व
(Importance of Proper Allocation of Resources)

अगर साधनो का आवन्टन उचित एव उपयुक्त होता है तो उससे कई लाभ प्राप्त होते हैं और अर्थव्यवस्था के तीव्र विकास का मार्ग प्रशस्त होता है जैसा निम्न विवरण से स्पष्ट है —

(1) **सर्वोत्तम उपयोग**—साधनो के उपयुक्त आवन्टन से देश के उपलब्ध सीमित साधनो का सर्वोत्तम उपयोग सम्भव होता है।

(2) **प्राथमिकतानुसार प्रयोग**—साधनो के उचित वितरण से वैकल्पिक प्रयोगो मे प्राथमिकताओ के अनुसार प्रयोग किया जा सकता है।

(3) **अधिकतम सन्तुष्टि**—साधनो के उचित आवन्टन से उपभोक्ताओं की सन्तुष्टि अधिकतम की जा सकती है।

(4) **तीव्र आर्थिक विकास**—साधनो के उपयुक्त आवन्टन से देश मे आर्थिक विकास की गति तेज की जा सकती है। साधनो को उपभोग से उत्पादन कार्यों मे मोड़कर उत्पादन बढाया जा सकता है।

(5) **उच्च पूंजी निर्माण दर**—साधनो के उपयुक्त आवन्टन से देश मे पूंजी निर्माण की गति तेज की जा सकती है।

(6) **सन्तुलित एव सर्वांगीण विकास**—साधनो के उचित आवन्टन से अर्थव्यवस्था के सन्तुलित एव सर्वांगीण विकास मे सहायता मिलती है। सभी क्षेत्रो मे साधनो के समन्वित उपयोग से अर्थव्यवस्था का सर्वांगीण विकास सम्भव होता है।

(7) **वर्तमान एव दीर्घकाल मे सन्तुलन**—साधनों का आवन्टन उचित होने पर वर्तमान एव भावी पीढ़ी हेतु साधनों का सन्तुलन सम्भव होता है।

(8) **सन्तुलित औद्योगिक विकास**—परस्पर पूरक, लघु एव बड़े उद्योगो का सन्तुलित विकास होता है।

साधनो के आवटनो मे मूल उद्देश्य (Main Aims and Objectives in Allocation of Resources)—प्रत्येक अर्थव्यवस्था मे साधनो के आवन्टन मे निम्न उद्देश्यो की पूर्ति का लक्ष्य रहता है—(i) आर्थिक विषमताओ मे कमी करना (ii) देश का सन्तुलित एव तीव्र विकास करने मे साधनो का आवण्टन महत्वपूर्ण है। (iii) राष्ट्रीय उत्पाद एव प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करना (iv) भुगतान सन्तुलन की स्थिति मे सुधार करना (v) आर्थिक नियोजन के उद्देश्यो की पूर्ति करना तथा (vi) अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास मे तेजी लाना (vii) अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य की पूर्ति करना आदि हैं।

साधनो के आवटन के आधार (Criterion of Allocation of Resources)—अर्थव्यवस्था में साधनो के आवन्टन में विभिन्न आधार माने जाते हैं जिनमें मुख्य अग्रलिखित हैं—

1 **सामाजिक सीमान्त उत्पादकता आधार**—इसके अन्तर्गत साधनों की सीमान्त उत्पादकता अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक प्रयोग में बराबर करने की चेष्टा की जाती है, तभी अधिकतम सामाजिक लाभ सम्भव होता है।

2 **रोजगार आपूर्ति आधार**—देश में साधनों का आवन्टन इस प्रकार किया जाता है जिससे सब साधन पूर्ण नियोजित अवस्था में पहुचने की प्रवृत्ति रखते हैं। इससे देश में रोजगार अवसरों की वृद्धि होगी।

3 **माग मापदण्ड**—अर्थव्यवस्था में प्रत्येक क्षेत्र में मांग के अनुरूप साधनों का आवन्टन किया जाये ताकि सब क्षत्रो में माग की यथा सम्भव पूर्ति हो सके।

4. **सीमान्त प्रतिव्यक्ति पुनर्विनियोग आधार**—जिसमें साधनों का आवन्टन उसके पुनर्विनियोग आधार को ध्यान में रखकर किया जाता है ताकि पुनर्विनियोग वाछित गति से होता रहे।

5 **प्राथमिक क्षेत्र आधार**—इस आधार में अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को प्रमुख, गौण एव सहायक क्षेत्र में विभाजित किया जाता है तथा साधनों के आवन्टन में प्राथमिक क्षेत्र को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है। बाद में साधनों का आवन्टन गौण क्षेत्रो तथा सहायक क्षेत्रो में उपयोगिता क्रम में किया जाता है।

6 **विकासशील बिन्दु आधार**—इसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था में उन क्षेत्रो पर साधनो का आवन्टन अधिक किया जाता है जो विकसित हो रहे है तथा विकसित क्षेत्रो पर साधनो का आवन्टन कम किया जाता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 उत्पादन व उपभोग के क्षेत्र में चयन और साधन आवन्टन की समस्या का वर्णन कीजिये। इस आवन्टन में मूल्य प्रणाली क्या योग देती है?

(I yr T D C Collegiate, 1977, 1978)

अथवा

उपभोग तथा उत्पादन के क्षेत्र में चुनाव एव आवन्टन की समस्याओं का विवेचन कीजिए और आवन्टन में कीमत-प्रणाली का योगदान समझाइये।

(I yr T D C 1976, 1979, 1980)

(संकेत—उत्तर के प्रथम भाग म आवश्यकताओं की अनन्तता और साधनों की सीमितता एव वैकल्पिक प्रयोगो के सन्दर्भ में चयन एव निर्णय की समस्या बताना है। दूसरे भाग में मूल्य प्रणाली के द्वारा उत्पादन एव उपभोग, उत्पादन के क्षेत्र में साधन आवन्टन, उपभोग में चयन के लिये रेखाचित्रों व गणितीय सूत्रों की सहायता से वर्णन देना है। अध्याय में (A), (B), (C) के अन्तर्गत शीर्षको की विषय सामग्री देना है।)

2. कीमत प्रणाली कहा तक अर्थव्यवस्था मे साधनो के आवन्टन में उपयुक्त होती है ? इसकी सीमाओ का उल्लेख कीजिये ।
(संकेत—साधनो के आवन्टन मे मूल्य की भूमिका, उसकी सफलता की शर्तें एव उसके मार्ग मे बाधायें बताइये ।)
3 विभिन्न अर्थव्यवस्थाओ में साधनो के आवन्टन का महत्व तथा उनकी विधि का उल्लेख कीजिये ।
(संकेत—पूँजीवाद, समाजवाद एव मिश्रित अर्थव्यवस्था मे साधनो के आवन्टन की पद्धति का उल्लेख कीजिये तथा महत्व को बताइये ।)
4. एक अर्थव्यवस्था के आधारभूत कार्य कौन-कौन से हैं ? एक स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था में उनका समाधान किस प्रकार किया जाता है ?
(I yr. T D C Arts, 1976, 1979)
(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग मे अर्थव्यवस्था का अर्थ बताकर उसके 6 कार्य (अ· समस्याए) बताने हैं और दूसरे भाग मे इन समस्याओ के समाधान मे मूल्य यन्त्र की भूमिका से समाधान समझाना है ।)
5. समझाइये कि साधनो का आवन्टन कीमत प्रणाली द्वारा किस प्रकार होता है और उसके द्वारा साधन आवन्टन मे क्या दोष होते हैं ?
(I yr. T.D.C. 1973, 1974)
(संकेत—पहले भाग मे उत्पादन तथा उपभोग मे साधनो के आवन्टन मे अनन्त आवश्यकताओ, साधनो की सीमितता और साधनों के वैकल्पिक प्रयोगो के कारण चयन तथा निर्णय की समस्याएँ हैं फिर व्याख्या गणितीय सूत्रो तथा रेखाचित्रो द्वारा मूल्यो के सन्दर्भ मे समझाइये । संक्षेप में दोष भी बताइये ।)
6. उत्पादन के क्षेत्र मे चुनाव एव आवन्टन की समस्याओ का विवेचन करें और इस सम्बन्ध मे कीमत प्रणाली का योगदान समझाइये ।
(I yr. T.D.C. (Non-Collegiate), 1976)
(संकेत—प्रथम भाग में पुस्तक के अध्याय 2 के भाग (B) के अन्तर्गत दी गई विषय सामग्री उत्पादन के साधनो के आवन्टन या नियोजन की समस्या सूत्र व चित्र द्वारा समझाना है और दूसरे भाग में मूल्य यन्त्र की भूमिका बतानी है ।)
7. मूल्य-तन्त्र से आप क्या समझते हैं ? एक स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था मे मूल्य प्रणाली की कार्य-विधि का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये ।
(संकेत—प्रथम भाग मे मूल्य-तन्त्र का अभिप्राय बताना है तथा दूसरे भाग मे पूंजीवाद मे मूल्य-तन्त्र की भूमिका मय कठिनाइयाँ बताना है ।)

3

उत्पादन प्रक्रिया

(The Productive Process)

मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए उत्पादन, उपभोग और पुनरुत्पादन का क्रम निरन्तर अबाध रूप से चलता रहता है। उपभोग क्रम में निरन्तरता के कारण उत्पादन क्रम में भी निरंतर चलते रहने की प्रवृति होती है। हम अनुभव करते हैं कि आवश्यकता के कारण वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, फिर उनका उपभोग होता है और फिर नयी आवश्यकता उत्पन्न होने से उनकी सन्तुष्टि हेतु पुनरुत्पादन होता है। इस प्रकार उत्पादन की प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया के साथ ही पुनरुत्पादन प्रक्रिया का क्रम भी निरंतर चलता रहता है। चिरस्थाई वस्तुओं की पुनरुत्पादन गति कम और दैनिक उपभोग वस्तुओं की पुनरुत्पादन गति तीव्र होती है। **अतः वस्तुओं के उत्पादन के निरंतर चलते रहने के क्रम को उत्पादन प्रक्रिया के नाम से पुकारा जाता है।** उत्पादन प्रक्रिया को समझने के लिए पहले उत्पादन का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

उत्पादन का अर्थ (Meaning of Production)

साधारण बोलचाल में उत्पादन का अर्थ किसी भौतिक वस्तु के निर्माण या सृजन से लगाया जाता है जैसे बर्तन बनाना, मकान बनाना, वस्त्र बनाना आदि। जबकि अभौतिक वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति को उत्पादन की श्रेणी में नहीं रखा जाता जैसे नर्तकी, व्यापारी, अध्यापक, गायक आदि की सेवाओं को उत्पादन नहीं कहा जाता।

एडम स्मिथ तथा प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भी उत्पादन का एक संकुचित अर्थ लगाया है। **उनके अनुसार भौतिक वस्तुओं का निर्माण (Creation of Material Goods) ही उत्पादन है।** इसी कारण एडम स्मिथ ने श्रम को उत्पादक श्रम (Productive Labour) और अनुत्पादक श्रम (Unproductive Labour) में विभाजित किया है। उसने उत्पादक श्रम में केवल उन्हीं व्यक्तियों के श्रम का समावेश किया जो भौतिक वस्तुओं का सृजन करते हैं जैसे जुलाहा, बढ़ई, रसोइया, कारीगर आदि का श्रम, जबकि व्यापारी, डॉक्टर, वकील, नर्तकी, गायक, मन्त्री

एवं प्रशासक आदि की सेवाओं को जो अभौतिक प्रवृत्ति के हैं उन्हें अनुत्पादक श्रम बताया।

विज्ञान के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य न तो कोई पदार्थ (Matter) बना सकता है और न नष्ट ही कर सकता है। अतः इस परिप्रेक्ष्य में उत्पादन का अर्थ उपयोगिता का सृजन करना (Creation of Utility) है। इसी कारण प्रो पेन्सन के अनुसार "उत्पादन का अर्थ किसी पदार्थ का निर्माण करना नहीं वरन् वस्तु मे मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करने की योग्यता, क्षमता या गुण में वृद्धि करना है।" प्रो फेयरचाइल्ड के मतानुसार 'सम्पत्ति को अधिक उपयोगी बनाना ही उत्पादन है।" उपयोगिता सृजन के अनेक रूप हो सकते हैं जैसे रूप परिवर्तन, स्थान परिवर्तन, समय परिवर्तन, अधिकार परिवर्तन तथा या ज्ञान वृद्धि आदि।

आधुनिक अर्थ शास्त्री उत्पादन के अन्तर्गत उन सब मानवीय क्रियाओं का समावेश करते हैं जिनके फलस्वरूप किसी अन्य उपभोक्ता की आवश्यकता की तुष्टि हो। आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार उत्पादन का अर्थ उपयोगिता का सृजन या उपयोगिता की वृद्धि नहीं है वरन् मूल्यों का सृजन या आर्थिक उपयोगिता सृजन करना है। इसका अभिप्राय है कि उपयोगिता का सृजन ही पर्याप्त नहीं, साथ साथ विनिमय मूल्य का होना भी आवश्यक है। यही कारण है कि प्रो हिक्स के मतानुसार कोई ऐसा कार्य जो विनिमय द्वारा अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं की तुष्टि करता है उत्पादक क्रिया कहलाती है। आधुनिक विस्तृत दृष्टिकोण के अनुसार भौतिक वस्तुओं का उत्पादन और अभौतिक वस्तुओं एवं सेवाओं की उपलब्धता सब उत्पादन के अन्तर्गत आते हैं। नर्तकी और डॉक्टर की अभौतिक सेवाएं भी इन्जीनियर या वस्तु निर्माता के समान ही उत्पादन कही जाती हैं, यहां यह उल्लेखनीय है कि उपयोगिता सृजन की वे क्रियाएं जिनका मुद्रा रूपी मापदण्ड से विनिमय मूल्य नहीं दिया जाता उन्हें उत्पादन की श्रेणी मे नहीं गिना जाता जैसे पत्नी की सेवाएं, देश प्रेम, परोपकार और पारिवारिक स्नेह से किये गये कार्य तथा निजी उपयोग की वस्तुएं। अतः वे कार्य जो प्रतिफल के बदले मे किये जाते हैं उत्पादन का भाग समझे जाते हैं अन्यथा नही। पत्नी द्वारा खाना बनाने का कार्य उत्पादन कार्य नहीं है पर नौकरानी के रूप मे खाना बनाना उत्पादन कार्य है। राष्ट्रीय आय के मापन मे यही दृष्टिकोण प्रयुक्त किया जाता है।

उत्पादन प्रक्रिया (Production Process)

समाज में वस्तुओं के उत्पादन के निरन्तर चलते रहने के क्रम को ही उत्पादन प्रक्रिया कहा जाता है अर्थात् एक गतिशील अर्थव्यवस्था मे उत्पादन और पुनरुत्पादन को निरन्तरता के क्रम को उत्पादन प्रक्रिया की सज्ञा दी जाती है। हम अपने जीवन मे देखते हैं कि किसान खेत मे हल चलाता है, फसल बोता है, पानी देता है फसल तैयार होने पर काटता है और फिर कुछ भाग अपने पास उपभोग

एव बीज के लिए रख कर बाकी को बेच देता है जो पुन उपभोक्ताओं एव उत्पादकों एव विक्रेताओं को बेची जाती है। किसान, व्यापारी, उपभोक्ता एव उत्पादकों का क्रम निरन्तर चलता रहता हैं। वस्तुओं का उत्पादन होता है, उपभोग होता है और फिर पुनरुत्पादन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस समस्त शृंखलाबद्ध उत्पादन क्रम को उत्पादन प्रक्रिया कहा जाता है।

उत्पादन प्रक्रिया का शृंखलाबद्ध रूप
(Chain Character of Productive Process)

एक क्रियाशील अर्थव्यवस्था मे उत्पादन प्रक्रिया के विभिन्न अ ग एक दूसरे से इस प्रकार शृ खलाबद्ध होते हैं कि उत्पादन प्रक्रिया के किसी भी भाग मे रुकावट समस्त प्रक्रिया को अवरुद्ध कर देती है। जिस प्रकार शृ खला की किसी भी कडी के टूटने से वह प्रयोग-हीन हो जाती है ठीक उसी प्रकार उत्पादन प्रक्रिया के किसी भी अंग मे असहयोग, रुकावट या त्रुटि होने पर उत्पादन प्रक्रिया ठीक प्रकार से चल नही सकती। उदाहरण के लिए वस्त्र उत्पादन को लीजिए। इसके उत्पादन म सीढी-दर-सीढी अनेक अवस्थाये हैं, सर्वप्रथम किसान कपास उत्पादन करता है मालवाहक कपास को रुई एव धागा बनाने वाले कारखानो मे देता है, धागा बनने पर उसे कपडा मिल मे बुनने के लिये दिया जाता है। कपडा मिल कपडा बनाती है, फिर उसकी रगाई छपाई अथवा धुलाई होती है। फिर थोक एव परचून व्यापारियो को दी जाती है जो उसे उपभोक्ताओ या उत्पादको को बेचते हैं। कुछ कपडा उत्पादन कार्यों जैसे रेडीमेड कपडो के बनाने, टेन्ट बनाने, जिल्द बनाने आदि में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार कपडा बनाने मे अनेक अवस्थाओ से गुजरना पडता है और य अवस्थाए परस्पर घनिष्ठ रूप से शृ खलाबद्ध हैं। इन अवस्थाओं मे किसी भी स्थान पर बाधा से उत्पादन-प्रक्रिया का क्रम टूट जायेगा। कल्पना करो कि धागा बनाने वाले हडताल कर दे तो मिल वालो, रगाई, छपाई, धुलाई व विक्रय करने वालो के पास कार्य नही रहेगा। उत्पादन-प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं मे जहा भी एक अ ग शृ खला टूट जाती है उस टूटने वाली कडी के बाद वाली सभी अवस्थाओं मे उत्पादन कार्य ठप्प हो जाता है। यही नही, पहली वाली अवस्थाओं मे भी कठिनाई आ जाती है। यह तो उत्पादन प्रक्रिया का बहुत ही सरल उदाहरण है। वास्तविक जीवन मे उत्पादन-प्रक्रिया तो और भी जटिल है।

एक क्रियाशील अर्थव्यवस्था म सम्पूर्ण उत्पादन-प्रक्रिया के चार प्रमुख अ ग हैं (i) कृषि, (ii) निर्माणकारी उद्योग (iii) परिवहन उद्योग तथा (iv) सेवा उद्योग। कृषि से अन्न एव कच्चा माल उत्पन्न होत है। निर्माणकारी उद्योग उन्हे उपभोग्य एव उत्पादक वस्तुओं के रूप म परिवर्तित करते हैं। परिवहन के साधनो द्वारा कच्चा माल निर्माता कारखानो मे पहुचाया जाता है और माल कारखानो से उपभोग एव उत्पादन केन्द्रो पर पहुचाया जाता है। व्यापारी आदि अपनी सेवाओ से उन वस्तुओ मे स्थान, समय, विज्ञापन आदि उपयोगिता का निर्माण करते हैं। अगर

ये चारो अंग निरन्तर ठीक प्रकार से काम करते हैं तो उत्पादन प्रक्रिया निर्विघ्न रूप से चलती रहती है और उत्पादन के विभिन्न अंगों के परस्पर पूरक सहयोग के अभाव या त्रुटि उत्पन्न होने पर उत्पादन प्रक्रिया भी अवरुद्ध हो जाती है। उदाहरण के तौर पर परिवहन क्षेत्र मे हड़ताल होने की स्थिति मे न तो कारखानो में कच्चा माल ही पहुंच पायगा और न कारखानों मे निर्मित माल उपभोग-केन्द्रों तक पहुंचेगा। इससे उत्पादन, उपभोग, विनिमय एव वितरण की सारी व्यवस्था ही ठप्प होने का भय उत्पन्न होगा।

उत्पादन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उत्पादन प्रक्रिया के विभिन्न अंग परस्पर पूरक एवं शृंखलाबद्ध हैं। विभिन्न अंगों मे परस्पर पूरक रूप में निर्विघ्न सहयोग से ही उत्पादन कार्य निरंतर रूप से चल सकता है अन्यथा नहीं। यही कारण है कि प्रत्येक अर्थव्यवस्था में उत्पादन-प्रक्रिया के विभिन्न अंगों में निर्विघ्न सहयोग बनाये रखने का प्रयास किया जाता है।

उत्पादन प्रक्रिया की प्रणाली
(The working of the Productive Process)

उत्पादन प्रक्रिया के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाज में वस्तुओ और सेवाओं की उत्पत्ति होती रहती है और वस्तुओं और सेवाओं का प्रवाह अविरल रूप से चलता रहता है। जिस प्रकार किसी नदी मे जल-प्रवाह की क्षमता नदी में किसी समय विशेष मे उपलब्ध पानी की मात्रा और पानी की गति पर निर्भर करती है ठीक उसी प्रकार किसी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन-प्रक्रिया भी किसी समय विशेष पर समाज की कुल सम्पत्ति की मात्रा और सम्पत्ति के द्वारा उत्पादित वस्तुओ और सेवाओ के प्रवाह की दर पर निर्भर करती है। सम्पत्ति से हमारा अभिप्राय अर्थ-व्यवस्था में किसी समय विशेष पर उपलब्ध लाभदायक वस्तुओ और गुणों के संग्रह से है। इसके अन्तर्गत (i) अचल पूंजी (Fixed Capital) (ii) माल तालिकाए (Inventories), (iii) प्राकृतिक संसाधन (Natural Resources), तथा (iv) श्रम शक्ति (Labour Power) आदि का समावेश होता है। वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह की दर में आय (Income) की अभिव्यक्ति होती है।

उत्पादन प्रक्रिया के दो प्रमुख घटक सम्पत्ति (Wealth) और आय (Income) हैं। सम्पत्ति किसी समाज मे किसी समय विशेष पर उपलब्ध लाभदायक वस्तुओ व गुणो के संग्रह का सूचक है जबकि आय किसी समयावधि में वस्तुओ और सेवाओ के प्रवाह की गति को व्यक्त करती है। राष्ट्रीय सम्पत्ति अर्थव्यवस्था का शुद्ध मूल्य आंकती है जबकि राष्ट्रीय आय अर्थव्यवस्था की क्षमता बताती है। सम्पत्ति का सम्बन्ध समय बिन्दु (Point of Time) से है जबकि आय का सम्बन्ध समया-वधि (Period of Time) से है।

उत्पादन प्रक्रिया की कार्य-प्रणाली को सरलता से समझने के लिए हमे किसी विशेष तिथि को समाज के साधनो की सूची बद्ध करना पड़ता है। कल्पना करो कि वर्ष 1971 के प्रारम्भ मे अर्थव्यवस्था के पास प्राकृतिक साधनो, मानवीय साधनों और पूँजीगत साधनो की एक निश्चित मात्रा है। पूँजीगत साधनो में अचल-पूँजी (Fixed Capital) जैसे मशीनें, उपकरण, यन्त्र आदि के अतिरिक्त उत्पादन माल (Producer Goods) तथा उपभोक्ता माल (Consumer Goods) की अर्धनिर्मित माल आदि की माल-तालिकायें (Inventories) हैं। 1971 के प्रारम्भिक वस्तु संग्रह (Initial Stock of Commodities) जिसमें (i) अचल पूँजी-मशीनें, यन्त्र, उपकरण आदि, (ii) माल-तालिकायें (Inventories) निर्मित एव अर्द्ध निर्मित पूँजीगत तथा उपभोग वस्तुयें तथा प्राकृतिक साधन हैं। इनके साथ श्रम लगाने से 1971 मे उत्पादन कार्य शुरू होता है। इस उत्पादन प्रक्रिया म ज्यो-ज्यो समय गुजरता है और उत्पादन के पहिये (Wheels of Production) घूमते हैं माल-तालिकाओ का प्रयोग अंशत उपभोक्ताओ और अंशत उत्पादको द्वारा होता है। थोक व्यापारियो व फुटकर व्यापारियो के पास पड़े उपभोक्ता माल संग्रह को उपभोक्ता खरीदकर उपभोग कर जाते हैं। पूँजीगत माल संग्रह से नयी नयी उपभोग वस्तुयें निर्मित होती हैं। दुकानदार निर्माताओ से उपभोग वस्तुयें खरीदकर संग्रह करते हैं। उसी समय साथ-साथ उत्पादक वस्तुओ के प्रयोगकर्ता नई वस्तुयें व पूँजीगत माल बनाते हैं और इस निरन्तर प्रक्रिया मे वर्ष मे बड़ी मात्रा म उपभोक्ता माल बनाया एव उपभोग किया जाता है। कुछ उपभोक्ता माल स्टाक मे रह जाता है इसी प्रकार उत्पादक माल भी उत्पादित किया जाता है। उत्पादक माल तथा उपभोक्ता माल के प्रारम्भिक स्टाक तथा वर्ष के अन्त मे इनके स्टाक की वृद्धि "विशुद्ध विनियोग" (Net Investment) को व्यक्त करती है। उत्पादक माल के स्टाक मे वृद्धि अचल पूँजी का निर्माण करती है पर हम विशुद्ध उत्पादन वस्तुओ की मात्रा ज्ञात करने के लिए उन पर समयावधि मे घिसावट को कम कर देना चाहिए।

उत्पादन प्रक्रिया को संक्षेप में हम इस प्रकार बता सकते हैं कि वर्ष के प्रारम्भ में अर्थव्यवस्था के पास अचल पूँजी, माल तालिकाओं (निर्मित एव अर्ध निर्मित उपभोग एव उत्पादक माल) तथा प्राकृतिक साधनो का प्रारम्भिक संग्रह (Initial Stock) हैं और श्रम को कार्य में प्रयुक्त करने से उत्पादन प्रक्रिया प्रारम्भ होती हैं परिणाम स्वरूप इनसे उत्पादित वस्तुओं का एक स्रोत बनता हैं। कुछ उत्पादक वस्तुयें, कुछ चिरस्थायी उपभोग वस्तुयें, और कुछ अर्धनिर्मित या निर्मित उपभोग वस्तुयें होती है। उत्पादक वस्तुओं का कुछ भाग तो चालू वर्ष मे ही उत्पादन मे प्रयुक्त हो जाता है या अगले वर्ष के प्रारम्भिक स्टॉक मे जुड़ जाता है। इसी प्रकार कुछ उपभोग वस्तुओं का उपभोग हो जाता है तथा बाकी अगले वर्ष के प्रारम्भिक स्टाक मे जुड़ जाता है। वर्ष के अन्त के स्टाक म से अचल पूँजी के प्रयोग से होने

वाली घिसावट (Depreciation) को बाकी निकाल दिया जाता है। उत्पादन-प्रक्रिया को अग्रांकित चित्र 1 से स्पष्ट किया जा सकता है।

उपर्युक्त उत्पादन प्रक्रिया अध्ययन मे सेवाओं का समावेश नहीं है। वास्तविक जीवन में हम देखते हैं कि श्रम केवल भौतिक वस्तुओं का निर्माण ही नही करता अपितु मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सेवायें भी उपलब्ध करता है। इन

वस्तु उत्पादन प्रक्रिया का चित्र द्वारा निरूपण

उत्पादन के साधन (FACTORS OF PRODUCTION)

1971 में आरम्भिक वस्तु संग्रह (INITIAL STOCK OF COMMODITIES IN 1971)

श्रम (LABOUR)

अचल पूंजी (FIXED CAPITAL) (मशीनें यंत्र उपकरण आदि)

माल तालिकायें (INVENTORIES) कच्चा एवं अर्द्ध निर्मित माल आदि

प्राकृतिक संसाधन (NATURAL RESOURCES) भूमि वन खनिज आदि

नया वस्तु संग्रह (NEW COMMODITY STOCK)

अथवा

1972 में आरम्भिक वस्तु संग्रह (INITIAL COMMODITY STOCK IN 1972

उत्पादक वस्तुएं (PRODUCER GOODS) मशीनें यंत्र उपकरण आदि

चिर स्थाई उपभोग वस्तुएं (DURABLE CONSUMERS GOODS) साइकिल रेडियो फ्रीज आदि

निर्मित या अर्द्धनिर्मित उपभोग वस्तुएं (FINISHED & SEMI FINISHED CONSUMER GOODS

घिसावट (DEPRECIATION)

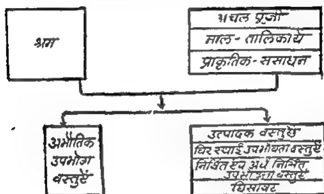
चित्र 1

सेवाओं को अभौतिक उपभोक्ता वस्तुये (Non Material Consumer Goods) की संज्ञा दी जाती है। श्रम को इन अभौतिक उपभोक्ता वस्तुओं को उपलब्ध करने मे मशीनो, यन्त्रो या भौतिक वस्तुओ की सहायता लेनी पडती है जिसके कारण समाज में घिसावट अथवा मूल्य ह्रास (Depreciation) का अंश बढ जाता है।

समाज में किसी समय विशेष पर उपलब्ध वस्तु संग्रह को पूंजी कहा जाता है जैसे चित्र 1 के 1971 मे प्रारम्भिक वस्तु संग्रह (Initial Stock of Commo

dities) पूंजी है तथा इस पूंजी मे शुद्ध मूल्य वृद्धि (Net Value Added) को विनियोग कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे 1971 के प्रारम्भिक वस्तु संग्रह और 1972 के प्रारम्भिक वस्तु संग्रह के बीच अन्तर विनियोग (Investment) की मात्रा बताता है। अगर समाज मे विनियोग धनात्मक (Positive) है तो अर्थव्यवस्था को विकासशील या विकासी अर्थ व्यवस्था (Growing Economy) कहा जाता है। विनियोग शून्य होने पर अर्थव्यवस्था को स्थिर या गतिहीन अर्थव्यवस्था (Station-

पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया का चित्रीय निरूपण
(Diagram of Complete Productive Process)



चित्र 2

ary Economy) तथा विनियोग ऋणात्मक होने पर अर्थव्यवस्था को अपक्षयी या अपनियोजी अर्थव्यवस्था (Declining or Disinvesting Economy) कहते हैं।

आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया की मुख्य विशेषतायें (तत्व)
(Essential Features of Modern Productive Process)

उत्पादन प्रक्रिया के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि उत्पादन प्रक्रिया उत्पादको एवं उपभोक्ताओ के पारस्परिक सहयोग तथा उत्पादन के क्षेत्र मे रत साधनो के सामूहिक प्रयत्नो से निरन्तर चलती रहती है। मुद्रा विनिमय को सुगम बना कर उत्पादन प्रक्रिया को विस्तृत कर देती है। इस प्रकार आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया मे निम्न मूलभूत विशेषतायें (तत्व) होती हैं—

(1) आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रतिफल है, उत्पादक उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये उत्पादन करते हैं तथा उपभोक्ता अपने मुद्रा रूपी वोट द्वारा उत्पादको को अपनी प्राथमिकता के अनुसार उत्पादन करने को प्रेरित करते हैं। अगर दोनो मे परस्पर सम्बन्ध नही रहा तो उत्पादन प्रक्रिया मे निरन्तरता सम्भव नही होगी।

(ii) विशिष्टीकरण (Specialisation)–यह आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया का दूसरा आधारभूत तत्व है। बडे पैमाने की उत्पत्ति में आतरिक एव बाह्य बचतो का लाभ प्राप्त करने के लिए उत्पादन विशिष्टीकरण अपनाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति वस्तु को शुरू से अन्त तक नही बनाता वरन वस्तु के केवल उस भाग को पूरा करता है जिसमें वह सर्वाधिक कुशल होता है अथवा प्रत्येक व्यक्ति केवल उन्ही कार्यों को करता है जिसमे वह कुशल है। अत: श्रम-विभाजन आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया में महत्वपूर्ण बनता जा रहा है।

(iii) उत्पादन प्रक्रिया उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का सामूहिक प्रयत्न है—आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया में श्रम, पू जी, प्राकृतिक साधन आदि सभी मिलकर अपने सामूहिक प्रयत्नो से आर्थिक वस्तुओ और आर्थिक सेवाओ का उत्पादन करते हैं।

(iv) उत्पादन प्रक्रिया में निरन्तरता (Continuity) चलती रहती है—आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया एक श्र खलाबद्ध स्वरूप में निरन्तर क्रियाशील रहती है। श्रम, पू जी, प्राकृतिक साधनो तथा प्रारंभिक साज-सामान से उत्पादन प्रारम्भ होता है। ये सभी साधन मिलकर पू जीगत माल, उपभोक्ता माल तालिकाओं (Inventories)के अतिरिक्त अभौतिक उपभोग सेवाओं का उत्पादन करते हैं। समाज में आवश्यकताओ को बार-बार सतुष्ट करने की प्रवृत्ति, मत्य ह्रास या घिसावट, नये आविष्कारों, नये उत्पादनो के कारण उत्पादन म निरन्तरता बनी रहती है।

(v) उत्पादक एव उपभोक्ता पूर्ण रूप से भिन्न भिन्न व्यक्ति नहीं होते—प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप म किसी न किसी उत्पादन कार्य मे सलग्न होकर आय उपार्जित करता है और साथ ही साथ वह अपनी आय स वस्तुओं और सेवाओ का उपभोग करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उत्पादक एव उपभोक्ता दोनो होता है। यह बात अलग है कि वह अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओ या सेवाओ का उपभोग करे या न करे।

(vi) आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया विनिमय की व्यापक प्रणाली पर आधारित है क्योंकि आधुनिक बडे पैमाने की उत्पत्ति एव विशिष्टीकरण में उत्पादित वस्तुयें एव सेवाए उपभोक्ता के पास विनिमय प्रक्रिया द्वारा ही पहुंचती हैं। विनिमय के अभाव म आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया ठप्प हो जायेगी।

(vii) आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया में मुद्रा का प्रयोग महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है—विनिमय की व्यापक प्रणाली का आधार मुद्रा का प्रयोग है। वस्तु विनिमय प्रणाली में दोहरे सयोग का अभाव, सामान्य मूल्य मापक की अनुपस्थिति सचय की असुविधा आदि के कारण ही मुद्रा का आविष्कार हुआ है। मुद्रा के प्रयोग से इन कठिनाइयो का समापन होने से विनिमय की व्यापक प्रणाली देश की सीमाओं म ही सीमित न रहकर बढकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुच गई है। आधुनिक युग मे विनिमय एव वितरण उत्पादन तथा उपभोग सभी मे मुद्रा का व्यापक प्रयोग होता

है अतः यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया मे मुद्रा अनिवार्य घटक है।

उत्पादन प्रक्रिया क्यों चलती है ?

अथवा

उत्पादन प्रक्रिया की आवश्यकता क्यों ?

(Necessity of Productive Process)

उत्पादन प्रक्रिया का अध्ययन करते समय यह प्रश्न पूछा जाना स्वाभाविक है कि उत्पादन प्रक्रिया क्यो चलती है ? इसके क्या कारण हैं ? इसके उत्तर मे हम उत्पादन प्रक्रिया चलने के निम्न कारण दे सकते हैं—

(1) **कुछ आवश्यकताओं को बार-बार सन्तुष्ट करने के लिए** उत्पादन का क्रम भी निरन्तर चलते रहना आवश्यक है। हमारे दैनिक उपभोग की अनेक वस्तुओ जैसे खाना, ईधन, बिजली आदि की बार-बार आवश्यकता पूर्ति के लिए उत्पादन निरन्तर करना पडता है।

(2) **चिरस्थाई उपभोक्ता वस्तुएं जिनकी कुछ समयावधि के बाद फिर मांग होती है** उनके पुनरुत्पादन के लिए उत्पादन क्रम में निरन्तरता जरूरी है जैसे साईकिल, रेफरीजरेटर, पखा, रेडियो आदि।

(3) **हर बार नया कच्चा माल**—किसी उद्योग मे कोई कच्चा माल एक ही बार उपयोग होता है और फिर पुन: कच्चे माल की आवश्यकता होती है। अत. कच्चे माल की निरन्तर पूर्ति के लिए उनके उत्पादन क्रम मे भी निरन्तरता चलती है।

(4) **घिसावट या मूल्यह्रास (Depreciation)**—उत्पादन करने मे मशीनो, उपकरणो आदि के निरन्तर उपयोग से उनमे घिसावट होती है और वे कुछ समय बाद प्रयोगहीन हो जाती हैं। अत उनके स्थान पर नयी मशीनो का प्रतिस्थापन करने के लिए उत्पादन क्रम मे निरन्तरता चलती है।

(5) **नये आविष्कारों से भी उत्पादन क्रम मे निरन्तरता को जन्म मिलता है** क्योंकि नयी मशीनों का प्रयोग उनके उत्पादन क्रम को चालू रखता है।

यह उल्लेखनीय है कि जो वस्तुए अल्पायु या दैनिक उपयोग की होती हैं उनमे पुनरुत्पादन तीव्र गति से होता है जबकि चिरस्थायी वस्तुओं के पुनरुत्पादन में गति धीमी होती है।

उत्पादन प्रक्रिया में उद्यमकर्ता की भूमिका अथवा महत्व

(The role or Importance of Entrereneur in Productive Process)

आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया बडी जटिल और घुमावदार है और प्रत्येक उत्पादन प्रक्रिया मे चाहे वह छोटी हो या बडी, साहसी एव उद्यमकर्ता के अभाव मे

प्रारम्भ नहीं की जा सकती। उद्यमकर्त्ता जब जोखिम उठाता है तभी उत्पादन प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है अन्यथा नहीं।

उत्पादन प्रक्रिया मे परिवर्तन तकनीकी सुधार उत्पादन का आकार एवं प्रकार सब उद्यमकर्त्ता के निर्णयों पर निर्भर करते है। उत्पादन के स्तर में वृद्धि कर उद्यमकर्त्ता देश को आर्थिक विकास एव समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर करता है वह देश के अर्द्धविकसित एव अप्रयुक्त साधनों के विकास प्रयोग एव विदोहन की सम्भावनाओं का परीक्षण कर उनके विदोहन को मूर्तरूप प्रदान करता है।

यद्यपि साहसी का कार्य मुख्य रूप से जोखिम उठाना (Risk taking) ही है किन्तु वह उत्पादन प्रक्रिया के सफल संचालन के लिए प्रशासनिक एव नीति सम्बन्धी निर्णय लेता है और वितरण सम्बन्धी कार्य भी करता है जैसा निम्न तालिका से स्पष्ट है —

उत्पादन प्रक्रिया मे साहसी की भूमिका तथा कार्य

↓ (A)	↓ (B)	↓ (C)
जोखिम उठाने का कार्य	प्रशासनिक एव निर्णयात्मक कार्य	वितरण सम्बन्धी कार्य

(A) **जोखिम उठाने का कार्य (Risk Taking Functions)**—आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया भविष्य की माग पर निर्भर करती है। उत्पादन की माग व उत्पादन पद्धतियों म निरन्तर परिवर्तन होता है इससे अनिश्चितता बढती है और उद्यमकर्त्ता जोखिम उठाकर उत्पादन प्रक्रिया को प्रारम्भ ही नहीं करता वरन उसे चालू रखता है और समय पर परिवर्तन करता है। आधुनिक युग मे बीमा-कम्पनियां उनकी जोखिम म हिस्सा बटा उन्हें अधिक जोखिम पूर्ण कार्यों म भी प्रेरित करती हैं जिससे उत्पादन के नये क्षेत्रों, विधियों और प्रयोगों का विकास होता है और उत्पादन का आकार, प्रकार एव प्रयोग बदलते हैं।

(B) **प्रशासनिक एव निर्णयात्मक कार्य (Administrative & Decision Making Functions)**—इसके अन्तर्गत साहसी निर्णय करता है कि (i) क्या उत्पादन किया जाय? (ii) कितना उत्पादन किया जाय (iii) कैसे उत्पादन किया जाय? (iv) उद्योग कहां स्थापित हो? (v) उत्पादन इकाई का आकार छोटा हो या बड़ा आदि।

(C) **वितरण सम्बन्धी कार्य (Distributive Functions)**—इसके अंतर्गत उद्यमी निर्णय करता है कि सामूहिक उत्पत्ति का कितना भाग किस साधन को दिया जाय तथा उत्पादन म से कितना भाग घिसावट के लिये रखा जाय और कितना लाभांश म वितरित हो। अर्द्ध निर्मित माल का स्टाक व नियन्त्रण कैसे रखा जाय आदि निर्णय लिये जाते हैं। स्पष्ट है कि उत्पादन प्रक्रिया म साहसी की भूमिका महत्वपूर्ण है।

उत्पादन प्रक्रिया के अध्ययन का महत्व
(Significance of the Study of the Productive Process)

उत्पादन-प्रक्रिया अध्ययन हमारे लिये विशेष महत्व का है क्योंकि इसका अध्ययन हमे निम्न आर्थिक संकेत देता है

1 **अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता का सूचक**—उत्पादन प्रक्रिया द्वारा हम समाज मे वस्तुओ और सेवाओ के प्रवाह का भौतिक रूप मे ज्ञान प्रस्तुत करते हैं। सभी प्रकार की वस्तुओ और सेवाओ का मूल्यांकन मुद्रा रूपी सामान्य मापदण्ड द्वारा होता है।

2 **विभिन्न उत्पादन साधनो के प्रयोग का सूचक**—उत्पादन प्रक्रिया से यह पता लगता है कि देश मे उपलब्ध उत्पादन साधनो का प्रयोग कितना-कितना किन-किन क्षेत्रो मे हो रहा है अगर अधिक उत्पादन साधन पूँजी निर्माण मे लगे हैं तो भावी विकास की गति प्रबल है जबकि विपरीत अवस्था मे उपभोग वस्तुओ के उत्पादन की प्रधानता का पता लगता है।

3 **दिशानिर्देश**—उत्पादन-प्रक्रिया से अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध मे दिशा निर्देश मिलता है। अगर अर्थव्यवस्था मे शुद्ध विनियोग शून्य है तो हम कह सकते हैं कि अर्थव्यवस्था स्थिर है, अगर निवेश ऋणात्मक (Negative) हैं तो पता लगता है कि अर्थव्यवस्था मे गिरावट का रुख है पर धनात्मक निवेश अर्थव्यवस्था विकास के द्योतक हैं।

4. **नीति निर्धारण मे उपयोगी**—उत्पादन प्रक्रिया का अध्ययन आर्थिक नीति निर्धारण मे भी मार्गदर्शन करता है। अर्थव्यवस्था के उत्पादक अंगो मे परस्पर सहयोग एवं समन्वय की नीति से आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

5 **राष्ट्रीय आय के अध्ययन का स्रोत**—उत्पादन-प्रक्रिया मे किसी देश मे किसी समय विशेष में पूंजी संग्रह तथा समयावधि के कुल पूंजी संग्रह के द्वारा उत्पादन प्रक्रिया अध्ययन से राष्ट्रीय आय के अध्ययन का स्रोत प्राप्त होता है।

6. उत्पादन प्रक्रिया के अध्ययन मे राष्ट्रीय सम्पत्ति द्वारा किसी अर्थव्यवस्था के शुद्ध मूल्य को आंका जा सकता है।

इस प्रकार उत्पादन-प्रक्रिया का अध्ययन सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनो ही दृष्टियो से उपयोगी है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. अर्थव्यवस्था मे उत्पादन प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए एवं उसका महत्व बतलाइये।

अथवा

उत्पादन प्रक्रिया के स्वरूप की काल्पनिक तालिका की सहायता से व्याख्या कीजिए।

अथवा

उत्पादन प्रक्रिया की शृ खलाबद्ध कार्यविधि का उल्लेख कर उसके महत्व को समझाइये।

संकेत—(पहले अर्थव्यवस्था में उत्पादन प्रक्रिया का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए, फिर दूसरे भाग में उनका शृ खलाबद्ध रूप का उदाहरण देकर समझाइये, तीसरे भाग में कार्यविधि का वर्णन एवं चित्रों द्वारा समझाकर, चौथे भाग में महत्व बतलाइये। समय का ध्यान रखते हुए उत्तर को संक्षिप्त बनाइये।

2. उत्पादन प्रक्रिया का क्या अर्थ है ? इस प्रक्रिया में उद्यमकर्त्ता का क्या भाग होता है। समझाइये। (पूरक परीक्षा प्रथम वर्ष कला 1973)

संकेत—(प्रश्न के प्रथम भाग में उत्पादन प्रक्रिया का अर्थ उसका शृ खलाबद्ध रूप में चित्रों द्वारा समझाना है तथा द्वितीय भाग में उत्पादन प्रक्रिया में उद्यमकर्त्ता की भूमिका पुस्तक में शीर्षकानुसार विवरण से समझना है।)

3. आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए तथा उत्पादन प्रक्रिया के अध्ययन में इसके महत्व को समझाइये। (प्रथम वर्ष कला 1976, 1979)

संकेत—(उत्तर पहले प्रश्न के संकेत के अनुसार होना चाहिए।)

4

उत्पादन तथा उत्पादन के साधन

(Production & Production Inputs)

अर्थशास्त्र मे उत्पादन का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है क्योकि देश की आर्थिक प्रगति देश मे उत्पादन की मात्रा, स्वरूप और वृद्धि पर निर्भर करती है। देश की राष्ट्रीय आय, उपभोग, बचत, विनियोग रोजगार आदि का आधार उत्पादन ही है। जिन देशो का उत्पादन स्तर नीचा है वे दरिद्र हैं और ऊचे उत्पादन-स्तर वाले राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और समृद्ध हैं अत उत्पादन का महत्व स्पष्ट होता है।

उत्पादन का अर्थ (Meaning of Production)

साधारण बोलचाल की भाषा मे उत्पादन का अर्थ किसी नई वस्तु के निर्माण से लगाया जाता है। प्राचीन अर्थशास्त्री भी उत्पादन का इसी प्रकार सकीर्ण अर्थ लगाते थे। उनके अनुसार "भौतिक वस्तुओं का सृजन" (Creation of Materal Goods) ही उत्पादन था जैसे मकान, कपडा, रेडियो, पंखा आदि। अभौतिक आर्थिक क्रियाओ को वे उत्पादन नही मानते थे। यही कारण था कि एडमस्मिथ ने श्रम को दो भागो मे विभाजित किया। जो श्रम भौतिक वस्तुओ का निर्माण करता था वह उत्पादक श्रम था जबकि अभौतिक सेवाओ मे नर्तकी की सेवा, गायक, अध्यापक, डाक्टर, वकील आदि के कार्यों को वे अनुत्पादक मानते थे।

धीरे-धीरे अर्थशास्त्रियो ने अनुभव किया कि विज्ञान के अनुसार न तो मनुष्य किसी वस्तु का सृजन कर सकता है और न उसे नष्ट ही कर सकता है (Man can neither create nor destroy matter)। वह केवल अपने प्रयत्नों से पदार्थों के स्वरूप मे परिवर्तन कर उन्हे पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बना देता है। प्रो. मार्शल के अनुसार "मानव भौतिक वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकता है, मानसिक एवं नैतिक विश्व में नये नये विचारों को जन्म भले ही दे सकता है किन्तु जब भौतिक वस्तुओं के निर्माण की बात आती हैं तो वह केवल उपयोगिता का ही सृजन करता है। दूसरे शब्दों में उपयोगिता का सृजन करना ही उत्पादन कहलाता है।"

प्रो. पेन्सन के अनुसार भी "उत्पादन का अर्थ किसी पदार्थ का निर्माण करना नही वरन् वस्तु में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने की योग्यता, क्षमता अथवा

गुण में वृद्धि करना है।" प्रो फेयर चाइल्ड के अनुसार "सम्पत्ति को अधिक उपयोगी बनाना ही उत्पादन है।" कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन का अर्थ उपयोगिता का सृजन (Creation of Utility) बतलाते हैं।

कुछ अर्थशास्त्री इस बात पर जोर देते हैं कि उपयोगिता का सृजन करना ही उत्पादन नहीं कहा जा सकता। इसके अनुसार उपयोगिता का सृजन तभी उत्पादन कहलाता है जब उसका कोई विनिमय मूल्य बनता है। इसलिए प्रो टामस ने लिखा है कि 'उत्पादन का तात्पर्य केवल उपयोगिता का सृजन या अभिवृद्धि नहीं वरन् मूल्यों का सृजन (Creation of Values) है।" इसी प्रकार ऐली (Ely) के मतानुसार भी "आर्थिक उपयोगिता का निर्माण ही उत्पादन है।"

इन सभी परिभाषाओं के विश्लेषण से हम यह कह सकते हैं कि वे सब क्रियाएं जिनसे वस्तुओं और सेवाओं में आर्थिक उपयोगिता का सृजन होता है अर्थशास्त्र में उत्पादन कहा जाता है। उपयोगिता सृजन के विभिन्न रूप हो सकते हैं जो इस प्रकार हैं।

उपयोगिता सृजन के विभिन्न तरीके या रूप
(Different Forms or Methods of Creation of Utilities)

1. रूप मूलक उपयोगिता (Form Utility)—जब किसी वस्तु या पदार्थ के रूप में परिवर्तन कर उसमें उपयोगिता वृद्धि कर दी जाती है तो उसे रूप परिवर्तन द्वारा उत्पादन कहते हैं जैसे बढ़ई लकड़ी से मेज बनाता है, दर्जी कपड़े सीता है इसी प्रकार कृषक, कारखाने आदि रूप परिवर्तन से उत्पादन करते हैं।

2. स्थान मूलक उपयोगिता (Place Utility)—जब किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने लेजाने में जो उपयोगिता वृद्धि होती है उसे स्थान परिवर्तन द्वारा उत्पादन की संज्ञा दी जाती है। जैसे नदी से रेत शहरों में लाना, खानों से खनिज उद्योगों तक पहुंचाना, जंगलों से लकड़ी लाकर बेचना आदि।

3 समय मूलक उपयोगिता (Time Utility)—जब किसी वस्तु को कम उपयुक्त समय से अधिक उपयुक्त समय तक के लिए सुरक्षित रखा जाता है ताकि वह वस्तु अधिक उपयोगी हो जैसे चावल, टीक की लकड़ी, शराब, शहद आदि की उपयोगिता समय गुजरने के साथ-साथ एक निश्चित अवधि तक बढ़ती है। इसे समय परिवर्तन द्वारा उत्पादन कहते हैं।

4 अधिकार मूलक उपयोगिता (Possession Utility)—जब कुछ वस्तुओं की उपयोगिता उनके स्वामित्व या अधिकार परिवर्तन से बढ़ती है, जैसे पैन की उपयोगिता बच्चे से शिक्षित हाथों में हस्तान्तरण से बढ़ती हैं। घुंघरू की उपयोगिता नर्तक के लिए दुकानदार से अधिक होती है अतः क्रय विक्रय या विनिमय द्वारा वस्तुओं के स्वामित्व परिवर्तन से जो उपयोगिता सृजन होती है वह अधिकार परिवर्तन द्वारा उत्पादन कही जाती है।

5. **सेवा मूलक उपयोगिता (Service Utility)**—जब व्यक्ति अपनी सेवाओं से अभौतिक उत्पादन के रूप में उपयोगिता वृद्धि करते है तो उसे सेवा द्वारा उत्पादन कहते हैं जैसे गायक, वकील, नौकर डाक्टर, अध्यापक, नर्तक आदि अपनी सेवाओं से मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करते हैं तो उसे सेवा उपयोगिता सृजन कहा जाता है।

6. **ज्ञानमूलक उपयोगिता (Knowledge Utility)**—कभी-कभी व्यक्ति वस्तुओं के उपयोग आदि से सम्बन्धित ज्ञान वृद्धि द्वारा उपयोगिता का सृजन करते हैं जैसे विज्ञापन द्वारा वस्तुओं के गुण, लाभ तथा प्रयोग आदि के बारे में जानकारी उपलब्ध की जाती है। यह ज्ञान वृद्धि द्वारा उपयोगिता सृजन है अनुसधान द्वारा वस्तु के नये उपयोग ढू ढना भी उपयोगिता सृजन ही है। अत इन सबको भी उत्पादन कहा जाता है।

इस प्रकार उत्पादन कार्य के विभिन्न रूप हो सकते हैं केवल भौतिक वस्तुओं की पूर्ति ही उत्पादन नहीं वरन् अभौतिक सेवाओं से भी जो मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि गुण का सृजन होता है वह भी उत्पादन ही है। केवल किसान, कारीगर, उद्योगपति ही उत्पादक नहीं हैं वरन् शिक्षक, डाक्टर, सैनिक, नौकर, वकील, नर्तक, गवैया, लेखक, नेता आदि सभी उत्पादक हैं।

उत्पादन का व्यक्तिगत एव सामाजिक महत्व
(Individual & Social Importance of Production)

उत्पादन सभी आर्थिक क्रियाओं का आधार स्तम्भ है। उत्पादन व्यक्तिगत एव सामाजिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है जैसे—

1. **जीवन स्तर उत्पादन मात्रा पर निर्भर करता है**—किसी देश के लोगों का जीवन स्तर उत्पादन की मात्रा व प्रकृति पर निर्भर करता है। यदि उत्पादन अधिक होगा तो लोगों को उपभोग के लिए सभी प्रकार की वस्तुऐं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने पर जीवन-स्तर में वृद्धि होगी तथा उसके विपरीत अवस्था में जीवन स्तर नीचा होगा। आज इ गलैड, अमेरिका, रूस, जापान आदि देशों का जीवन स्तर इसलिए ■ चा है कि उनका उत्पादन-स्तर पिछड़े राष्ट्रों—भारत, लका, पाकिस्तान आदि से ऊ चा है।

2. **व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति उत्पादन पर निर्भर है**—उत्पादन ही आय का स्रोत है। जो व्यक्ति जितना अधिक उत्पादन करेगा, अन्य बातों के समान रहने पर उसकी आय अधिक होने से वह अपनी आय में अपेक्षाकृत अधिक वस्तुओं व सेवाओं की आवश्यकता की तुष्टि कर सकेगा।

3 **आर्थिक विकास**—किसी भी राष्ट्र का आर्थिक विकास उसके उत्पादन की मात्रा, स्वरूप एवं वृद्धि की दर से प्रतिबिम्बित होता है। जो देश विभिन्न प्रकार की वस्तुऐं बडी मात्रा म बनाता है उसका उपभोग, व्यापार उतना ही अधिक होगा, रोजगार अधिक होगा, आय का स्तर ऊ चा होगा आदि आदि।

4 आय के रूप में वृद्धि—उत्पादन की मात्रा व विविधता के कारण सरकार को करो के रूप मे अधिक आय प्राप्त होती है।

5. अ तर्राष्ट्रीय सहयोग—उत्पादन का अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से भी महत्व है। एक देश अपने प्राकृतिक साधनो के प्रयोग म विशिष्टता अपनाकर दूसरे देशों के उत्पादनो का उपभोग बढा सकता है। उत्पादन म परस्पर सहयोग भी बढाया जा सकता है।

उत्पादन के साधन या उत्पादन पडत
(Factors of Production or Production Inputs)

उत्पादन साधनो या उत्पादन पडतो का अभिप्राय उन सवाओ और साधनो स है जो उत्पादन प्रक्रिया मे सहयोग देते हैं। जैसे किसान को अन्न उत्पादन करने के लिए भूमि हवा पानी, बीज हल, मजदूर तथा व्यवस्था की आवश्यकता होती है, एक कारखाने म उद्योगपति को उत्पादन मे भूमि, मशीनें, भवन कच्चा माल, श्रमिक मैनेजर आदि को रखना पड़ता है तथा जोखिम उठानी पड़ती है। इस प्रकार किसी भी वस्तु का उत्पादन करने के लिए विभिन्न उत्पादन साधनों का सहयोग लेना पडता है। प्रो बेन्हम (Benham) के शब्दो म "कोई वस्तु जो उत्पादन में सहयोग देती है उत्पादन का साधन है।" उत्पादन के प्राय पाच साधन माने गये हैं—

(1) भूमि (Land)
(2) श्रम (Labour)
(3) पू जी (Capital)
(4) व्यवस्था या सगठन (Organisation)
(5) साहस (Enterprise)

(1) भूमि (Land)—भूमि उत्पादन का एक महत्वपूर्ण किन्तु निष्क्रिय साधन है। साधारण बोलचाल मे भूमि का अर्थ केवल भूमि की ऊपरी सतह से लगाया जाता है पर अथशास्त्र मे भूमि का बहुत ही व्यापक अर्थ लगाया गया है। प्रो मार्शल क अनुसार "भूमि का अर्थ केवल पृथ्वी की ऊपरी सतह से ही नहीं वरन् उन सभी पदार्थों एव शक्तियों से है जिन्हें प्रकृति ने भूमि, वायु प्रकाश, गर्मी आदि के रूप मे मानव की सहायता के लिए नि शुल्क प्रदान किया है।" अर्थशास्त्र मे भूमि का अभिप्राय समस्त प्राकृतिक उपहार स है जिसके अन्तर्गत भूमि की सतह, वायु, नदी, समुद्र, पहाड, रोशनी खनिज, जल आदि प्रकृतिदत्त पदार्थ सम्मिलित हैं। इसी कारण कहा गया है कि 'भूमि प्रकृति का उपहार है।" (Land is Free Gift of Nature) यह उत्पत्ति का महत्वपूर्ण एव अत्याज्य साधन है जिसके कारण उत्पादन सम्भव होता है।

(2) श्रम (Labour)—श्रम उत्पादन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव सक्रिय साधन है। इसका महत्व इसलिय अधिक है कि यह समस्त आर्थिक क्रियाओं

था आदि और अन्त (साधन और साध्य) दोनो हैं। अर्थशास्त्र मे श्रम से मनुष्य के उन सभी शारीरिक एव मानसिक प्रयत्नो का बोध होता है जो धनोपार्जन के उद्देश्य से किये जाते हैं। केवल मनोरजन, देशप्रेम, पारिवारिक स्नेह आदि के लिये किये गये कार्यों को श्रम मे सम्मिलित नही किया जाता वरन् धनोत्पादन के उद्देश्य से किये गये मानवीय शारीरिक एव मानसिक प्रयत्नो का ही श्रम मे समावेश होता है।

(3) पूँजी (Capital)—उत्पादन का तीसरा महत्वपूर्ण साधन पूँजी है। आज की आधुनिक जटिल उत्पादन व्यवस्था मे पूँजी का महत्व निरन्तर बढता जा रहा है। पूँजी उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन होते हुए भी उसमे बढती हुई स्वय सचालिता उसे और भी महत्वपूर्ण बनाती जा रही है। अर्थशास्त्र में पूँजी शब्द का व्यापक अर्थ लगाया जाता है। प्रो० मार्शल के शब्दो मे "पूँजी मनुष्य द्वारा उत्पादित धन का वह भाग है जो अधिक सम्पत्ति उत्पादन मे प्रयुक्त किया जाता है।" इस प्रकार पूँजी के अन्तर्गत केवल नकदी ही नही आती वरन् मशीनें, भवन, कच्चा माल, बीज आदि आते हैं। पूँजी के अन्तर्गत उन सभी भौतिक साधनो का समावेश होता है जो अधिक उत्पादन के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं।

(4) सगठन या व्यवस्था (Organisation)—उत्पादन का चौथा महत्वपूर्ण साधन सगठन या व्यवस्था है। "सगठन का अभिप्राय उत्पत्ति के विभिन्न साधनो मे अनुकूलतम सयोग स्थापित कर उन्हें उत्पादन कार्य मे सलग्न करने की कला और विज्ञान से है।" दूसरे शब्दो मे सगठन वह विशिष्ट श्रम (Specialised Labour) है जो उत्पादन के साधनो—श्रम, पूँजी एव भूमि—को एकत्रित कर उनमे आदर्शतम समन्वय स्थापित करता है, उनके कार्यों का निरीक्षण करता है अथवा आवश्यक परिवर्तन करता है। इसके अभाव मे कुशलता का अभाव रहता है। कुछ अर्थशास्त्री सगठन को उत्पादन का पृथक साधन नही मानते। पर आज बडे पैमाने की उत्पत्ति मे जटिल श्रम विभाजन एव उत्पादन की घुमावदार प्रक्रियाओ के बढ़ने से सगठन का विशेष महत्व बढ गया है।

(5) उद्यम या साहस (Enterprise)—उत्पादन प्रक्रिया में आधुनिक जटिलताओं के कारण जोखिमो मे वृद्धि हुई है। जो व्यक्ति इन जोखिमो को वहन करता है उसे साहसी या उद्यमी (Enterpreneur) कहते हैं। पहले साहसी को उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन नही माना जाता था किन्तु आधुनिक उत्पादन व्यवस्था मे विभिन्न प्रकार की जोखिमो की प्रधानता के कारण साहसी उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन माना जाने लगा है। सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियो की स्थापना में साहसी ही आगे आते हैं।

वैसे तो कुछ अर्थशास्त्री जैसे प्रो० चैपमैन (Chapman) तथा जे. एस मिल (Mill) उत्पादन के केवल दो ही साधन—श्रम और पूँजी मानते थे जिन्हे वे

उत्पादन के आधारभूत (P ımary) साधन मानते थे जबकि पूँजी और सगठन को गौण साधन (Secondary Factor) की सज्ञा देते थे। उनके अनुसार पूँजी का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही क्योंकि पूँजी श्रम और भूमि के कारण अस्तित्व म आती है। यह एक प्रकार से श्रम का ही विशिष्ट रूप है।

अनेक आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के पाच साधन मानते हैं जबकि बेन्हम जैसे अर्थशास्त्री उत्पादन के साधनो की सख्या अनगिनत बताते हैं। उनके इस विचार के पीछे उत्पादन के प्रमुख पाच साधनो का वर्गीकरण है जिसमे जटिलता बढ जाती है। यही कारण है कि अब उत्पादन के पाच साधन ही प्रमुख मान जाते हैं।

उत्पादन साधनो का सापेक्षिक महत्व
(Relative Importance of Factors of Production)

उत्पत्ति के विभिन्न साधनो का विवेचन करने के साथ साथ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन पाँचो साधनो म से कौन सा साधन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। क्योंकि (i) उत्पादन मे उत्पत्ति के सभी साधनो की न्यूनाधिक रूप से आवश्यकता पडती है। (ii) उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का स्वामी अपने साधनों को ही सर्वाधिक महत्व देता है। भू स्वामी भूमि को श्रमिक श्रम को पूँजीपति पूजी को तथा साहसी साहस को ही अधिक महत्वपूर्ण बतायगा ताकि उत्पत्ति म प्रतिफल प्राप्त करने मे उसे प्राथमिकता मिले। फिर भी मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक साधन का अपने अपने क्षत्र एव परिस्थितियों मे अपना महत्व होता है। उत्पादन प्रक्रिया म उत्पादन के सभी साधन महत्वपूर्ण हैं। कोई भी देश प्राकृतिक साधनो के अभाव मे तीव्र आर्थिक विकास नही कर सकता। पर भूमि एक निष्क्रिय साधन है। श्रम के अभाव म प्राकृतिक साधनो की सम्पन्नता म भी विपन्नता रह सकती है। कुशल श्रम के अभाव मे भारत प्राकृतिक साधनो म सम्पन्न होते हुए भी दरिद्र रहा जबकि स्विटजरलैंड जैसा पर्वतीय एव चट्टानी देश अपने निपुण श्रम से समृद्ध बन बैठा। जापान की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। अत श्रम का विशेष स्थान बनता है।

आज क आधुनिक युग मे पूँजी आर्थिक क्रियाओं का आधार एव समृद्धि का महत्वपूर्ण निर्धारक घटक है। आधुनिक औद्योगीकरण पूँजी की ही देन है। उत्पादन प्रणाली की बढती हुई जटिलताओ एव जोखिम के कारण सगठन एव साहस भी उत्पत्ति क दूसरे साधनो के समान ही महत्वपूर्ण है। अगर कितनी ही भूमि, पूँजी और श्रम लगा दिया पर अगर उसका अनुकूलतम सयोग न बैठा तो आर्थिक हानि सबके महत्व को ही समाप्त कर देती है जबकि सगठन इनम उचित समन्वय, निरीक्षण एव प्रबन्ध स उत्पादन मे कुशलता लाता है। अत किसी भी साधन को छोटा या बडा या कम या अधिक महत्वपूर्ण कहना कठिन है।

इस सम्बन्ध मे प्रो पैन्शन का मत युक्तिसगत लगता है "धनोत्पादन मे प्रत्येक साधन आवश्यक है। हां, इतना अवश्य है कि भिन्न भिन्न समयों मे तथा आर्थिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पृथक्-पृथक् साधनो का अलग-अलग महत्व रहता है। आखेट युग एव कृषि अवस्था में भूमि का उत्पादन में सर्वाधिक महत्व रहा। फिर हस्तकला युग (Handicrafts Stage) मे भूमि की अपेक्षा श्रम का महत्व बढ़ गया। जब देश आर्थिक विकास की औद्योगिक अवस्था मे पहुचता है तो पूंजी का महत्व बढ जाता है। आधुनिक युग की जटिल उत्पादन व्यवस्था में सगठन और साहस ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि आधुनिक औद्योगिक उत्पादन प्रणाली में उत्पादन के पांचों साधन महत्वपूर्ण हैं। किसी साधन विशेष को कम या अधिक महत्वपूर्ण बताना कठिन है। यह अवश्य है कि उत्पादन की अवस्था या प्रणाली के कारण कोई साधन किसी दूसरे साधन से उन परिस्थितियों में अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है।

उत्पादन कुशलता एव उत्पादन मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व

(Factors Affecting the Efficiency & Volume of Production)

किसी भी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन की कुशलता एव उत्पादन की मात्रा पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है। उत्पादन की कुशलता का अभिप्राय एक निश्चित समय में उत्पादन की अधिक मात्रा तथा उसकी अच्छी किस्म से है। उत्पादन कुशलता को प्रभावित करने वाले घटकों या उत्पादन मात्रा के निर्धारकों (Determinants) को सामान्यत दो भागों में बाटा जाता है। (1) आतरिक तत्व तथा (2) बाह्य तत्व।

(1) आतरिक तत्व (घटक) (Internal Factors)—आतरिक तत्व या दशाओं से अभिप्राय उन तत्वों या दशाओं से है जो उत्पादन इकाई में स्वय विद्यमान रहती हैं। इनके अन्तर्गत (i) उत्पत्ति साधनों की कुशलता तथा (ii) साधनों का इष्टतम सयोग आदि आते हैं। अगर कारखाने में प्रयुक्त किये जाने वाले साधन कुशल हैं तो कारखाने मे उत्पादन कुशलता बढ़ेगी, अन्यथा विपरीत परिस्थितियों में गिरेगी। यह भी आवश्यक है कि उत्पादन साधनों मे कुशलता होने हुए भी उन साधनों में अनुकूलतम सयोग (Optimum Combination) नहीं है तो अपव्यय होगा और लागत में वृद्धि होगी। अतः उत्पादन कुशलता के लिए उत्पादन साधनों में ठीक समन्वय बैठाने के लिये कुशल सगठन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

(2) बाह्य परिस्थितियां या घटक (External Conditions or Factors)—उत्पादन कुशलता पर आतरिक दशाओं का प्रभाव तो पड़ता ही है पर साथ ही बाह्य दशाओं का भी प्रभाव पड़ता है जिन पर उत्पादन का कोई प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं होता है। इसके अन्तर्गत उद्योग की स्थिति, बाजार में प्रचलित मूल्य,

प्रतिस्पर्द्धा की मात्रा, परिवहन एव सचार सुविधाएँ, सरकारी नीति, राजनैतिक शान्ति एव स्थायित्व आते है। कुछ का विवरण इस प्रकार है—

(i) प्राकृतिक तत्व (Physical Factors)—किसी देश की उत्पादन कुशलता देश म उपलब्ध साधनो की सम्पन्नता, उनके विदोहन की क्षमता तथा प्राकृतिक प्रको ' की कठोरता पर निर्भर करती है। यदि देश म साधनो की विपुलता है, प्राकृतिक प्रकोपो का अभाव रहता है तो लोगो को उन साधनो के विदोहन से उत्पादन वृद्धि का अवसर मिलता है।

(ii) तकनीकी ज्ञान की अवस्था (Stage of Technical Knowledge)—किसी भी देश म जितनी ही तकनीकी ज्ञान की अधिक प्रगति होगी वह देश उत्पादन मे उतना ही अधिक कुशल होगा क्योकि बडे पैमाने की उत्पत्ति, विशिष्टीकरण आदि के कारण आजकल औद्योगीकरण, परिवहन एव संचार विकास, वैज्ञानिक कृषि सभी म तकनीकी ज्ञान आवश्यक होता है। आज विकसित राष्ट्रो मे पर्याप्त तकनीकी विकास के कारण उत्पादन का स्तर अविकसित राष्ट्रो से काफी ऊँचा है।

(iii) पूंजी निर्माण एव पूंजी की उपलब्धता—आज के औद्योगिक युग मे पूँजी उत्पादन का प्राण है। मशीनें, औजार, बडे बडे कारखाने, कच्चा माल आदि के लिए बडी मात्रा म पूँजी की आवश्यकता होती है। जिस देश म वित्तीय सस्थाओ का पर्याप्त विकास होता है और पूँजी की पर्याप्तता तथा उत्पादन कार्यों मे उपलब्धता की जितनी सुविधा होती है उत्पादन मे उतनी ही अधिक कुशलता आती है।

(iv) कच्चे माल की पूर्ति—उत्पादन कुशलता के लिए कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति एव निरन्तर उपलब्धता भी आवश्यक है क्योकि कच्चा माल अच्छा होने पर उत्पादन भी प्राय अच्छा होता है। कच्चे माल की निरन्तर पूर्ति न होने पर उत्पादन काय प हो जाता है। उत्पादन कुशलता के लिए कच्चे माल की पूर्ति भी महत्वपूर्ण घटक है।

(v) परिवहन एव सचार सुविधाएँ—आधुनिक उत्पादन व्यवस्था मे परिवहन एव सचार साधनो का विशेष महत्व है। उद्योगो को कच्चे माल, मशीनें, निर्मित माल, श्रम आदि उत्पत्ति साधनो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने ले जाने की आवश्यकता पडती है। अगर परिवहन साधन सस्ते एव विकसित हों तो उत्पादन कार्यों म भी तेजी आती है अन्यथा उत्पादन प्रक्रिया शिथिल पड जाती है। विकसित परिवहन एव सचार साधनो से निर्मित माल को मण्डियो मे बेचना सुगम एव सस्ता पडता है, श्रम की गतिशीलता बढती है तथा उद्योगो का विकास होता है। इनके परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा बढती है।

(vi) सरकारी नीति (Govt Policy)—सरकार अपनी विभिन्न नीतियों से उत्पादन कार्य को हतोत्साहित एवं प्रोत्साहित करती है। अगर सरकार उद्योगों व उत्पादन कार्यों को प्रोत्साहन देती है, कानून एवं व्यवस्था बनाए रखती है, साधनों के उत्पादन कार्यों में आवंटन को महत्व देती है तो उत्पादन बढ़ता है जैसे परतन्त्रता के समय अंग्रेज सरकार की दोषपूर्ण नीति से भारत का उत्पादन स्तर नीचा था पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार की उपयुक्त नीतियों से उत्पादन का आकार एवं किस्म दोनों में वृद्धि हुई है।

(vii) राजनैतिक स्थिति (Political Stability)—सुदृढ सरकार का होना तथा राजनैतिक स्थायित्व भी उत्पादन कुशलता के महत्वपूर्ण घटक हैं। अगर देश में सरकार का तख्ता बार-बार पलट जाता हो, देश में अशांति, झगड़े एवं कानून एवं व्यवस्था खतरे में हो तो उत्पादन हतोत्साहित होगा। परन्तु अगर देश में सुदृढ एवं स्थिर सरकार हो, बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा एवं आन्तरिक शांति हो तो उत्पादन क्रियाएँ तेजी से फैलेंगी जिससे उत्पादन और विकास दोनों की गति तेज होगी।

(viii) मूल्यस्तर एवं प्रतियोगिता—अगर अर्थव्यवस्था में मूल्य में सापेक्षिक स्थायित्व तथा बाजार में स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा हो तो उत्पादन कुशलता में वृद्धि होगी। पर अगर अर्थव्यवस्था में मूल्य स्तर बहुत नीचे, या मूल्यों में भारी उतार चढ़ाव हो या एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो अथवा गला-घोट प्रतिस्पर्द्धा हो तो उत्पादन हतोत्साहित होगा।

(ix) उद्योग की स्थिति एवं बाजार—जो उद्योग मण्डियों के नजदीक होते हैं तथा जिन उद्योगों की आर्थिक स्थिति मजबूत होती है उनमें उत्पादन कुशलता बढ़ती है।

इसी प्रकार किसी भी अर्थव्यवस्था में उत्पादन कुशलता अनेक बाह्य एवं आन्तरिक तत्वों पर निर्भर करती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. उत्पादन से आप क्या समझते हैं तथा उत्पादन के प्रमुख साधन क्या-क्या हैं?

अथवा

उत्पादन का अर्थ बताइये तथा उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्व बताइये।

(संकेत—प्रश्न के पहले भाग में उत्पादन का अर्थ तथा उपयोगिता सृजन को संक्षेप में समझाकर उत्पादन के पाचों साधनों को संक्षेप में समझाइये, अन्त में उनका उत्पादन में सापेक्षिक महत्व देकर निष्कर्ष दीजिये कि आधुनिक युग में सभी साधन महत्वपूर्ण हैं।)

2 "उत्पादन का अर्थ भौतिक वस्तुओं का निर्माण नहीं वरन् आर्थिक उपयोगिताओं का सृजन करना है" पुष्टि कीजिए।

(संकेत—उत्पादन के अर्थ के सम्बन्ध म विभिन्न विचारो का उल्लेख कीजिये, फिर बताइये कि आर्थिक उपयोगिता का सृजन ही उत्पादन है। फिर उपयोगिता सृजन के विभिन्न रूपों को उदाहरण सहित समझाइये।)

3. उत्पादन का अर्थ एव महत्व बताइये। वे कौन-कौन से तत्व हैं जिन पर उत्पादन कुशलता निर्भर करती है।

(संकेत—प्रथम भाग मे बताइये कि उपयोगिता का सृजन करना ही उत्पादन कहलाता है। उसके विभिन्न रूप हो सकते हैं। दूसरे भाग में उत्पादन के महत्व को स्पष्ट कीजिये। अन्त मे आन्तरिक एव बाह्य तत्वो को लिखिये।)

4. "उत्पादन उपयोगिताओं के सृजन तथा मूल्य सृजन मे निहित है।"
(I yr. T.D.C Raj 1977)

(संकेत—उत्पादन का अर्थ व उपयोगिता सृजन बताना है।)

5. उत्पादन के साधन बताइये। (I yr T.D C. Raj. 1975)

5
भूमि
(Land)

भूमि उत्पत्ति का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। जो देश प्राकृतिक साधनों में जितना ही अधिक सम्पन्न होता है उतनी ही उस देश की आर्थिक समृद्धि की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं। आर्थिक विकास बहुत कुछ प्राकृतिक साधनों की मात्रा एवं उनकी प्रकृति पर निर्भर करता है। आज अमरिका, रूस, इंगलैंड, जर्मनी अपने प्राकृतिक साधनों के कारण सम्पन्न हैं। भूमि एक ओर प्रकृति का निशुल्क उपहार है, दूसरी ओर उत्पादन का अपरिहार्य साधन है।

भूमि का अर्थ (Meaning of Land)

साधारण बोलचाल में भूमि का अर्थ भूमि की ऊपरी सतह से लगाया जाता है परन्तु अर्थशास्त्र में भूमि का बहुत व्यापक अर्थ लगाया जाता है। भूमि के अन्तर्गत उन सब प्राकृतिक उपहारों को सम्मिलित किया जाता है जो वन, खनिज, भूमि की ऊपरी सतह, जल, वर्षा, हवा, गर्मी, रोशनी, नदी, समुद्र, पर्वत आदि के रूप में मानव को उत्पादन कार्य के लिये नि:शुल्क प्राप्त हैं। प्रो मार्शल के अनुसार "भूमि का अर्थ उन सब पदार्थों या शक्तियों से लिया जाता है जो प्रकृति मनुष्य की सहायता के लिये भूमि, पानी, हवा, प्रकाश तथा गर्मी के रूप में नि:शुल्क प्रदान करती है।" इस प्रकार भूमि के ऊपर नीचे जो शक्तियाँ प्रकृति की ओर से उपलब्ध हैं वे सब भूमि ही हैं।

कुछ अर्थशास्त्री भूमि शब्द के स्थान पर प्रकृति या प्राकृतिक उपहार शब्द का प्रयोग करना पसंद करते हैं। पर ये प्रयोग लोकप्रिय नहीं माने गये। भूमि शब्द ही उपयुक्त है।

भूमि के अर्थ तथा परिभाषा के सम्बन्ध में नया दृष्टिकोण
(New Approach Towards Meaning & Definition of Land)

• प्रो बीजर के द्वारा उत्पादन साधनों का उनकी गतिशीलता के आधार पर वर्गीकरण के कारण नये दृष्टिकोण का जन्म हुआ है। बीजर ने उत्पादन साधनों को दो वर्गों—(i) विशिष्ट साधन (Specific Factors) तथा (ii) अविशिष्ट

साधनों (Non-Specific Factors) में बाटा है। 'विशिष्ट साधन' वे साधन हैं जिनका प्रयोग केवल किसी एक कार्य विशेष के लिए ही हो सकता है उन्हें दूसरे प्रयोगों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता अर्थात् ऐसे साधन प्रयोगों की दृष्टि से अगतिशील होते है। अविशिष्ट साधन उन साधनों को कहा जाता है जिन्हें कई प्रयोगों मे लगाया जा सकता है तथा उनके प्रयोगों मे पर्याप्त गतिशीलता होती है। वीजर के इस वर्गीकरण के आधार पर प्रो. जे. के. मेहता के अनुसार भूमि की आधुनिक परिभाषा यह है कि भूमि एक विशिष्ट साधन है या किसी साधन में विशिष्ट तत्व को बतलाती है अथवा किसी वस्तु के विशिष्टता पहलू को बताती है। इस परिभाषा के अनुसार भूमि एक गुण है जिसे उत्पादन का कोई भी साधन अर्जित कर सकता है। जिस सीमा तक साधन विशिष्ट है उसमें उतना ही भूमि तत्व है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पत्ति का प्रत्येक साधन चाहे वह श्रम या पूँजी हो, उनमे कुछ सीमा तक विशिष्टता अवश्य हो सकती है। अतः विशिष्टता की सीमा तक श्रम या पूँजी मे भी भूमि तत्व विद्यमान है। फिर भी दोनों दृष्टिकोणों मे विशेष अन्तर नहीं है। *नया दृष्टिकोण व्यापक है।*

भूमि की विशेषताएं (Characteristics of Land)—उत्पादन के साधन के रूप मे भूमि मे कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो उसे उत्पादन के अन्य साधनों से भिन्न करती हैं। भूमि की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(1) **भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है**—भूमि मनुष्य को प्रकृति का एक निःशुल्क उपहार है। उसे उसका कोई मूल्य नहीं देना पड़ता न उसके लिये कोई प्रयत्न करना पड़ता है। प्रो. मार्शल ने ठीक ही कहा है "जो भौतिक पदार्थ अपनी उपयोगिता के लिये मानवीय श्रम के ऋणी हैं वे पूँजी हैं तथा जो ऐसे नहीं हैं वे भूमि हैं।" समाज की दृष्टि से भूमि आज भी निःशुल्क देन है।

(2) **भूमि की पूर्ति सीमित है**—भूमि की पूर्ति या मात्रा हमेशा-हमेशा के लिए स्थिर है। उसमे कमी या वृद्धि करना मानवीय शक्ति से परे है। उत्पत्ति के अन्य साधनों श्रम, पूँजी, साहस, संगठन आदि की पूर्ति मे आवश्यकतानुसार कमी-वृद्धि की जा सकती है पर भूमि की पूर्ति मे किंचित मात्र भी परिवर्तन सम्भव नहीं। यद्यपि मानव अपने प्रयत्नों से भूमि की सतह को काटकर कम कर सकते है या समुद्री पानी को सुखा कर ऊपरी सूखी सतह से भूमि बनाई जा सकती है पर यह भूमि की पूर्ति मे वृद्धि नहीं केवल स्वरूप परिवर्तन मात्र है। इन प्रयत्नों से केवल प्रभावी पूर्ति (Effective Supply) बढ़ायी जाती है जैसे हॉलैण्ड मे किया गया है पर वास्तविक पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती।

(3) **भूमि अविनाशी या अनश्वर है**—भूमि उत्पत्ति का एक ऐसा अविनाशी साधन है जिसे कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। लगातार प्रयोग के बावजूद भी वे मानव की उत्पत्ति मे सहायक हैं। उर्वरा शक्ति मे कमी को खाद देकर पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

(4) *भूमि उत्पत्ति का निष्क्रिय साधन है*—यद्यपि भूमि उत्पत्ति का महत्वपूर्ण साधन है पर वह अपने आप में कोई उत्पत्ति नहीं कर सकती। भूमि से उत्पादन करने के लिए श्रम एवं पूँजी का प्रयोग करना पड़ता है। अतः भूमि में स्वयं में कोई उत्पादन करने की प्रवृत्ति न होने से यह उत्पत्ति का एक निष्क्रिय (Passive) साधन है। इसके विपरीत श्रम, साहस एवं संगठन उत्पत्ति के सक्रिय (Active) साधन हैं।

(5) भूमि उत्पत्ति का अचल एवं अगतिशील (Immobile) साधन है। अन्य उत्पादन साधनों की भांति भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। इसी कारण भौगोलिक परिस्थितियों में भिन्नता पाई जाती है। विस्तृत दृष्टि से देखने पर भूमि में भी सीमित गतिशीलता होती है क्योंकि भूमि को भी एक उपयोग से दूसरे उपयोग में हस्तान्तरित किया जा सकता है। भूमि फिर भी अचल एवं स्थिर है जबकि पूँजी एवं श्रम गतिशील साधन हैं।

(6) भूमि का कोई पूर्ति मूल्य (Supply Price) नहीं होता—भूमि की पूर्ति की स्थिरता तथा कोई उत्पादन लागत नहीं होती। भूमि प्रकृति का निःशुल्क उपहार है। अतः भूमि का कोई पूर्ति मूल्य नहीं होता। उसके मूल्यों में उतार-चढ़ाव होने पर भी पूर्ति स्थिर एवं पूर्व-निश्चित होती है। इसके विपरीत पूँजी, श्रम आदि के लिए लागत लगानी पड़ती है, उनकी पूर्ति में परिवर्तन किया जा सकता है।

(7) भूमि में विभिन्नता पाई जाती है—भूमि में भिन्नता का गुण विद्यमान है प्राकृतिक साधन सर्वत्र एक समान नहीं होते, कहीं भूमि बंजर होती है तो कहीं उपजाऊ, कहीं साधनों की सम्पन्नता है तो कहीं विपन्नता, कहीं साधनों में विविधता है तो कहीं सीमितता। इस प्रकार प्रकृति की दृष्टि से साधनों का वितरण असमान पाया जाता है।

(8) *भूमि उत्पादन में उत्पत्ति ह्रास नियम की प्रधानता है*—भूमि की कुछ विशिष्ट विशेषताओं के कारण भूमि-उत्पादन, उत्पत्ति ह्रास नियम के अधीन है। अगर भूमि में उत्पादन साधनों का उत्तरोत्तर उपयोग बढ़ाया जाय तो शीघ्र ही उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है जबकि उत्पत्ति के दूसरे साधनों में उत्पत्ति ह्रास नियम देर से लागू होता है।

भूमि का उत्पादन में महत्व

(Imortance of Land in Production)

भूमि का उत्पादन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। *यह उत्पत्ति का एक अत्यावश्यक* साधन है क्योंकि भूमि के अभाव में अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन असम्भव होता है। इसका महत्व निम्न तथ्यों से स्पष्ट है :—

(1) भूमि आर्थिक समृद्धि का आधार है—किसी भी देश का आर्थिक विकास एवं समृद्धि का मार्ग तब तक प्रशस्त नहीं होता जब तक कि वह देश प्राकृतिक

साधनो से सम्पन्न न हो। जिस देश मे प्राकृतिक साधन—भूमि, खनिज, अनुकूल जलवायु व औद्योगिक परिस्थितियाँ, उर्वरा कृषि योग्य भूमि आदि जितने अधिक होंगे उसका आर्थिक विकास उतना ही तीव्र गति से होगा। प्रकृति से ही अनेक प्रकार का कच्चा माल प्राप्त होता है, सचालन शक्ति के रूप म विद्युत, कोयला, अणु-शक्ति प्राप्त होती है, रहने के लिए स्थान प्राप्त होता है। भूमि की ऊपरी सतह के कारण ही हम उद्योग, आवास के लिए स्थान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भूमि आर्थिक समृद्धि का एक प्रमुख आधार है।

आज अमेरिका, रूस, इगलैण्ड आदि देश अपन प्राकृतिक साधनो की सम्पन्नता से आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्ध है। भारत म भी साधन है पर उनका विदोहन न होने से पिछड़ा है।

(2) भूमि परिवहन एव सचार साधनो के विकास मे सहायक है—परिवहन एव सचार साधन आधुनिक उत्पादन प्रणाली मे रक्त धमनियो के समान हैं जो आर्थिक क्रियाओ के कुशल सचालन मे सहायक हैं। इन साधनो का विकास भूमि की बनावट एव भौगोलिक परिस्थितियो पर निर्भर करता है। मैदानी क्षेत्रो म विकास सस्ता एव सुविधापूर्ण होता है जबकि पहाडी क्षेत्रो मे इनका विकास बाधापूर्ण एव खर्चीला होता है।

(3) मानव जीवन के विकास के विभिन्न चरणो मे भूमि का महत्व रहता है। आर्थिक जीवन के प्रारम्भिक विकास की अवस्था मे तो भूमि का विशेष स्थान था ही—आखेट अवस्था, पशुपालन एव कृषि अवस्था मे तो भूमि उत्पादन का आधार प्राण ही था। औद्योगिक युग मे भी कच्चे माल की पूर्ति, उपयुक्त जलवायु आदि के रूप मे प्रकृति का विशेष महत्व है। इस प्रकार मानव सभ्यता के विकास के विभिन्न स्तरो पर भूमि का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है। अब भी वह प्रगति का आधार है।

(4) रोजगार एव जीवनयापन का स्रोत—प्राकृतिक साधनो के विदोहन से बहुत से लोग रोजगार प्राप्त करते हैं और उनमे जीवनयापन का स्रोत मिलता है। भारत मे कृषि, मछली पालन, वनो आदि मे देश की 67% जनसख्या रोजगार प्राप्त करती है बाकी जनसख्या को भी अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार एव आय प्राप्त होती है।

(5) लगान का आर्थिक सिद्धान्त—भूमि के विशिष्टता के गुण के कारण लगान के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। किसी साधन को लगान के रूप में पारितोषिक की मात्रा उसके भूमितत्व की मात्रा पर निर्भर करती है।

इन सबसे भूमि का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

भूमि की उत्पादन कुशलता व निर्धारक तत्व

(Factors Affecting Productive Efficiency of Land)

भूमि की उत्पादन कुशलता का अभिप्राय उसके उत्पादन की मात्रा एवं

उसकी किस्म की सापेक्षिक श्रेष्ठता से है। दूसरे शब्दों में उत्पादन कुशलता भूमि की उत्पादिता एवं उत्पादन शक्तियों से सम्बन्धित है। यदि अन्य बातों के यथावत् रहने पर भूमि के एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े की अपेक्षा अधिक मात्रा में उत्तम वस्तु का उत्पादन होता है तो पहले टुकड़े की उत्पादन कुशलता दूसरे की अपेक्षा अधिक मानी जाती है। भूमि की उत्पादन कुशलता को प्रभावित करने वाले मुख्य तत्व (घटक) निम्न हैं—

(1) भूमि के प्राकृतिक गुण—भूमि की उत्पादन कुशलता को प्रभावित करने वाले प्रमुख घटक भूमि के प्राकृतिक गुण हैं। जो भूमि अधिक उपजाऊ होती है उसकी उत्पत्ति कम उपजाऊ भूमि से अधिक होती है। जैसे भारत में गंगा-सिन्धु का मैदान, मध्यप्रदेश की पठारी, हिमाचल प्रदेश की पर्वतीय तथा राजस्थान की रेतीली भूमि से अधिक उत्पादक है। भूमि की उत्पादकता के अन्य प्राकृतिक गुण जलवायु, मिट्टी की बनावट, माया, आकार आदि पर निर्भर करते हैं।

(2) भूमि की स्थिति—भूमि की उत्पादन कुशलता उसकी स्थिति पर भी बहुत निर्भर करती है। जो भूमि शहरों, मण्डियों, रेलवे स्टेशनों के निकट अथवा भौगोलिक दृष्टि से उत्तम स्थिति में होती है उनकी उत्पादक क्षमता उन भूमियों से अधिक होती है जो स्थिति की दृष्टि से अनुपयुक्त है। इसका मुख्य कारण है कि उत्पादन को मण्डियों तक ले जाने तथा वहाँ से कच्चा माल प्राप्त करने में लागत लगती है।

(3) भूमि का समुचित उपयोग—भूमि की उत्पादकता को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख तत्व उसके समुचित उपयोग की व्यवस्था है। अगर उपजाऊ भूमि का प्रयोग भी ठीक प्रकार से न किया जाय तो उत्पादन कुशलता कम होगी। जो भूमि जिस कार्य के लिए अधिक उपयुक्त हो उसका प्रयोग उसी में करना चाहिये। जैसे शहर के बीच में भूमि का प्रयोग कृषि करने की अपेक्षा भवन निर्माण में अधिक उत्पादक है। इसी प्रकार कपास की खेती के उपयुक्त भूमि पर जूट की खेती उत्पादक नहीं हो सकती।

(4) भूमि संगठन योग्यता—भूमि उत्पत्ति का एक निष्क्रिय साधन है। वह स्वयं उत्पादन कार्य नहीं कर सकती। श्रम और पूँजी के प्रयोग से ही भूमि द्वारा उत्पत्ति होती है अतः भूमि की उत्पादन कुशलता भूमि पर प्रयुक्त किये जाने वाले साधनों के आदर्श संयोग एवं समन्वय पर निर्भर करती है। अगर साधनों को ठीक प्रकार से नहीं मिलाया गया तो अपव्यय होगा और भूमि की उत्पादकता घटेगी जब कि कुशल एवं योग्य संगठन से उत्पादन मात्रा व किस्म दोनों में सुधार होगा।

(5) मानवीय सुधार कार्यक्रम—भूमि की उत्पादकता पर मानवीय कारणों का भी प्रभाव पड़ता है। यदि मानव भूमि में सिंचाई साधनों की व्यवस्था करता है, भूमि कटाव को रोकता है, नयी भूमि का पुनरुद्धार (Reclamation) करता है, उसमें उन्नत बीजों, रासायनिक खादों, कीटनाशक औषधियों आदि का प्रयोग

करता है तो भूमि की उत्पादकता बढती है। इनके अभाव में भी भूमि की उत्पादकता कम होती है।

(6) भूमि स्वामित्व एवं भू–धारण व्यवस्था—भूमि का स्वामित्व रेत को भी सोने के रूप मे परिवर्तित कर सकता है जबकि भूमि की दोषपूर्ण व्यवस्था उसकी उत्पादकता को समाप्त कर देती है। भारत मे जमींदारी एवं जागीरदारी प्रथा से भूमि की उत्पादकता बहुत कम थी अब भूमि सुधार कार्यक्रमों से प्रति एकड़ उपज म क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि भू–धारण की उत्तम व्यवस्था उनके आकार, अधिकतम स्वामित्व, वितरण आदि भी भूमि की उत्पादकता पर प्रभाव डालते हैं।

(7) विविध तत्व—उपर्युक्त तत्वो के अतिरिक्त भूमि की उत्पादकता पर दूसरे अनेक तत्वो का भी प्रभाव पडता है जिसमें (i) सस्ते एवं सुगम परिवहन साधनो की उपलब्धता, (ii) बाजार म प्रचलित मूल्यो, (iii) सरकारी नीतियां, (iv) उत्पादन की पद्धतियो आदि का भी प्रभाव पडता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमि की उत्पादकता क्षमता पर अनेक तत्वो का सम्मिलित प्रभाव पडता है।

विस्तृत एवं गहन कृषि (खेती)

(Extensive & Intensive Cultivation)

कृषि उत्पादन मे वृद्धि दो तरीको से की जा सकती है। या तो कृषि में प्रयुक्त भूमि के क्षेत्रफल म विस्तार किया जाय या भूमि के एक निश्चित क्षेत्र मे ही उत्पत्ति के अन्य साधनो की अधिक मात्रा प्रयुक्त कर अधिक उत्पादन किया जाय। इन दोनो को क्रमश विस्तृत कृषि (Extensive Cultivation) तथा गहन या गहरी कृषि (Intensive Cultivation) की संज्ञा दी जाती है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) विस्तृत कृषि (Extensive Cultivation)—जब कृषक उत्पादन म वृद्धि करने के लिए भूमि की प्रयुक्त मात्रा बढाता है तथा पूँजी और श्रम की मात्राओं का अनुपात स्थिर रखता है तो उत्पादन की इस रीति को विस्तृत कृषि कहा जाता है। उदाहरण के लिए किसान 2 बीघा के स्थान पर 4 बीघा क्षेत्र पर उत्पादन करने लगता है। नये क्षेत्र को कृषि कार्य के अन्तर्गत लाया जाता है। इसकी मुख्य विशेषताएँ है (1) कृषि जोत का औसत आकार बड़ा होता है या कृषि कार्य म अधिक मात्रा म भूमि का प्रयोग होता है। (2) यह रीति प्राय उन देशो में सम्भव होती है जहां जनसंख्या के अनुपात मे भूमि की मात्रा अधिक होती है। (3) पूँजी और श्रम का प्रयोग कृषि कार्य मे अनुपातिक दृष्टि से कम होता है। (4) भूमि का प्रयोग सावधानी से नहीं होता। (5) प्रति एकड उपज कम होती है। भारत म विस्तृत कृषि की प्रधानता है जबकि जापान म गहन कृषि की प्रधानता है।

(2) गहन या गहरी खेती (Intensive Cultivation)—जब कृषि उत्पादन

में वृद्धि के लिये कृषि क्षेत्र में वृद्धि न करके उसी क्षेत्र में श्रम और पूँजी के प्रयोग में वृद्धि से उत्पादन बढ़ाये जाने का प्रयास किया जाय तो इस पद्धति को गहरी खेती कहते हैं। इस व्यवस्था में भूमि का अनुपात श्रम व पूँजी की मात्रा के अनुपात में बहुत कम होता है। गहन खेती में निम्न विशेषताएँ पायी जाती हैं। (1) श्रम और पूँजी का अनुपात भूमि की तुलना में कहीं अधिक होता है (2) खेतों का आकार प्राय: छोटा होता है। (3) वैज्ञानिक कृषि एवं अनुसंधान पर विशेष ध्यान दिया जाता है। (4) भूमि के प्रयोग में बहुत अधिक सावधानी एवं विवेक से काम लिया जाता है। (5) यह पद्धति उन राष्ट्रों में उपयुक्त रहती है जहाँ भूमि की मात्रा सीमित है अथवा जनसंख्या के अनुपात में भूमि बहुत ही कम होती है जैसे जापान इसका उपयुक्त उदाहरण है।

विस्तृत कृषि तथा गहन कृषि के सम्बन्ध में दिए गये संक्षिप्त विवरण से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि गहरी खेती में खेतों का आकार सदैव छोटा हो तथा विस्तृत कृषि में खेतों का आकार बहुत बड़ा ही हो। यह तो देश की जनसंख्या के आकार, श्रम की मात्रा, उसके व्यावसायिक वितरण, भूमि की मात्रा, भूमि की बनावट तथा भूमि की प्रकृति पर निर्भर करता है। विस्तृत कृषि के अन्तर्गत जोत की इकाई अपेक्षाकृत बड़ी होती है परन्तु बड़ी जोतों में भी वैज्ञानिक पद्धतियों से खेती के लिए बड़ी मात्रा में मशीनें, औजार, उत्तम बीज, रासायनिक खाद, कुशल श्रमिकों का प्रयोग आदि बढ़ाया जा सकता है जिससे उनमें भी गहन कृषि सम्भव होती है। अमेरिका, रूस, कनाडा आदि राष्ट्रों में कृषि के लिए विशाल कृषि फार्म हैं। रूस में औसतन 5000 से 50000 एकड़ के खेत होते हैं। अमेरिका में 50 से 500 के खेत होते हैं जिनमें भी गहन कृषि की जाती है। इसके विपरीत भारत में खेतों का आकार इन देशों के मुकाबले बहुत छोटा होता है फिर भी उनमें वैज्ञानिक कृषि का अभाव होने से गहन कृषि नहीं होती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि न तो यह आवश्यक है कि विस्तृत खेती के लिये सदैव बड़े फार्म ही हों और न यह आवश्यक है कि गहन कृषि के लिए खेतों की जोत इकाई छोटी हो। यह देश विशेष की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। हालैण्ड, जापान और डेनमार्क में गहन कृषि की प्रधानता है जबकि रूस, अमेरिका और भारत में विस्तृत कृषि दृष्टिगोचर होती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. भूमि से आपका क्या अभिप्राय है? भूमि की उत्पादन कुशलता किन-किन तत्वों पर निर्भर करती है?

(संकेत—भूमि के अर्थ को बताकर उसकी विशेषताएँ बताइये। दूसरे भाग में उत्पादन कुशलता के तत्वों का उल्लेख उदाहरणों सहित दीजिये।)

2. भूमि का उत्पादन साधन के रूप में क्या महत्व है? इसकी उत्पादन कुशलता में वृद्धि किन-किन तत्वों पर निर्भर करती है?

(संकेत—भूमि का अर्थ संक्षेप मे बताकर उसके महत्व को स्पष्ट कीजिए फिर 'उत्पादन कुशलता' के अन्तर्गत दिये गये घटको का उल्लेख कीजिये।)

3. गहन एव विस्तृत कृषि से आप क्या समझते हैं ? उनमें क्या अन्तर है ? समझाइये।)

(संकेत—प्रथम भाग मे विस्तृत कृषि का अर्थ एव विशेषताएँ बताइये फिर दूसरे भाग मे गहन कृषि का अर्थ व विशेषताएँ लिखिये। तीसरे भाग मे दोनो मे अन्तर बताइये। चौथे भाग मे उनके अन्तर की विवेचना दीजिये व निष्कर्ष बताइये।)

4. भूमि की परिभाषा दीजिए, भूमि के लक्षण बतलाइये तथा उन तत्वो की विवेचना कीजिये जो भूमि की उत्पादनशीलता व क्षमता को प्रभावित करते हैं।

5. भूमि व पूँजी मे अन्तर समझाइये। क्या भूमि को पूँजी का ही एक रूप मानना बेहतर है ? (I Yr. Raj. 1973)

(संकेत—अध्याय 7 में "क्या भूमि पूँजी है" शीर्षक के अन्तर्गत दी गई सामग्री से स्पष्ट कीजिये कि भूमि उत्पत्ति का एक विशिष्ट एव महत्वपूर्ण साधन है इसको पूँजी का ही एक रूप मानना कतई उचित नही।)

6

श्रम

(Labour)

श्रम का अर्थ एवं परिभाषा

भूमि की भांति श्रम भी उत्पादन का एक मौलिक साधन है। साधारण बोलचाल में श्रम का अर्थ प्रमुखतः मजदूरों के प्रयत्नों व कार्य से लगाया जाता है पर अर्थशास्त्र में श्रम का विशेष अर्थ लगाया जाता है। जेवन्स के अनुसार "श्रम का अभिप्राय मनुष्य के उन सब शारीरिक एवं मानसिक प्रयत्नों से है जो पूर्णतया या आंशिक रूप से कार्यजनित सुख के अतिरिक्त किसी आर्थिक उद्देश्य से किये जाते हैं।" प्रो. मार्शल ने भी श्रम को इसी प्रकार परिभाषित किया है। उनके अनुसार 'श्रम का अर्थ मनुष्य के आर्थिक कार्य से है चाहे वह कार्य हाथ से किया जाए या मस्तिष्क से।" प्रो. टामस के अनुसार "श्रम का अर्थ मानव के उस शारीरिक या मानसिक प्रयत्न से है जो प्रतिफल की आशा से किया जाता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रम में उन सभी व्यक्तियों के शारीरिक एवं मानसिक प्रयत्न आते हैं जो व्यापार, उद्योग, शिक्षा, कला, साहित्य, विज्ञान, राज्य संचालन एवं न्याय कार्य में रत हैं। किसी भी मानवीय प्रयत्न को श्रम तभी कहा जाता है जबकि उसका उद्देश्य लाभ प्राप्त करना या धनोत्पत्ति हो। मनोरंजन, देश प्रेम, पारिवारिक स्नेह या परोपकार की भावना से प्रेरित मानवीय प्रयत्नों को श्रम में सम्मिलित नहीं किया जाता।

उदाहरण के लिए मनोरंजन की दृष्टि से फुटबाल या अन्य खेल खेलना, स्नेह के कारण माता द्वारा बच्चों की सेवा या बच्चों द्वारा माता पिता की सेवा, देश भक्ति के लिये किया गया कार्य आदि श्रम नहीं कहे जाते क्योंकि इनके पीछे आर्थिक लाभ या उद्देश्य नहीं होता। इसके विपरीत धनोपार्जन के लिये खेलना, नौकरी करना, डाक्टर, वकील, शिक्षक के रूप में सेवाएँ देना या कारखानों में काम करना आदि श्रम में सम्मिलित किये जाते हैं। इसका एक बहुत ही रोचक उदाहरण प्रो. पीगू ने दिया है। अगर एक नौकरानी घर पर काम करती है तो उसका कार्य "श्रम" है पर अगर वह व्यक्ति उस नौकरानी से शादी करले तो उस औरत का कार्य श्रम नहीं रहेगा क्योंकि पहले आर्थिक उद्देश्य था बाद में आर्थिक या धनोपार्जन उद्देश्य नहीं रहा।

अत (1) श्रम मे केवल मानवीय श्रम का ही समावेश होता है। (2) यह श्रम शारीरिक या मानसिक या दोनों प्रकार का हो सकता है। (3) श्रम म केवल उन्ही प्रयत्नो का समावेश होता है जो आर्थिक या धनोत्पत्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं।

श्रम की विशेषताएँ

उत्पादन के अन्य साधनों की भाँति श्रम से भी अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसके प्रतिफल निर्धारण, गतिशीलता एव पूर्ति को प्रभावित करते हैं। ये निम्न हैं—

(1) श्रम उत्पत्ति का एक अत्याज्य एव अनिवार्य साधन है—श्रम के बिना उत्पादन बिल्कुल असम्भव है क्योंकि उत्पत्ति के अन्य साधन भूमि एव पूँजी उत्पत्ति के निष्क्रिय साधन हैं। उनमे उत्पादन करने के लिए श्रम जैसे सक्रिय साधन की अनिवार्यता रहती है। इसी कारण श्रम का उत्पत्ति के अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। इसका प्रभाव यह होता है कि श्रम अपनी मांगो को मनवाने मे प्रभावी रहता है।

(2) श्रम उत्पत्ति का सक्रिय साधन (Active Factor) है जबकि भूमि और पूँजी उत्पत्ति के निष्क्रिय साधन हैं। श्रम के अभाव म पूँजी और भूमि कोई उत्पत्ति नही कर सकते। प्रबन्ध और सगठन भी श्रम के ही विशिष्ट रूप हैं।

(3) श्रम नाशवान है—श्रम की सबसे बडी विशेषता श्रम का नाशवान होना है। यदि किसी दिन श्रमिक कार्य नही करता तो उसका उस दिन का श्रम हमेशा क लिये नष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दो मे श्रम का सचय नही किया जा सकता इस प्रकार श्रम अत्यधिक नाशवान होने के कारण ही पूँजीपति उनका शोषण कर सकते हैं। श्रम बाजार मे उनकी मोल-भाव करने की क्षमता कम होती है जिसस कम मजदूरी पर ही श्रम करने को बाध्य हो जाते हैं।

(4) श्रम की मोल-भाव (सौदा) करने की शक्ति कमजोर होती है—श्रम के नाशवान होने तथा श्रम को श्रम से अलग न किया जा सकने के कारण श्रमिको की मोल-भाव (सौदा) करने की शक्ति कमजोर होती है। श्रमिको की दरिद्रता, अकुशलता तथा वैकल्पिक रोजगार के अभाव म भी वे मालिको की तुलना मे कमजोर पडते हैं। हाँ, श्रम सगठनो (Unions) के रूप म श्रम अपनी सौदा शक्ति को बढ़ा सकते हैं तभी उचित मजदूरी एव वेतन प्राप्त होना है अन्यथा श्रमिको का शोषण होता है।

(5) श्रमिक अपना श्रम बेचता है पर स्वय उसका स्वामी होता है। इस कारण श्रम को श्रमिक से अलग नही किया जा सकता। श्रमिक को वहाँ उपस्थित रहना पडता है जहाँ श्रम करना है। अत श्रमिकों को अपना श्रम बेचते समय कार्य करने की जगह, कार्य की प्रकृति, औद्योगिक वातावरण, मालिकों के स्वभाव आदि पर ध्यान देना पडता है। अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर श्रम कम मजदूरी मे ही तैयार हो

जाता है पर प्रतिकूल परिस्थितियों से श्रम की कुशलता पूर्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसे क्षेत्रों में ऊँची मजदूरी पर भी श्रमिक उपलब्ध नहीं होते हैं।

(6) श्रम की पूर्ति मंद गति से बढ़ाई जा सकती है—श्रम की अल्पकाल में पूर्ति बढ़ाना कठिन है। दीर्घकाल में श्रम की पूर्ति धीमी गति में बढ़ाई जा सकती है। श्रम पूर्ति दो बातों पर निर्भर करती है—(i) श्रम की कार्यकुशलता तथा (ii) जनसंख्या। न तो कार्यकुशलता में ही तेजी से परिवर्तन संभव है और न जन संख्या के आकार में ही तेजी से परिवर्तन किया जा सकता है। इन दोनों कारणों से श्रम की पूर्ति में परिवर्तन की गति मन्द होती है। इस विशेषता का यह प्रभाव पड़ता है कि श्रमिकों को अधिक पूर्ति वाले क्षेत्रों में कम मजदूरी और अधिक कमी वाले क्षेत्रों में ऊँची मजदूरी मिलती है। श्रम की पूर्ति में माँग के अनुकूल शीघ्र समायोजन सम्भव न होने से मजदूरी स्तर में उतार-चढ़ाव आते हैं।

(7) श्रम उत्पादन का गतिशील साधन है—श्रम में भूमि की अपेक्षा गतिशीलता अधिक होती है। श्रम एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में और एक उद्योग से दूसरे उद्योग में गतिशील रहता है। व्यवहार में श्रम की गतिशीलता के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। श्रम पूँजी के मुकाबले कम गतिशील है। श्रम की गतिशीलता का आर्थिक सिद्धान्तों में विशेष महत्व है। यह मजदूरी निर्धारण, श्रम की सौदा करने की क्षमता व श्रम पूर्ति को प्रभावित करती है।

(8) श्रम साधन और साध्य दोनों है—श्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि श्रम न केवल उत्पत्ति का एक सक्रिय साधन है वरन् उपभोक्ता के रूप में सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाओं का साध्य भी है। श्रम का महत्व केवल उत्पादन के साधन के रूप में ही नहीं है किन्तु यह आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य भी है। समस्त आर्थिक कार्यों का लक्ष्य अधिकतम मानव कल्याण है।

(9) श्रम में पूँजी का विनियोग किया जा सकता है—श्रम उत्पत्ति का एक सजीव एवं सक्रिय साधन है। प्रशिक्षण, शिक्षा, अच्छे पोषण, उच्च जीवन स्तर आदि से श्रम की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों में वृद्धि की जा सकती है। जिस प्रकार उद्योगों में पूँजी विनियोग से उत्पादन क्षमता बढ़ाई जा सकती है उसी प्रकार मानव में पूँजी विनियोग किया जा सकता है। आज मानव पूँजी विनियोग पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इससे श्रम की कुशलता बढ़ती है, वेतन बढ़ता है, लागत घटती है।

(10) श्रम की पूर्ति और प्रतिफल में सम्बन्ध—सामान्यतः भौतिक वस्तुओं की पूर्ति का मूल्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। मूल्य बढ़ने से पूर्ति बढ़ती है और मूल्य घटने से पूर्ति घटती है पर श्रम में सदैव ऐसी प्रवृत्ति नहीं होती। श्रमिकों के वेतन स्तर में वृद्धि होने पर श्रमिकों में आराम की प्रवृत्ति बढ़ती है। वह कम समय काम करता है परिणामस्वरूप कुल पूर्ति कम हो सकती है। इसके विपरीत एक सीमा

मे नीचे वेतन कम हो जाने पर श्रमिक अपना तथा अपने परिवार का पोषण करने मे लिए अधिक मेहनत करते हैं, अधिक समय देते हैं तथा श्रमिको की पूर्ति बढती है। इस प्रकार श्रम का प्रतिफल श्रम की पूर्ति को सामान्य तरीके से प्रभावित नही करता।

(11) श्रम बुद्धि एव निर्णय शक्ति का प्रयोग करता है—उनम तक शक्ति होती है। उत्पत्ति का एक सजीव तत्व होने से वह विशुद्ध यन्त्र के रूप म काय नही करता वरन् अपनी बुद्धि एव तक का भी प्रयोग करता है। मानव क मस्तिष्क क काय का दूसरे से प्रतिस्थापित नही किया जा सकता है। प्रो के अरनजास ने कहा है श्रम की सबस बडी विशेषता बुद्धि या निर्णय शक्ति का प्रयोग ह। यही कारण है कि संगठन का काय श्रम ही करता है।

श्रम की विशेषताओ का आर्थिक सिद्धान्त मे महत्व
(Importance of Peculiarities of Labour in Economic Theory)

श्रम की उपर्युक्त विशेषताओ का आर्थिक सिद्धात म विशेष महत्व है —

1 श्रम की पूर्ति पर प्रभाव—श्रम की पूर्ति पर श्रम की विशेषताओं का विशेष महत्व है—(i) श्रम की पूर्ति को एकदम स न बढाया जा सकता है और न घटाया जा सकता है क्योकि जनसख्या और श्रम की कायकुशलता बढाने मे समय लगता है। (ii) श्रम की पूर्ति पर स्थान विशेष का वातावरण भी प्रभाव डालता है क्योकि श्रमिक अपना श्रम बेचता ह पर स्वय उसका स्वामी होता है। (iii) श्रम की पूर्ति प्रतिफल के द्वारा सामान्य तरीके स प्रभावित नहीं होती। अत प्रतिफल का निर्धारण पूर्ति बढाने म बडे विवेक म करना पडता है। (iv) श्रम की गतिशीलता भी उसकी पूर्ति को प्रभावित करती है। (v) श्रम मे पूंजी विनियोग करके उसकी कुशलता को बढाया जा सकता है अत पूर्ति म वृद्धि होती है। (vi) श्रम नाशवान होने के कारण पूर्ति का सग्रह करके रखना कठिन होता ह। ये सब विशेषताए पूर्ति का सामूहिक रूप से प्रभावित करती हैं।

2 श्रम की मांग पर प्रभाव—(1) श्रम की माग श्रम की उत्पादकता पर निभर करती है। (2) श्रम की माग प्रत्यक्ष माग न होकर उसकी व्युत्पन्न माग (Derived Demand) होती है जो उसकी उत्पादकता पर निभर करती है।

3 श्रम की मजदूरी पर प्रभाव—(i) श्रम उत्पत्ति का एक सजीव साधन है। उसका प्रयोग एक निर्जीव साधन के रूप म नही किया जा सकता। अत उसे कम स कम न्यूनतम वतन तो मिलना ही चाहिए। यही कारण है कि श्रम की मजदूरी निर्धारण मे इस बात का विशेष महत्व रहता है। (ii) श्रम नाशवान होने के कारण श्रम की मोल भाव करने की शक्ति कमजोर होती है अत मजदूरी निर्धारण म शोषण होता है। हां सुदृढ श्रम सघ श्रमिको के उचित मजदूरी निर्धारण म काफी सहायक हो सकते हैं। (iii) श्रम की पूर्ति म शीघ्र घटत बढत सम्भव न होने

श्रम का वर्गीकरण
(Classification of Labour)

श्रम का वर्गीकरण सामान्यतः तीन आधार पर किया जाता है —

(1) उत्पादक एवं अनुत्पादक श्रम (Productive and Un product ve Labour)—श्रम के उत्पादक एवं अनुत्पादक वर्गीकरण पर अर्थशास्त्रियों में काफी मतभेद रहा है। 18वीं शताब्दी के प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों (Physiocrats) के अनुसार कृषि कार्य में संलग्न व्यक्तियों को ही उत्पादक श्रम कहा जाता था क्योंकि उनके मतानुसार केवल कृषि ही उत्पादक थी। बाद में चलकर एडम स्मिथ एवं प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने केवल उन व्यक्तियों के श्रम को उत्पादक माना जो भौतिक वस्तुओं का निर्माण करते थे जबकि अभौतिक सेवाओं में संलग्न व्यक्तियों का श्रम अनुत्पादक माना जाता था। इस दृष्टि से कारीगर, इंजीनियर, कारखाने का मजदूर, बढ़ई आदि उत्पादक श्रम की श्रेणी में आते थे और वे व्यक्ति जो डॉक्टर, शिक्षक, गायक, नर्तक, व्यापारी आदि के रूप में सेवाएँ प्रदान करते थे उन्हें अनुत्पादक श्रम माना जाता था।

समय ने पलटा खाया। अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण का विस्तार हुआ। उन्होंने उत्पादन का व्यापक अर्थ लगाना प्रारम्भ किया जिसके कारण जो व्यक्ति अपने श्रम से वस्तुओं या सेवाओं में उपयोगिता सृजन करे उसे उत्पादक कहा जाने लगा। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार कोई भी मानवीय श्रम जो उपयोगिता का सृजन करता है उत्पादक श्रम है। प्रो. किंग एवं जोर्डन के अनुसार 'वह सब श्रम जो आवश्यकता की पूर्ति करता है उत्पादक श्रम के अन्तर्गत आना चाहिये।"

प्रो. टॉमस ने इसे और अधिक स्पष्ट किया। उसके अनुसार 'वे सभी श्रमिक जो आर्थिक उपयोगिता का सृजन (Creation of Econom c Utilities) अथवा मूल्य सृजन करते हैं उन्हें उत्पादक श्रम कहना चाहिए।" इस प्रकार से आधुनिक विचारधारा उन व्यक्तियों के श्रम को उत्पादक मानती है जिससे मनुष्य को आय प्राप्त होती है।

इसके विपरीत वह श्रम जिससे आर्थिक उपयोगिता का सृजन नहीं होता वह अनुत्पादक श्रम है। उदाहरण के लिए अगर एक व्यक्ति भवन निर्माण करता है पर आय अर्जन करने से पहले ही वह मकान धराशायी हो जाता है तो वह श्रम अनुत्पादक है। इसी प्रकार अगर एक लेखक पुस्तक लिखता है पर वह पुस्तक प्रकाशित नहीं हो पाती तो वह श्रम तब तक अनुत्पादक है जब तक कि उसे अपने श्रम का प्रतिफल नहीं मिलता। प्रो. फ्रेजर के अनुसार 'श्रम तभी अनुत्पादक हो सकता है जबकि श्रमिक अथवा उसके नियोजक ने कोई गलती की हो।"

कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि कोई श्रम व्यक्ति की दृष्टि से उत्पादक हो सकता है पर समाज की दृष्टि से वे अनुत्पादक हो। उदाहरण के, एक भिखारी जोर-जोर से चिल्लाकर पैसे कमाता है उसके लिए श्रम उत्पादक

कहा जाता है। जैसे एक श्रमिक 3 गज कपड़ा तैयार करता है जबकि दूसरा उतने ही समय और उन्हीं परिस्थितियों में 10 गज कपड़ा तैयार करता है तो अन्य बातों के समान रहते हुए दूसरा श्रमिक अधिक कार्यकुशल है। इसे हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं **"समान परिस्थितियों के अन्तर्गत एक श्रमिक की मात्रा और किस्म की दृष्टि से अधिक उत्पादन करने की शक्ति को श्रम की कार्यकुशलता या कार्य क्षमता कहते हैं।"** कार्यक्षमता को प्राय मुद्रा में मापा जाता है जिसमें उत्पादन की मात्रा व किस्म की तुलना श्रम की लागत के साथ करनी पड़ती है।

श्रम की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाले तत्व (घटक)
(Factors Affecting the Efficiency of Labour)

श्रम की कार्यकुशलता पर अनेक घटकों का प्रभाव पड़ता है। इन घटकों को हम पांच भागों में वर्गीकृत कर सकते हैं—

(1) श्रमिकों के व्यक्तिगत गुण (2) देश की परिस्थितियाँ, (3) कार्य करने की दशाएँ (4) प्रबन्धक की योग्यता, (5) विविध कारण।

(1) श्रमिकों के व्यक्तिगत गुण—इन गुणों का श्रम की कार्यकुशलता पर विशेष प्रभाव पड़ता है। ये गुण चार प्रकार के होते हैं—

(i) **जातीय एवं पैतृक विशेषताएँ**—श्रमिकों की कार्यकुशलता उनकी जाति, समाज तथा पारिवारिक गुणों से प्रभावित होती है। श्रमिक जिस जाति में जन्म लेता है उन जन्मिगत गुणों से उसकी योग्यता बढ़ती है। एक जाट खेती में निपुण होता है इसी प्रकार बुद्धिमान स्वस्थ एवं शिक्षित माता पिता के बच्चे भी उस वातावरण व पैतृक गुणों से कुशलता प्राप्त करते हैं।

क्षत्रिय, जाट एवं सिक्ख अच्छे सैनिक, वैश्य अच्छे व्यापारी तथा जाट अच्छे कृषक होते है। यह वंशानुगत गुणों के कारण होता है।

(ii) **नैतिक गुण**—एक ईमानदार, चरित्रवान एवं कर्त्तव्यनिष्ठ श्रमिक की कार्यकुशलता उन व्यक्तियों से अधिक होती है जो आलसी कामचोर और चरित्रहीन होते हैं। भारत में श्रमिकों में उच्च नैतिक गुणों का अत्यन्त अभाव होने से कार्य-कुशलता कम है।

(iii) **शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान**—शिक्षित बुद्धिमान् एवं तीव्र बुद्धि वाले श्रमिकों की कार्यक्षमता अधिक होती है क्योंकि वे किसी कार्य को शीघ्र समझ लेते हैं तथा अपनी पूर्ण शक्ति एवं बुद्धि से उत्तम ढंग से करते है जबकि उन व्यक्तियों की कार्यक्षमता कम होती है जिनमें सामान्य ज्ञान का अभाव होता है। तकनीकी प्रशिक्षण की अनुपस्थिति रहती है तकनीकी शिक्षा व्यक्ति की कार्यकुशलता को प्रत्यक्ष रूप से बढ़ाती है जबकि सामान्य शिक्षा उन्हें अप्रत्यक्ष सहायता देती है। भारत में सामान्य ज्ञान और अशिक्षा के कारण श्रमिकों की कार्यकुशलता बहुत कम है।

(iv) जीवन स्तर एव स्वास्थ्य—यदि श्रमिकों का जीवन स्तर ऊँचा होता है तो उनका स्वास्थ्य अच्छा होता है, उनमें कार्य करने की रुचि होती है। वे शिक्षा प्राप्त कर अपने जीवन-स्तर में उत्तरोत्तर वृद्धि करना चाहते हैं। शारीरिक एव मानसिक दृष्टि से स्वस्थ श्रमिक अस्वस्थ श्रमिकों से अधिक कार्यकुशल होते हैं।

भारत में लोगों का जीवन स्तर बहुत नीचा है। वे शारीरिक तथा मानसिक दोनों दृष्टि से दुर्बल हैं। अतः भारत में श्रमिकों की कुशलता विकसित राष्ट्रों की अपेक्षाकृत कम है।

(2) देश की परिस्थितियाँ—किसी भी देश के श्रमिकों की कार्यक्षमता पर देश की *प्राकृतिक सामाजिक एव राजनैतिक परिस्थितियों का भी बहुत प्रभाव* पड़ता है। अगर ये परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं तो कार्य कुशलता बढ़ती है और प्रतिकूलता की अवस्था में कार्य कुशलता घटती है। देश की परिस्थितियों में तीन मुख्य हैं—

(i) जलवायु एव भौगोलिक परिस्थितियाँ भी श्रम की कार्य कुशलता को प्रभावित करती हैं। जिन देशों की जलवायु स्वास्थ्यप्रद एव समशीतोष्ण होती है वहाँ के श्रमिक बलवान, स्वस्थ तथा परिश्रमी होते हैं जिससे उनकी कुशलता अधिक होती है। इसके विपरीत जिन देशों की जलवायु अधिक ठण्डी या अस्वास्थ्य-प्रद या बहुत अधिक गरम होती है तो वे आलसी कमजोर एव कामचोर होते हैं। इस कारण उनकी कार्य कुशलता कम होती है। अन्य भौगोलिक परिस्थितियाँ भी उनकी कुशलता को प्रभावित करती है। *पाश्चात्य राष्ट्रों की जलवायु अपेक्षा* की जलवायु की अपेक्षा अच्छी होने से भी पाश्चात्य राष्ट्रों की कार्य कुशलता अधिक है।

(ii) सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियाँ—जो देश दोषपूर्ण सामाजिक रीति रिवाजों तथा धार्मिक रूढ़िवादिता का शिकार होता है उसके श्रमिकों की कार्यक्षमता उस देश के श्रमिकों की अपेक्षा कम होती है जो स्वस्थ परम्पराओं में रह रहे हैं। भारत में जाति प्रथा और धार्मिक रूढ़िवादिता के कारण कार्यक्षमता कम है। धीरे धीरे ये कम होने से कार्य-क्षमता बढ़ रही है।

(iii) राजनैतिक परिस्थितियाँ—जहाँ तक राजनैतिक स्थायित्व, बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा तथा आतरिक शांति एव व्यवस्था होती है वहाँ अनेक श्रमिकों की कार्यक्षमता उन स्थानों की अपेक्षा अधिक होती है जहाँ अशांति, आतंक, विद्रोह हड़तालें, लूटपाट आदि होते हैं। भारत के श्रमिकों की कार्यकुशलता पाकिस्तान के श्रमिकों की अपेक्षा अधिक है पर पाश्चात्य राष्ट्रों के मुकाबले बहुत कम है।

(3) कार्य करने की दशाएँ—कारखाने या काम करने की उपयुक्त दशाओं से कार्यक्षमता बढ़ती है जबकि प्रतिकूल दशाओं से कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। ये दशाएँ निम्न हो सकती हैं—

(i) कार्य करने के स्थान की दशा—यदि श्रमिक के काम करने के स्थान का वातावरण स्वच्छ, हवादार तथा रोशनीदार है तो श्रमिक के स्वास्थ्य एवं मानसिक प्रवृत्ति पर अच्छा प्रभाव पड़ने से उसकी कार्य कुशलता बढ़ेगी। परन्तु अगर श्रमिकों को गन्दे, बन्द एवं अन्धकारमय वातावरण में कार्य करना पड़े तो निश्चित रूप से उनकी कार्यक्षमता घटती है। भारत में कार्य करने की स्थितियाँ अनुकूल न होने के कारण कार्यक्षमता कम है। अब धीरे-धीरे उनमें सुधार हो रहा है।

(ii) श्रम की अवधि व विश्राम—अगर मजदूरों को उचित समय तक ही कम घण्टे काम करना पड़े तथा बीच-बीच में विश्राम व्यवस्था हो तो श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ेगी। इसके विपरीत अगर श्रमिकों को अधिक घण्टे काम करना पड़े, बीच में विश्राम न मिले तो वे थक जायेंगे और उनकी कार्यक्षमता घटेगी। आज इसी कारण विकसित देशों में श्रमिकों के काम के घन्टे निरन्तर घटाये जा रहे हैं और विश्राम व्यवस्था भी बढ़ाई जा रही है।

(iii) कार्य करने की स्वतन्त्रता—मनुष्य स्वभाव से ही स्वतन्त्रताप्रिय होता है। अतः जितना ही श्रमिक को स्वतन्त्र वातावरण में कार्य करने का अवसर मिलता है उतनी ही उसकी कार्यक्षमता अधिक होने की प्रवृत्ति होती है जबकि अत्यधिक नियन्त्रण की अवस्था में श्रमिकों की कार्यक्षमता घट जाती है।

(iv) कच्चा माल एवं मशीनों औजारों की उपयुक्तता—जिन श्रमिकों को उत्पादन करने के लिए अच्छा कच्चा माल और उपयुक्त मशीनें औजार उपलब्ध होते हैं, उनकी कार्यक्षमता उन श्रमिकों की अपेक्षा अधिक होती है जिन्हें रद्दी कच्चा माल दिया जाता है और घिसी पिटी खराब मशीनों व यन्त्रों पर काम करना पड़ता है। अतः मशीनों व कच्चे माल की उपयुक्तता भी कार्यक्षमता का प्रमुख घटक है।

(v) मजदूरी की पर्याप्तता एवं नियमितता—श्रमिकों को पर्याप्त मजदूरी एवं उसमें नियमितता से श्रमिकों की आय बढ़ती है, उनका जीवन स्तर सुधरता है और उन्हें मानसिक शान्ति रहती है जिससे कार्यक्षमता बढ़ती है। इसके विपरीत नीची मजदूरी तथा समय पर भुगतान न होने से श्रमिकों का जीवन स्तर घटता है, उनमें असन्तोष जाग्रत होता है, मन नहीं लगता। स्वाभाविक रूप से कार्यक्षमता घटती है। भारत में निम्न मजदूरी एवं अनियमितताओं से कार्यक्षमता बहुत नीची है अब धीरे-धीरे सुधार हो रहा है।

(vi) श्रम कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा—यदि देश के उद्योगों में श्रम कल्याण कार्यों को प्रधानता दी जाती है तथा मजदूरों की दुर्घटना, बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था पेन्शन तथा मृत्यु के विरुद्ध परिवारों की सहायता आदि की सुदृढ़ सामाजिक सुरक्षा होती है तो श्रमिक निश्चित होकर कार्य में रुचि लेते हैं जिससे कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इनके अभाव में उनकी कार्यक्षमता घटती है। भारत में श्रम कल्याण कार्यों व उचित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के अभाव में कार्यकुशलता कम है।

(॥) उज्ज्वल भविष्य की आशा—जिस व्यवसाय मे श्रमिको को भावी विकास एव उज्ज्वल भविष्य की सभावना होती है वे उसमे पूर्ण रुचि एव तत्परता से काम करते हैं और कार्यक्षमता बढती है जबकि इसके विपरीत परिस्थिति मे कार्य क्षमता घटती है।

(4) सगठन एव प्रबन्ध की योग्यता—श्रमिको की कार्यकुशलता पर केवल कारखाने की भीतरी परिस्थितियो का ही प्रभाव नही पडता वरन् सगठन की योग्यता है एव प्रबन्ध की कुशलता भी इस प्रभावित करती है। अगर उत्पादन व्यवस्था मे प्रबन्धको की योग्यता से उत्पादन साधनो मे अनुकूल समन्वय बैठाया गया हो श्रमिको मे कार्य का विभाजन विवेकपूर्ण हो समय पर कच्चा माल मिले तो श्रमिको की कार्यकुशलता मे वृद्धि कर सकता है।

(5) विविध—उपर्युक्त तत्त्वो के अतिरिक्त श्रमिको की कार्यक्षमता पर कुछ अन्य घटको का भी प्रभाव पडता है—

(i) श्रमिक सघ—सुदृढ एव सुव्यवस्थित श्रमिक सघ श्रमिको को शोषण से बचाते हैं, उनके कल्याणकारी कार्यों से उनके जीवन स्तर शिक्षा-स्तर मे सुधार लाते हैं इनसे उनकी कार्यक्षमता बढती है। इनके विपरीत विघटनकारी श्रमिक सघो से श्रमिको की कार्यक्षमता घटती है।

(ii) पूजी एव श्रम मे सहयोग—अगर श्रमिको एव मिल-मालिको मे परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध रहे तो उत्पादन वृद्धि होती है और श्रमिको की कार्यकुशलता बढती है। इसके विपरीत दोनो मे सघर्ष होने पर हडताल व तालाबन्दी, आदि से श्रमिको की कार्यक्षमता घटती है।

(iii) सरकारी नीति—सरकार उपयुक्त श्रमनीति अपनाकर श्रमिको की कार्यक्षमता मे वृद्धि कर सकती है। ऐसे अधिनियम लागू किये जा सकते हैं जिनसे श्रमिको का शोषण न हो, उन्हे उचित एव नियमित मजदूरी मिले। श्रम कल्याण कार्यों को प्रोत्साहन हो। इसके अन्तर्गत उचित मजदूरी अधिनियम, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, कारखाना अधिनियम, श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, श्रमिक सघ अधिनियम आदि कार्यक्षमता वृद्धि मे बहुत सहायक हो सकते हैं।

भारत में श्रम की कम कार्यकुशलता के कारण एव कार्यक्षमता वृद्धि के उपाय

(Causes of Low Efficiency of Indian Labour & Suggestions for Improvement)

भारत मे श्रमिको की कार्यकुशलता विकसित राष्ट्रो की तुलना मे बहुत कम है। सांख्यिकी आंकडे भी इस कथन की पुष्टि करते हैं। औद्योगिक आयोग के समक्ष एक बयान मे कहा गया कि यूरोप का एक मजदूर सामान्यत भारत के एक मजदूर से चौगुना कार्य करता है। इसी प्रकार जहाँ विकसित राष्ट्रो मे एक मजदूर औसतन

इस समस्या के समाधान के लिए सरकार ने कारखाना अधिनियम पारित किया है। काम के घण्टे तथा विश्राम की उचित व्यवस्था हो जाने से कुछ सुधार अवश्य हुआ है पर अधिनियमों को प्रभावी बनाने की आवश्यकता है। श्रमिकों के शोषण के लिए भी सरकार को उचित व्यवस्था करनी चाहिये।

(5) कारखानों की प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी भारतीय श्रम की कम कार्य-कुशलता के लिये उत्तरदायी हैं। श्रमिकों को गन्दे दूषित एवं स्वास्थ्य-प्रतिकूल वातावरण में कार्य करना पड़ता है जिससे काम में उनकी रुचि कम होती है और कार्यक्षमता बीमारी से भी कम हो जाती है। श्रमिकों को पर्याप्त मजदूरी भी नहीं दी जाती और उनके भुगतान में अनियमितता रहती है। उनका कार्य करने में भी असन्तोष रहता है। कारखानों में खराब कच्चा माल तथा पुरानी घिसी पिटी मशीनों का प्रयोग आदि सब श्रम की कार्यकुशलता में कमी के लिए उत्तरदायी हैं।

अतः श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि के लिए कारखानों में कार्य करने की स्थिति को स्वच्छ, रोशनीदार एवं हवादार बनाने का प्रयास करना चाहिये। अधिनियमों में श्रमिकों को पर्याप्त मजदूरी, समय पर भुगतान की व्यवस्था को प्रभावी बनाना चाहिये। उद्योगों में मजदूरों को अच्छा कच्चा माल दिया जाना चाहिये तथा उत्तम एवं नवीन मशीनों के प्रयोग को बढ़ावा देना चाहिये। पर यह भारी वित्तीय बोझ के कारण सम्भव प्रतीत नहीं होता। धीरे-धीरे व्यवस्था की जानी चाहिये।

(6) **श्रम कल्याण कार्यों एवं सामाजिक सुरक्षा का अभाव**—भारत में श्रम कल्याण कार्यों का अभाव है। भारत में कल्याण कार्यों को प्रभावी रूप से क्रियान्वित नहीं किया गया है। इसी प्रकार श्रमिकों में आर्थिक असुरक्षा बनी रहती है। उनमें असन्तोष बना रहता है। आर्थिक संकटों का भी सामना करना पड़ता है। इसलिये भी कार्यकुशलता कम है।

अतः भारतीय श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि के लिये श्रम कल्याण कार्यों का तेजी से विस्तार करना चाहिये। इसी तरह श्रमिकों को आर्थिक संकटों से मुक्ति के लिए सामाजिक सुरक्षा की उचित व्यवस्था भी अनिवार्य रूप से लागू की जानी चाहिये।

(7) **कुशल प्रबन्ध का अभाव**—यह भी भारतीय श्रमिकों की कार्यकुशलता की कमी का एक मुख्य कारण है। प्रबन्धकों का मजदूरों के साथ तनावपूर्ण सम्बन्ध रहता है। औद्योगिक झगड़े अधिक हैं। श्रमिकों की नियुक्ति की दोषपूर्ण पद्धतियाँ हैं। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में अनुकूल संयोग बैठाने की अयोग्यता रहती है। श्रम-विभाजन का अभाव है। अतः कुशल संगठन के अभाव में श्रमिकों की कम कार्यकुशलता स्वाभाविक है।

इसलिये भारत में कुशल संगठन के लिये योग्य प्रबन्धक तैयार करने चाहिये। औद्योगिक झगड़ों को निपटाने की उचित व्यवस्था की जानी चाहिये।

(8) पूंजी और श्रम में सहयोग का अभाव—भारत में श्रमिकों की कार्य-कुशलता की कमी का कारण मजदूरों और मालिकों के बीच सहयोग का अभाव है। मालिक मजदूरों के शोषण पर तुले रहते हैं जिसके कारण मजदूरों में असन्तोष, हड़तालें होती हैं। मालिक भी तालाबन्दी करते हैं। इसका दुष्प्रभाव कार्यकुशलता में कमी है।

भारत में पूंजी और श्रम में परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध के लिए दोनों को उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिये। शोषण की प्रवृत्ति का परित्याग करना चाहिये। श्रमिक संगठनों को रचनात्मक कार्यों की ओर अग्रसर होना चाहिये।

(9) नीचा नैतिक स्तर—भारत में श्रमिकों की कार्य के प्रति निष्ठा कम है, उनमें कामचोर प्रवृत्ति है। जीवन में कुण्ठाओं के कारण वे शराब पीते हैं। इस प्रकार उनका नैतिक पतन होता जाता है।

भारत में शिक्षा के प्रसार व प्रचार से श्रमिकों के नैतिक स्तर को ऊँचा करने का प्रयास करना चाहिये। पूर्ण नशाबन्दी की नीति को प्रभावी रूप से लागू कर सरकार न केवल श्रम की कार्यकुशलता में योग देगी वरन् बहुत से घर उजड़ने से बच जाएँगे।

(10) विविध—भारत में श्रमिकों की कार्यक्षमता कम होने के अन्य कारण श्रमिकों पर अत्यधिक नियन्त्रण, उनकी धार्मिक रूढ़िवादिता, सामाजिक कुरीतियाँ, श्रम की प्रवासी प्रवृत्ति, राजनैतिक उथल-पुथल आदि भी हैं। अतः इन बुराइयों को हटाने का भी प्रयास किया जाना चाहिये।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. श्रम से आप क्या समझते हैं, श्रम की क्या विशेषताएँ हैं और इन विशेषताओं का आर्थिक सिद्धांतों पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(संकेत—प्रथम भाग में श्रम का अर्थ व परिभाषा दीजिये, दूसरे भाग में विशेषताएँ लिखिये तथा तीसरे भाग में आर्थिक सिद्धांतों पर प्रभाव का उल्लेख कीजिये। सभी को संक्षेप में देना है।)

2. श्रम की कार्य-कुशलता से आप क्या समझते हैं और श्रम की कार्य-कुशलता किन किन तत्वों पर निर्भर करती है ?

(संकेत—श्रम की कार्य-कुशलता का अर्थ उदाहरण सहित बताकर दूसरे भाग में इनको प्रभावित करने वाले घटकों को शीर्षांकार देकर बताइये।)

3. श्रम की कार्य-कुशलता के प्रमुख कारणों का उल्लेख भारत के विशेष सन्दर्भ में कीजिये।

(संकेत—श्रम की कार्य-कुशलता का अर्थ तथा निर्धारक तत्वों को शीर्षांकार देते हुए भारत के श्रमिकों की कम कार्य-कुशलता के कारणों का विवेचन कीजिये।)

7

पूंजी

(Capital)

पूंजी भी उत्पत्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। आधुनिक युग में बड़े पैमाने की उत्पत्ति में तो पूंजी उत्पादन प्रणाली का प्राण ही बन गई है। आज प्रत्येक प्रकार के उत्पादन में न्यूनाधिक रूप में पूंजी अनिवार्य सी है।

पूंजी का अर्थ व परिभाषाएं

(Meaning & Definitions of Capital)

साधारण बोलचाल की भाषा में द्रव्य या धन व सम्पत्ति को पूंजी कह देते हैं किन्तु अर्थशास्त्र में पूंजी का एक सकुचित अर्थ लगाया जाता है। अर्थशास्त्र में मनुष्य द्वारा उत्पादित धन के उस भाग को पूंजी कहते हैं जो अधिक धन उत्पादन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। पूंजी के अर्थ के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में काफी विवाद रहा है। प्रो. मार्शल के अनुसार "प्रकृति की निःशुल्क देन के अतिरिक्त वह सब सम्पत्ति जिससे आय प्राप्त होती है पूंजी कहलाती है।" मार्शल का यह दृष्टिकोण व्यावहारिक एवं उपयुक्त है। फिशर के अनुसार भी "पूंजी वह सम्पत्ति है जो मनुष्य के भूतकालीन श्रम का परिणाम है और जिसका प्रयोग साधन के रूप में अधिक धन उत्पादन के लिये किया जाता है।" प्रो. टामसन के शब्दों में "भूमि के अतिरिक्त पूंजी व्यक्तिगत तथा सामूहिक धन का वह भाग है जो अधिक धन के उत्पादन में सहायक होता है।

इन सब परिभाषाओं के आधार पर हम पूंजी के तीन तत्व पाते हैं (i) पूंजी मनुष्य द्वारा उत्पादित सम्पत्ति का एक भाग होता है। (ii) सम्पत्ति का वही भाग पूंजी कहलाता है जो और अधिक उत्पादन के लिये प्रयोग में लाया जाता है। समस्त पूंजी सम्पत्ति है पर सब सम्पत्ति पूंजी नहीं। (iii) वे ही वस्तुएं पूंजी के अन्तर्गत आती हैं जो सम्पत्ति हैं। जो सम्पत्ति नहीं वे पूंजी नहीं हो सकती हैं।

पूंजी की विशेषताएं

(Characteristics of Capital)

उत्पादन के अन्य साधनों की भांति पूंजी में अपनी कुछ विशेषताएं हैं जो उसको उत्पत्ति के अन्य साधनों से भिन्न करते हैं :—

(1) पूंजी उत्पादन का निष्क्रिय साधन है। भूमि की भांति पूँजी के प्रयोग के लिए भी श्रम की आवश्यकता होती है। (2) पूंजी बचत का परिणाम है। अगर व्यक्ति अपनी आय में से उपभोग कम न करे तो बचत के अभाव में पूँजी निर्माण सम्भव नहीं होगा। (3) पूंजी अस्थाई होनी है। समय एवं उपभोग से उसका ह्रास होता है। परिणाम यह होता है कि उसे पुनर्स्थापना के लिए पुनरुत्पादित करना पड़ता है। (4) पूंजी आय प्रदान करती है। पूँजी के प्रयोग से अधिक उत्पादन सम्भव होता है। (5) पूंजी में बहुत अधिक गतिशीलता पाई जाती है। भूमि पूर्णत: अगतिशील है श्रम की गतिशीलता स्थिर है पर पूँजी की गतिशीलता अपेक्षाकृत सब साधनों से अधिक है। (6) पूंजी की पूर्ति में अपेक्षाकृत तीव्र गति से परिवर्तन होता है। भूमि की पूर्ति बढ़ाना असम्भव है। श्रम की पूर्ति मंद गति से बढ़ायी जा सकती है पर पूँजी की पूर्ति सुगमता से बढ़ाई जा सकती है। (7) पूँजी मनुष्य द्वारा उत्पादित धन का भाग है। यह मनुष्य के पिछले श्रम का संचित शेष है। प्राकृतिक उपहार पूँजी नहीं हो सकते। आदि-आदि।

क्या भूमि पूँजी है ? भूमि व पूँजी में अन्तर
(Is Land Capital ? Difference between Land & Capital)

इस प्रश्न पर अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। प्रो हिक्स, सेलिगमेन तथा बेन्हम आदि अर्थशास्त्री सिद्धान्तत पूँजी और भूमि में कोई अन्तर नहीं मानते। उनके अनुसार कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो पूर्ण रूप से प्रकृतिदत्त हो क्योंकि सभी वस्तुओं में मनुष्य का कुछ न कुछ श्रम अवश्य लगता है—(i) भूमि का एक बहुत बड़ा भाग भी मनुष्यकृत है। रेगिस्तानों व पहाड़ी क्षेत्रों को कृषि योग्य मैदानों में परिवर्तन करने में मानवीय श्रम होता ही है, (ii) पूंजी की भांति भूमि भी कुछ हद तक नश्वर है क्योंकि लगातार कृषि करते रहने से उर्वरा शक्ति का ह्रास होता है, (iii) भूमि के लिए भी मूल्य चुकाना पड़ता है चाहे वे कोयले, लोहे की खानें हों, जंगल हो अथवा कृषि भूमि, (iv) पूंजी की भांति भूमि में भी प्रयोगात्मक गतिशीलता होती है, जो भूमि कपास उत्पादन में प्रयुक्त की जाती है उस पर गन्ना बोया जा सकता है, गेहूँ उत्पादित किया जा सकता है, मकान बनाया जा सकता है, (v) भूमि की मात्रा केवल भौगोलिक दृष्टिकोण से ही सीमित होती है। अत इन सारे तर्कों के आधार पर वे पूँजी और भूमि में सिद्धान्तत कोई अन्तर नहीं मानते।

पर व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर भूमि और पूंजी में निम्न अन्तर होने से वे उत्पत्ति के दो पृथक् पृथक् साधन माने जाते हैं—(1) भूमि प्रकृतिदत्त नि शुल्क उपहार है जबकि पूँजी मनुष्य के श्रम का परिणाम है। (2) भूमि उत्पत्ति का सबसे अधिक गतिहीन साधन है जबकि पूँजी में सर्वाधिक गतिशीलता पाई जाती है। (3) भूमि अविनाशी है उसका प्रयोग अनन्तकाल तक होता है जबकि पूँजी नाशवान एवं अस्थायी है उसमें घिसावट, टूट-फूट होती है। (4) भूमि की कोई वास्तविक

सागत नहीं है उसके लिए कोई व्यय नहीं करना पड़ता जबकि साधन के अभाव में पूंजी निर्माण सम्भव नहीं होता (5) भूमि की पूर्ति हमेशा के लिए निश्चित एवं स्थिर होती है पूंजी की पूर्ति परिवर्तनशील है (6) भूमि की आय में भिन्नता पायी जाती है जबकि पूंजी ब्याज में प्रायः समानता की प्रवृत्ति होती है । (7) भूमि उत्पादन का आधारभूत साधन है जबकि पूंजी उत्पादन का गौण एवं सहायक साधन है ।

कुछ अन्तर (Some Distinctions)

पूंजी तथा धन (Capital and Wealth)—अर्थशास्त्र में धन का आशय उन सब वस्तुओं और सेवाओं से है जिनमे (1) उपयोगिता होती है (2) दुर्लभता होती है तथा (3) जिनमे हस्तान्तरिता (Transferability) होती है । दूसरे शब्दों में धन का अभिप्राय उन सब भौतिक वस्तुओं या बाह्य सेवाओं से है जिनमे उपयोगिता, दुर्लभता व परिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है । जबकि पूंजी मनुष्यकृत धन का वह भाग है जो अधिक धन उत्पादन के लिए काम में लिया जाता है । इस प्रकार सब सम्पत्ति या धन पूंजी नहीं होती केवल वही धन पूंजी होता है जो और अधिक उत्पादन में प्रयोग होता है । दूसरे शब्दों में सब पूंजी धन होती है पर सब धन पूंजी नहीं होता । पूंजी धन का एक भाग होता है । केन्ज़ और फिशर सब धन को पूंजी मानते हैं पर यह विचार मान्य नहीं है ।

पूंजी तथा द्रव्य (Capital and Money)—पूंजी मनुष्य द्वारा उत्पादित धन का वह भाग है जो अधिक धन उत्पादन में प्रयुक्त किया जाता है जबकि द्रव्य वह वस्तु है जो विनिमय का माध्यम, मूल्य का मापक तथा सौदे का निपटाने में सहायक होता है । इस दृष्टि से रुपया पैसा धन के अन्तर्गत आता है क्योंकि द्रव्य में भी उपयोगिता, दुर्लभता व हस्तान्तरिता का गुण होता है । अतः सभी द्रव्य पूंजी नहीं होता वरन् वही द्रव्य पूंजी कहा जायगा जो और अधिक धनोत्पत्ति में प्रयोग होता है । गाड़ कर रखा गया द्रव्य या उपभोग के लिए प्रयुक्त द्रव्य पूंजी नहीं कहा जाता इसी प्रकार सभी पूंजी द्रव्य के रूप में नहीं होती । कुछ पूंजी मशीनो, औजारो, बिल्डिंग आदि के रूप में होती है ।

पूंजी और आय—आय के अनेक स्रोत हैं । पूंजी से भी आय प्राप्त होती है । पूंजी से प्राप्त आय का जो भाग बचाकर पुनः उत्पादन कार्यों में लगा दिया जाता है वह फिर पूंजी का रूप धारण कर लेता है । पूंजी एक स्टाक (Stock) है जबकि आय एक प्रवाह है जो निरन्तर चलता रहता है । पूंजी किसी निश्चित समय से सम्बन्धित स्टॉक को बताती है जबकि आय समयावधि लाभ का प्रवाह है ।

पूंजी का वर्गीकरण
(Classification of Capital)

पूंजी का विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न आधारों पर वर्गीकरण किया है जिनमे कुछ इस प्रकार हैं—

1 अचल पूंजी व चल पूंजी (Fixed Capital & Circulating Capital)—अचल या स्थायी पूंजी वे टिकाऊ वस्तुएं हैं जो धनोत्पत्ति कार्य में बार बार दीर्घकाल तक प्रयुक्त की जाती हैं। उनकी उपयोगिता एक ही बार के प्रयोग से समाप्त नहीं होती। इनको उद्योग में ही काम लेने के उद्देश्य से खरीदा जाता है। जैसे मशीन, औजार, बिल्डिंग आदि अचल या स्थायी पूंजी है। यहा यह उल्लेखनीय है कि अगर ये पुन विक्रय के उद्देश्य से खरीदी जायें तो वे स्थायी पूंजी न होकर चल पूंजी में परिवर्तित हो जायेंगी। प्रो मिल के अनुसार "अचल पूंजी या स्थायी पूंजी वह पूंजी है जो टिकाऊ होती है तथा जिससे कुछ समय तक बराबर आमदनी होती रहती है।'

इसके विपरीत चल पूंजी (Circulating Capital)—चल पूंजी वह पूंजी है जिसे उत्पादन कार्य में एक ही बार प्रयुक्त किया जा सकता है। इसकी सम्पूर्ण उपयोगिता एक बार के प्रयोग में ही समाप्त हो जाती है। उन्हें बार-बार उत्पादन कार्य में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता जैसे कच्चा माल, ईंधन, किसान के लिए बीज चल पूंजी है। इस प्रकार जो पूंजी धनोत्पत्ति में केवल एक ही बार सहायक हो वह चल पूंजी है। प्रो मिल के शब्दों में "चल पूंजी वह पूंजी है जो उत्पादन में एक ही बार के प्रयोग से अपना सारा कार्य समाप्त कर ले।"

2. एक-अर्थी या विशिष्ट पूंजी तथा बहु अर्थी या अवशिष्ट पूंजी—विशिष्ट पूंजी या एक अर्थी पूंजी (Sunk Capital) वह पूंजी है जो केवल एक ही कार्य में प्रयुक्त की जा सकती है उनका कोई वैकल्पिक प्रयोग सम्भव नहीं होते जैसे रेल लाइनें बर्फ बनाने की मशीन, आदि। इसके विपरीत अवशिष्ट पूंजी (Floating Capital) वह पूंजी है जिसके अनेक प्रयोग हो सकते हैं जैसे बिजली, नकद रुपया आदि। पहली में हस्तान्तरण कठिन होता है जबकि दूसरी में सुगम होता है।

3 उत्पादन पूंजी एवं उपभोग पूंजी (Production Capital and Consumption Capital)—उत्पादन पूंजी (Production Capital) वह पूंजी है जो धनोत्पादन में प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। मार्शल के अनुसार उत्पादन पूंजी में वे सब पदार्थ आते हैं जो उत्पादन की क्रिया में श्रम को प्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करते हैं जैसे मशीनें, कच्चा माल, बीज, उपकरण आदि।

इसके विपरीत उपभोग पूंजी (Consumption Capital) में उन वस्तुओं का समावेश होता है जो उत्पादन में परोक्ष रूप से सहायक होती हैं तथा उनका उपभोग प्रत्यक्ष रूप में आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए किया जाता है जैसे मजदूरों को दिया जाने वाला भोजन, वस्त्र, मकान, कार, रेडियो आदि।

4 भौतिक पूंजी एवं वैयक्तिक पूंजी (Material & Personal Capital) भौतिक पूंजी (Material Capital) वह पूंजी है जो मूर्त या स्थूल या विनिमय साध्य रूप में गोचर होती है जैसे औजार, कच्चा माल, भवन आदि। इसके विपरीत

1. पूँजी आधुनिक उत्पादन व्यवस्था का प्राण है—पूँजी के कारण ही बडे पैमाने की उत्पत्ति एव श्रम विभाजन सम्भव है। औद्योगिक उत्पादन मे निरन्तरता बनी रहती है, श्रमिकों को अपनी जीवन निर्वाह व्यवस्था करने मे सुविधा रहती है। कृषि उत्पादन मे भी सिंचाई योजनाओ, ट्रैक्टरो और भूमि सुधारों पर भारी पूँजी व्यय करनी पडती है। परिवहन की व्यवस्था की जाती है जिससे उत्पादित वस्तुओ की बिक्री की जा सके। इस प्रकार पूँजी का अत्यधिक महत्व होने से वर्तमान युग को पूँजी का युग कहा जाता है।

2. आर्थिक नियोजन एवं विकास का आधार—पूँजी आर्थिक विकास के लिये आधार है। पूँजी के कारण ही प्राकृतिक साधनों का विदोहन सम्भव होता है। देश मे औद्योगीकरण की योजनाओं का क्रियान्वयन भी पूँजी की मात्रा पर ही निर्भर करता है। विशाल मशीनों, उपकरणों, कच्चा माल, विद्युत आदि पर भारी पूँजी लगानी पडती है। कृषि के विकास के लिये भी सिंचाई परियोजनाओ, उर्वरकों, यन्त्रो पर पूँजी व्यय होती है। परिवहन साधनो की पूर्ति भी पूँजी पर ही आश्रित है। शिक्षा, तकनीकी ज्ञान, मानवीय उत्पादकता मे वृद्धि, सामाजिक सेवाओ की व्यवस्था सभी देश मे उपलब्ध पूँजी की मात्रा पर निर्भर करते हैं। यही कारण है कि जिन राष्ट्रो मे पूँजी की पर्याप्तता है वे आर्थिक दृष्टि से विकसित हैं और जिन देशो मे पूँजी का नितान्त अभाव है वे दरिद्रता के कुचक्र मे फँसे हुए हैं। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिये विभिन्न विकास कार्यों पर भारी पूँजी की आवश्यकता होती है। अतः स्पष्ट है कि पूँजी आर्थिक विकास एवं नियोजन की आधार-शिला है।

3. सैनिक शक्ति और राजनैतिक स्थायित्व के लिये भी पूँजी आवश्यक है। आज विश्व दो गुटो में बटा हुआ है। साम्राज्यवादी विस्तार की प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। बाह्य आक्रमणों के भय की आशका रहती है। अत. सुदृढ सैनिक शक्ति के लिये आधुनिक अस्त्र-शस्त्रो, उनके निर्माण आदि पर भारी पूँजीगत व्यय करना पडता है। आज अमेरिका तथा रूस आदि देशो में सैनिक शक्ति निर्माण मे अत्यधिक पूँजी लगानी पडती है। भारत में भी आक्रमणो से सुरक्षा की पर्याप्त व्यवस्था करने मे काफी पूँजी विनियोग करना पडता है।

किसी देश मे राजनैतिक स्थायित्व भी विकास कार्यों की सफलता, जनता की आर्थिक समृद्धि तथा बाह्य आक्रमणो से सुरक्षा पर निर्भर करता है। इनके लिये पर्याप्त पूँजी आवश्यक है।

इस प्रकार आर्थिक, राजनैतिक तथा सैनिक सुदृढता मे पूँजी का विशेष महत्व है।

पूँजी की कार्यक्षमता

(Efficiency of Capital)

पूँजी का कार्य उत्पादन साधनो की उत्पादकता मे वृद्धि करना है पर यह

8

संगठन (व्यवस्था या प्रबन्ध)

(Organisation)

उत्पादन के अन्य साधनों की भाँति संगठन भी आधुनिक जटिल उत्पादन प्रणाली में उत्पादन का एक महत्वपूर्ण साधन है। संगठन के द्वारा उत्पत्ति के साधनों को एकत्रित कर उनमे अनुकूलतम संयोग स्थापित किया जाता है जिससे कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्भव हो सके।

संगठन (व्यवस्था या प्रबन्ध) का अर्थ (Meaning of Organisation)

किसी भी उत्पादन व्यवस्था को संचालित करने के लिए भूमि, पूँजी, श्रम तथा संगठन सभी साधनों के सहयोग की आवश्यकता होती है। उत्पादन में भूमि श्रम, पूँजी आदि साधनों को एकत्रित कर उनमे मैत्रीपूर्ण एवं अनुकूलतम समायोजन करने की क्रिया को संगठन कहा जाता है। दूसरे शब्दों में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में सर्वोत्तम संयोग एवं सहयोग स्थापित कर उत्पादन करने को ही व्यवस्था या संगठन कहते हैं। एक विद्वान के अनुसार "जब उत्पत्ति के तीन साधन—भूमि, श्रम और पूँजी चौथे साधन संगठन के द्वारा उत्पादन करने या धनोत्पत्ति के लिए मैत्रीपूर्ण ढंग से संयोजित किये जाते हैं तो यह क्रिया संगठन कहलाती है (When three factors land, labour and capital are harmoniously combined by the fourth factor business enterprise of entrepreneurial ability for the purpose of producing or acquiring wealth, we have business organisation). संक्षेप में यह कह सकते हैं कि उत्पादन के विभिन्न साधनों को उचित अनुपात में एकत्रित करके अधिकतम उत्पादन करने के कार्य को संगठन कहते हैं और जो व्यक्ति या संस्था इस कार्य को करते हैं उन्हें संगठक (Organiser) कहते हैं।

संगठन एवं श्रम में अन्तर (Difference between Organisation and Labour)—यद्यपि संगठन एक विशिष्ट प्रकार का श्रम (Specialised Labour) है किन्तु दोनों में अन्तर है—(i) संगठन का कार्य मुख्यतः मानसिक (Mental) होता है जबकि श्रमिक का कार्य अधिकांशतः शारीरिक होता है। (ii) संगठन का कार्य

करता है कि किस वस्तु का कितना उत्पादन किया जाय। इसके लिए उसे बाजार का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। (ii) उत्पादन के साधनों की व्यवस्था करना उत्पादन के लिए आवश्यक है यह संगठक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। वह पूर्व निर्धारित मात्रा उत्पादन के लिए उन साधनों को उचित मात्रा में एकत्रित करता है तथा उनका प्रतिफल निर्धारित करता है। (iii) उत्पादन साधनों को अनुकूलतम अनुपात मे मिलाना संगठक का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य है। इस कार्य को कुशलतापूर्वक करने के लिए वह प्रतिस्थापन के नियम (Law of Substitution) का सहारा लेता है। महँगे साधनो को सस्ते साधनों मे प्रतिस्थापित करता है ताकि कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्भव हो सके। (iv) कच्चे माल व मशीनों की व्यवस्था करना संगठक का महत्वपूर्ण कार्य है। वह समुचित मात्रा में उचित मूल्यो पर उत्तम किस्म का कच्चा माल एकत्रित करता है। मशीनों के एकत्रीकरण में भी यथासंभव नवीनतम यन्त्रो की व्यवस्था करता है ताकि प्रतिस्पर्द्धा में टिक सकें। (v) मजदूरों मे उनकी योग्यता व क्षमता के अनुसार काम सौंपना तथा समय-समय पर उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। इसके लिए श्रम-विभाजन का पर्याप्त ज्ञान जरूरी है। (vi) श्रम समस्याओं का निपटारा करना भी संगठक का महत्वपूर्ण कार्य है जिससे श्रम और पूँजी मे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहें, हड़तालें, तालाबन्दी की नौबत न आये। इससे औद्योगिक शांति बनाए रखने मे सहायता मिलती है। (vii) सम्पूर्ण उत्पादन कार्यों की देखभाल एवं निरीक्षण करना भी संगठक का ही कार्य है कि वे यह देखते हैं कि कार्य सुचारू रूप से चल रहा है। कहीं अपव्यय तो नहीं हो रहा है। यन्त्रों की सही समय पर मरम्मत हो रही है तथा सब उत्पादक अंगो मे परस्पर सहयोग कड़ी मे निरन्तरता है। (viii) उत्पादित माल की विक्रय व्यवस्था भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि उत्पादन व्यवस्था। उत्पादित माल को मण्डियो में पहुँचाना, उचित विज्ञापन करना तथा उचित मूल्यो पर बेचना भी संगठक का कार्य है। संगठनकर्ता उपभोक्ताओ से निकट सम्पर्क बनाये रखते हैं, ताकि उनकी रुचियो, फैशन आदि से पूर्ण परिचित रहें तथा उत्पादक उनकी आवश्यकतानुसार करके लाभ कमावें। (ix) उत्पादन सम्बन्धी खोज एवं अनुसंधान—कुशल संगठक न केवल उत्पादन तथा बिक्री की कुशल व्यवस्था करते हैं पर वे उत्पादन, विक्रय लागत आदि के सम्बन्ध मे आंकड़े सकलन कर आगे नीति निर्धारण मे सहायता लेते हैं। अनुसंधान भी करते हैं। (x) उत्पादन के साधनों को उनका उचित प्रतिफल वितरित करने की व्यवस्था करना भी संगठक का ही कार्य है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संगठक का कार्य बहुत ही जटिल एवं उत्तरदायित्वपूर्ण है। एक साधारण व्यक्ति के लिए इन कार्यों को सम्पन्न करना कोरी कल्पना है। व्यवसाय की सारी सफलता तथा उत्पादन की कुशलता मुख्यतया संगठक की योग्यता, कुशलता, ईमानदारी एवं अनुभव पर निर्भर करती है।

संगठन की कार्यकुशलता (Efficiency of Organisation)

संगठन की कार्यकुशलता उत्पादन की मात्रा, किस्म तथा उत्पादन लागतों में मितव्ययिताओं (Economies) से नापी जाती है। अगर संगठक उत्पादन के विभिन्न साधनों का अनुकूल अनुपात में संयोग कर उत्पादन करता है तो साधनों के अनुकूलतम संयोग (Optimum Combination) से कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन संभव होगा। यही मितव्ययिता संगठन की कुशलता की परिचायक है। संगठन की कार्यकुशलता दो बातों पर निर्भर करती है (A) उत्पादन के विभिन्न साधनों की कार्य-कुशलता, और (B) संगठक के व्यक्तिगत गुण। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(A) उत्पादन के विभिन्न साधनों की कार्य-कुशलता—उत्पादन के विभिन्न साधनों—भूमि श्रम एवं पूँजी—जिनको संगठक अनुकूल अनुपात में मिलाता है जितने कार्यकुशल होंगे उतनी ही संगठन की कुशलता का परिचायक होगी। इसके विपरीत अगर उत्पत्ति के मिलाये जाने वाले साधन अकुशल एवं अनुपयुक्त हैं तो चाहे संगठक कितना ही अनुभवी, योग्य एवं कुशल क्यों न हो वह अपनी कार्यकुशलता को बढ़ा नहीं सकेगा।

(B) संगठक के आवश्यक गुण या एक अच्छे व्यवस्थापक के गुण—उत्पादन की कुशलता प्रायः संगठन की कुशलता पर निर्भर करती है अतः एक कुशल एवं अच्छे संगठक (व्यवस्थापक) में निम्न गुण होने चाहिये।

(1) दूरदर्शिता—आधुनिक उत्पादन व्यवस्था में व्यवस्थापक को भावी माँग का अनुमान लगाकर ही उत्पादन करना पड़ता है। उसे लोगों के फैशन एवं रुचि में होने वाले भावी परिवर्तनों का अनुमान लगाना पड़ता है। राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के बारे में ध्यान रखना पड़ता है अतः इन सबके बारे में भविष्य के सही-सही अनुमान की सामर्थ्य संगठक की दूरदर्शिता पर निर्भर करती है। अतः संगठक में दूरदर्शिता उसकी कार्य-कुशलता का पहला गुण है।

(2) साहस एवं आत्मविश्वास—संगठक की कुशलता उसके साहस एवं आत्म-विश्वास पर निर्भर करती है। उसे अपने किये निर्णयों पर पूरा-पूरा विश्वास होना चाहिए तथा व्यापार-उद्योग में उथल-पुथल, मंदी तेजी, प्रतियोगिता, दुर्घटना आदि परिस्थितियों में साहस से काम लेने का आत्मबल होना चाहिए।

(3) श्रम संगठन योग्यता—संगठक की कुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह श्रमिकों को उनकी योग्यतानुसार व क्षमतानुसार कार्य का विभाजन करता है, विभिन्न वर्गों में सहयोग स्थापित करता है, श्रमिकों व पूँजी में निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर औद्योगिक शांति स्थापना में सक्षम है। उसकी सफलता इस बात में निहित है कि श्रमिक उसमें पूरा-पूरा विश्वास कर उसके नेतृत्व को सहर्ष स्वीकार करें।

(4) शारीरिक एवं मानसिक क्षमता—व्यवस्था का कार्य कोई आराम का

धन्धा न होकर जटिल और कठिन कार्य है। उसकी कुशलता के लिये संगठक का स्वस्थ होना आवश्यक है। उसमें अधिक समय कार्य करने की शारीरिक क्षमता होने के साथ-साथ मानसिक योग्यता भी होनी चाहिये।

(5) **उच्च चरित्र एवं नैतिक बल**—यह भी संगठक की कार्यकुशलता का एक प्रमुख तत्व है। एक संगठक का उच्च चरित्र उसे श्रमिकों में अपना नेतृत्व जमाने में सहायक होगा, उपभोक्ताओं में विश्वास उत्पन्न करेगा, उधार देने वालों को सुरक्षा महसूस होगी। उनके कथनी और करनी में लेशमात्र भी अन्तर की सन्दिग्धता होने पर प्रभाव जमाना सरल होगा। उसका नैतिक बल इतना होना चाहिए कि वह अपने कार्यों का स्वयं आत्म-निरीक्षण कर सके तथा गलती का स्वीकार करने का नैतिक साहस हो।

(6) **व्यवसाय का तकनीकी ज्ञान एवं अनुभव**—एक कुशल संगठक की सफलता एवं कार्य-कुशलता उसके तकनीकी ज्ञान एवं अनुभव पर निर्भर करती है। ज्ञान उसको आत्म विश्वास प्रदान करता है जबकि अनुभव मार्ग दर्शन करता है। व्यवसाय में प्रयुक्त उत्पादन विधियों का तकनीकी ज्ञान उसे कर्मचारियों के भूल-भुलैये में आने से रोकता है, निरीक्षण को सम्भव बनाता है। यह उसे उत्पादन के विभिन्न साधनों के इष्टतम संयोग में भी सहायक सिद्ध होता है।

(7) **सतर्कता एवं शुद्धता (Alertness and Accuracy)**—एक संगठक की कार्यकुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह नये-नये परिवर्तनों के प्रति सतर्क एवं जागरूक है। उत्पादन विधियों में होने वाले परिवर्तनों, नयी नयी मशीनों के आविष्कार, लोगों की फैशन, रुचि में अन्तर आदि के बारे में सतर्कता जितनी अधिक होती है उतनी ही जोखिम कम हो जाती है।

इसी प्रकार व्यवसायों में होने वाले परिवर्तनों या भावी परिवर्तनों के बारे में जितनी यथार्थता व शुद्धता होगी उतना ही अपव्यय कम होगा। इस कार्य में अनुभव, भूतकाल के हिसाब किताब आदि का विश्लेषण उपयोगी रहता है।

(8) **सहयोगात्मक क्षमता**—एक संगठक की कार्यकुशलता इस बात पर अधिक निर्भर करती है कि उसमें अधिक से अधिक लोगों के साथ मिल-जुलकर रहने तथा एक दूसरे के साथ समायोजन (Adjustment) करने का गुण होना चाहिये, अन्यथा कटुता बढ़ेगी तथा व्यवस्था के सभी कार्यों के सम्पादन में कदम-कदम पर कठिनाई होगी।

(9) **ईमानदारी** भी आवश्यक तत्व है। इससे श्रमिकों, उपभोक्ताओं, ऋण-दाताओं में संगठक का विश्वास जमेगा। अगर ईमानदारी न रही तो वह नैतिक पतन का कारण बनेगी। लोगों में उसके प्रति आस्था उठ जायेगी।

(10) **अन्य**—इसके अतिरिक्त एक संगठक का मनोवैज्ञानिक होना आवश्यक है क्योंकि एक मनोवैज्ञानिक के रूप में वह उपभोक्ताओं व श्रमिकों सबका अध्ययन कर

9

श्रम की पूर्ति एवं जनसंख्या समस्या

(Supply of Labour & the Population Problem)

श्रम उत्पत्ति का एक अत्याज्य एवं अनिवार्य साधन है। अतः देश में उत्पादन श्रमिकों की पूर्ति पर निर्भर करता है। श्रम की पूर्ति जनसंख्या तथा श्रमिकों की कार्यकुशलता पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त श्रम की पूर्ति पर कार्य के घण्टों का भी प्रभाव पड़ता है।

श्रम की पूर्ति का अर्थ—साधारण बोलचाल में श्रम की पूर्ति का अभिप्राय देश की समस्त जनसंख्या के आकार से लगाया जाता है परन्तु अर्थशास्त्र में श्रमशक्ति का आशय देश की जनसंख्या के उस भाग से है जो आर्थिक रूप से सक्रिय हो या सक्रिय होने के योग्य हो। किसी भी देश की श्रम शक्ति में हम उन सब व्यक्तियों (पुरुषों, महिलाओं, बच्चों) को सम्मिलित करते हैं जो कार्य में लगे हों या काम करने के योग्य और इच्छुक हों। इस प्रकार जनसंख्या का वही भाग श्रम शक्ति में सम्मिलित किया जाता है जो कि आर्थिक दृष्टि से सक्रिय कहा जा सकता हो। इसे कार्यशील जनसंख्या (Working Population) भी कहा जाता है। आर्थिक दृष्टि से 15–59 आयु वर्ग के लोगों को कार्यशील जनसंख्या में मानते हैं। जनसंख्या में श्रम का अनुपात भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न है। जहाँ एक ओर विकसित देशों में कार्यशील जनसंख्या कुल जनसंख्या की 45 से 55% है वहाँ अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में कार्यशील जनसंख्या कुल जनसंख्या की 40 से 45% है।

आर्थिक विकास के साथ-साथ लोगों की काम करने के प्रति प्रवृत्तियों में परिवर्तन, रोजगार अवसरों में वृद्धि तथा उच्च जीवन स्तर के कारण कार्यशील जनसंख्या का अनुपात बढ़ता है। जहाँ 1970 में अमेरिका में जन-शक्ति का अनुपात कुल जनसंख्या का 32·5% था वह अब 52% है, इंगलैण्ड में 50% है जबकि भारत में यह 45% से 50% है।

श्रम की पूर्ति के निर्धारक तत्त्व या घटक

(Factors or Determinants of the Supply of Labour)

किसी भी देश में श्रम की पूर्ति मुख्यतः पाँच तत्वों (घटकों) पर निर्भर करती है—(1) जनसंख्या (2) कार्यशील जनसंख्या (3) काम के घण्टे (4) श्रम की कार्यकुशलता तथा (5) वास्तविक मजदूरी दरें। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रम की पूर्ति को प्रभावित करने वाले घटक (एक नजर में)

(1) जनसंख्या	(2) कार्यशील जनसंख्या	(3) काम के घण्टे	(4) श्रम की कार्यकुशलता	(5) मजदूरी दरें
(i) जनसंख्या का आकार	(i) आयु संरचना	(i) कम	(i) जन्मजात गुण	(i) प्रतिस्थापन प्रभाव से श्रम पूर्ति में वृद्धि किन्तु
(ii) जनसंख्या की बनावट	(ii) कार्य के महत्व	(ii) अधिक	(ii) अच्छा स्वास्थ्य	(ii) आय प्रभाव ऋणात्मक होने से श्रम पूर्ति में कमी
(iii) जनसंख्या की जन्म-मृत्यु दरें	(iii) सरकारी नीति	(iii) सामान्य	(iii) शिक्षा-दीक्षा	
(iv) समयान्तर	(iv) शिक्षा		(iv) भौगोलिक उपयुक्तता	
(v) जीवन आशा	(v) भौतिक दृष्टिकोण		(v) औद्योगिक तत्व	
(vi) काम के प्रति रुख	(vi) जीवन लागत		(vi) सामाजिक एवं धार्मिक तत्व	
(vii) आवास प्रवास	(vii) सामाजिक व्यवस्था			
(viii) जन स्वास्थ्य				

(1) जनसंख्या और श्रम पूर्ति (Population & Labour Supply)—जैसा पहले बताया जा चुका है देश में श्रम की पूर्ति देश की कुल जनसंख्या के उस भाग से होती है जो आर्थिक दृष्टि से काम पर लगे हुए हैं, अथवा काम करने योग्य एवं इच्छुक हैं। अतः जनसंख्या और श्रम-शक्ति की पूर्ति में घनिष्ट सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध विभिन्न रूपों में सामने आता है।

(i) जनसंख्या का आकार एवं वृद्धि की दर—अन्य बातों के समान रहते हुए देश में जनसंख्या का आकार जितना बड़ा होगा उतनी ही श्रम की पूर्ति अधिक होगी। जैसे—चीन और भारत की जनसंख्या विश्व में सर्वाधिक है तो श्रम की पूर्ति भी सर्वाधिक है। इसी प्रकार जनसंख्या में वृद्धि की दर जितनी अधिक होती है उतनी ही श्रम शक्ति भी तेजी से बढ़ती है जैसे भारत में

जनसंख्या वृद्धि की दर 2·5% है अतः श्रम की पूर्ति में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है।

(ii) **श्रम की पूर्ति व जनसंख्या वृद्धि में समयान्तर** (Time lag) होता है क्योंकि जो बच्चे आज जन्म लेते हैं वे 15 वर्ष के बाद ही श्रम पूर्ति में सहायक होंगे।—कृषि प्रधान अविकसित देशों में बच्चे स्कूल वगैरा नहीं जाते इस कारण कम उम्र में ही श्रम-शक्ति में सम्मिलित हो जाते हैं जबकि विकसित राष्ट्रों में अधिक उम्र के बाद ही नये युवक श्रम-पूर्ति में सम्मिलित होते हैं।

(iii) **जनसंख्या की मृत्यु-दर भी श्रम की पूर्ति को प्रभावित करती है**—जनसंख्या में समस्त वृद्धि श्रम-पूर्ति को नहीं बढ़ाती, केवल वही जनसंख्या श्रम-पूर्ति को बढ़ाती है जो काम करने वाले की आयु तक जीवित रहना है। पिछड़े राष्ट्रों में शिशु-मृत्यु-दर अधिक होती है। अतः कुल नये बच्चों में प्रायः 50% ही काम करने की आयु तक जीवित रहते हैं।

(iv) **आयुवर्ग संरचना** (Age Composition)—देश में श्रम की पूर्ति पर जनसंख्या के आयु-वर्ग की संरचना का भी प्रभाव पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से 15 वर्ष से 59 वर्ष की आयु-वर्ग की जनसंख्या उत्पादक मानी जाती है। अतः जिस देश में आयु-वर्ग (15–59) का जनसंख्या में प्रतिशत जितना अधिक होता है, श्रम की पूर्ति भी उतनी ही अधिक होगी। जहाँ विकसित राष्ट्रों में 62% जनसंख्या 15–59 आयु वर्ग में आती है वहाँ अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में यह अनुपात 50 से 55% ही है। जिन देशों में बच्चों व बूढ़ों की संख्या अनुपात में अधिक होती है, श्रम की पूर्ति कम होती है।

(v) **जीवन आशा** (Life Expectancy) का भी श्रम की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। अगर देश में लोगों के जीवन की अवधि लम्बी अर्थात् जनसंख्या की औसत आयु अधिक है तो श्रम-पूर्ति भी अधिक होगी। अगर औसत आयु 35 वर्ष हो तो वह कार्यशील जनसंख्या में केवल 20 वर्ष ही रह जायेगा पर अगर औसत आयु 60 वर्ष है तो व्यक्ति 45 वर्षों तक कार्यशील जनसंख्या में रहेगा। इसके कारण श्रम की पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक होगी। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में औसत आयु बहुत नीची है जैसे भारत में पहले (1951) औसत आयु 32 वर्ष की थी, अब (1971) में बढ़कर 52 वर्ष हो गई है।

(vi) **लोगों में काम के प्रति प्रवृत्ति** (Attitude towards Work) का भी श्रम की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। *अगर देश की जनसंख्या में लोग कार्यशील आयु* वर्ग में हैं किन्तु फिर भी आलसी, कामचोर तथा कार्य करने के अनिच्छुक हैं तो श्रम की पूर्ति इस सीमा तक कम हो जायेगी। इस प्रकार जनसंख्या में वृद्धि से ही श्रम की पूर्ति नहीं बढ़ती वरन् लोगों में काम करने की रुचि एवं इच्छा बढ़ने से भी श्रम शक्ति में वृद्धि होती है।

(vii) प्रवास-प्रवास का भी श्रम की पूर्ति पर महत्त्व प्रभाव पड़ता है। अगर देश में विदेशों से जनसंख्या आती है तो श्रम-पूर्ति में वृद्धि होती है। इसके विपरीत अगर जनसंख्या का विदेशों में प्रवास होता है, तो श्रम की पूर्ति घटती है।

(viii) जनसंख्या का स्वास्थ्य, मानसिक उपयुक्तता तथा मनोवैज्ञानिक स्थिति भी श्रम की पूर्ति को प्रभावित करती है। अगर देश में जनसंख्या स्वस्थ है तो श्रम की पूर्ति में वृद्धि होगी जबकि रुग्णता की स्थिति में श्रम की पूर्ति कम होगी। देश में कुशल, प्रशिक्षित श्रम की पूर्ति जनसंख्या के मानसिक स्तर पर निर्भर करती है।

जनसंख्या की मनोवैज्ञानिक स्थिति (Psychological Conditions) भी श्रम की पूर्ति को प्रभावित करती है। अगर जनसंख्या में जीवन की आकांक्षाओं एवं अभिलाषाओं को पूरा करने की तीव्र लालसा है तो श्रम-शक्ति में वृद्धि होगी, आलस्य कम होगा।

इस प्रकार जनसंख्या और श्रम की पूर्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जनसंख्या श्रम की मात्रात्मक पूर्ति (Quantitative Supply of Labour) को प्रभावित करती है।

(2) कार्यशील जनसंख्या (Working Population)—किसी देश में श्रम-पूर्ति को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण घटक "कार्यशील जनसंख्या का आकार एवं बनावट" है। कार्यशील जनसंख्या का अभिप्राय देश की जनसंख्या के उस भाग से है जो श्रम करने के योग्य, सक्रिय तथा भागीदार है। देश की जनसंख्या में श्रम में भाग लेने की दर (Participating Rate) जितनी अधिक होगी, उतनी ही श्रम की पूर्ति अधिक होगी और इसके विपरीत अगर देश में लोग श्रम के योग्य होते हुए भी अगर कार्य करने के प्रति उदासीन, निष्क्रिय एवं अकर्मण्य हैं तो जनसंख्या अधिक होने पर भी श्रम की पूर्ति कम होगी। अतः कार्यशील जनसंख्या देशवासियों के श्रम में भाग लेने की दर (Participating Rate) पर निर्भर है। अन्य बातों के समान रहने पर श्रम में भाग लेने की दर (Participating Rate) में घटत-बढ़त के मुख्य तत्व निम्न हैं—

कार्यशील जनसंख्या के घटत-बढ़त के मुख्य तत्व

(A) कार्यशील जनसंख्या के घटाने वाले तत्व—	(B) कार्यशील जनसंख्या को बढ़ाने वाले तत्व—
(1) जनसंख्या का छोटा आकार	(1) संयुक्त परिवारों का विघटन
(2) जनसंख्या की प्रतिकूल संरचना	(2) भौतिक उत्थान की लालसा
(3) काम के लिये कानूनी आयु	(3) मुद्रा स्फीति व महगाई का आर्थिक दबाव



(4) शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था	(4) परोपजीविता का ह्रास व श्रम मे रुचि
(5) काम के प्रति अरुचि एव अकर्मण्यता	(5) शिक्षा एव प्रशिक्षण का विस्तार
(6) भौतिक जीवन के प्रति निराशा	(6) महिलाओं मे शिक्षा एव कार्य रुचि
(7) काम के प्रति सरकारी नीति म ढील	(7) औसत आयु मे वृद्धि
(8) रूढिवादी परम्परायें	(8) काम के प्रति सरकारी कडा रुख

उपर्युक्त तालिका पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि अगर अर्थव्यवस्था मे कार्यशील जनसख्या को घटाने वाले तत्वों की अपेक्षा कार्यशील जनसख्या को बढ़ाने वाले तत्व अधिक प्रभावी एव सक्रिय हैं तो श्रम की पूर्ति में वृद्धि होती है किन्तु अगर कार्यशील जनसख्या घटाने वाले तत्व बढाने वाले तत्वो की अपेक्षा अधिक प्रभावी हैं तो श्रम की पूर्ति घटती है। उपर्युक्त तत्वो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(A) कार्यशील जनसख्या को घटाने वाले तत्व—ये वे तत्व हैं जिनसे कार्यशील जनसख्या घटती है जैसे—(i) जनसख्या का आकार देश म जितना ही छोटा होगा उतनी ही कार्यशील जनसख्या भी कम होगी जैसे भारत और चीन की विशाल जनसख्या के मुकाबले मे ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी की जनसख्या कम होने से वहाँ कार्यशील जनसख्या भारत व चीन से काफी कम है (ii) जनसख्या की प्रतिकूल सरचना का अभिप्राय बच्चो और बूढो की सख्या जवानो के मुकाबले अधिक होना है। कार्यशील जनसख्या मे सामान्यत: 15 से 60 वर्ष की आयु वर्ग वाले आते हैं। अगर 16 वर्ष से 60 वर्ष आयु वाली जनसख्या कम हो तो कार्यशील जनसख्या कम होगी (iii) काम के लिये कानूनी आयु अगर ऊची हुई तो कार्यशील जनसख्या घटेगी किन्तु अगर काम के लिये कानूनी आयु का स्तर नीचा रखा जाये तो कार्यशील जनसख्या अधिक होगी (iv) शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था भी महत्वपूर्ण है। अगर स्कूली शिक्षा अनिवार्य हो और उच्च शिक्षा मे भी अधिक लोगो को प्रवेश दिया जाता रहे तो कार्यशील जनसख्या कम होगी इसके विपरीत अवस्था मे अधिक होगी (v) काम के प्रति अरुचि एव अकर्मण्यता से लोग काम मे भाग नही लेते अत: कार्यशील जनसख्या घटती है (vi) भौतिक जीवन के प्रति निराशा व्याप्त होने पर लोग साधु, सन्यासी भिखमगे आत्महत्या आदि जैसे कृत्यो मे पडकर कार्यशील जनसख्या मे कमी करते हैं (vii) काम के प्रति सरकारी नीति मे ढील कार्यशील जनसख्या मे कमी करती है अगर प्रत्येक योग्य व्यक्ति के लिये कार्य करना जरूरी न हो तो पराश्रितता बढने से कार्यशील जनसख्या घटेगी। (viii) रूढिवादी परम्परायें भी कार्यशील जनसख्या मे कमी लाती हैं जैसे भारत में

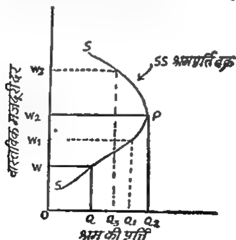
और भी अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जनसंख्या में काम में भाग लेने की दर (Participation Rate) प्रभावित करते हैं। जब काम की भागीदारिता दर बढ़ती है तो कार्यशील जनसंख्या अधिक और दर घटने से कार्यशील जनसंख्या कम होती है।

(3) काम के घण्टे (Hours of Work)—श्रम की मात्रात्मक पूर्ति में वृद्धि काम के घण्टों में वृद्धि करके भी की जा सकती है। अगर कार्यशील जनसंख्या एक शिफ्ट के बजाय प्रतिदिन दो शिफ्ट में काम करना शुरू करदे या इसी प्रकार काम के घण्ट 8 घण्ट प्रतिदिन से बढ़ाकर 10 घण्टे प्रतिदिन कर दिये जायें तो भी जनसंख्या में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन होते हुए भी श्रम की पूर्ति में वृद्धि होगी।

यद्यपि श्रम के घण्टा में आवश्यकता से अधिक वृद्धि श्रम की कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव डालकर श्रम की गुणात्मक पूर्ति को कम कर सकती है। आज विकसित राष्ट्रों में काम के घण्टे कम करने की प्रवृत्ति प्रबल है पर अर्द्धविकसित राष्ट्रों में कमी करना अनुपयुक्त होगा।

(4) श्रम की कार्यकुशलता (Efficiency of Labour)—श्रम की पूर्ति पर श्रम की कार्यकुशलता का भी प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण श्रम की मात्रात्मक पूर्ति (Quantitative Supply) बढ़ती है पर श्रम की कार्यकुशलता से श्रम की गुणात्मक पूर्ति (Qualitative Supply) प्रभावित होती है। श्रम की कार्यकुशलता श्रमिकों की प्रवृत्ति, भौगोलिक परिस्थितियों, कार्य करने की परिस्थितियों व संगठन कुशलता पर निर्भर करती है। इन सबका विस्तृत विवरण पिछले अध्याय में दे दिया गया है पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

(5) श्रम की पूर्ति एवं वास्तविक मजदूरी दर (Real Money Wages)—श्रम की पूर्ति पर वास्तविक मजदूरी दरों का भी प्रभाव पड़ता है। एक निश्चित



चित्र–1

सीमा तक मजदूरी दर में वृद्धि श्रम की पूर्ति में वृद्धि करती है क्योंकि लोग अपनी आय को बढ़ाने के लिए अधिक समय तक कार्य करने को तत्पर रहते हैं। कम मजदूरी पर जो व्यक्ति काम करने को इच्छुक नहीं थे वे भी काम करने को तत्पर होते हैं। पर व्यावहारिक जीवन में हम यह भी देखते हैं कि अगर मजदूरी दरों में एक निश्चित सीमा से अधिक वृद्धि हो जाय तो पहले की अपेक्षा कम समय तक काम करने या परिवार के कम लोगों द्वारा भी पहले जितनी ही आय प्राप्त होने लगती है। अतः लोगों में कम समय काम करने, अधिक अवकाश लेने तथा विश्राम (Leisure) करने की प्रवृत्ति बढ़ती है और श्रम की पूर्ति कम होती है जैसा चित्र-1 में बताया गया है। OW मजदूरी पर श्रम की पूर्ति OQ है, जब मजदूरी दर बढ़ती है अर्थात् OW_1 हो जाती है तो श्रम की पूर्ति भी बढ़कर OQ_1 हो जाती है पर अगर मजदूरी बढ़ाकर OW_3 कर दी जाती है तो पहले की अपेक्षा श्रम की पूर्ति कम हो जाती है। इस प्रकार श्रम पूर्ति वक्र प्रारम्भ में ऊपर उठता हुआ होता है पर बहुत ऊँची मजदूरी पर उसका ढाल ऋणात्मक हो जाता है। OW_2 मजदूरी पर श्रम की पूर्ति अधिकतम OQ_2 है। इस सीमा के बाद श्रम पूर्ति और मजदूरी दर में ऋणात्मक सम्बन्ध हो जाता है।

जनसंख्या समस्या (भारत के विशेष सन्दर्भ में)
(The Population Problem)

सभी आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम उद्देश्य मानव का अधिकतम कल्याण करना है। इस प्रकार देश की जनसंख्या उत्पत्ति का साधन और आर्थिक क्रियाओं का साध्य है। अतः जनसंख्या का अध्ययन सर्वोपरि है।

जनसंख्या का महत्व (Importance of Population)—किसी भी देश का आर्थिक विकास एवं समृद्धि मुख्यतया देश की मानव शक्ति के रूप में जनसंख्या पर निर्भर करती है। जनसंख्या का आर्थिक विकास में दोहरा महत्व है। एक ओर जनसंख्या श्रमशक्ति का स्रोत है तो दूसरी ओर वह उपभोक्ता के रूप में उत्पादित वस्तुओं के विस्तृत बाजार का निर्माण करती है। दूसरे शब्दों में जनसंख्या उत्पत्ति का एक सक्रिय साधन है, उत्पादन को सम्भव बनाती है। वह साध्य के रूप में उत्पादित वस्तुओं की माँग बढ़ाकर उनके उत्पादन को प्रेरणा देती है वह उत्पत्ति का साधन और साध्य दोनों है। यह महत्व इस प्रकार है—

(1) जनसंख्या श्रम की पूर्ति करती है—जनसंख्या का आकार एवं गुणात्मक कुशलता पर ही देश की श्रमशक्ति का आकार और कुशलता निर्भर करती है। देश में जनसंख्या जितनी अधिक होगी उस देश की श्रमशक्ति भी उतनी ही विशाल होगी।

(2) जनसंख्या उपभोक्ता के रूप में उत्पादन के लिये विस्तृत बाजार प्रदान करती है—आज छोटे विकसित राष्ट्रों को अपनी वस्तुओं का बाजार अन्यत्र ढूँढना पड़ता है पर राष्ट्र की विशाल जनसंख्या उसके उत्पादनों को विस्तृत बाजार उपलब्ध करती है। जैसे भारत में विशाल जनसंख्या विभिन्न उत्पादनों के लिए एक बड़ा बाजार है।

(3) **श्रम विभाजन**—जनसंख्या का आकार बड़ा होने पर श्रम विभाजन सम्भव होता है जबकि जनाभाव म श्रम विभाजन एव बड़े पैमाने की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती।

(4) **सैनिक शक्ति का आधार**—किसी भी देश की सैनिक सुदृढता एव बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के लिए विशाल जनसख्या उपयोगी रहती है। इस प्रकार सैनिक शक्ति प्रतिरक्षा दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। भारत अपनी विशाल सैनिक शक्ति से पाकिस्तान को पराजित करने मे समर्थ रहा।

(5) **जनसख्या की गुणात्मक प्रवृत्तिया भावी विकास को सम्भव बनाती हैं** क्योंकि मनुष्य तर्कशील बुद्धिमान और विचारशील प्राणी है। आज मनुष्य की विचार-शक्ति एव ज्ञान के कारण ही मानव चन्द्रमा पर पहुँच पाया है, टैस्ट ट्यूब म बच्चे उत्पन्न किये जाने की प्रवृत्ति है, कृत्रिम हृदय लगाया जाने लगा है। अनेक आविष्कार हो रहे हैं।

इस प्रकार जनसख्या का महत्व मानव शक्ति के रूप मे है। ससाधन की हैसियत से मनुष्य उत्पादन के साधनो के रूप मे उपलब्ध होते हैं जबकि उपभोक्ता के रूप में विस्तृत बाजार का निर्माण करते हैं। रिचर्ड टी गिल के अनुसार **"आर्थिक विकास एक यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं है यह एक मानवीय उपक्रम है और समस्त मानवीय उपक्रमों की भाति इसकी सफलता अन्तिम रूप से इसे क्रियान्वित करने वाले मनुष्यों की सख्या, कुशलता, गुणों एव प्रवृत्तियों पर निर्भर करेगी।"** इससे जनसख्या का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

जनसंख्या समस्या के विभिन्न पहलू
(Different Aspects of the Population)

किसी भी देश की जनसख्या समस्या को मोटे रूप मे दो पहलुओ मे विभाजित किया जा सकता है। पहला सख्यात्मक पहलू (Quantitative Aspect), तथा दूसरा गुणात्मक पहलू (Qualitative Aspect)। इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) **जनसख्या समस्या का मात्रात्मक या सख्यात्मक पहलू** (Quantitative Aspect) के अन्तर्गत जनसख्या का आकार, उनमें वृद्धि की दर आदि का अध्ययन होता है और यह देखा जाता है कि जनसख्या मे वृद्धि की मात्रा देश के उत्पादन, श्रमशक्ति एव रोजगार को किस प्रकार प्रभावित करती है। जनसख्या वृद्धि की दर खाद्यान्न और उत्पादन की वृद्धि की तुलना मे कम है या अधिक। अगर देश मे जनाधिक्य, (Over Population) होना है तो खाद्यान्न का अभाव, निम्न जीवन-स्तर, बेकारी, आवास की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जबकि जनाभाव म श्रमशक्ति की कमी से आर्थिक विकास हतोत्साहित होता है।

(i) **आकार**—भारत में 1952 मे जनसख्या 39 5 करोड थी वह 1961 म बढकर 43 [illegible] करोड़ हो गई जबकि 1971 की जनगणना के समय वह 54·8 करोड तक पहुँच गई। 1980 मे जनसख्या 66 करोड होने का अनुमान है। यह अनुमान लगाया जाता है कि यह जनसख्या अगर इसी दर से बढ़ती गई तो 2000 तक भारत की जनसंख्या 100 करोड से भी अधिक होगी।

वरन् मृत्यु-दर भी ऊँची है। पर पिछले वर्षों में यह कम हुई है फिर भी विकसित देशों के मुकाबले अधिक है। 1951 में भारत में जन्मदर और मृत्युदर दोनों ही ऊँचे थे पर पंचवर्षीय योजनाओं में स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवाओं के विस्तार से मृत्युदर 40 से घटकर अब 15 रह गई है।

(C) प्रति जीवन दर (*Survival Rate*)—*यह वह दर है जो प्रति हजार* मरने वालों तथा जन्म देने वालों में शुद्ध (अन्तर) वृद्धि को बताती है। यद्यपि भारत में जन्मदर भी ऊँची है और मृत्युदर भी ऊँची है पर जनसंख्या में बहुत तीव्रगति से वृद्धि होने के कारण प्रति हजार बचने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। जन्मदर प्राय स्थिर है जबकि मृत्युदर घट गई है। जहां 1952 में प्रतिजीवन दर 5 प्रति हजार थी वह अब (35–15)=20 प्रति हजार हो गई है। इस कारण जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि हो रही है।

(2) जनसंख्या का गुणात्मक पहलू (Qualitative Aspect)—जनसंख्या समस्या का दूसरा पहलू भी महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत जनता का स्वास्थ्य, जीवन स्तर, कार्यानुसार वितरण, साक्षरता, जीवन-आशा तथा लिंग भेद के अनुसार वर्गीकरण आदि आते हैं। विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या गुणात्मक दृष्टि से भी सबल है जबकि भारत जैसे अर्द्ध-विकसित राष्ट्र गुणात्मक दृष्टि से भी पिछड़े हैं।

(i) जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण—जनसंख्या के वितरण का पहलू महत्वपूर्ण है *क्योंकि इसमें देश के आर्थिक विकास की व्यवस्था का पता लगता है।* पिछड़े राष्ट्रों में जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग प्राथमिक उद्योगों में नियोजित होता है जबकि विकसित राष्ट्रों का जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग उद्योगों व सेवाओं में कार्यरत होता है। भारत की जनसंख्या का 70% कृषि में नियोजित है जबकि केवल 13% जनसंख्या ही उद्योगों में संलग्न है। इंग्लैंड और अमेरिका में केवल 20% जनसंख्या कृषि में व प्राथमिक उद्योगों में है जबकि 80% जनसंख्या उद्योगों में है।

(ii) साक्षरता (Literacy)—जनसंख्या जितनी अधिक साक्षर होगी उतनी ही उपयुक्त मानी जाती है पर भारत जैसे पिछड़े देशों में साक्षरता बहुत कम है। जापान में 90% जनसंख्या साक्षर है। इंग्लैंड, अमेरिका, रूस में भी साक्षरता 80% से भी अधिक है वहां भारत जैसे पिछड़े देशों में साक्षरता का प्रतिशत बहुत कम है। 1961 में भारत में साक्षरता का प्रतिशत 24 था वह बढ़कर 1971 में 29 5% हो गया। स्त्रियों में साक्षरता बहुत कम है। जहां पुरुषों में साक्षरता का प्रतिशत 39 5 है वहां स्त्रियों में साक्षरता का प्रतिशत 18·4 ही है। अत जनसंख्या [illegible]

(iii) आयु संरचना (Age Composition)—देश में आर्थिक विकास कार्यशील जनसंख्या पर निर्भर करता है और 15–59 आयु वर्ग के लोग कार्यशील जनसंख्या में आते हैं। जहां विकसित राष्ट्रों में 62% लोग 15–59 आयु वर्ग में आते हैं वहां पिछड़े राष्ट्रों में इस आयु वर्ग में 55% लोग हैं। भारत में औसत

आयु 52 वर्ष है अत इस दृष्टि से देखने पर भारत में केवल 45% लोग ही कार्यशील जनसंख्या में आते हैं। बच्चों व बूढ़ों की संख्या अधिक होने से देश की कार्यशील जनता पर भार बढ़ जाता है।

(iv) लिंग अनुपात—देश में जनसंख्या में पुरुष और महिलाएँ आती हैं अत इनमें उपयुक्त अनुपात आवश्यक है। भारत में प्रति 1000 पुरुषों के पीछे 932 स्त्रियां ही हैं।

(v) जनस्वास्थ्य एवं आयु—किसी भी देश की स्वस्थ, बुद्धिमान एवं विचारशील जनसंख्या उस देश के लिये अमूल्य सम्पत्ति है। विकसित राष्ट्रों की जनसंख्या इस दृष्टि से उपयुक्त है पर भारत जैसे देशों में जनसंख्या का स्वास्थ्य कमजोर, रुग्णता से युक्त तथा बल-बुद्धि की दृष्टि से भी कमजोर है। यही कारण है कि जहां विकसित राष्ट्रों में औसत आयु (Average Age) 65 से 70 वर्ष है वहां उसकी तुलना में 1951 में भारत में औसत आयु 32 वर्ष थी वह 1965 में बढ़कर 50 हो गई। अब औसत आयु 52 वर्ष होने का अनुमान है।

जनसंख्या समस्या
(Problem of Population)

मात्रात्मक दृष्टि से जनसंख्या समस्या के दो रूप हैं—(1) जनाधिक्य (Over Population) तथा (2) जनाभाव (Under Population)। इस वर्गीकरण के लिये प्रो. डाल्टन के अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु को आधार माना गया है। डाल्टन के अनुसार अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो प्रति व्यक्ति अधिकतम आय प्रदान करती है। इस सन्दर्भ में अगर देश की वास्तविक जनसंख्या अनुकूलतम आकार (Optimum Size) से अधिक है तो उसे जनाधिक्य की समस्या (Problem of Over Population) कहा जाता है और इसके विपरीत अगर देश की जनसंख्या आदर्श आकार से कम हो तो उसे जनाभाव की समस्या (Problem of Under Population) कहा जाता है।

आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक देश में जनसंख्या का अनुकूलतम आकार ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि जनसंख्या के इस स्तर पर प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है जबकि जनाधिक्य और जनाभाव दोनों ही अवस्थाओं को अनुपयुक्त माना जाता है। क्योंकि ये दोनों अनेक दुष्प्रभावों व खतरों को जन्म देते हैं।

(A) जनाधिक्य के दुष्प्रभाव एवं खतरे
(Demerits or Dangers of Over Population)

जनाधिक्य का अभिप्राय देश में अनुकूलतम जनसंख्या से अधिक जनसंख्या का होना है। यह स्थिति आर्थिक साधनों की तुलना में अधिक जनसंख्या की द्योतक है। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था पर भारी भार, आवासों का अभाव, व्यापक बेकारी, दरिद्रता तथा निम्न जीवन स्तर व आवास आदि समस्याओं का जन्म होता है। जनाधिक्य के निम्न दुष्प्रभाव व खतरे उल्लेखनीय हैं —

(1) अर्थव्यवस्था पर भारी भार बढ जाता है क्योंकि आर्थिक साधनो की तुलना मे जनसख्या की अधिकता उपलब्ध आर्थिक साधनों पर अधिक भार डालती है।

(2) आर्थिक विकास एव पूंजी निर्माण मे बाधा पडती है क्योकि जनाधिक्य के कारण श्रम की गिरती उत्पादकता बढ़ना उपभोग एव आय क निम्न स्तर से पूँजी निर्माण व बचतो की धीमी गति विकास को अवरुद्ध कर देती है।

(3) खाद्यान्न की समस्या उत्पन्न होती है जो न केवल भुखमरी व गिरते स्वास्थ्य का कारण बनती है वरन् विदेशी विनिमय पर भार तथा सामाजिक तनाव को बढ़ाती है।

(4) बेरोजगारी तथा अर्द्ध बेकारी की समस्या उग्र होती है। निरन्तर बढती श्रम शक्ति व देश म धीमी गति से विकास के कारण रोजगार क अवसरो की कमी अनेक आर्थिक एव सामाजिक समस्याओ को जन्म देती है।

(5) श्रम की उत्पादकता—जनाधिक्य के कारण श्रम प्रधान योजनाओं से श्रम की सीमान्त उत्पत्ति गिरती है और अन्तत श्रम की औसत उत्पादकता एव मजदूरी गिरती है।

(6) आर्थिक दरिद्रता एव निम्न जीवन स्तर—जनाधिक्य के कारण बेकारी भुखमरी निम्न आय और विकास मे बाधा से जनसाधारण की आय नगण्य होती है और दरिद्रता के साम्राज्य म जीवन-स्तर निरन्तर गिरता है।

(7) मुद्रा स्फीति एव आर्थिक असन्तुलन का बोलबाला—देश में जनसख्या के बढते भार से देश म उत्पादन का स्तर तो गिरता ही है जबकि वस्तुओ एव सेवाओं की बढती माँग के कारण माग एव पूर्ति म असन्तुलन बढ जाता है उससे मुद्रास्फीति का भय व उससे सम्बन्धित खतरे उत्पन्न होते हैं।

(8) आवास और जन सुविधाओं की समस्या जटिल होती जाती है। रोटी रोजी के साथ साथ मकान की आवश्यकता होती है। सरकार को आवश्यक स्वास्थ्य सवाओ के लिये व्यवस्था की समस्या आती है।

ये सब समस्याएँ भारतीय अर्थव्यवस्था म जनाधिक्य के कारण उत्पन्न हुई हैं।

(B) जनाभाव के दुष्प्रभाव एव खतरे
(Demerits or Dangers of Under Population)

जनाभाव (Under Population) का अर्थ देश मे जनसख्या अनुकूलतम से कम जनसख्या होना है अर्थात् देश मे आर्थिक साधनो की तुलना म जनसख्या का कम होना है परिणामस्वरूप उपलब्ध आर्थिक साधनों के विदोहन एव विकास म बाधा आती है। जनाभाव के दुष्प्रभाव एव खतरे सक्षेप में इस प्रकार हैं—

(1) प्राकृतिक साधनों के विदोहन में बाधा—जब देश मे जनाभाव होता है तो श्रम शक्ति की कमी विपुल प्राकृतिक साधनों के विदोहन में बाधा उत्पन्न करती है और देश का विकास हतोत्साहित होता है।

(2) श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण पर रोक लगती है क्योंकि जनभाव के कारण पर्याप्त मात्रा में श्रम उपलब्ध न होने से उनमें क्षमता के आधार पर श्रम-विभाजन नहीं हो पाता।

(3) उत्पादन का निम्न स्तर एवं बड़े पैमाने की उत्पत्ति का अभाव—जनाभाव के कारण जब प्राकृतिक साधनों का विदोहन नहीं हो पाता और उत्पादन का पैमाना भी छोटा होता है क्योंकि बाजार सीमित होता है अतः अर्थव्यवस्था में उत्पादन का स्तर भी नीचा रहता है और बड़े पैमाने की उत्पत्ति नहीं होती। अतः आन्तरिक एवं बाह्य बचतों का लाभ नहीं मिल पाता।

(4) आर्थिक विकास में बाधा—श्रम की कमी, बाजार की संकीर्णता और प्रभावपूर्ण मांग के अभाव से अर्थव्यवस्था का विकास द्रुत गति से नहीं हो पाता। कृषि व उद्योग पिछड़ी अवस्था में रह जाते हैं।

(5) आय रोजगार एवं उत्पादन पर बुरा प्रभाव—देश में जनाभाव के कारण उपभोग मांग ही कम नहीं होती वरन् विनियोग मांग भी कम होती है परिणामस्वरूप प्रभावपूर्ण मांग (Effective Demand) का स्तर नीचा होता है जिसका दुष्प्रभाव यह होता है कि देश में रोजगार आय तथा उत्पादन का स्तर भी घट जाता है।

(6) जनाभाव से देश की सुरक्षा दुर्बल रहती है—कोई भी राष्ट्र उसकी प्रभुसत्ता को कुचलने का दुस्साहस कर सकता है जबकि विशाल जनसंख्या देश की सुरक्षा शक्ति की प्रबल स्तम्भ होती है।

(7) आर्थिक विकास की धीमी गति-कार्यशील जनसंख्या की कमी से देश के विकास की गति धीमी हो जाती है। अर्थव्यवस्था में कृषि व उद्योगों का विकास पिछड़ जाता है।

स्पष्ट है कि जनसंख्या की समस्या चाहे जनाधिक्य की हो अथवा जनाभाव की, दोनों में कई सम्भावित खतरे हैं अतः जनसंख्या का आकार देश में उपलब्ध आर्थिक साधनों व उत्पादन तकनीक के परिप्रेक्ष्य में अनुकूलतम होना चाहिये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जनाभाव अथवा जनाधिक्य सापेक्षिक शब्द हैं जो परिवर्तनशील अनुकूलतम की धारणा से सम्बन्धित रहते हैं अतः एक समय की जनाधिक्य की अवस्था दूसरे समय में अनुकूलतम अथवा जनाभाव की अवस्था भी हो सकती है और इसी प्रकार जनाभाव भी जनाधिक्य में बदल सकता है। अतः समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार जनसंख्या समस्या का स्वरूप बदलता रहता है और अर्थशास्त्री समयानुकूल उपचार करने का सुझाव देते हैं।

क्या भारत में जनाधिक्य है ?

(Is India Over Populated)

भारत में अब लगभग 65.5 करोड़ जनसंख्या है तथा विश्व की दृष्टि से चीन के बाद भारत में ही सबसे अधिक जनसंख्या है। भारत में विश्व की कुल जनसंख्या का

लगभग 14% भाग है। यही नहीं देश मे जनसख्या 2 5% की दर से बढती जा रही है। इस बढती हुई जनसख्या को देखते हुये भारत म जनाधिक्य की स्थिति कही जाती है। इस सम्बन्ध मे दो मत हैं —

1 प्रथम मत के मानने वाले कहते हैं कि भारत में जनाधिक्य नहीं है और वे ये तर्क प्रस्तुत करते हैं—(i) भारत मे प्राकृतिक साधनों की विपुलता है अगर इन साधनो का पूरा विदोहन कर लिया जाय तो इससे भी अधिक जनसख्या का भार उठाया जा सकता है। (ii) प्रति व्यक्ति आय म वृद्धि हो रही है जहा 1950-51 म प्रति व्यक्ति आय 268 रु थी वह अब बढकर 1978-79 के मूल्यो पर 1078 रु हो गई है। अत प्रति व्यक्ति आय जनाभाव का द्योतक है। (iii) जनसख्या का घनत्व अपेक्षाकृत बहुत कम है। (iv) हमारी जनसख्या की वृद्धि की दर कुछ विकसित राष्ट्रो के मुकाबले कम है जहा जर्मनी मे जनसख्या-वृद्धि की दर 2 7% है वहा भारत मे केवल 2 5% है। (v) प्रत्येक बच्चा अपने साथ एक मुह किन्तु दो हाथ लेकर आता है, वह उपभोक्ता के साथ उत्पादक भी है अत. डरने की आवश्यकता नहीं। (vi) जनसख्या का समुचित उपयोग कर विकास करने के लिये जनसख्या आवश्यक है।

2 दूसरे मत के अनुसार भारत मे जनाधिक्य है। वे इसके लिये अनेक वजनी तर्क प्रस्तुत करते हैं—(i) कृषि पर जनसख्या का भार निरन्तर बढ रहा है। (ii) देश म खाद्यान्न की समस्या शुरू से ही रही है अब भी न्यूनाधिक रूप से विद्यमान है। (iii) बड़े पैमाने पर बेरोजगारी की समस्या व्याप्त है। (iv) लोगो का जीवन स्तर नीचा है और प्रति व्यक्ति आय कम है, अत निर्धनता का साम्राज्य है। (v) प्राकृतिक प्रकोपो की प्रधानता रहती है। इस प्रकार माल्थस का जनसख्या का सिद्धान्त क्रियाशील हो रहा है। (vi) सरकार के जनसख्या नियन्त्रण के उपाय भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि देश म जनाधिक्य है।

उपर्युक्त तर्कों के बाद तथ्यो को नजर अन्दाज कर कल्पना लोक म विचरण करने से कोई लाभ नही। भारत म जनाधिक्य के कारण देश का आर्थिक विकास अवरुद्ध सा हो गया है। जनाधिक्य के कारण खाद्यान्न एव बेकारी की समस्या का जन्म हुआ है अत जनसख्या की समस्या के समाधान के प्रयास किये जाने आवश्यक हैं।

जनसख्या समस्या के कारण
(Causes of Population Problem)

जनसख्या की समस्या के अनेक कारण हैं जिनमे से कुछ इस प्रकार हैं —

(1) ऊँची जन्म दर—भारत जैसे अल्पविकसित राष्ट्रो म जनाधिक्य समस्या का प्रमुख कारण ऊँची जन्म दर (High Birth Rate) है। जहा अमेरिका म जन्म-दर 25, इग्लैंड मे 18 है वहा भारत की जन्म दर 35 प्रति हजार है। ऊँची जन्म दर होने के कारण हैं—जैसे गर्म जलवायु, निर्धनता, नीचा जीवन स्तर, मनोरजन के साधनों का अभाव, परिवार नियोजन उपकरणों का अभाव, कम उम्र म विवाह, विवाह की अनिवार्यता आदि।

(2) स्त्रियों की आर्थिक परतन्त्रता भी भारत में जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि का महत्वपूर्ण कारण है क्योंकि स्त्रियां चार-दीवारी में सन्तानोत्पत्ति का एक उपकरण मानी जाती रही हैं।

(3) औद्योगीकरण का अभाव भी भारत में जनसंख्या समस्या का कारण बना है। अगर देश में औद्योगीकरण हो जाता तो बेकारी की समस्या का निराकरण सम्भव हो जाता।

(4) शिक्षा का अभाव—भारत में शिक्षा का प्रसार कम होने से लोगों में दूरदर्शिता का अभाव रहा है तथा उन्होंने अज्ञानता में विवेकहीन ढंग से सन्तानोत्पत्ति में वृद्धि की है।

(5) परिवार नियोजन का अभाव भी भारत में जनसंख्या का एक प्रमुख कारण है। परिवार नियोजन विधियों से अपरिचितता या उन्हें न अपनाने की भूल ने विवेकहीन मातृत्व को बढ़ावा दिया है।

(6) मृत्यु-दर में तीव्र गति से कमी—भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं में सुधार होने से मृत्यु-दर 40 से घटकर केवल 15 रह गई है जबकि जन्म-दर 33–35 पर स्थिर रही है। परिणामस्वरूप प्रति-जीवन दर (Survival Rate) में आश्चर्यजनक वृद्धि ने जनसंख्या समस्या को जटिल बना दिया है।

(7) शरणार्थियों का आगमन—भारत में भारत-पाक विभाजन एवं बंगला देश के युद्ध के समय बड़ी मात्रा में शरणार्थियों का भारत आगमन हुआ उसके बाद विदेशों में भारतीयों को वहां की सरकार या लोगों का कोप-भाजन बनना पड़ रहा है। पिछले 20–25 वर्षों में लगभग 2·5 करोड़ शरणार्थी भारत आये हैं इससे जनसंख्या समस्या उलझ गई है।

जनसंख्या समस्या के समाधान के उपाय
(Measures to Fight the Problem of Population)

जनसंख्या समस्या का समाधान करने के लिए उसका युद्ध-स्तर पर मुकाबला करने की आवश्यकता है। जिस प्रकार युद्ध में शत्रु पर विजयश्री के लिए युद्ध की व्यूह रचना ऐसी की जाती है कि शत्रु को सब तरफ से कमजोर कर दिया जाता है ठीक उसी प्रकार से जनसंख्या समस्या के समाधान के लिए सभी प्रकार के उपायों का सहारा एक साथ लिया जाय जिसमें प्रमुख इस प्रकार हैं—

1. देश में जनसंख्या का समुचित वितरण किया जाना चाहिये जिससे न केवल लोगों का क्षेत्र विशेष में घनत्व कम होगा वरन् पिछड़े क्षेत्रों का विकास सम्भव होगा और क्षेत्रीय विषमता कम करने में सहायता मिलेगी। इसके लिए आवश्यक है कि उन पिछड़े क्षेत्रों में आर्थिक परियोजनाओं से उपयुक्त अन्त:संरचना (Infrastructure) तैयार किया जाय।

2 कम आयु के विवाहों पर रोक लगानी चाहिए । यद्यपि भारत मे शारदा अधिनियम के अन्तर्गत बाल विवाहो पर रोक है पर यह अधिनियम प्रभावी रूप से लागू नही हुआ है युवको की 21 वर्ष के पहले तथा लडकियो की 20 वर्ष से पहले शादी पर पूर्ण रोक लगा देना उपयुक्त होगा । भारत की नई जनसख्या नीति मे विवाह की न्यूनतम आयु लडको के लिए 21 तथा लडकियो के लिए 18 वर्ष की गई है ।

3. शिक्षा का प्रसार—शिक्षा का प्रसार तेजी से किया जाना चाहिए। अब तक के प्रयास अपर्याप्त हैं क्योंकि अब भी देश की 70% जनसख्या निरक्षर है । प्राथमिक स्तर तक शिक्षा अनिवार्य की जानी चाहिए ।

4 स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता भी जनसख्या-समस्या के सम धान म प्रभावी सिद्ध होगी । यह स्त्रियो मे शिक्षा-प्रसार तथा उनको आर्थिक क्षेत्रो मे रोजगार उपलब्ध करने की व्यवस्था पर निर्भर करेगा । धीरे-धीरे स्त्रियो म भी जागृति आ रही है । यह शुभ सकेत है ।

5. तीव्र गति से औद्योगीकरण—जनसख्या-समस्या के समाधान के लिए देश मे औद्योगीकरण की गति तेज की जानी चाहिए इससे उत्पादन बढेगा और रोजगार-अवसरो की वृद्धि से बेकारी की समस्या का निराकरण करने मे सहायता मिलेगी ।

6. कृषि क्षेत्र का विस्तार एव कृषि विकास—भारत के कृषि प्रधान देश होने के कारण जनसख्या का भार निरन्तर कृषि पर बढ रहा है ऐसी अवस्था म अधिक जनस या को खपाने के लिए सिचाई-साधना का विकास करना चाहिये, नये क्षेत्रो पर खेती का विस्तार करना चाहिये । इसके अतिरिक्त गहन कृषि व वैज्ञानिक कृषि से भी जनसख्या-समस्या का हल करन म मदद मिलेगी । खाने के लिए पर्याप्त खाद्यान्न भी उपलब्ध हो सकेंगे ।

7. जनसख्या नियन्त्रण एव परिवार नियोजन—जनसख्या समस्या के समाधान का एक महत्वपूर्ण एव प्रभावी उपाय परिवार नियोजन (Family Planning) को बढावा दना है । परिवार नियोजन का अभिप्राय विवेकहीन मातृत्व पर नियन्त्रण रखना है । अगर देश मे जन्म-दर को कम करना है तो सन्तानोत्पत्ति पर प्रभावी नियन्त्रण लागू किये जायें ।

परिवार नियोजन का अर्थ स्वेच्छापूर्वक अपने परिवार को सीमित करना है । दूसरे शब्दो मे **"परिवार नियोजन का आशय है कि इच्छा से सोच समझ कर सन्तान हो, अदूरदर्शिता या चूक से नहीं"** (Children by choice not by chance, by design and not by accident is the motto of family planning) । परिवार नियोजन के विभिन्न साधन हैं जिनम कण्डोम, गर्भ निरोधक गोलिया, भागवाली गोलिया आदि हैं । इसके अतिरिक्त लूप लगवाना, नसबन्दी करवाना अथवा स्त्रियो का आपरेशन करवाना भी परिवार नियोजन की विधियों मे

सम्मिलित होते हैं। भारत में नई जनसंख्या नीति में ऐच्छिक नसबन्दी की व्यवस्था है।

■ गर्भपात को कानूनी मान्यता देना भी जनसंख्या समस्या को दूर करने में सहायक है पर जिन देशों में पर्याप्त चिकित्सा सुविधायें हों उन्हीं देशों में यह विधि उपयुक्त रहती है। भारत जैसे देश में गर्भपात को कानूनी मान्यता देने से भयंकर दुष्परिणामों की सम्भावना है।

■ जनसंख्या के प्रवास से भी समस्या के समाधान में सहायता मिलती है, पर आज विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों में कट्टर राष्ट्रीयता पनप रही है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जनसंख्या का प्रवास कार्यक्रम पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। इसकी अधिक सम्भावनाएँ नहीं हैं।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. श्रम की पूर्ति और जनसंख्या के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये।

संकेत—श्रम की पूर्ति का अर्थ समझाइये, फिर यह बताइये कि जनसंख्या और श्रम पूर्ति में क्या सम्बन्ध है।

2. श्रम की पूर्ति किन-किन तत्वों पर निर्भर करती है? जनसंख्या वृद्धि या कमी का श्रम की पूर्ति से क्या सम्बन्ध है?

संकेत—पहले श्रम की पूर्ति का अर्थ, फिर निर्धारक घटक—जनसंख्या, काम के घंटे, श्रम की कार्यकुशलता तथा मजदूरी दर, फिर जनसंख्या और श्रम शक्ति में सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये।

3. जनसंख्या समस्या से आपका क्या अभिप्राय है? भारत के सन्दर्भ में समझाइये।

संकेत—जनसंख्या समस्या के दो पहलू—गुणात्मक तथा मात्रात्मक को भारत के सन्दर्भ में समझाइये।

4. भारत में जनसंख्या समस्या के कारण बताइये तथा समस्या के समाधान के उपायों का उल्लेख कीजिये।

संकेत—अध्याय में शीर्षकानुसार विवरण दीजिये।

5. श्रम की पूर्ति का अर्थ समझाइये। इसको प्रभावित करने वाले तत्वों का विवेचन कीजिये। (Raj I yr T. D C. Non-collegiate, 1976)

संकेत—प्रथम भाग में श्रम की पूर्ति का अर्थ समझाना है तथा दूसरे भाग में उसको निर्धारित करने वाले तत्वों को पुस्तक में दिये शीर्षकानुसार बताना है।

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त
(Malthusian Theory of Population)

इंगलैण्ड के माल्थस (Malthus) नामक धार्मिक पादरी ने यूरोप में जनसंख्या की दुर्दशा का अध्ययन कर 1798 में अपनी सुविख्यात कृति (An Essay on the Principles of Population) में अपने जनसंख्या सम्बन्धी विचार प्रस्तुत कर आर्थिक जगत में एक तहलका मचा दिया। माल्थस ने बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रति अत्यन्त ही निराशाजनक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसकी मुख्य विशेषताएं इस प्रकार थी—

माल्थस के सिद्धान्त की विशेषताएं

(1) माल्थस ने जनसंख्या का सम्बन्ध खाद्यान्न से किया और बताया कि जनसंख्या में खाद्यान्न की अपेक्षा बहुत ही तीव्र गति से वृद्धि होती है।

(2) उसके अनुसार जहां जनसंख्या में ज्योमितिक दर (Geometrical Progression) में वृद्धि होती है जैसे 1, 2, 4, 8, 16, 32 आदि वहां खाद्यान्न में अंकगणितीय दर (Arithmetical Progression) से वृद्धि होती है जैसे 1, 2, 3, 4, 5, 6 आदि।

(3) अगर जनसंख्या की वृद्धि पर किसी भी प्रकार की कोई रुकावट न हो तो किसी भी देश में प्रत्येक 25 वर्ष में जनसंख्या दुगुनी होने की प्रवृत्ति होती है।

(4) जनसंख्या में जीवन निर्वाह के साधनों की अपेक्षा तीव्र गति से वृद्धि के कारण खाद्यान्न सामग्री तथा जनसंख्या में असन्तुलन हो जाता है।

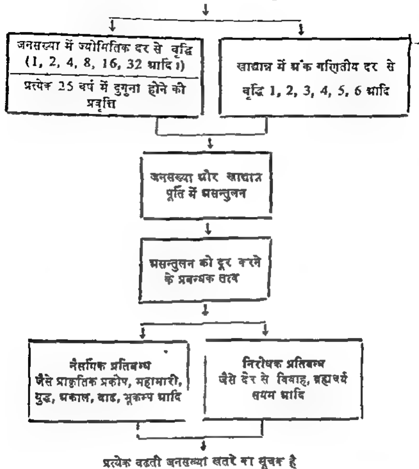
(5) इस असन्तुलन को समाप्त करने के लिए अर्थशास्त्र में दो प्रकार के प्रतिबन्ध तत्व (i) नैसर्गिक प्रतिबन्ध (Positive or Natural Checks) तथा (ii) निरोधक प्रतिबन्ध (Preventive Checks) क्रियाशील होते हैं।

(6) नैसर्गिक प्रतिबन्धों के अन्तर्गत महामारी, प्राकृतिक प्रकोप, भूकम्प, अकाल एवं युद्ध आदि तत्व जनसंख्या में कमी करते हैं। इनसे बचने के लिये धार्मिक पादरी के रूप में उसने लोगों को निरोधक प्रतिबन्ध (Preventive Checks) के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य, संयम, देर से विवाह आदि की सलाह दी।

(7) माल्थस की धारणा थी कि यदि मानव निरोधक प्रतिबन्ध तरीकों को नहीं अपनायेंगे तो प्राकृतिक प्रतिबन्ध स्वयं जनसंख्या को सतुलित कर देंगे।

इस प्रकार माल्थस ने जनसंख्या वृद्धि को खतरनाक बताकर एक निराशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। यहां यह उल्लेखनीय है कि माल्थस ने संतति निग्रह (Birth Control) के कृत्रिम साधनों के बारे में नहीं बताया था। उनका अभिप्राय केवल नैतिक संयम (Moral Restraints) से ही था। कृत्रिम साधनों पर तो नव माल्थसवादियों (New Malthusians) ने जोर दिया है।

माल्थस के सम्पूर्ण सिद्धान्त को संक्षेप में चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है।



माल्थस के सिद्धान्त की आलोचना

(Criticisms of Malthusian Theory of Population)

माल्थस के इन विचारों की कटु आलोचना हुई क्योंकि माल्थस ने अपने सिद्धान्त में न केवल निराशावादी दृष्टिकोण अपनाया वरन् अवास्तविक मान्यताओं पर अपने निष्कर्ष आधारित किये। इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार हैं—

(1) माल्थस ने जनसंख्या का सम्बन्ध केवल खाद्यान्न से किया यह ठीक नहीं है। जनसंख्या का सम्बन्ध देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से किया जाना चाहिए। सैलिगमेन ने ठीक ही कहा है "जनसंख्या की समस्या केवल मात्रा की ही समस्या नहीं वरन् कुशल उत्पादन एवं समान वितरण की समस्या भी है।" अतः अगर देश की जनसंख्या में वृद्धि से कुल उत्पादन बढ़ता हो तथा उसका उचित वितरण होता रहे तो जनसंख्या में वृद्धि भय का कारण नहीं है।

(2) जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ श्रम शक्ति बढ़ती है जो अधिक उत्पादन करने में सहायक हो सकती है। प्रो. केनन के अनुसार "नवागन्तुक बच्चा केवल मुँह लेकर ही नहीं आता वरन् काम करने के लिये दो हाथ भी साथ लेकर आता है।"

(3) सिद्धान्त का गणितात्मक रूप अनुचित है। इतिहास में कहीं भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें 25 वर्ष में जनसंख्या दुगुनी हुई हो।

(4) वैज्ञानिक आविष्कारों का वह ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सका। इसी कारण खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि के बारे में माल्थस ने एक स्थैतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। आज वैज्ञानिक आविष्कारों व मशीनों के प्रयोग से कृषि उत्पादन में कहीं अधिक तेजी से वृद्धि हो रही है।

(5) जीवन स्तर के प्रभाव की उपेक्षा—माल्थस यह अनुमान नहीं लगा सका कि जीवन स्तर में सुधार एवं सभ्यता के विकास के साथ-साथ लोगों की सन्तानोत्पत्ति की इच्छा कम होती जाती है क्योंकि वे अपने जीवन स्तर को उच्च स्तर पर बनाए रखने का प्रयास करते हैं।

(6) माल्थस ने सम्भोग और सन्तोत्पत्ति में कोई अन्तर नहीं समझा, जबकि सम्भोग एक प्राकृतिक इच्छा है और सन्तानोत्पत्ति एक सामाजिक इच्छा है। यह सम्भव है कि सम्भोग की इच्छा होते हुए भी व्यक्ति को सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न हो।

(7) माल्थस ने प्राणीशास्त्र के सिद्धान्त की अवहेलना की। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ व्यक्ति की प्रजनन शक्ति स्वतः घटती है अतः जनसंख्या में तीव्र वृद्धि का भय निराधार है।

(8) नैसर्गिक प्रतिबन्धों का लागू होना हमेशा जनाधिक्य का सूचक नहीं है। कभी-कभी जनाभाव होने पर भी नैसर्गिक प्रतिबन्ध क्रियाशील हो सकते हैं अथवा जनाधिक्य होने पर भी ये प्राकृतिक विपत्तियां उत्पन्न न हों।

(9) माल्थस का सिद्धान्त निराशावादी है—यह जनसंख्या में प्रत्येक वृद्धि को हानिप्रद एवं खतरे का सूचक मानता है जबकि उन देशों में जनसंख्या में वृद्धि वरदान सिद्ध होती है जहां प्राकृतिक साधनों के विदोहन के लिए जनसंख्या आवश्यक हो।

(10) सिद्धान्त असत्य सिद्ध हुआ है क्योंकि आज कई देशों में जनसंख्या के घटने की समस्या है।

इन सब आलोचनाओं के बावजूद भी हम कह सकते हैं कि माल्थस के सिद्धान्त में आंशिक सत्यता है। पिछड़े एवं अविकसित राष्ट्रों में यह सिद्धान्त अब

भी क्रियाशील होता है। पिछड़े राष्ट्रों में खाद्यान्न और जनसंख्या में असमान दर से वृद्धि हो रही है। जनसंख्या में तीव्र गति से बढ़ने की प्रवृत्ति है, जबकि कृषि उत्पादन (खाद्यान्न) की गति धीमी होने से असन्तुलन है। प्राकृतिक प्रकोपों की प्रधानता रहती है। फिर भी इस सिद्धान्त की अनेक कमियों व निराशाजनक विचारधारा के कारण आगे चलकर विद्वानों ने जनसंख्या के सम्बन्ध में आशावादी विचार प्रस्तुत किये।

आधुनिक युग में माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का औचित्य एवं सत्यता

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त आधुनिक युग में भी न्यूनाधिक रूप में लागू होता है यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति, तकनीकी विकास और कृषि में उन्नत तरीकों के प्रयोग से प्रारम्भ में माल्थस की भविष्यवाणी पाश्चात्य विकसित राष्ट्रों में भ्रमात्मक एवं मिथ्या सिद्ध हुई। वहाँ जनसंख्या में वृद्धि के बावजूद उत्पादन में वृद्धि हुई एवं आर्थिक समृद्धि बढ़ी, खाद्यान्न के उत्पादन में जनसंख्या की तुलना में कहीं अधिक वृद्धि हुई, किन्तु अब विकसित राष्ट्रों में भी जनाधिक्य के कारण प्राकृतिक साधनों में होने वाली कमी, वायु-दूषण, साधनों पर जनसंख्या का बढ़ता भार और शहरों में जनसंख्या घनत्व से बढ़ती समस्याओं ने माल्थस के सिद्धान्त के औचित्य पर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। पाश्चात्य विद्वानों जैसे फोरेस्टर ने अपनी पुस्तक "World Dynamics" तथा डेनिस मिडोज आदि की पुस्तक "The Limits of Growth" में जनाधिक्य के खतरों से आगाह किया है। अतः विकसित राष्ट्रों में भी जनाधिक्य को रोकने की प्रवृत्ति प्रबल है।

जहाँ तक अर्द्ध-विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों का सम्बन्ध है उनमें माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त अब भी न्यूनाधिक रूप में लागू होता है। भारत में जनसंख्या समस्या के कारण खाद्यान्न का अभाव, अकाल, भुखमरी, प्राकृतिक प्रकोप—बाढ़, महामारियाँ, दंगे, बेकारी आदि हैं। पिछले 25 वर्षों में जनसंख्या दुगुनी नहीं फिर भी लगभग $1\frac{3}{4}$ गुनी तो बढ़ ही गई है। जहाँ 1951 में जनसंख्या 36·5 करोड़ थी वह बढ़कर 1980 में 66 करोड़ होने का अनुमान है। सरकार इस समस्या के समाधान में परिवार नियोजन के व्यापक अभियान पर प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये खर्च कर रही है। भारत के अतिरिक्त बंगलादेश, पाकिस्तान, लंका, इण्डोनेशिया, चीन आदि विकासशील देशों में माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त अब भी क्रियाशील है। खाद्यान्न और जनसंख्या में असन्तुलन है। वैज्ञानिक तरीकों से कृषि व कृषि विकास के बावजूद भी जनाधिक्य की समस्याएँ जटिल हैं। इन देशों में जनसंख्या वृद्धि की दर 2·5% से 3·5% वार्षिक है। जन-स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार के कारण से मृत्यु दरों में कमी आई, इससे जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई है क्योंकि अति जीवन दर (Survival Rate) बढ़ गई है।

सत्यता—स्पष्ट है कि आधुनिक युग में भी माल्थस के सिद्धान्त में सत्यता के अंश की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि विकासशील राष्ट्रों में वैज्ञानिक एवं आर्थिक प्रगति से माल्थस के सिद्धान्त का भय कम है किन्तु अर्द्ध विकसित एवं विकासशील देशों में उसका निराशाजनक भय अब भी व्याप्त है और आर्थिक एवं प्राकृतिक संकटों से जनता ग्रसित है। इसी कारण प्रो० सेम्यूलसन (Samuelson) ने लिखा है, "माल्थस का सिद्धान्त आज भी एक जीवित प्रभाव है। उसके विचार प्रत्यक्ष रूप में उत्पत्ति ह्रास नियम पर निर्भर करते हैं और उनमें आज भी सत्यता है।" अब भी अनेक विद्वान इस सिद्धान्त की सत्यता के समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं।

(1) तीव्र जनसंख्या वृद्धि—अगर जनसंख्या वृद्धि पर कोई रुकावट एवं प्रतिबन्ध न हो तो जनसंख्या बहुत ही तीव्र गति से बढ़ती है चाहे उतनी माल्थस के ज्योमितिक दर से वृद्धि भले ही न हो।

(2) खाद्यान्न का अभाव—अर्द्ध-विकसित एवं पिछड़े देशों में अब भी जनसंख्या और खाद्यान्न उत्पादन में असन्तुलन है और खाद्यान्न का अभाव व्याप्त है।

(3) प्राकृतिक प्रकोप—जनाधिक्य वाले देशों में अब भी नैसर्गिक प्रतिबन्ध प्राकृतिक प्रकोप, अकाल, युद्ध, महामारियाँ, भूचाल, बाढ़ आदि से अनेक व्यक्ति अकाल मृत्यु के ग्रास होते हैं।

(4) जनसंख्या नियन्त्रणों में निरोधक तत्वों का व्यापक प्रयोग है। पाश्चात्य देशों में देर से शादी करने की नीति तथा उच्च जीवन स्तर के लिये परिवार को सीमित करने की प्रवृत्ति आज भी विद्यमान है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्र तो परिवार नियोजन कार्यक्रमों, गर्भपात को कानूनी मान्यता, देर से विवाह आदि कार्यक्रमों में तत्परता दिखा रहे हैं।

प्रो० सेम्यूलसन के शब्दों में भारत, चीन व संसार के अन्य भागों में जहाँ जनसंख्या और खाद्यान्न पूर्ति में सन्तुलन की समस्या है, जनसंख्या के व्यवहार को समझने के लिये माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के तत्व आज भी महत्वपूर्ण हैं।

अनुकूलतम जनसंख्या की धारणा अथवा सिद्धान्त
(The Concept or Theory of Optimum Population)

माल्थस ने अपने जनसंख्या सिद्धान्त में जनसंख्या का सम्बन्ध केवल खाद्यान्न से स्थापित किया तथा जनसंख्या में प्रत्येक वृद्धि को खतरे का सूचक माना। परन्तु वास्तव में जनसंख्या की समस्या केवल संख्या (मात्रा) या आकार (Size) की समस्या नहीं है वरन् कुशल उत्पादन एवं न्यायसंगत वितरण की समस्या भी है। दूसरे शब्दों में जनसंख्या समस्या को केवल खाद्यान्न की पूर्ति के परिप्रेक्ष्य में ही न देखकर देश की कुल उत्पादन क्षमता एवं वितरण की व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य से देखना चाहिये। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए डाल्टन, रोबिन्स आदि अर्थशास्त्रियों

ने अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त (Optimum Theory of Population) का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि ज्ञान तथा परिस्थितियों के समान रहने पर आर्थिक दृष्टि से सर्वोत्तम जनसंख्या का आकार वह होना चाहिये जिसमें प्रति व्यक्ति आय अधिकतम हो जाये।

अनुकूलतम जनसंख्या का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Optimum Population)

एक समय विशेष में अनुकूलतम जनसंख्या का अभिप्राय मोटे रूप में जनसंख्या की उस मात्रा से है जो आर्थिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त कही जा सकती है। इसको अनेक अर्थशास्त्रियों ने अलग-अलग प्रकार से परिभाषित किया है। प्रो० डाल्टन (Dalton) के अनुसार 'अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो प्रति व्यक्ति अधिकतम आय प्रदान करती है।" (Optimum Population is that which gives the maximum Income per head.) इसी प्रकार प्रो. हिक्स (Hicks) के शब्दों में "अनुकूलतम जनसंख्या, जनसंख्या का वह स्तर है जिस पर प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिकतम होता है।"

रोबिन्स (Robbins) के अनुसार "वह जनसंख्या जो अधिकतम उत्पादन सम्भव बनाती है अनुकूलतम जनसंख्या या सबसे अच्छी जनसंख्या है।" (The Population which just makes the maximum return possible is the optimum or the best possible population.) प्रो एरिक रोल (Erich Roll) ने भी उत्पादन का आधार मानकर रोबिन्स के मत की पुष्टि की है। उसके अनुसार "अनुकूलतम जनसंख्या किसी देश की वह जनसंख्या है जो अन्य साधनों की दी हुई मात्रा के सहयोग से अधिकतम उत्पादन कर सके।" कारसाडर्स तथा कैनन आदि ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

प्रो० बोल्डिंग (Boulding) के मतानुसार "वह जनसंख्या जिस पर जीवन स्तर उच्चतम होता है, अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है।"

इन सब परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि "अनुकूलतम जनसंख्या" का सम्बन्ध किसी समय विशेष से होता है। आर्थिक दृष्टि से यह आकार सर्वाधिक उपयुक्त है क्योंकि प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है। इस बिन्दु से जनसंख्या कम होने पर या जनसंख्या अधिक होने पर दोनों ही परिस्थितियों में प्रति व्यक्ति आय घटती है। जनसंख्या का यह आकार वर्तमान परिस्थितियों में देश के साधनों के समुचित शोषण के लिए उपयुक्त है।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या (Explanation of the Optimum Theory of Population)—उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अनुकूलतम जनसंख्या किसी देश में एक समय विशेष में जनसंख्या के उस आकार को व्यक्त करती है जिससे देश के साधनों का समुचित शोषण सम्भव होने से प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होती है। प्रो० कैनन के अनुसार "यह एक ऐसा बिन्दु है

जहां पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त होता है तथा इस स्थिति में श्रम की मात्रा ऐसी होती है कि उसमें वृद्धि या कमी दोनों ही उत्पत्ति में कमी लाती हैं।" इस सिद्धान्त के अनुसार किसी समय विशेष में किसी देश में जनसंख्या की तीन में से कोई एक स्थिति हो सकती है—

1. जनाभाव (Under-population)
2. अनुकूलतम जनसंख्या (Optimum population)
3. जनाधिक्य (Over-population)

1. जनाभाव (Under-population)—यदि देश में जनसंख्या सर्वोत्तम जनसंख्या से कम है तो इस स्थिति को जनाभाव (Under-population) अथवा कम जनसंख्या की स्थिति कहते हैं। जनाभाव की स्थिति में आर्थिक साधनों की तुलना में श्रम की शक्ति कम होती है। उससे न तो देश के आर्थिक साधनों का समुचित शोषण होता है और न देश में श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण का पर्याप्त अवसर मिलता है जिससे देश में उत्पत्ति कम होती है और प्रतिव्यक्ति आय घटती है। अतः जनाभाव की स्थिति में जनसंख्या में सर्वोत्तम बिन्दु (Optimum point) तक वृद्धि करना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक एवं वांछनीय है। अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त माल्थस की इस धारणा का खण्डन करता है कि देश में जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि खतरे का सूचक होती है। जनाभाव की स्थिति में जनसंख्या में वृद्धि श्रम-शक्ति में वृद्धि करेगी और देश के साधनों का समुचित शोषण होने से देश में उत्पादन एवं प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी जैसा चित्र 1 में S बिन्दु से पहले जनाभाव की स्थिति है।

2. अनुकूलतम जनसंख्या (Optimum Population) देश में जनसंख्या के आकार की उस स्थिति को बताती है जो देश के साधनों के समुचित शोषण के लिये आर्थिक दृष्टि से सर्वोत्तम है। इस स्थिति में उत्पादन और प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होते हैं। इस बिन्दु पर श्रम की मात्रा ऐसी होती है कि उसमें वृद्धि या कमी दोनों ही उत्पादन में कमी लाती हैं अर्थात् यह अधिकतम प्रतिव्यक्ति आय का बिन्दु है जैसे चित्र–1 में S बिन्दु पर सर्वोत्तम जनसंख्या है। इस बिन्दु से जनसंख्या कम होने अथवा इस बिन्दु से अधिक होने पर प्रतिव्यक्ति आय में कमी होती है। जनसंख्या का इस बिन्दु से विचलन अवांछनीय एवं अलाभदायक है।

3. जनाधिक्य (Over-population)—यदि देश में जनसंख्या सर्वोत्तम या अनुकूलतम जनसंख्या से अधिक है तो उसे जनाधिक्य (Over-population) की स्थिति कहते हैं। जनाधिक्य की स्थिति में देश में श्रमिकों की संख्या देश के आर्थिक साधनों की तुलना में अधिक होती है इससे साधनों पर अत्यधिक भार बढ़ जाता है। उत्पादन में उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होगा। उत्पादन कम होगा और प्रतिव्यक्ति आय कम होगी। ऐसी स्थिति में जनसंख्या में कमी वांछनीय है और वृद्धि वास्तव में खतरनाक हो सकती है। जैसा चित्र 1 में बिन्दु S से आगे जनसंख्या जनाधिक्य की सूचक है।

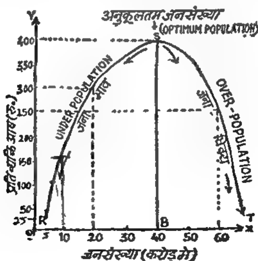
इस प्रकार जनाधिक्य और जनाभाव दोनों ही स्थितियों मे प्रतिव्यक्ति आय घटती है। अनुकूलतम जनसख्या पर यह अधिकतम होती है। जैसा आगे तालिका 1 मे दर्शाया गया है—

तालिका–1

जनसख्या (करोडो मे)	प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय (रु० मे)
10	150 ⎫
20	300 ⎬ → जनाभाव
30	375 ⎭
40	400 → अनुकूलतम जनसख्या
50	380 ⎫
60	250 ⎬ → जनाधिक्य
70	100 ⎭

तालिका से स्पष्ट है कि 40 करोड अनुकूलतम जनसख्या है क्योंकि इस जनसख्या पर प्रतिव्यक्ति आय अधिकतम 400 रु० है। इस बिन्दु से पूर्व जनाभाव है और इसके बाद जनाधिक्य की स्थिति है। दोनों मे प्रतिव्यक्ति आय घटती है।

अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त का चित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation)—अनुकूलतम जनसख्या, जनाभाव एव जनाधिक्य को चित्र द्वारा स्पष्ट करने मे और सरलता है। चित्र–1 मे OY–अक्ष पर प्रतिव्यक्ति आय तथा OX–अक्ष पर जनसख्या करोड मे बताई गई है।



चित्र–1

उपर्युक्त चित्र में RST जनसंख्या वक्र है इस वक्र के S बिन्दु पर अनुकूलतम जनसंख्या 40 करोड़ है क्योंकि इस जनसंख्या पर ही प्रतिव्यक्ति आय अधिकतम 400 रु. है। अगर जनसंख्या 40 करोड़ से कम है तो यह जनाभाव (Under-population) की स्थिति है क्योंकि प्रतिव्यक्ति आय घटती है जैसे 20 करोड़ जनसंख्या पर प्रति व्यक्ति आय केवल 300 रु. ही है अतः जनसंख्या में वृद्धि वाछनीय है। ठीक इसी प्रकार अगर जनसंख्या 40 करोड़ से अधिक है तो भी प्रतिव्यक्ति आय S से T बिन्दु तक गिरती जाती है अतः यह जनाधिक्य (Over population) की स्थिति है क्योंकि प्रतिव्यक्ति आय गिरना प्रारम्भ हो जाती है जैसे जनसंख्या 60 करोड़ होने पर प्रतिव्यक्ति आय घटकर 250 रु ही रह जाती है। अतः ऐसी अवस्था में 40 करोड़ के बाद जनसंख्या में वृद्धि उचित नहीं है।

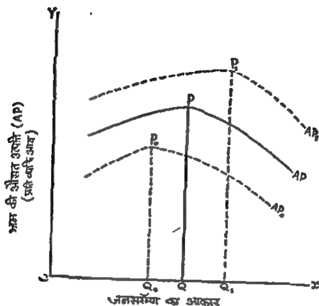
जनसंख्या के असन्तुलन अथवा समायोजन के अभाव को मापने का डाल्टन (Dalton) का सूत्र—डाल्टन ने जनसंख्या में असन्तुलन का अंश (Degree of Maladjustment) को नापने के लिये निम्न सूत्र दिया है—

$$M = \frac{A - O}{O}$$

जिसमें M = जनसंख्या में असन्तुलन का अंश
A = वास्तविक जनसंख्या
O = अनुकूलतम जनसंख्या

अगर M शून्य (Zero) हो तो देश में जनसंख्या अनुकूलतम या सर्वोत्तम (Optimum population) है। पर अगर M ऋणात्मक (Negative) है तो जनसंख्या सर्वोत्तम से कम अर्थात् जनाभाव (Under population) की स्थिति है और इसके विपरीत यदि M धनात्मक (Positive) है तो देश में जनसंख्या अनुकूलतम जनसंख्या से अधिक अर्थात् जनाधिक्य (Over-population) की स्थिति है।

क्या अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु स्थिर होता है? उत्तर स्पष्ट है, "नहीं" अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु कभी स्थिर नहीं रहता। यह देश की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ बदलता रहता है। यदि देश में विज्ञान की प्रगति, नये प्राकृतिक साधनों की खोज, उत्पादन पद्धतियों में परिवर्तन हो जाये, प्राकृतिक साधनों का पूर्ण विदोहन होने लगे तो एक बार का जनाधिक्य बिन्दु भी अनुकूल जनसंख्या बिन्दु हो सकता है या पहले की अनुकूलतम जनसंख्या जनाभाव (Under-population) में बदल जायेगी। इसी प्रकार यदि देश में प्राकृतिक साधन समाप्त हो जायें, तो जो जनसंख्या पहले अनुकूलतम थी वह भी भारस्वरूप अर्थात् जनाधिक्य को प्रदर्शित करेगी। अतः स्पष्ट है कि **जनसंख्या का बिन्दु कोई स्थायी (Fixed) अथवा निश्चित बिन्दु नहीं है वरन् एक परिवर्तनशील बिन्दु है।**



चित्र–2

चित्र द्वारा निरूपण—अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु कोई स्थिर बिन्दु नहीं वरन् परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तनशील बिन्दु है। रेखाचित्र 2 मे इसे स्पष्ट किया गया है। माना कि अर्थव्यवस्था मे श्रम का औसत उत्पत्ति वक्र AP होने पर अनुकूलतम जनसख्या OQ है क्योकि इस बिन्दु पर प्रतिव्यक्ति आय अधिकतम है। पर परिस्थितियो मे परिवर्तन होने से श्रम का औसत उत्पत्ति वक्र अब AP_1 हो जाता है तथा अनुकूलतम जनसख्या बिन्दु OQ से बढकर OQ_1 बिन्दु हो जाता है अत नवीन अधिक जनसख्या OQ_1 अनुकूलतम जनसख्या बन जाती है जो पहले जनाधिक्य को व्यक्त करती थी। इसी प्रकार अगर श्रम का औसत उत्पत्ति वक्र गिरकर AP_0 हो जाता है तथा अनुकूलतम जनसख्या बिन्दु OQ_0 पर आता है अत नवीन अनुकूलतम जनसख्या केवल OQ_0 ही रह जाती है। अत स्पष्ट है कि पहले जो जनसख्या अनुकूलतम थी वह अब जनाधिक्य को व्यक्त करती है। स्पष्ट है कि अनुकूलतम जनसख्या समय व परिस्थितियों के अनुसार परिवतनशील है।

अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त की मान्यताएँ (Assumptions)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादन की दो आधारभूत मान्यताएँ हैं—

(1) कुल जनसख्या मे कार्यशील जनसख्या का अनुपात (Proportion of working population to total population) स्थिर रहता है।

(ii) श्रमिकों के औसत उत्पादन तथा प्रतिव्यक्ति आय में सीधा सम्बन्ध रहता है। श्रमिक के औसत उत्पादन के घटने से प्रतिव्यक्ति आय मे भी कमी होती है तथा औसत उत्पादन मे वृद्धि से प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ती है।

(iii) उत्पादन की तकनीक, आर्थिक साधनों की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता जिससे जनसंख्या मे वृद्धि के साथ-साथ उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) क्रियाशील होता है।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचनाएं
(Criticisms of Optimum Theory of Population)

इस सिद्धान्त की अनेक अर्थशास्त्रियों ने कटु आलोचना की है। यह सिद्धान्त भौतिकवादी, एकपक्षीय तथा स्थिर सिद्धान्त है। अनुकूलतम जनसंख्या को मापना कठिन होने से यह बहुत ही कम व्यावहारिक महत्व का विचार है। मुख्य आलोचनाएँ इस प्रकार हैं—

1. यह सिद्धान्त एक स्थैतिक (Static) विचार है व आर्थिक परिवर्तनों के प्रभाव की उपेक्षा करता है—यह सिद्धान्त अर्थव्यवस्था को स्थैतिक मानकर चलता है जबकि इस गतिशील विश्व (Dynamic World) मे प्रतिपल अनेक परिवर्तन होते हैं अत. तकनीकी ज्ञान, आर्थिक स्थिति मे परिवर्तन की उपेक्षा वास्तविकता से मुख मोड़ना है।

2. अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त भौतिकवादी है—यह जनसंख्या पर केवल आर्थिक दृष्टि से विचार करता है जबकि अनुकूलतम जनसंख्या आकार मालूम करने मे केवल आर्थिक दृष्टिकोण अपनाना ही उपयुक्त नही वरन् देश की सैनिक, राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिए। जनसंख्या का एक आकार आर्थिक दृष्टि से अनुकूलतम होते हुये भी प्रतिरक्षा (Defence) की दृष्टि से अपर्याप्त हो सकता है।

3. यह सिद्धान्त जनसंख्या के सामाजिक उद्देश्यों के प्रति संकीर्ण है। प्रति व्यक्ति आय अधिकतम होना ही पर्याप्त नही, जनसंख्या के मात्रात्मक पहलू के साथ उसके गुणात्मक पहलू पर भी ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि देश की भावी प्रगति स्वस्थ, बुद्धिमान एवं शिक्षित जनसंख्या पर निर्भर करती है किन्तु कुछ अर्थशास्त्री जैसे बोल्डिंग, पेनरोज आदि इस सिद्धान्त को गुणात्मक विचार भी मानते हैं।

4. यह सिद्धान्त राष्ट्रीय आय के न्यायोचित वितरण पर ध्यान नहीं देता अत दोषपूर्ण है। यह केवल प्रतिव्यक्ति आय मालूम करता है जबकि धन के असमान वितरण की अवस्था मे प्रतिव्यक्ति आय ऊँची होने पर भी जनसंख्या की दुर्दशा होगी।

5. यह एक अव्यावहारिक सिद्धान्त है—अनुकूलतम जनसंख्या को मापना कठिन है अत' मापने के अभाव मे इस सिद्धान्त का कोई व्यावहारिक महत्व नही रह

जाता । इसके अतिरिक्त इस गतिशील विश्व म प्रतिपल परिवर्तन होते रहते हैं तो स्थैतिक दृष्टिकोण पर आधारित वह सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन से दूर हो जाता है । प्रो हिक्स (Hicks) ने कहा है "यह बहुत ही कम व्यावहारिक महत्व का विचार है ।'

सही अर्थों में यह सिद्धान्त नहीं है वरन् अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विचार "अनुकूलतम' का प्रयोग जनसख्या के क्षेत्र में है । यह जनसख्या मे वृद्धि के नियमो के बारे म चुप है । न गुणात्मक पहलू पर विचार करता है ।

यद्यपि अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ की गई हैं फिर भी यह सिद्धान्त माल्थस के निराशावादी विचारो के विरुद्ध एक आशावादी दृष्टिकोण है । यह बताता है कि जनसख्या मे प्रत्येक वृद्धि खतरे का सूचक नही । अगर जनसख्या म वृद्धि से प्रतिव्यक्ति आय म वृद्धि होती हो तो जनसख्या मे वृद्धि लाभदायक एव वाछनीय है । हा, अनुकूलतम जनसख्या से अधिक वृद्धि भय का कारण है ।

क्या अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त से श्रेष्ठ है ?

(Superiority of Optimum Theory over Malthusian Theory)

अथवा

माल्थस के सिद्धान्त व अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त मे अन्तर-तुलना

अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त माल्थस के जनसख्या सिद्धान्त पर एक महत्वपूर्ण सुधार (Improvement) कहा जा सकता है क्योकि अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त की तुलना मे अनेक दृष्टि से श्रेष्ठ एव अच्छा है । यह निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है—

(1) अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त एक आशावादी (Opitimisitic) सिद्धात है जबकि माल्थस का सिद्धान्त निराशावादी (Pessimistic) सिद्धान्त है । माल्थस सदा मानव समाज के सामने आने वाले आर्थिक नरक से आतकित था किन्तु अनुकूलतम सिद्धान्त सदा भविष्य में आने वाले स्वर्ग की आशा करता है ।

(2) अनुकूलतम जनसख्या म प्रत्येक वृद्धि खतरे का सूचक व हानिकारक नही, केवल वही जनसख्या वृद्धि खतरनाक है जिससे प्रतिव्यक्ति आय घटती है । जब तक प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है तब तक जनसख्या म वृद्धि वाछनीय है किन्तु माल्थस जनसख्या मे प्रत्येक वृद्धि को खतरे का सूचक मानता है ।

(3) अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त अधिक व्यापक है क्योकि वह जनसख्या के आकार का अध्ययन देश के समस्त आर्थिक साधनों के सम्बन्ध म करता है किन्तु माल्थस का जनसख्या सिद्धान्त जनसख्या को केवल खाद्यान्न से सम्बन्धित करता है यह उपयुक्त नही है । अत सकीर्ण है ।

(4) अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त जनसंख्या को केवल परिमाणात्मक दृष्टि से नहीं देखता। यह जनसंख्या के आकार के साथ-साथ उसकी उत्पादन क्षमता पर भी ध्यान देता है क्योंकि जनसंख्या की समस्या केवल आकार की ही समस्या नहीं वरन् कुशल उत्पादन एवं न्यायोचित वितरण की समस्या भी है।

किन्तु माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त केवल जनसंख्या के आकार पर ही अधिक जोर देता है मानो आकार ही सब कुछ हो। उसने उत्पादकता व कुशलता की उपेक्षा की।

(5) अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त इस दृष्टि से गतिशील (Dynamic) है कि यह अनुकूलतम जनसंख्या को स्थिर नहीं मानता। अनुकूलतम जनसंख्या किन्तु आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तनों के साथ परिवर्तनशील है। किन्तु माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त स्थैतिक (Static) है।

(6) अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त प्रति व्यक्ति आय को जनाधिक्य या जनाभाव की स्थितियों का पता लगाने में प्रयोग करता है जबकि माल्थस प्राकृतिक प्रकोपों को जनाधिक्य का संकेतक मानता है। यह अनुपयुक्त है क्योंकि प्राकृतिक प्रकोप तो जनाभाव की स्थिति में भी उत्पन्न हो सकते हैं अतः उन्हें आधार मानना भ्रमात्मक है।

(7) अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त माल्थस सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की तुलना में श्रेष्ठ है। यह अधिक व्यावहारिक, आशावादी, गतिशील और तार्किक विचार है। यह जनसंख्या के सम्बन्ध में सन्तुलित एवं विवेकपूर्ण विचार प्रस्तुत करता है। किन्तु फिर भी हम देखते हैं कि अनुकूलतम जनसंख्या को मापना कठिन है तथा यह सिद्धान्त जनसंख्या में होने वाली घटत-बढ़त या परिवर्तनों के कारणों की व्याख्या नहीं करता और न जनसंख्या सम्बन्धी नियमों की विवेचना करता है अतः इसका व्यावहारिक महत्व कम ही है। जैसा हिक्स ने ठीक ही कहा है "यह बहुत ही कम व्यावहारिक महत्व का विचार है।"

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की उपयोगिता अथवा महत्व

(Utility & Importance of Optimum Population Theory)

यद्यपि अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की व्यावहारिकता में शंका की जाती है फिर भी यह सिद्धान्त जनसंख्या सिद्धान्त को समझने तथा उसके समाधान में काफी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण मार्गदर्शन प्रदान करता है।

(1) जनसंख्या सम्बन्धी आशावादी दृष्टिकोण है जो जनसंख्या में प्रत्येक वृद्धि को खतरे का सूचक नहीं मानता और माल्थस के निराशावादी, एकाकी एवं स्थैतिक धारणा में नई आशा की किरण है।

(2) जनसंख्या के परिमाणात्मक पहलू और गुणात्मक पहलू का उचित संयोग है अतः नीति निर्धारकों को यह मार्ग-दर्शन मिलता है कि जनसंख्या मात्रात्मक तथा गुणात्मक दोनों दृष्टियों से अनुकूलतम होनी चाहिये।

(3) प्रावैगिक दृष्टिकोण है जो यह बताता है कि अनुकूलतम बिन्दु कोई स्थिर बिन्दु नहीं है। जिस देश में अभी जनसंख्या अधिक है अगर वहाँ के प्राकृतिक मानवीय साधनों का पूरा पूरा विकास एवं प्रयोग किया जाय तो समस्या स्वतः सुलझ जाती है अतः देश में आर्थिक विकास दर बढ़ाने से भी समस्या सुलझाना सम्भव है।

(4) संतुलित धारणा है—इसमें जनसंख्या का सम्बन्ध केवल खाद्यान्न से स्थापित नहीं किया गया वरन् समस्त आर्थिक साधनों से किया गया है अतः प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का लक्ष्य रहता है।

(5) मापने में सरलता है—प्राकृतिक प्रतिबन्ध जनाधिक्य के उचित मापक नहीं माने जा सकते जबकि प्रतिव्यक्ति आय में घटत-बढ़त अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी मापदण्ड है। अतः आजकल प्रतिव्यक्ति आय जनसंख्या समस्या की व्यापकता और गहनता में काफी उपयोगी उपकरण है।

(6) जनसंख्या नीति निर्धारण में यह सिद्धान्त उपयोगी है। यह जनसंख्या के गुणात्मक एवं मात्रात्मक पहलुओं को एकीकृत कर देखता है अतः सरकार द्वारा जनाधिक्य की समस्या के समाधान के लिए एक ओर आर्थिक साधनों के विकास व पूरे-पूरे प्रयोग से प्रतिव्यक्ति आय बढ़ाने का प्रयास किया जाता है वहाँ दूसरी ओर जनसंख्या के स्वास्थ्य एवं जन्म-मृत्यु दर पर नियन्त्रण किया जाता है। अगर प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि होती है साधनों के प्रयोग में सुविधा रहती है तो बढ़ती जनसंख्या भी उपयोगी होती है।

किन्तु इस उपयोगिता एवं महत्व के बावजूद "अनुकूलतम" की धारणा का व्यावहारिक महत्व कम ही है क्योंकि उनका मापना कठिन है।

कम जनसंख्या या जनाभाव एवं जनाधिक्य (अति-जनसंख्या)
(Under Population & Over-Population)

1. जनाभाव (Under Population)—माल्थस के अनुसार जनाभाव वह स्थिति है जब देश में खाद्यान्न की पूर्ति की तुलना में जनसंख्या कम है परन्तु अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त के अनुसार जनाभाव (Under Popul tion) वह जनसंख्या है जो अनुकूलतम जनसंख्या से कम है। ऐसी अवस्था में देश में श्रम-शक्ति की आर्थिक साधनों की तुलना में कमी है अतः श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण सम्भव नहीं। देश में श्रम-शक्ति देश के प्राकृतिक साधनों के समुचित विदोहन में अपर्याप्त है इस कारण प्रतिव्यक्ति आय नीची है। अगर जनसंख्या में वृद्धि की जाय तो देश के साधनों का समुचित शोषण सम्भव होगा तथा उत्पादन क्षमता में वृद्धि से कुल उत्पादन

और प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि होगी अत: जनाभाव की स्थिति में जनसंख्या में वृद्धि वांछनीय है।

2. जनाधिक्य (Over Population)—माल्थस के अनुसार अगर देश में जनसंख्या खाद्यान्नों की पूर्ति की तुलना में अधिक है तथा देश में प्राकृतिक (नैसर्गिक) प्रतिबन्ध जैसे युद्ध, महामारी, अकाल, भूकम्प, बाढ़ आदि विद्यमान हैं तो ये सब जनाधिक्य (Over Population) की स्थिति के द्योतक हैं। किन्तु अनुकूल जनसंख्या सिद्धान्त के अनुसार जनाधिक्य (Over Population) वह स्थिति है जिसमें जनसंख्या अनुकूलतम बिन्दु से अधिक है और प्रति व्यक्ति आय अधिकतम बिन्दु से कम है। श्रम शक्ति आर्थिक साधनों की तुलना में अधिक है परिणाम स्वरूप जनसंख्या का भार बढ़ जाता है, उत्पादन में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है जिससे प्रतिव्यक्ति आय घटती है। जनसंख्या में प्रत्येक वृद्धि खतरे का सूचक है।

जनाधिक्य के दुष्प्रभाव

(Demerits of Over-Population)

जनाधिक्य का अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। जैसे (1) जनाधिक्य से खाद्यान्न की समस्या उत्पन्न होती है। (2) जनाधिक्य से बेकारी की समस्या बढ़ती है। (3) आर्थिक साधनों पर भार बढ़ता है जिसके फलस्वरूप उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होता है और उत्पादन लागतों में वृद्धि होती है। (4) प्रति व्यक्ति आय घटती है और जनता में निर्धनता बढ़ती है। (5) देश में प्राकृतिक प्रकोपों और खास तौर से महामारी, अकाल व युद्ध आदि बढ़ते हैं जिससे असामयिक मृत्यु पड़ती है। (6) लोगों की निर्धनता के कारण उनका स्वास्थ्य गिरता है और जनसंख्या का गुणात्मक रूप बिगड़ता है। (7) अर्थव्यवस्था में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। (8) आर्थिक विकास एवं पूंजी निर्माण पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा आर्थिक विकास प्रायः अवरुद्ध हो जाता है। प्रगति का लाभ नहीं मिलता जैसे हम भारत में इन सभी दुष्प्रभावों से पीड़ित हैं।

जनाधिक्य की समस्या के निराकरण के उपाय (Measures to Check the Problem of Over-Population)—जनाधिक्य की समस्या के निराकरण के लिए अनेक उपाय अपनाये जा सकते हैं (1) कृषि उत्पादन में वृद्धि (2) तीव्र औद्योगीकरण (3) शिक्षा का विस्तार (4) स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता (5) तीव्र गति से आर्थिक विकास (6) परिवार नियोजन कार्यक्रमों में तेजी आदि। (भारत में जनाधिक्य, कारण व उपाय पिछले अध्याय 9 में सविस्तार समझाये गये हैं—विशेष अध्ययन के लिए उसको पढ़ें।)

जनाधिक्य तथा जनाभाव के दुष्प्रभाव पिछले अध्याय 9 में भी शीर्षकानुसार दिये गये हैं, उन्हें वहाँ भी देखलें।

क्या बढ़ती हुई जनसंख्या सदा अवांछनीय है ?

(Is Increasing Population Always Undesirable)

माल्थस जनसंख्या मे प्रत्येक वृद्धि को निराशा की दृष्टि से देखता था तथा प्रत्येक वृद्धि को खतरे का सूचक मानता था। किन्तु उसका यह विचार अनुपयुक्त था अगर देश मे जनसंख्या अनुकूल आकार से कम है तो ऐसी परिस्थिति मे जनसंख्या मे वृद्धि वाछनीय एव लाभदायक है क्योकि अगर देश मे जनसंख्या अनुकूलतम जनसंख्या से कम होगी तो देश की श्रम-शक्ति आर्थिक साधनो की तुलना मे कम होगी और उन आर्थिक साधनो का समुचित शोषण न हो सकेगा। इसी प्रकार श्रम-विभाजन व विशिष्टीकरण करना भी कठिन होगा। जनसंख्या मे कमी से उत्पादन कम और प्रतिव्यक्ति आय कम होगी। अतः ऐसी परिस्थितियो में जनसंख्या मे वृद्धि आवश्यक है। जनसंख्या मे वृद्धि से आर्थिक साधनों का समुचित शोषण सम्भव होगा, श्रम की उत्पादकता बढेगी और आर्थिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त होगा। अतः **अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु से पहले जनसंख्या में वृद्धि आर्थिक दृष्टि से वांछनीय है।** अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु के बाद जनसंख्या मे प्रत्येक वृद्धि खतरे का सूचक एव अनुपयुक्त है क्योकि जनसंख्या में इस वृद्धि से आर्थिक साधनो पर भार बढेगा। बेकारी बढेगी। उत्पादन में सीमान्त उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने से प्रति व्यक्ति आय घटेगी। अतः जनसंख्या में ऐसी वृद्धि ही अवांछनीय एव अनुचित मानी जाती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. जनसंख्या के अनुकूलतम सिद्धान्त (Optimum Theory of Population) का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

(प्रथम वर्ष राज. 1974) विशेष परीक्षा

अथवा

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त को समझाइये। इसकी क्या आलोचनाएँ है ?

(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में अनुकूलतम जनसंख्या का अभिप्राय देकर सिद्धान्त व्याख्या विवरण तालिका व चित्र द्वारा कीजिये। अन्त में आलोचनाएँ व निष्कर्ष दीजिये।)

2. अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त को समझाइये। माल्थस के सिद्धान्त से यह किन बातो में भिन्न है ?

(I yr. T. D. C. राज 1975)

अथवा

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। यह सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त पर किस प्रकार सुधार (श्रेष्ठ) है ?

(संकेत—प्रथम भाग में अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या उदाहरण तालिका चित्र द्वारा कीजिये, फिर माल्थस व अनुकूलतम सिद्धान्त की तुलना में अनुकूलतम सिद्धान्त की श्रेष्ठता बताइये ।)

3 "जनसंख्या में वृद्धि न तो सदैव लाभदायक होती है और न सदैव हानिकारक होती है" अनुकूलतम सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में इस कथन का परीक्षण कीजिये ।

(संकेत—अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या चित्र सहित देकर बताइये कि अगर जनाभाव की स्थिति में जनसंख्या बढ़ती है तो वह लाभदायक है और अनुकूलतम जनसंख्या के बाद जनाधिक्य हानिकारक होता है । उदाहरण सहित बताइये ।)

4 जनाधिक्य (Over-Population) से आप क्या समझते हैं ? जनाधिक्य के क्या दुष्प्रभाव होते हैं और जनाधिक्य की समस्या का समाधान कैसे होता है ?

(संकेत—शीर्षकों के अनुसार विवरण पुस्तक के अनुसार दीजिये ।)

5 अनुकूलतम जनसंख्या की धारणा की विवेचना कीजिये और इस धारणा की उपयोगिता समझाइये ।) (राज प्रथम वर्ष कला पूरक परीक्षा 1973)

(संकेत—प्रथम भाग में अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या देना है, तालिका व चित्रों से स्पष्ट करना है, फिर आलोचनात्मक विवरण देना है और तीसरे भाग में इस धारणा का महत्व या उपयोगिता बताना है ।)

6. अति जनसंख्या (Over Population) से आप क्या समझते हैं ? क्या बढ़ती जनसंख्या सदैव अवांछनीय होती है ?

(I yr T D C Raj. 1974)

(संकेत—प्रथम भाग में अति जनसंख्या का अभिप्राय स्पष्ट कीजिये । जनाधिक्य स्थिति में गरीबी, भुखमरी, खाद्यान्न अभाव, बेकारी, निम्न जीवन स्तर, पूँजी निर्माण का अभाव, अर्थात् भारत में जैसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, और उसके दुष्प्रभाव को संक्षेप में बताकर सिद्ध करना है कि सामान्यत बढ़ती जनसंख्या अवांछनीय है पर अगर देश में साधनों की तुलना में जनसंख्या कम हो तो बढ़ती जनसंख्या वांछनीय है ।)

7. माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये । यह आधुनिक समय में कहाँ तक लागू होता है ?

(Raj I yr T D C. (Non-Collegiate) 1976)

अथवा

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये, यह सिद्धान्त विकसित अर्थव्यवस्थाओं में कहाँ तक लागू होता है ?

(Raj I yr T D C 1980)

(संकेत—पहले भाग में पुस्तक में दिये गये माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का विवरण व तालिका देकर दूसरे भाग में उसकी आलोचनात्मक विवेचना देना है तथा तीसरे भाग में आधुनिक समय में सिद्धान्त की क्रियाशीलता बताना है जैसे शीर्षकानुसार दिया गया है।)

8. माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

(Raj I yr. T.D.C 1978)

(संकेत—माल्थस का सिद्धान्त देकर आलोचनाएँ देना है और अन्त में निष्कर्ष देना है।)



11

पूंजी-निर्माण या पूंजी-संचय
(Capital Formation or Capital Accumulation)

आधुनिक बड़े पैमाने की उत्पत्ति में पूंजी उत्पादन प्रणाली का प्राण तथा आर्थिक विकास का जनक मानी जाती है। अतः पूंजी का आधुनिक युग में बहुत महत्व हो गया है। देश में पूंजी निर्माण जितनी तीव्र गति से होगा उतना ही देश का उत्पादन तेजी से बढ़ेगा और आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होगा।

पूंजी निर्माण का अर्थ (Meaning of Capital Formation)—मनुष्य द्वारा उत्पादित धन का वह भाग पूंजी कहलाता है जो अधिक धनोत्पत्ति के काम आता है। इसलिये प्रो. मार्शल ने कहा है कि मनुष्य द्वारा उत्पन्न उस सम्पत्ति को पूंजी कहते हैं जो और अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करने के काम आती है। इस प्रकार पूंजी उत्पत्ति का उत्पादित साधन है। मशीन, औजार, कच्चा माल, सड़कें, नहरें, आदि पूंजी के उदाहरण हैं। देश में इन पूंजीगत पदार्थों की उत्पत्ति ही पूंजी निर्माण है।

पूंजी निर्माण का आशय चालू उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय के उस भाग से है जो उपभोग की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति में न लगाकर भविष्य में और अधिक सम्पत्ति उत्पादन में लगाया जाता है। संकुचित दृष्टिकोण से पूंजी निर्माण का अर्थ पूंजीगत वस्तुओं के निर्माण से है। इनके अन्तर्गत मशीनें, औजार, कच्चा माल, यातायात, उपकरण आदि हैं। प्रो. रिचार्ड गिल के अनुसार "पूंजी संचय मशीनें, औजार, भवन आदि को बढ़ाने की प्रक्रिया है।" इस प्रकार भौतिक रूप में उत्पादन वस्तुओं का सृजन ही पूंजी निर्माण कहलाता है।

प्रो. रैगनर नर्कसे (R. Nurkse) के अनुसार 'पूंजी निर्माण (Capital Formation) का आशय यह है कि समाज अपनी सम्पूर्ण वर्तमान उत्पादन क्षमता को उपभोग सम्बन्धी तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति में नहीं लगाता वरन् इसका एक भाग पूंजीगत वस्तुओं जैसे यन्त्र एवं उपकरण, मशीनों तथा यातायात की सुविधाओं तथा वास्तविक पूंजी के विभिन्न रूपों जिनसे उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओं की क्षमता में अत्यधिक वृद्धि होती है, के निर्माण के लिए प्रयोग करता है। इस प्रक्रिया का एक साराश यह है कि समाज में उपलब्ध प्रचलित साधनों के एक भाग का प्रयोग

पूँजीगत वस्तुओं के कोष को बढ़ाने में किया जाता है जिससे भविष्य में उपभोग्य पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि हो सके।" संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बचतों का वह भाग जो पूँजीगत वस्तुएँ बनाने में प्रयुक्त होता है पूँजी निर्माण कहलाता है।

व्यापक दृष्टिकोण से पूँजी निर्माण में भौतिक पूँजी के अतिरिक्त अभौतिक और अदृश्य पूँजी जैसे **मानव पूँजी** (Human Capital) आदि को भी सम्मिलित किया जाता है। पूँजी निर्माण में राष्ट्रीय आय का वह भाग ही सम्मिलित नहीं किया जाता जो प्रत्यक्ष रूप से अधिक आय उत्पादन में काम में लाया जाता है अपितु वह सब राशि भी सम्मिलित की जाती है जो शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, प्रशिक्षण एवं अनुसंधान आदि पर व्यय की जाती है। इन पर व्यय से जन-शक्ति कुशलता में वृद्धि होती है जिससे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता बढ़ती है। इस प्रकार **मानवीय कौशल (Human Skill) में वृद्धि भी पूँजी निर्माण ही है।** अर्द्ध-विकसित देशों के विकास के सन्दर्भ में पूँजी निर्माण की व्यापक धारणा में मशीनों, औजारों, कच्चा माल, परिवहन आदि के अतिरिक्त श्रम की कुशलता में वृद्धि के लिये शिक्षा, प्रशिक्षण, स्वास्थ्य पर किया गया व्यय भी पूँजी निर्माण है। सामान्य रूप में राष्ट्रीय आय उत्पादन के साधन के रूप में पूँजी निर्माण शब्द को संकुचित अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाता है।

पूँजी निर्माण की अवस्थाएँ (Stages of Capital Formation)—पूँजी-निर्माण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समाज वर्तमान उपभोग को कम करके धन बचाते हैं, बचतों को उत्पादक प्रयोगों में लाते हैं ताकि और अधिक धन उत्पादन हो सके। इससे पूँजी निर्माण की प्रक्रिया तीन अवस्थाओं से गुजरती है—

(i) वास्तविक बचतों का निर्माण—पूँजी निर्माण के लिये सर्वप्रथम वास्तविक बचतों का निर्माण करना होता है अर्थात् वर्तमान आय में से उपभोग व्यय कम करके बचतों में वृद्धि करना है। यह बचाने की इच्छा (Will to Save) तथा **बचाने की शक्ति** (Power to Save) पर निर्भर करती है।

(ii) बचतों को एकत्र कर गतिशील करना (Mobilisation of Saving)—दूसरी अवस्था बचतों को एकत्रित कर उन्हें गतिशील बनाना है। इसके लिए देश में बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा वित्तीय संस्थाओं का जाल सा बिछा होना चाहिये जो कुशलता से लोगों की बचतों को एकत्रित कर उन्हें विनियोगकर्ताओं या उत्पादक हाथों में सौंप सकें।

(iii) मौद्रिक बचतों को वास्तविक पूँजीगत साधनों में बदलना—पूँजी निर्माण की तीसरी अवस्था बचतों को पूँजीगत वस्तुओं (Capital Assets) में बदलना है। केवल बचतों को एकत्रित करना ही पूँजी निर्माण नहीं कहलाता **बचतों को विनियोग करके पूँजीगत सम्पत्ति का निर्माण ही पूँजी निर्माण है।**

इस प्रकार पूँजी निर्माण की तीनों अवस्थाएँ स्वतन्त्र हैं पर तीनों के द्वारा पूँजी निर्माण होता है। बचतें हों, बचता को एकत्रित करने तथा उन्हें विनियोग कर्त्ताओं के पास गतिशील करने के लिये कुशल यन्त्र व्यवस्था (Machinery) हो तथा इन बचतों को पूँजीगत वस्तुओं में बदला जावे।

आधुनिक उत्पादन व्यवस्था तथा आर्थिक विकास में पूँजी निर्माण का महत्व या भूमिका
(Importance or Role of Capital Formation in Economic Development & Modern Productive System)

किसी भी देश के आर्थिक विकास में पूँजी तथा पूँजी-निर्माण का बहुत महत्व है। पूँजी निर्माण वस्तुतः आर्थिक विकास की कुंजी है। प्रो. व्हाइट के शब्दों में '*अर्थ व्यवस्था में उत्पादन वृद्धि का सामर्थ्य वर्तमान आय के पूँजी निर्माण हेतु लगाये गये अनुपात और पूँजी सामग्रियों के गुण तथा कुशलता पर निर्भर करता है।*" पूँजी निर्माण भारी एवं आधारभूत उद्योगों की स्थापना द्वारा औद्योगिक विकास की जड़ों को सबल बनाता है तथा तीव्र आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करता है। प्रो. कुजनेट्स के अनुसार '**पूँजी निर्माण आर्थिक उत्पादकता और विकास के लिये आवश्यक शर्त है।**'

आर्थिक विकास में पूँजी निर्माण का दोहरा कार्य है। कुमारी हुसैन के शब्दों में '**पूँजी के विनियोग का आर्थिक विकास में दोहरा कार्य है। एक ओर यह अर्थव्यवस्था में प्रभावपूर्ण माँग का प्रतिनिधित्व करती है और दूसरी ओर भावी उत्पादन के लिए उत्पादन सामर्थ्य का निर्माण करती है।**" किसी भी देश का आर्थिक विकास पूँजी निर्माण से तीन प्रकार से सम्बन्धित रहता है। पूँजी निर्माण आर्थिक प्रसार का सामान्य लक्षण है। तकनीकी प्रगति के लिए अतिरिक्त पूँजी आवश्यक होती है तथा पूँजी की अधिक मात्रा उत्पादन की घुमावदार प्रणालियों को सम्भव बनाती है जिससे उत्पादन क्षमता में वृद्धि तथा रोजगार का विस्तार होता है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। वास्तव में उत्पादन में वृद्धि तथा ***आय एवं रोजगार के साधनों में वृद्धि की कुंजी पूँजी के अधिकाधिक निर्माण में निहित है।***

अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में आर्थिक विकास के लिये पूँजी निर्माण एक आवश्यक शर्त है। इन देशों में उत्पादन के साधन पिछड़े हैं तकनीकी प्रगति धीमी है। परिवहन एवं संचार साधनों का नितान्त अभाव है। जनसंख्या का भार अधिक है, बाजार संकुचित है और ये देश आर्थिक दरिद्रता के कुचक्र में फँसे हुए हैं। इन देशों में पूँजी की आवश्यकता सर्वाधिक है क्योंकि पूँजी आर्थिक विकास में निम्न तरीकों से योगदान करती है—

1 पूँजी निर्माण आर्थिक क्रियाओं के विस्तार में सहायक होती है अर्थात् अर्थव्यवस्था को विविधतापूर्ण और औद्योगिक बनाने के लिये, व्यापार का विस्तार

करने के लिए, प्राकृतिक साधनो की खोज एव विदोहन तथा आर्थिक एव सामाजिक ऊपरी सेवाओं (Social and Economic Overhead Facilities) के लिए भारी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है।

2 आर्थिक जडता (Stagnation) की समाप्ति के लिए पूँजी निर्माण आवश्यक है। पूँजी से विनियोग बढते हैं, प्रभावपूर्ण माग बढती है परिणामस्वरूप लोगो को अधिक रोजगार और आय प्राप्त होती है और आय तथा रोजगार वृद्धि आर्थिक जडता को समाप्त कर प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। पूँजी निर्माण की प्रक्रिया एक बार प्रारम्भ हो जाने पर तीव्र आर्थिक विकास सम्भव बनाती है।

3 पूँजी निर्माण तकनीकी प्रगति (Technical Progress) का आधार है—आर्थिक विकास के लिए तकनीकी प्रगति आवश्यक है और पूजी निर्माण इसे सम्भव बनाता है। नव-प्रवर्तनो को लागू करने अनुसधान, एव खोज करने के लिए पूजी आवश्यक है।

4 पूँजी निर्माण उत्पादन की घुमावदार प्रणालियों को अपनाने मे सहायता करती है जो श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण, बड़े पैमाने की उत्पत्ति द्वारा उत्पादकता में वृद्धि कर आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।

5 कृषि विकास, औद्योगीकरण तथा परिवहन एव सचार साधनों के विकास के लिये पूजी निर्माण बहुत ही आवश्यक होता है।

6 पूजी निर्माण मानवीय पूजी निर्माण मे सहायक होकर आर्थिक विकास की गति तेज करता है। आर्थिक विकास के लिए न केवल भौतिक पूँजी ही आवश्यक होती है वरन् मानव पूजी निर्माण भी आवश्यक होता है जिससे जन शक्ति की कार्य-कुशलता एव उत्पादकता में वृद्धि आर्थिक विकास को गति प्रदान करते हैं।

7 उत्पादकता मे वृद्धि-पूँजी निर्माण से बडे पैमाने की उत्पत्ति एव मशीनो के प्रयोग से उत्पादकता में तेजी से वृद्धि होती है। यही कारण है कि विकसित राष्ट्रो के श्रमिको की उत्पादकता पिछडे राष्ट्रो के श्रमिको की उत्पादकता से कही अधिक है।

8 आर्थिक साधनों का विदोहन—पूँजी देश में उपलब्ध भौतिक एव मानवीय साधनों के विदोहन को सम्भव बनाती है। उन्नत कृषि, औद्योगीकरण, परिवहन विकास एव खनिजो के विदोहन मे बडी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है।

9 आर्थिक निर्धनता का कुचक्र तोडना—अर्द्ध-विकसित देशो की जनता गरीबी के कुचक्रों में फसी हुई है अत उन्हे इन निर्धनता के कुचक्रो से मुक्त करने के लिए पूँजी का विशेष महत्व है।

साराश यह है कि पूँजी निर्माण से श्रमिकों की उत्पादकता बढती है, उत्पादकता वृद्धि मे अधिक उत्पादन होता है। जीवन-स्तर में सुधार होता है। अर्थ व्यवस्था का विस्तार एव विविधिकरण होता है।

किन्तु आधुनिक घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि पूंजी निर्माण आर्थिक विकास का एकमात्र निर्धारक तत्व नही है। यद्यपि पूंजी निर्माण उत्पादकता वृद्धि एव आर्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है किन्तु यह ही आर्थिक विकास की एक पर्याप्त दशा (Sufficient Condition) नही है। अर्द्ध-विकसित एव विकासशील राष्ट्रो म केवल पूंजी के कोष तथा नवीनतम औजारो मशीनो या यन्त्रो की पूर्ति *मात्रा मे वृद्धि कर देने मात्र से ही आर्थिक विकास नही हो सकता पूंजी निर्माण* के साथ साथ उपयोग की उपयुक्त योजना तथा आवश्यक वातावरण भी आवश्यक है। प्रो लेविस (Lewis) का कथन इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है आर्थिक विकास पूंजी के अतिरिक्त अन्य बातों जैसे उन संस्थाओं (Institutions), जो प्रयत्नों को प्रेरणा देती हैं उन दृष्टिकोणों (Attitudes) जो आर्थिक कुशलता को महत्व देते हैं, तथा तकनीकी ज्ञान इत्यादि से सम्बन्धित है। विकास के लिए केवल पूंजी ही एक मात्र आवश्यक तत्व नहीं है क्योंकि यदि केवल पर्याप्त पूंजी की व्यवस्था करली जाय किन्तु उसके प्रयोगो को उपयुक्त योजना तैयार नहीं की जाय तो यह व्यर्थ हो जायेगी।"

इसी प्रकार प्रो बोर तथा यामे (Baur and Yamey) का भी मत है कि 'यह कहना कि आर्थिक विकास पूंजी-निर्माण पर निर्भर करता है की अपेक्षा यह कहना कि विकास की प्रक्रिया में पूंजी का निर्माण होता है सत्य के अधिक समीप है।" इन तथ्यो के विवेचन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि आर्थिक विकास म पूंजी निर्माण का बहुत योग रहा है किन्तु आर्थिक विकास के *लिए पूंजी के अतिरिक्त तकनीकी ज्ञान, कुशलता, प्रेरणादायक सस्थाए तथा* कुशलता को महत्व देने वाले दृष्टिकोण की भी आवश्यकता होती है। पूंजी निर्माण आर्थिक विकास के लिए अनिवार्य है किन्तु पूंजी निर्माण ही आर्थिक विकास की एकमात्र पर्याप्त दशा नहीं है।

पूंजी निर्माण या पूंजी सचय को प्रभावित करने वाले तत्व (घटक)
(Factors Affecting Capital Formation or Accumulation of Capital)
अथवा
पूंजी की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व (घटक)
(Factors Influencing the Supply of Capital)

किसी भी देश म पूंजी निर्माण या पूंजी सचय अथवा पूंजी की पूर्ति पर अनेक घटको का प्रभाव पडता है। चूंकि पूंजी निर्माण या पूंजी सचय अथवा पूंजी की पूर्ति *बचत की मात्रा पर निर्भर करती है (जिसको कीन्स ने बचत की* प्रवृत्ति (Propensity to Save) कह कर पुकारा है) लोगो के बचत करने की प्रवृत्ति बचत करने की इच्छा बचत करने की शक्ति, बचत करने की सुविधा तथा सरकार की नीति पर निर्भर करती है। अत पूंजी निर्माण के निर्धारक घटको को हम अग्रलिखित चार श्रेणियो मे वर्गीकृत कर सकते हैं—

पूंजी निर्माण या पूंजी संचय के तत्व/घटक



(I) बचत की शक्ति (Power to Save)	(II) बचत की इच्छा (Will to Save)	(III) बचत की सुविधाएं (Facilities to Save)	(IV) सरकार की भूमिका (Role of Govt)
(i) प्राकृतिक साधन तथा आर्थिक विकास की अवस्था	(i) दूरदर्शिता	(i) शान्ति एवं सुरक्षा	(i) मौद्रिक नीति
(ii) आय का स्तर	(ii) पारिवारिक स्नेह	(ii) विनियोग सुविधाएं	(ii) राजकोषीय नीति
(iii) धन का वितरण	(iii) सम्मान व शक्ति की लालसा	(iii) मौद्रिक स्थायित्व	(iii) प्रत्यक्ष बचत एवं विनियोग
(iv) व्यय चातुर्य	(iv) आर्थिक समृद्धि की आकांक्षा	(iv) कुशल, योग्य एवं ईमानदार साहसी	(iv) सामाजिक पूंजी आदि
	(v) स्वभाव		
	(vi) ब्याज की दर		

I बचत करने की शक्ति
(Ability or Power to Save)

पूंजी निर्माण या पूंजी संचय बचत करने की क्षमता या शक्ति पर निर्भर करता है पर बचत करने की शक्ति पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है। चाहे व्यक्ति बचत करने को इच्छुक हो पर उसकी आय ही इतनी कम हो कि वह बचत कर ही न सके। बचत की शक्ति आय व देश की आर्थिक विकास की अवस्था से सम्बन्धित है।

(1) प्राकृतिक साधनों की पूर्ति एवं आर्थिक विकास—जिन देशों में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता होती है तथा आर्थिक प्रगति के परिणामस्वरूप उनका विदोहन कर लिया जाता है तो उन लोगों की बचत करने की शक्ति उन देशों की अपेक्षा अधिक होगी जहाँ प्राकृतिक साधनों का अभाव या कमी है तथा आर्थिक विकास का स्तर नीचा है। आज अमेरिका, रूस की बचत करने की शक्ति अर्द्धविकसित राष्ट्रों से कहीं अधिक है।

(2) आय का स्तर—जिन देशों में लोगों की आय का स्तर ऊँचा होता है उन देशों की बचत शक्ति उन देशों के लोगों से अधिक होती है जिनकी आय बहुत ही कम होती है। भारत में प्रतिव्यक्ति आय बहुत कम है अतः पूंजी निर्माण के लिए बचत की शक्ति कम है।

(3) धन का वितरण—अन्य बातों के समान रहते हुए धन के वितरण में असमानता से बचत करने की शक्ति बढ़ती है क्योंकि ऊँचे आय स्तर पर उपभोग

प्रवृत्ति कम तथा बचत प्रवृत्ति अधिक होती है। कम आय वाले पिछड़े देशों में तीव्र पूँजी निर्माण के लिए देश में धन का असमान वितरण को उपयुक्त माना जाता है पर सामाजिक दृष्टि से यह अवांछनीय है। धन का समान वितरण होने पर पूँजी निर्माण कम होता है।

(4) **व्यय करने की चातुर्यता**–जिस देश की जनता अपनी आय का सावधानी एवं चतुरता से विवेकपूर्ण ढंग से सदुपयोग करती है तो उसकी बचत करने की शक्ति उन देशों की जनता से अधिक होगी जो अपनी आय को ठीक प्रकार से व्यय नहीं करते।

II बचत की इच्छा
(Will to Save)

बचत करने की शक्ति होने हुए भी अगर बचत करने की इच्छा न हो तो पूँजी निर्माण असम्भव होगा। अतः पूँजी निर्माण के लिये बचत करने की तीव्र इच्छा भी होनी चाहिए। बचत की इच्छा पर निम्न घटकों का प्रभाव पड़ता है—

(i) **दूरदर्शिता**—व्यक्ति जितना अधिक दूरदर्शी होता है उतनी ही उसकी बचाने की इच्छा अधिक होती है जबकि दूरदर्शिता के अभाव में बचत की इच्छा कम होती है। यही कारण है कि विकसित राष्ट्रों में लोग शिक्षित होने से दूरदर्शी होते हैं। अतः पूँजी निर्माण की गति तेज है जबकि भारत जैसे अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में शिक्षा के अभाव में पूँजी निर्माण की गति धीमी है।

(ii) **पारिवारिक स्नेह**—जिन देशों के लोगों में अपने परिवार के सदस्यों व आश्रितों के प्रति अधिक स्नेह होता है वहाँ के लोगों में अपने परिवार के उज्ज्वल भविष्य के लिए बचाने की इच्छा अधिक होती है जबकि इसके विपरीत जहाँ पारिवारिक स्नेह कम होता है बचाने की इच्छा भी कम होती है। इस दृष्टि से भारत में पारिवारिक स्नेह तो अधिक है पर बचत की क्षमता नहीं है। अतः इच्छा होते हुए भी बचतें सम्भव नहीं होती और पूँजी निर्माण की गति धीमी है।

(iii) **प्रतिष्ठा व शक्ति की लालसा**—जिन देशों के लोगों में सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान तथा आर्थिक शक्ति की लालसा होती है वे उतनी ही अधिक बचत की इच्छा करते हैं। धन ही उनकी इस मानसिक भूख की पूर्ति करने में सहायक होता है अतः पूँजी संचय की प्रवृत्ति अधिक होती है। इसके विपरीत जिन लोगों में प्रतिष्ठा व शक्ति हथियाने की लालसा नहीं होती उनमें बचत की इच्छा एवं प्रेरणा नहीं होती।

(iv) **आर्थिक सफलता की आकांक्षा**—व्यवसाय उद्योग व्यापार आदि की सफलता बहुत कुछ पर्याप्त पूँजी पर निर्भर करती है। जिन लोगों को अपने व्यवसायों की सफलता की ऊँची आकांक्षाएं होती हैं उनकी बचाने की इच्छा उन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होती है जो थोड़ी सी सफलता से ही सन्तुष्ट रहते हैं। भारत में बचत की इच्छा में कमी का यह भी बड़ा कारण है।

(v) स्वभाव—कुछ लोग स्वभाव से ही बचत करने के आदी होते हैं कुछ परोपकार की भावना से प्रेरित होकर बचत की इच्छा करते हैं अत जिन लोगो म बचत की प्रवृत्ति स्वभाव स जितनी अधिक होगी उनकी बचतें उन व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक होगी जो फिजूल एव अमितव्ययी होते हैं।

(vi) ब्याज की दरें—बचत करने की इच्छा पर ब्याज दरो का भी प्रभाव पडता है। अन्य बातो के समान रहते हुए ब्याज की दरें ऊँची होने पर बचाने की इच्छा बढती ह जबकि ब्याज दरें नीची होने पर बचाने की इच्छा कम होती है। यही मत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का था जबकि कीन्स क अनुसार ब्याज की दर प्रत्यक्ष रूप से बचतो को प्रभावित नहीं करती वरन बचतें आय पर निभर करती हैं।

III बचत करने की सुविधाएँ
(Facilities for Saving)

पूँजी निर्माण केवल बचत करने की शक्ति और बचत करने की इच्छा पर ही निभर नहीं करता वरन बचत करने की पर्याप्त सुविधाओ पर भी निभर करता है। सुविधाओ मे निम्न घटक हैं—

(1) शान्ति एव सुरक्षा यदि देश म आन्तरिक शान्ति है बाह्य आक्रमणो से पूर्ण सुरक्षा है तो लोगो को बचतो की सुविधा होगी और पूँजी निर्माण में वृद्धि होगी। इसक विपरीत अगर देश मे आन्तरिक विद्रोह फगडे लूट-पाट आदि से सम्पत्ति की सुरक्षा का भय बना रहता हो अथवा बाह्य आक्रमणो का आतक हो तो लोग पूँजीगत वस्तुओं एवं सम्पत्तियो मे विनियोग नही करेंगे और पूँजी निर्माण की गति धीमी हो जायेगी।

2) विनियोग सुविधाएँ—यदि देश म विभिन्न प्रकार के उद्योग व्यवसाय तथा वित्तीय सस्थाए जिनम लोग अपनी बचतो को सुरक्षित एव लाभप्रद समझते हैं तो पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलेगा। आज विकसित राष्ट्रो मे विनियोग की अपार सुविधाएं हैं। बैंका बीमा कम्पनियो व्यापार उद्योग आदि का जाल बिछा होने से छोटी बचतो को एकत्रित कर पूँजी निर्माण मे गतिशील की जाती हैं। अत पूँजी निर्माण की गति तेज है जबकि अद्ध विकसित राष्टो मे विनियोग सुविधाओ बीमा कम्पनियो एवं बको का नितान्त अभाव है अत पूँजी निर्माण की गति धीमी ह। भारत इसका परिचायक है। अब धीरे धीरे विकास हो रहा है।

(3) मौद्रिक स्थायित्व—आधुनिक युग म पूँजी का सचय मुद्रा के रूप म किया जाता ह अत मुद्रा क मूल्यो में अत्यधिक उतार चढाव से बचतकर्ताओं तथा विनियोजको दोनो को आर्थिक हानि का भय रहता है। अत उन देशो में पूँजी निर्माण अधिक होता है जहा मुद्रा के मूल्यो मे स्थायित्व रहता है। मौद्रिक स्थायित्व के अभाव म पूँजी निर्माण पर बुरा प्रभाव पडता है। भारत म अभी मूल्य स्थायित्व अभाव म पूँजी निर्माण पर बुरा प्रभाव पड रहा है।

(4) **सुयोग्य एव ईमानदार व्यवसायी**—बचतों को पूंजीगत सम्पत्ति मे परिवर्तन करने से ही पूंजी निर्माण होता है। जिन देशो म सुयोग्य एव ईमानदार व्यवसायी एव साहसी होते हैं तो वे जनता की बचतो को पूंजी मे परिवर्तन कर देते है और पूंजी-निर्माण मे वृद्धि होती है जबकि देश मे सुयोग्य एव ईमानदार व्यावसायियो की कमी से पूंजी-निर्माण मन्द हो जाता है। भारत मे साहसियो के अभाव में पूंजी निर्माण की गति धीमी है।

IV पूंजी निर्माण में सरकार का योग या भूमिका
(Role of Government in Capital Formation)

आजकल सरकार भी पूंजी-निर्माण म महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विकसित राष्ट्रो मे पूंजी निर्माण की प्रक्रिया एक प्रकार से स्वय सचालित है। पर अर्द्ध विकसित राष्ट्रो म निर्धनता के कुचक्र को तोड पूंजी निर्माण की प्रक्रिया को चालू करने के लिए सरकार को अनेक प्रकार से भूमिका निभानी पडती है। सरकार अपनी नीतियो से लोगो की बचत की इच्छा, क्षमता व बचत की सुविधाओ म विस्तार कर सकती है। सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओ मे सरकार पूंजी-निर्माण को प्रेरित करती है।

(अ) पूंजीवादी विकसित एव उन्नत राष्ट्रों में सरकार की भूमिका *आर्थिक स्थायित्व के लिये पूंजी-निर्माण के रूप मे होती है।* पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओ मे विनियोग मुख्यत निजी साहसी करते हैं पर मन्दी के समय जब वे विनियोग नही करते उस समय सरकार को आर्थिक स्थायित्व के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्यों जैसे सडकें, नहरे, अकाल राहत कार्यों आदि पर पूंजी विनियोग करना पडता है ताकि बेरोजगारी पर नियन्त्रण हो सके। निजी व्यक्तियो को आर्थिक अनुदान दिये जा सकते हैं या उनके सहयोग से विनियोग बढ़ाने की प्रवृत्ति से भी पूंजी-निर्माण सम्भव होता है।

(ब) समाजवादी राष्ट्रों में सरकार ही उत्पादन क्षेत्र मे सर्वेसर्वा होती है। अत अर्थव्यवस्था मे समस्त विनियोगो का उत्तरदायित्व सरकार पर ही होता है। रूस या अन्य साम्यवादी राष्ट्र इसके उदाहरण है।

(स) अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में पूंजी निर्माण में भी सरकार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। निर्धनता के कुचक्र मे फसे होने के कारण इन देशो मे पूंजी-निर्माण की गति बहुत धीमी होती है। सरकार अपनी निम्न नीतियो से इन देशो मे पूंजी निर्माण को बढावा देती है—

(1) **राजकोषीय नीति** द्वारा सरकार पूंजी निर्माण में तेजी ला सकती है। इसके अन्तर्गत सरकार (i) **प्रगतिशील करारोपण** (Progressive Taxation) से आय का भाग लेकर उन्हे पूंजी निर्माण मे प्रयुक्त कर सकती हैं (ii) उत्पादक उद्योगो मे विनियोगो पर **करों मे छूट या आर्थिक सहायता** दी जा सकती है। (iii) **अनिवार्य बचत योजनाओं** को लागू कर लोगो को बचाने के लिये बाध्य कर सकती

है। (iv) **सामाजिक ऊपरी पूँजी** (Social Capital) जैसे पुलों, सडकों, नहरों, सिंचाई व विद्युत परियोजनाओं, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं पर व्यय किया जा सकता है।

(2) **बैंकिंग व्यवस्था का विकास**—सरकार छोटी छोटी बचतो को उत्पादन कार्यों की ओर गतिशील करने के लिए देश मे बैंको, बीमा कम्पनियो तथा वित्तीय संस्थाओ का विस्तार कर पूँजी निर्माण म सहायक हो सकती है। आज भारत म इन संस्थाओ का ग्रामीण क्षेत्रो मे भी तेजी से विस्तार कर पूँजी-निर्माण की गति तेज की गई है। इसके अतिरिक्त वित्तीय संस्थाए—औद्योगिक वित्त निगम (I F C) यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, औद्योगिक विकास बैंक, औद्योगिक विनियोग एव साख निगम इसके कतिपय उदाहरण हैं।

(3) **घाटे की अर्थव्यवस्था** (Deficit Financing) द्वारा भी पूँजी-निर्माण किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत सरकार नोट छापकर उत्पादन कार्यों मे विनियोग करती है। इसमे बडी सतर्कता की आवश्यकता होती है क्योकि घाटे की अर्थव्यवस्था से अगर मुद्रास्फीति उत्पन्न हो गई तो सारा उद्देश्य ही धूमिल हो जाता है।

(4) **लोगों के दृष्टिकोणों मे परिवर्तन किया जा सकता है**—शिक्षा प्रसार से लोगो को दूरदर्शी बनाया जा सकता है। अपव्ययो जैसे प्रीतिभोजो, आभूषणो या धन को गाडकर रखने की प्रवृत्तियो मे क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर उन बचतो को उत्पादक पूँजीगत विनियोगो म प्रवाहित किया जा सकता है।

(5) **प्रो. नर्कसे के अनुसार निर्धन एव अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों मे बेकार अथवा अर्द्ध-बेकार विशाल श्रम-शक्ति को सडक निर्माण, छोटी सिंचाई परियोजनाओं खेतो पर मेड बनाने, भूमि को समतल करने कुए खोदने, आदि में प्रयुक्त कर बडे पैमाने पर पूँजी निर्माण** किया जा सकता है। भारत मे सामुदायिक योजनाए इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

(6) **सरकार द्वारा स्वय विनियोग एव उद्योगो की स्थापना** की जा सकती है इस प्रकार सरकार स्वय एक साहसी एव व्यवसायी के रूप मे कार्य करती है। भारत में सरकार ने स्वय उत्पादक, व्यावसायिक उपक्रम स्थापित किये हैं। सार्वजनिक उपक्रमो मे अभी तक लगभग 13,000 करोड पूँजी विनियोग की गई है। तीन लौह इस्पात कारखाने, हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, चितरंजन कारखाना, आदि इसके परिचायक हैं।

(7) **विदेशी पूँजी एव सहायता**—सरकार देश में आर्थिक साधनो से ही पूँजी निर्माण नहीं करती, विदेशो से भी पूँजी का आयात किया जा सकता है। भारी मात्रा मे विदेशी पूँजी आयात कर उसके समुचित उपयोग से अर्द्धविकसित

राष्ट्रो में विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ की जा सकती है। भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बडी मात्रा मे विदेशी पूँजी ग्रायात से आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

(8) मौद्रिक नीति—सरकार की उपयुक्त मौद्रिक नीति जिसमें देश मे मूल्य स्थायित्व, साख का निर्माण, अर्थव्यवस्था का मौद्रिकरण आदि पूँजी-निर्माण मे सहायक होते हैं। अर्थव्यवस्था मे मुद्रा-स्फीति (Inflation) उत्पन्न हो जाने पर लोगो मे बचत क्षमता कम हो जाती है। धीरे धीरे मूल्यो मे वृद्धि विनियोगो को प्रोत्साहन देती है। मुद्रा सकुचन (Deflation) की स्थिति विनियोगो को हतोत्साहित करती है अत मूल्यो मे सापेक्षिक स्थिरता के लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति आवश्यक है।

(9) जनसख्या नीति-ग्रर्द्ध विकसित राष्ट्रो मे जनाधिक्य (Over Population) की समस्या है और उसमे तीव्र गति से जनसख्या वृद्धि होती है जो पूँजी निर्माण मे बाधा उत्पन्न करती है। अत जनसख्या नियोजन स पूँजी निर्माण बढाया जा सकता है।

इस प्रकार भारत जैसे ग्रर्द्ध विकसित विकासशील राष्ट्रो मे आर्थिक विकास के लिए पूँजी निर्माण मे सरकार उपयुक्त तरीका का सहारा ले सकती है। अभी सरकार ने प्राय इन सभी तरीको को अपनाया है जिसके कारण भारत म पूजी निर्माण की दर राष्ट्रीय आय के 5% (1950–51) से बढकर अब 21% हो गई है।

भारत में पूजी निर्माण (पूजी सचय)
(Capital Formation or Capital Accumulation in India)

अगर पूँजी निर्माण के उपर्युक्त घटको के परिप्रेक्ष्य मे भारत मे पूँजी निर्माण की स्थिति का अवलोकन करते हैं तो यहाँ पूँजी निर्माण की धीमी गति का स्पष्टीकरण हो जाता है।

राष्ट्रीय आय के प्रतिफल के रूप में जहाँ जापान में पूजी निर्माण की दर 34% है, जर्मनी मे 30% है तथा अन्य पाश्चात्य राष्ट्रो मे 25% है वहाँ भारत मे पूँजी निर्माण की दर केवल 21% है। 1950-51 मे देश मे पूँजी निर्माण की दर केवल 5% थी वह प्रथम पचवर्षीय योजना मे बढकर 7% तथा द्वितीय योजना के अन्त मे 8% हो गई। 1965-66 मे पूजी निर्माण की दर 14% तक पहुच गई थी। पर फिर अर्थव्यवस्था में सकट उत्पन्न होने, मूल्यो मे तीव्र गति से वृद्धि होने तथा औद्योगिक क्षेत्र मे शिथिलता के कारण पूँजी निर्माण की दर 1968–69 मे घटकर 10% ही रह गई। चतुर्थ योजना के अन्त मे पूँजी निर्माण का लक्ष्य 13 8% ही रहा। अब पूँजी निर्माण की दर 21% होने का अनुमान है।

छठी योजना में घरेलू बचत को राष्ट्रीय आय के 1■7% से बढ़ाकर 1982–83 के अन्त तक 23 4% करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसके लिए सार्वजनिक बचतों में वृद्धि बैंकिंग सुविधाओं का ग्रामीण क्षेत्रों में विस्तार, अल्प बचतों को प्रोत्साहन, प्रदर्शनात्मक उपभोग पर प्रभावी नियन्त्रण तथा विनियोग प्रेरक राजकोषीय नीति अपनाने की व्यूह रचना की जा रही है।

भारत तथा अन्य अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में पूंजी निर्माण की समस्या तथा धीमी गति के कारण

(Problem of Capital formation & Causes of Slow Rate in India & Under-Developed Countries)

भारत तथा अन्य अर्द्ध विकसित देशों में पूंजी निर्माण की गति धीमी है। उनमें श्रम शक्ति का तो आधिक्य है पर पूंजी का नितान्त अभाव है। उन देशों में बचत की शक्ति कम है क्योंकि जनसंख्या का भार अधिक और आय का स्तर नीचा है। प्राकृतिक साधनों का विदोहन नहीं हो पाया है। कृषि तथा उद्योगों की उत्पादन क्षमता कम है। बचत की इच्छा भी अपेक्षाकृत कम है क्योंकि दूरदर्शिता का अभाव है आर्थिक समृद्धि की लालसा भी कम ही है। बचत की सुविधाओं का तो कहते ही बनता है। बैंकों तथा वित्तीय संस्थाओं की कमी है। साहसियों का अभाव है। अनेक बाधाओं के कारण सरकार भी पूर्ण योगदान नहीं कर पाती। अर्द्ध विकसित राष्ट्र निर्धनता के कुचक्र में फंसे हुए हैं। प्रो नर्कस ने इन देशों में पूंजी निर्माण की धीमी गति का कारण विभिन्न प्रकार के कुचक्रों (Vicious Circle) का होना बताया है। संक्षेप में भारत तथा अन्य देशों में पूंजी निर्माण की धीमी गति के निम्न कारण हैं–

(1) **आर्थिक विकास का निम्न स्तर**—भारत तथा अन्य अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में आर्थिक विकास का स्तर बहुत नीचा है प्राकृतिक साधनों का विदोहन नहीं हो पाया है। देश में कृषि एवं उद्योगों का विकास नहीं हुआ है जिससे देश में उत्पादन और आय बहुत कम होती है।

(2) **निम्न आय स्तर**—आर्थिक पिछड़ेपन व जनसंख्या के अत्यधिक भार से प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है अतः बचत की क्षमता कम है। एक भारतीय की प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income) केवल 1084 रु है। उससे बचत की क्या अपेक्षा की जा सकती है।

(3) **प्रदर्शनात्मक प्रवृत्ति एवं धन का दुरुपयोग**—भारत में आय का स्तर ही नीचा नहीं वरन जिन लोगों की आय अधिक है वे भी उसको उत्पादक कार्यों में लगाने की बनिस्पत अनुत्पादक कार्यों में जैसे आभूषणों भव्य भवनों एवं विलासित ओर व्यय कर देते हैं। इससे पूंजी निर्माण की गति धीमी है।

(4) **आधारभूत सुविधाओं का अभाव**—भारत तथा अन्य देशों में पूंजी निर्माण की धीमी गति का एक प्रमुख कारण यह भी है कि उनमें आर्थिक क्रियाओं

के विस्तार, औद्योगीकरण व कृषि के विकास के लिए परिवहन एव सचार, विद्युत सिचाई सुविधाएं, शिक्षा, प्रशिक्षण आदि का नितान्त अभाव है।

(5) **सहयोगी साधनों का अभाव**—भारत में पूंजी निर्माण की गति धीमी होने में सहयोगी साधनो का अभाव भी उत्तरदायी है। देश मे कुशल प्रबन्धको, दक्ष एव सुयोग्य उद्यमिया व साहसिया की कमी है अत पूंजी निर्माण की कमी है। धीरे-धीरे वृद्धि होने से अब गति तेज हुई है।

(6) **वित्तीय सस्थाओं का अभाव**—भारत तथा पिछडे राष्ट्रों मे बैंक, बीमा कम्पनियो या अन्य वित्तीय सस्थाओ की देश की आवश्यकताओ की तुलना में बहुत कमी है। अब यद्यपि देश मे बैंको का जाल बिछाने का प्रयास किया जा रहा है, वित्तीय सस्थाओ की भी स्थापना की गई है, फिर भी अभाव ही है।

(7) **जनसख्या में तीव्र गति से वृद्धि**—भारत तथा अन्य अर्द्ध विकसित राष्ट्रों में जनसख्या मे तीव्र वृद्धि भी पूंजी निर्माण मे बाधक है। जहा भारत में विकास की दर 4 से 5% है वहा जनसख्या म वृद्धि की दर 2·5% है। यह दर तेजी से बढी है। जहा 1951–61 में जनसख्या वृद्धि की दर 2 1% थी वह अब 2 5% तक पहुच गई है। इससे अर्थव्यवस्था पर भार मे वृद्धि हुई है।

(8) **विनियोग की प्रेरणाओं का अभाव**—प्रो नर्कसे के अनुसार अर्द्ध-विकसित देशो में आर्थिक गरीबी और सीमित आवश्यकताओ के कारण बाजार सीमित है अत बाजार की सीमितता से विनियोगो के लिए कोई प्रेरणा नही है और पूंजी निर्माण नही हो पाता।

(9) **बचतों का अनुत्पादक उपयोग**—अर्द्ध विकसित देशो की जनता की आय बहुत कम है अत बचतो का स्तर भी नीचा है। थोडी बहुत बचत करने वाले भी इन बचतो को उत्पादक कार्यो मे न लगाकर स्वर्ण आभूषणो, मृत्यु भोज, विवाह शादी आदि अनुत्पादक कार्यों पर व्यय कर देते हैं अथवा जमीन मे गाडकर रख देते हैं। अत पूंजी निर्माण नही हो पाता।

(10) **विविध**—शिक्षा के अभाव मे दूरदर्शिता का अभाव है, सामाजिक अपव्यय—प्रीतिभोज, आभूषणा व प्रदर्शनो पर व्यय, उच्च जीवन स्तर की अभिलाषा की कमी, सकुचित बाजार, श्रमिको की निम्न उत्पादन क्षमता आदि प्रमख हैं।

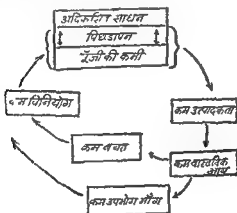
गरीबी (निर्धनता) तथा आर्थिक पिछड़ेपन का दुष्चक्र
(Vicious Circle of Poverty & Backwardness)

प्रो. नर्कसे के अनुसार भारत जैसे अर्द्ध विकसित देशो मे पूंजी निर्माण की धीमी गति का प्रधान कारण देश मे विभिन्न प्रकार के दुष्चक्रो का जोर है। **इन देशों मे अविकसित साधनों पिछड़ेपन व पूंजी की कमी के कारण निम्न उत्पादकता होती है जिससे वास्तविक आय नीची है और वास्तविक आय कम होने से बचतें**

कम होती हैं और अन्तत पूँजी की कमी (Capital Deficiency) रहती है। इस प्रकार पूँजी निर्माण की गति धीमी है।

प्रो नर्कसे के अनुसार अल्प विकसित राष्ट्रों मे पूँजी निर्माण में पूँजी की माग और पूर्ति दोनों पक्षों की ओर कुचक्र है। पूँजी के माग पक्ष पर दृष्टिपात करने पर देखते हैं कि आय का निम्न स्तर व निर्धनता के कारण व्यय का नीचा स्तर और उपभोग व व्यय कम होने से विनियोग कम, कम विनियोग होने से पू जीगत वस्तुओं की मांग कम, अत उत्पादकता, रोजगार तथा राष्ट्रीय आय कम रहती है। इसी प्रकार पूँजी के पूर्ति पक्ष का आर्थिक कुचक्र भी महत्वपूर्ण है। निर्धनता व आय का नीचा स्तर होने से बचतें नीची तथा पूँजी निर्माण कम, श्रम व पूँजी का अल्प अनुपात होने से उत्पादकता, रोजगार व राष्ट्रीय आय नीची रहती है और देश निर्धन बना रहता है।

आर्थिक पिछड़ेपन का समग्र चित्र निम्न प्रकार है जो बताता है कि किस प्रकार अविकसित राष्ट्र निर्धनता के कुचक्र मे फसे हुए हैं—



इन कुचक्रों को तोड़े बिना भारत तथा अर्द्ध विकसित राष्ट्रों म निर्धनता, आर्थिक पिछड़ेपन तथा पूँजी निर्माण की कमी को दूर करना कठिन है।

अर्द्ध-विकसित देशों में प्रच्छन्न बेरोजगारी (छिपी बेरोजगारी) पूँजी निर्माण का स्रोत

(Disguised Unemployment As a Source of Capital formation in Under-Developed Countries)

प्रो नर्कसे, लेविस तथा बुकानन आदि अर्थशास्त्रियों ने अल्प विकसित देशों म व्याप्त प्रच्छन्न (छिपी) बेरोजगारी (Disguised Unemployment) का पू जी

निर्माण का एक महत्वपूर्ण स्रोत माना है। प्रच्छन्न बेरोजगारी अथवा छिपी-बेरोजगारी का अभिप्राय कृषि एव ग्रामीण क्षेत्रो में उस बेकारी से है जिसम सयुक्त परिवार प्रणाली एव जनाधिक्य के दबाव से अधिकाश श्रमिक कृषि कार्यों मे लगे होते हैं। बाह्य रूप से तो वे कृषि में पूर्ण रोजगार में लगे दिखते हैं किन्तु वास्तव मे वे अदृश्य बेरोजगार होते हैं। उनका कुल उत्पादन मे योगदान नगण्य होता है। अगर ऐसे छिपे बेरोजगारो को कृषि कार्य से हटा भी दिया जाय तो भी कृषि के कुल उत्पादन मे कोई कमी नहीं होगी। तकनीकी दृष्टि से ऐसे छिपे बेरोजगारों की सीमान्त उत्पत्ति लगभग शून्य या ऋणात्मक होती है। उदाहरणार्थ एक कृषक परिवार के 10 श्रमिक 5 एकड भूमि पर कार्यरत हो और कुल वार्षिक उत्पादन 200 टन है। अब अगर उसम से 6 श्रमिको को कृषि कार्य से हटा भी दिया जाय तो भी कुल उत्पादन 200 टन रहेगा तो ये 6 श्रमिक जो बाह्य रूप मे कृषि कार्य में रोजगार मे लगे हुए थे उनकी कृषि मे सीमान्त उत्पत्ति शून्य है अत ये 6 श्रमिक प्रच्छन्न बेरोजगारी (छिपी बेरोजगारी) की श्रेणी मे आते हैं। इसी प्रकार के अन्य श्रमिक भी छिपे बेरोजगार होते हैं।

प्रो नर्क्से ने सुझाव दिया कि अगर इन छिपे बेरोजगार श्रमिकों को कृषि से हटा कर किन्हीं साधारण पूंजी निर्माण कार्यों-सड़कें, नहर निर्माण, बांध बनाना, भूसरक्षण कार्य, वृक्षारोपण, गृह निर्माण, आदि में लगा दिया जाय तो वैकल्पिक रोजगार के कारण न केवल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि होगी वरन् अनुत्पादक श्रम वैकल्पिक रोजगार में लगकर आय अर्जित करने के साथ-साथ उत्पादक पूंजी का निर्माण करेंगे। जो श्रमिक पहले अनुत्पादक होते हुए उपभोग करते थे वे अब उत्पादक होकर अतिरिक्त आय को पूंजी निर्माण मे प्रयुक्त करेंगे। इस प्रकार अर्थव्यवस्था मे प्रच्छन्न या छिपी बेरोजगारी पूंजी निर्माणका एक महत्वपूर्ण स्रोत है।

प्रो. कुरिहारा ने भी प्रच्छन्न बेरोजगारी को पूंजी निर्माण का स्रोत माना है उसके अनुसार कृषि क्षेत्र के अन्य रोजगार की स्थिति में निहित बचत सभावना (Saving Potential) वास्तविक बचत बन पूंजी निर्माण में योगदान दे सकती है।

छिपी बेरोजगारी (प्रच्छन्न बेरोजगारी) से पूंजी निर्माण में बाधाएं, समस्याएं एव उनका समाधान

(Problems of Capital Formation from Disguised Unemployment and their Solution)

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रच्छन्न बेरोजगारी से पूंजी निर्माण की प्रक्रिया बडी सरल लगती है किन्तु व्यवहार मे अनेक बाधाएं आती हैं जिनमे निम्न उल्लेखनीय हैं —

(1) **प्रच्छन्न अथवा छिपी बेरोजगारी का सही-सही मूल्याकन कठिन**—अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओ मे कृषि की प्रधानता होती है और जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि एव ग्रामीण क्षेत्रो मे कार्यरत होता है वैकल्पिक रोजगार का नितान्त अभाव

होता है अत विस्तृत कृषि क्षेत्र मे विशाल जनसंख्या मे से छिपे बेरोजगारो की गणना एव मूल्यांकन कठिन कार्य होता है।

इस समस्या का समाधान कृषि में लगे अल्प रोजगार वाले श्रमिको को वैकल्पिक रोजगार का आकर्षण देकर किया जा सकता है।

(2) औजारों एवं उपकरणों की समस्या—कृषि क्षेत्र मे अतिरिक्त श्रमिको को कृषि क्षेत्र से हटाकर पूंजी निर्माण योजनाओ म लगाने पर उनके लिय औजारो एव उपकरणो की व्यवस्था की समस्या आती है। अर्द्ध-विकसित देशो म पहले ही इनकी कमी होती है।

इस समस्या का समाधान करने के लिये अल्प विकसित देशो मे ऐसी पूँजी गत-योजनाओ को कार्यान्वित करना चाहिये जो (i) श्रम प्रधान हों और उनम कम पूंजी से ही अधिक लोगो को रोजगार पर लगाया जा सके। (ii) साधारण उपकरणों एव औजारों से शुरुआत करके धीरे-धीरे उनमे सुधार लाया जा सकता है। (iii) कृषि उपकरणो का हस्तान्तरण—कृषि क्षेत्र से अतिरिक्त श्रम को हटाने से जो कृषि उपकरण एव औजार उपलब्ध होंगे उन्हे पूंजीगत कार्यों मे हस्तान्तरण करने से भी कुछ सीमा तक समस्या हल हो सकती है। इसके लिए यह भी सुझाव दिया जाता है कि ऐसे कार्य कृषि क्षेत्रो में ही प्रारम्भ जायें किये ताकि उन्ही उपकरणो का दोहरा प्रयोग हो सके।

(3) कृषि क्षेत्र में बचे श्रमिकों के बढ़ते उपभोग की समस्या—जब कृषि से अतिरिक्त श्रम को हटाकर पूँजीगत कार्यों मे लगाया जाता है तो भी कृषि उत्पादन मे कोई कमी नही होने से कृषि में बचे श्रमिको की प्रतिव्यक्ति आय बढ जाती है। वे अपनी बढी हुई आय के कारण अपने उपभोग को बढाते हैं इससे उनके बिक्री योग्य खाद्यानो की पूर्ति कम हो जाती है। बढे हुए उपभोग की सीमा तक पूँजी निर्माण मे कमी आती है।

इस समस्या के समाधान के लिये निम्न उपाय किये जा सकते हैं—

(i) कृषि कर लगाकर उसे खाद्यान्न के रूप मे वसूल किया जाना चाहिय।

(ii) लगान वृद्धि को मुद्रा म वसूल न कर खाद्यान्न के रूप म लिया जाना चाहिए।

(iii) लेवी वसूल करना —सरकार किसानों से निश्चित मूल्य पर कृषि उत्पादनो एव खाद्यान्नों की वसूली करके उनके बढते उपभोग को रोक सकती है। अनिवार्य खाद्यान्न वसूली उसी का एक रूप है।

(iv) उपयुक्त मूल्य नीति का अनुसरण करके सरकार कृषकों का अधिकाधिक खाद्यान्न बेचने को प्रेरित कर सकती है।

(v) सरकार किसानो को खाद्यान्नो की निश्चित मात्रा बचने को बाध्य कर सकती है।

(4) **हस्तातरित्त श्रमिकों को खाद्यान्न की पूर्ति एवं वित्त की पूर्ति की समस्या**—जब कृषि क्षेत्र से अनुत्पादक श्रमिको को हटाकर उन्हे पूँजीगत निर्माण योजनाओ मे लगाया जाता है तो उन्हे उपभोग के लिये खाद्यान्न आदि उपभोग वस्तुओ की आवश्यकता पडती है। उनकी आय मे वृद्धि से उनका उपभोग भी बढता है अत अधिक उपभोग वस्तुओ की पूर्ति की समस्या आती है। उनको भुगतान करने के लिये वित्तीय साधनो की भी आवश्यकता पडती है।

इस समस्या के समाधान के लिए प्रो नर्कसे ने सुझाव दिया कि अगर कृषि क्षेत्र म बचे श्रमिक अपने परिवार के हस्तान्तरित सदस्यो को उसी प्रकार खाद्यान्न उपलब्ध करते रहे जैसे वे उन्ह अनुत्पादक होने पर भी दे रहे थे तो पूंजीगत निर्माण कार्यों मे सलग्न श्रमिको को स्वत ही खाद्यान्नो की पूर्ति एव वित्त व्यवस्था हो जायेगी स्पष्ट है, पूंजीगत योजनाओ मे लगे श्रमिको की वित्त व्यवस्था कृषि म बचे श्रमिको को करना चाहिये। यहा यह उल्लेखनीय है कि अनुत्पादक श्रमिको का पूंजीगत योजनाओ म रोजगार से उनकी बढी हुई आय उन्हे अधिक उपभोग को प्रेरित करेगी। इस समस्या का समाधान उनके बढ़े हुए उपभोग को नियन्त्रित करने मे निहित है।

(5) **सगठनात्मक समस्याए**—कृषि एव ग्रामीण क्षेत्रो मे अनुत्पादक श्रमिको के विशाल समुदाय को पूंजीगत योजनाओ मे नियोजित करने में अनेक सगठनात्मक समस्याए उत्पन्न होगी। उनके लिये उपकरण जुटाना, आवश्यक वित्तीय व्यवस्था करना, विशाल जन समुदाय को उत्पादक कार्यों मे हस्तान्तरित करना, उनके आवास एव प्रशासन की समस्या आदि महत्वपूर्ण हैं।

इस समस्या का समाधान करने के लिये ग्रामीण एव विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था को आधार बनाया जा सकता है। इसमे ग्रामीण क्षेत्रो मे ही उनके सामूहिक हित की योजनाओं मे उनका सहयोग लिया जाना चाहिये। वे स्वय उनकी वित्त व्यवस्था करें सरकार उन्हे तकनीकी एव प्रशासनिक मार्गदर्शन दे तो अवश्य समस्या हल हो सकती है।

(6) **पूंजीगत-निर्माण में रिसाव (Leakage) की समस्या**—ग्रामीण एव कृषि क्षेत्र के अनुत्पादक बेकार श्रमिको को उत्पादक पूंजीगत योजनाओ मे रोजगार प्रदान करने से जो बचत सभावना (Saving Potential) बनती हैं वही पूंजी-निर्माण का स्रोत है। छिपे बेरोजगारो को उत्पादक कार्यों में लगाने से उत्पादन मे सम्पूर्णवृद्धि मे अनेक रिसावो (Leakages) की समस्याए आती हैं। रिसाव पूंजी-निर्माण को उस सीमा तक कम कर देते है। यह रिसाव (Leakage) मुख्यत निम्न कारणो से होता है। ये सब सम्भाव्य बचतो एव पूंजी निर्माण मे कमी लाते हैं—

(i) कृषि क्षेत्र में बचे श्रमिको के उपभोग मे वृद्धि
(ii) छिपे बेरोजगारो को उत्पादक रोजगार मिलने पर उनके उपभोग मे वृद्धि,
(iii) खाद्य एव उपभोग सामग्री को पूंजीगत योजनाओ तक लाने की लागत (Transportation Cost), तथा

(IV) अपव्यय एव उपकरणो की घिसावट आदि ।

इस प्रकार के रिसाव (Leakage) की समस्या का समाधान करने के लिये सरकार को कृषि क्षेत्र मे बचे श्रमिको के उपभोग वृद्धि पर प्रभावी नियत्रण हेतु (i) लगान म वृद्धि (ii) अनिवार्य खाद्यान्न वसूली, (iii) ऊँचे मूल्यो से खाद्यान्नो की बिक्री योग्य पूर्ति मे वृद्धि, तथा (iv) अनिवार्य बचतो की व्यवस्था करना चाहिये। छिपे बेरोजगारों के उपभोग पर रोक लगाना भी आवश्यक है। यथासम्भव पूँजीगत योजनाए ग्रामीण क्षेत्रो मे ही शुरू की जायें ताकि खाद्यानो की स्थानीय पूर्ति से परिवहन लागतो मे बचत की जा सके।

निष्कर्ष—इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्द्ध-विकसित एव विकासशील राष्ट्र अपने ग्रामीण क्षेत्रो में व्याप्त प्रच्छन्न बेरोजगारी का प्रयोग पूँजी-निर्माण में कर सकते हैं किन्तु इसमें अनेक व्यावहारिक समस्याए आती हैं जिसमे उपकरणों एव औजारो की व्यवस्था, पूँजीगत योजनाओं का चयन, कृषि में बचे श्रमिकों का बढता उपभोग तथा छिपे बेरोजगारों में उपभोग वृद्धि की प्रवृत्ति के साथ-साथ अनेक रिसावों (Leakages) की समस्या आती है। अतः सरकार को कृषि मे अल्प रोजगार वाले अनुत्पादक श्रमिकों को साधारण पूँजीगत परियोजनाओं में लगाकर देश में उत्पादक पूँजी का निर्माण किया जा सकता है पर इसके लिये कृषि एव पूँजीगत कार्यों मे लगने वाले श्रमिकों के उपभोग वृद्धि पर प्रभावी नियन्त्रण होना चाहिये। कृषि मे सलग्न कृषक को स्वय ही स्थानीय योजनाओं को कार्यान्वित कर पहले की भांति ही पूँजीगत परियोजनाओं मे लगे श्रमिकों को खाद्यान्न उपलब्ध करना चाहिये। यद्यपि कुछ रिसाव अवश्य होगा उसकी पूर्ति विदेशो से खाद्यान्न एव पूँजीगत सामान मगाकर की जा सकती है।

भारत तथा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों मे पूँजी निर्माण वृद्धि के उपाय
(Measures to Promote Capital Formation in India or other Under developed Countries)

इन देशो मे पूँजी निर्माण में सरकार महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है जैसा कि भारत मे किया जा रहा है। सरकार की पूँजी निर्माण मे भूमिका का इसी अध्याय के पूर्व पृष्ठो मे सविस्तार वर्णन किया गया है। यहा सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि सरकार को पूँजी निर्माण सम्वर्द्धन के लिए निम्न उपाय करने चाहिये—(1) अल्प बचतों को प्रोत्साहन—ये बचतें ऐच्छिक आन्तरिक बचतें होती है। राजकोय बचतें हो सकती हैं तथा व्यावसायिक बचतें हो सकती हैं। इसके लिए राजकोषीय नीति मे आवश्यक परिवर्तनो की आवश्यकता होती है। (2) बचतों को

1 इन उपायो के विस्तृत विवरण के लिए पिछले पृष्ठो में "पूँजी निर्माण मे सरकार की भूमिका" शीर्षक दिया जा सकता है।

गतिशील बनाने के लिए वित्तीय सस्थाओ का विस्तार करना चाहिये। (3) बचतो को वास्तविक पूँजी विनियोगो मे प्रेरित करना चाहिये। (4) वर्तमान पूँजी के समुचित एव कुशल उपयोग को बढावा दिया जाना चाहिये। (5) श्रम साधनो का सर्वोत्तम उपयोग तथा अदृश्य बेकारो का प्रयोग सामाजिक पूँजी निर्माण नहरें, सडक भूमि सरक्षण आदि पर किया जाना चाहिये। (6) अप्रयुक्त साधनो का उपयोग करने को बढावा देना चाहिये। (7) विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देकर देश मे आर्थिक विकास की गति तेज करनी चाहिये। (8) सार्वजनिक उपक्रमों की पूरी पूरी क्षमता के प्रयोग व लाभ अर्जन का प्रयास किया जाना आवश्यक है ताकि उनम अर्जित लाभ का पुनर्विनियोग कर पूँजी निर्माण की गति तेज की जा सके। (9) भुगतान सन्तुलन पक्ष म करने के लिए तथा विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए आयातो मे कमी और निर्यातो मे वृद्धि का प्रयास किया जाना चाहिये। (10) विवेकपूर्ण करारोपण नीति से साधनो का हस्तान्तरण पूँजी निर्माण एव उत्पादक उद्योगो मे किया जा सकता है। (11) जनसख्या पर प्रभावी नियन्त्रण भी देश के साधनो पर अत्यधिक भार को कम करके अधिक पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन दे सकता है। (12 पूँजी निर्माण की गति तेज करने के लिए अधिक उत्पादन एव कम उपभोग अर्थात् बचत एव विनियोग को राष्ट्रीय नीति का अविभाज्य अग बनाना चाहिये। (13) फिजूल एव प्रदर्शनात्मक प्रभाव वाले खर्चों को कम करके उन साधनो को उत्पादक कार्यों म विनियोजित करना चाहिये।

परोक्षोपयोगी प्रश्न

1 पूँजी निर्माण (पूँजी सचय) से आप क्या समझते हैं ? पूँजी निर्माण किन किन बातो पर निर्भर करता है ?

अथवा

पूँजी निर्माण क्या है ? पूँजी निर्माण को प्रोत्साहित करने वाले घटको का उल्लेख कीजिये। (I yr T D C Raj 1976)

(सकेत—प्रथम भाग म पूँजी निर्माण का अर्थ बताइये दूसरे भाग मे पूँजी निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्वो का सक्षेप म उल्लेख कीजिये।)

2 पूँजी निर्माण से आपका क्या अभिप्राय है ? भारत जैसे अल्प विकसित देशो मे पूँजी निर्माण की समस्या एव पूँजी निर्माण की दर धीमी क्यो है ? ऐसे देशो मे सरकार पूँजी निर्माण मे क्या योगदान कर सकती है ?

(सकेत—प्रथम भाग म पूँजी निर्माण का अर्थ दूसरे भाग मे पूँजी निर्माण मे कमी के कारण बताकर तीसरे भाग मे सरकार की भूमिका शीर्षक के अन्तर्गत दी गई विषय सामग्री का उल्लेख कीजिये।)

3 किसी देश मे पूँजी निर्माण (या पूँजी की पूर्ति) किन किन तत्वो से प्रभावित होता है ? अल्प विकसित देशो म पूँजी निर्माण की गति धीमी क्यो है ? (I yr Raj. T D C 1974)

(सकेत—प्रथम भाग मे पूँजी-निर्माण का सक्षेप म ग्रर्थ बताकर दूसरे भाग म बचत की इच्छा, बचत की शक्ति, बचत की सुविधा तथा सरकार के योग के शीर्षकों के अन्तर्गत दी गई सामग्री का सक्षेप मे विवरण दीजिए। तीसरे भाग म भारत म धीमी प्रगति के कारण बताइये।)

4 पूँजी निर्माण क्या है ? अर्द्ध-विकसित देशों म पूँजी निर्माण की दर धीमी क्यो होती है ? (I yr T D C Raj 1974, 1980)

(सकेत—प्रथम भाग म पूँजी निर्माण का अर्थ शीर्षकानुसार देकर दूसरे भाग मे पुस्तक मे दिए गए धीमी गति के कारणो को दीजिये।)

5 पूँजी क्या है ? उन तत्वों की विवेचना कीजिये जो पूँजी के सचय को प्रभावित करते हैं ? (I yr T D C 1977)

(सकेत—पूँजी का अर्थ स्पष्ट करके, पूँजी सचय को प्रभावित करने वाले तत्वो की विवेचना अध्यायानुसार देना है।)

6 गरीबी के कुचक्र को समझाइये। प्रच्छन्न बेरोजगारी कैसे और किस सीमा तक पूँजी निर्माण मे बदली जा सकती है। (Raj Iyr T D C. 1978)

7 पूँजी निर्माण से क्या अभिप्राय है ? पूँजी सचय को प्रभावित करने वाले घटकों का वर्णन कीजिये। (I yr Arts 1979)

(सकेत—प्रश्न पाच के उत्तर सकेत के अनुसार देना है।)

12

आय का चक्राकार प्रवाह

(Circular Flow of Income) ✓

आय के वृत्ताकार प्रवाह का अभिप्राय

उत्पादन के विभिन्न साधनो के पारस्परिक सहयोग से उत्पादन कार्य सम्पन्न होता है। उत्पादन मे सलग्न व्यक्तियो को उत्पादन साधनो के स्वामियो के रूप मे प्रतिफल प्राप्त होता है जैसे भूमि को लगान, श्रम के लिये मजदूरी या वेतन, पूँजी के लिए ब्याज और साहसी के लिये लाभ प्राप्त होता है। दूसरी ओर व्यावसायिक फर्में इन उत्पादन साधनो के प्रयोग से वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन करती है। उत्पादन के साधनो के स्वामी केवल साधन पूर्तिकर्ता (Resources Suppliers) ही नही है। वे साथ साथ उपभोक्ता भी है। अत वे साधनो से अर्जित आय को उपभोग पर व्यय करते हैं। इससे व्यावसायिक फर्मों को वस्तुओ और सेवाओ की बिक्री से आय प्राप्त होती है जिसको वह पुन वस्तुओ और सेवाओ के पुनरुत्पादन के लिए उत्पादन के साधनो पर व्यय करते हैं। यही नही राज्य का आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप बढ जाने से वह भी आय प्रवाह को प्रभावित करता है। एक सवृत्त अर्थ व्यवस्था (Closed Economy) म तो आय प्रवाह के चार ही आधार स्तम्भ है। पर एक अनावृत्त अर्थव्यवस्था (Open Economy) मे जिसका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से भी आर्थिक सम्बन्ध होता है आय प्रवाह देश की सीमाओ तक ही सीमित नही रहता वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक बढ जाता है।

स्पष्ट है कि राष्ट्रीय उत्पादन की प्रक्रिया मे वस्तु प्रवाह, और आय प्रवाह दोनो मे परस्पर समानता होती है दूसरे शब्दो म GNP≡GNI≡GNE होते हैं इस कारण रिचर्ड लिप्से ने आय के चक्राकार प्रवाह को इस प्रकार परिभाषित किया है, आय का चक्राकार प्रवाह घरेलू फर्मों व घरेलू परिवारो के बीच भुगतानो व प्राप्तियो का प्रवाह होता है (The Cricular Flow of Income is the flow of payments and receipts, between domestic firms and domestic households—R G Lipsey) आगे चित्र 1 मे देखने से ज्ञात होता है कि एक ओर परिवार उत्पादन साधनो की पूर्ति करते हैं और बदले मे लगान, मजदूरी, वेतन,

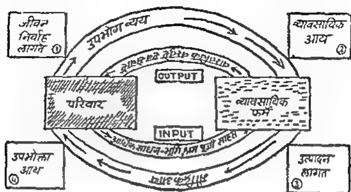
ब्याज लाभ आदि के रूप में फर्में उन्हें आय-प्रवाह करती हैं. परिवार इस आय को वस्तुएँ एवं सेवायें खरीदने में लगाते हैं इससे परिवारों से फर्मों को आय प्रवाह तथा फर्मों से परिवारों को वस्तु प्रवाह होता है। जब तक परिवार समस्त आय को व्यय कर देते हैं तब तक तो आय प्रवाह सदैव एक सा रहता है किन्तु व्यवहार में आय-प्रवाह अनेक कारणों से घटता बढ़ता है। जहा बचतो में वृद्धि, उपभोग म कमी आयातों में वृद्धि, करारोपण म वृद्धि तथा सरकारी व्यय में कमी आय-प्रवाह को घटाने वाले तत्व हैं वहां विनियोगो मे वृद्धि, निर्यात म वृद्धि, सरकारी व्यय में वृद्धि तथा संग्रह म कमी आय-प्रवाह को बढाने वाले घटक हैं।

आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था म तो उत्पादन क्रिया सरल थी। पर धीरे-धीरे आर्थिक विकास के साथ-साथ जटिल श्रम-विभाजन, वित्तीय संस्थाओं का विकास, राज्य के हस्तक्षेप तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं ने आर्थिक जटिलताओं म वृद्धि की है। विभिन्न उत्पादन साधनों के पारस्परिक सम्बन्धों ने आय के चक्राकार प्रवाह को जन्म दिया है। आय का उपार्जन सामान्यतः मुद्रा के रूप में होता है अतः आय प्रवाह (Income Flow) और मुद्रा प्रवाह (Money Flow) एक ही है। आय के चक्राकार प्रवाह को समझने के लिये हम पहले अर्थव्यवस्था का एक अत्यन्त सरल रूप लेते हैं जिसम राज्य का हस्तक्षेप, वित्तीय संस्थाओं तथा विदेशी व्यापार आदि का नितान्त अभाव है। इसके बाद वास्तविक आर्थिक जीवन के निकटतम आय प्रवाह का वर्णन करेंगे।

1. आय प्रवाह का एक सरल चित्रण
(A Simplified Picture of Circular Flow of Income)

प्रत्यक अर्थव्यवस्था मे उत्पादन क्रिया के दो आधारभूत स्तम्भ हैं (i) परिवार (Households) तथा (ii) व्यावसायिक फर्में (Business Firms)। एक स्वतन्त्र उपक्रम आर्थिक प्रणाली म एक ओर व्यक्तियों एवं परिवारों का उत्पादन के साधनो भूमि, श्रम, पूँजी एवं साहस पर स्वामित्व होता है और वे साधनो के पूर्तिकर्त्ता (Resources Suppliers) के रूप म साधनो का प्रतिफल भूमि से लगान, श्रम मे मजदूरी, वेतन, पूँजी से ब्याज और साहस से लाभ—प्राप्त करते हैं। यह व्यावसायिक फर्मों से परिवारों को मौद्रिक आय-प्रवाह को व्यक्त करता है। आर्थिक साधनो को दिया जाने वाला प्रतिफल परिवारों के लिए आय है जबकि व्यावसायिक फर्मों के लिये लागत (Cost of Production) है। फर्में उत्पत्ति साधनों के सहयोग से वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करती हैं जिन्हें परिवार (Households) उपभोग के लिए क्रय करते हैं। परिवार केवल आर्थिक साधनों के पूर्तिकर्त्ता (Resources Suppliers) ही नहीं अपितु उपभोक्ता (Consumers) भी हैं अत. अपनी उपार्जित आय को वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय करते हैं। व्यावसायिक फर्में अपने उत्पादकों को बेचकर आय प्राप्त करती हैं और पुनरुत्पादन के लिए उत्पादन साधनों

को क्रय करती है। इस प्रकार उत्पादन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसका चित्रण चित्र 1 मे दिया गया है।



चित्र–1

चित्र–1 म एक ओर परिवार (Households) हैं और दूसरी ओर व्यावसायिक फर्मे (Business Firms) हैं। व्यावसायिक फर्में वस्तुओ और सेवाओ के उत्पादन के लिये परिवारो से उत्पत्ति साधन (भूमि, श्रम, पूँजी और साहस) प्राप्त करती है जो समाज की दृष्टि से पडतें (Inputs) हैं। फर्में इनको उत्पादन कार्य मे प्रयुक्त करती हैं और वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन कर लेती है। परिवारो को उत्पत्ति साधनो के पूर्तिकर्त्ता के रूप मे प्रतिफल (Reward) दिया जाता है जो फर्मों की दृष्टि से उत्पादन लागत (Cost of Production) है पर परिवारो के लिए आय है वे उपभोक्ता के रूप मे इस आय को व्यय करते हैं जिसके बदले मे फर्मे वस्तुओ और सेवाओ का विक्रय करती हैं। परिवारो का उपभोग व्यय उनके जीवन निर्वाह लागत (Cost of Li ing) को व्यक्त करता है पर व्यावसायिक फर्मों के लिये यह व्यावसायिक प्राप्तिया (Business Receipts) हैं। इस प्रकार आय प्राप्ति एव व्यय का क्रम चलता रहता है और आय का प्रवाह परिवारो एव व्यावसायिक फर्मो के मध्य निरन्तर चलता रहता है।

चित्र से स्पष्ट है कि परिवारो के द्वारा साधन पूर्ति व्यावसायिक फर्मों के लिए पडतें (Inputs) हैं। फर्में इनसे वस्तुयें और सेवायें उत्पन्न करती है जो समाज मे उत्पादन (Output) को व्यक्त करता है। चित्र के निचले भाग मे परिवारो द्वारा साधनों की पूर्ति तथा बदले मे प्रतिफल के रूप मे आय दर्शायी गयी है जबकि चित्र के ऊपरी भाग मे परिवारों द्वारा व्यय और उसके बदले में वस्तुओं और सेवाओं की प्राप्ति बताई गई हैं। भीतरी वृत्त वास्तविक वस्तु प्रवाह को बताता है जबकि आय और व्यय का बाहरी वृत्त मौद्रिक प्रवाह को व्यक्त करता है।

चित्र–1 में चित्रित अवस्था एक गतिहीन तथा राज्य हस्तक्षेप विहीन अर्थव्यवस्था का निरूपण करती है जिसमें अर्थव्यवस्था में न कोई बचत है और न कोई विस्तार या संकुचन। परिवारों (Households) की आय और व्यय दोनों बराबर हो जाते हैं। उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का कुल मूल्य उत्पादन साधनों के कुल मूल्य के बराबर है। परिवार उपभोक्ताओं के रूप में अपनी समस्त आय उपभोग वस्तुओं व सेवाओं पर व्यय कर देते हैं अतः कोई बचत नहीं होती। इसी प्रकार फर्में अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के विक्रय से प्राप्त समस्त आगम को उत्पादन में प्रयुक्त साधनों को प्रतिफल के रूप में व्यय कर देती हैं। अतः लागत और आमद दोनों बराबर हो जाने से कोई व्यावसायिक बचत नहीं होती और विनियोग का अभाव रहता है।

2 व्यवहार में आय का चक्राकार प्रवाह

(A More Realistic Picture of Circular Flow of Income)

उपयुक्त विवरण में आय के चक्राकार प्रवाह का बहुत ही सरल रूप चित्रित किया है जो अर्थव्यवस्था के वास्तविक प्रवाह से हो बहुत भिन्न है। व्यवहार में केवल परिवार और व्यावसायिक फर्में ही अर्थव्यवस्था के आधारभूत घटक नहीं हैं। इन घटकों के अतिरिक्त तीन मुख्य घटक और हैं—(1) सार्वजनिक संस्थायें (Public Authorities) अर्थात् राज्य (Government)। (2) पूँजी बाजार (Capital Market) तथा (3) शेष संसार (Rest of the World)। इन घटकों का आय प्रवाह से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अध्ययन की दृष्टि से हम इन घटकों के प्रभाव को दो अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचन करेंगे—(A) संवृत्त अर्थव्यवस्था में आय का चक्राकार प्रवाह तथा (B) अनावृत्त अर्थव्यवस्था में आय का चक्राकार प्रवाह।

(A) संवृत्त अर्थव्यवस्था में आय का चक्राकार प्रवाह

(Circular Flow of Income in a Closed Economy)

एक संवृत्त अर्थव्यवस्था (Closed Economy) उस अर्थव्यवस्था को कहा जाता है जिसकी आर्थिक गतिविधियां अपने देश की सीमाओं तक सीमित हैं। ऐसी अर्थव्यवस्थाओं का कोई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध नहीं होता न वस्तुओं और सेवाओं के आयातों के भुगतान की समस्या होती है और न निर्यातों के लिए आगम की समस्या ही। इसी प्रकार न राजकीय लेखा पर अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिया जाता है और न दिया जाता है। अतः ऐसी अर्थव्यवस्थाओं में आय के चक्राकार प्रवाह के चार प्रमुख घटक होते हैं—(i) परिवार (Households) (ii) व्यावसायिक फर्में (Business Firms) (iii) सरकार (Government) तथा (iv) पूँजी बाजार (Capital Market)। इनका सम्बन्ध अलग-अलग इस प्रकार है—

1 परिवार (Households) में व्यक्ति उत्पादन साधनों के स्वामी एवं पूर्तिकर्त्ता के रूप में व्यावसायिक फर्मों से उत्पादन साधनों का प्रतिफल प्राप्त करते

है। इसके अतिरिक्त परिवारों की और राज्य से सामाजिक सेवा पर व्यय या आय हस्तान्तरण के रूप में मुद्रा का प्रवाह होता है। इस प्रकार परिवारों को आय प्रवाह तीन स्रोतों—(i) साधनों का प्रतिफल, (ii) सेवाओं पर सार्वजनिक व्यय तथा (iii) राज्य आय हस्तान्तरण से होता है। इस आय में से परिवार (Households) व्यावसायिक फर्मों से अपने उपभोग के लिये वस्तुओं और सेवाओं के क्रय पर व्यय करते हैं। आय का कुछ भाग करों के रूप में सरकार को चुका देते हैं तथा शेष बचतों को पूँजी बाजार की ओर प्रवाहित करते हैं। इस प्रकार परिवार व्यावसायिक फर्मों से आय प्राप्त कर उनको तीन स्रोतों—कर, बचत एवं उपभोग की ओर प्रवाहित करते हैं।

2 व्यावसायिक फर्में (Business Firms) अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के विक्रय से उपभोक्ताओं (परिवारों) से आय प्राप्त करती है तथा राज्य द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं व सेवाओं के भुगतान के रूप में राज्य से आय (व्यावसायिक प्राप्तियाँ) होती हैं। व्यावसायिक फर्मों को आर्थिक अनुदान या सहायता के रूप में भी आय सरकार से मिलती है। इसके अलावा पूँजी बाजार से भी विनियोग के रूप में आय फर्मों की ओर प्रवाहित होती है। इस प्रकार व्यावसायिक फर्मों के आय प्रवाह के स्रोत—(i) उपभोक्ताओं द्वारा व्यय, (ii) राज्य द्वारा वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय, (iii) राज्य द्वारा अनुदान सहायता तथा (iv) पूँजी बाजार में विनियोग आदि हैं।

इसके विपरीत व्यावसायिक फर्मों से आय का प्रवाह परिवारों, राज्य और पूँजी बाजार की ओर होता है क्योंकि फर्में उत्पादन साधनों को प्रतिफल चुकाती हैं, सरकार को कर चुकाती है और शेष रकम को पूँजी बाजार में बचतों के रूप में प्रवाहित करती है।

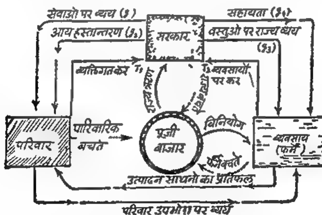
3 सरकार (Government) से आय का प्रवाह भी पूँजी बाजार, व्यावसायिक फर्मों और परिवारों की ओर होता है। राज्य को व्यक्तिगत करों (T_1) तथा व्यावसायिक फर्मों से करों (T_2) तथा पूँजी बाजार के ऋणों से आय का अन्त प्रवाह होता है। दूसरी ओर राज्य आय का उत्प्रवाह परिवारों की ओर सामाजिक सेवाओं पर व्यय, आय हस्तान्तरण के रूप में करता है। व्यावसायिक फर्मों की ओर आय का उत्प्रवाह वस्तुओं व सेवाओं पर व्यय (g_3) तथा व्यावसायिक फर्मों को आर्थिक सहायता और अनुदान (g_4) के रूप में होगा। राज्य की बचतें पूँजी बाजार की ओर प्रवाहित होगी। इस प्रकार राज्य का कुल कर आगम $T = T_1 + T_2$ तथा राज्य का कुल व्यय (G) = सार्वजनिक सेवाओं पर व्यय (g_1) + आय हस्तान्तरण (g_2) + वस्तुओं पर राजकीय व्यय (g_3) + फर्मों को सहायता (g_4)। अगर (T – G) धनात्मक है अर्थात् कर आगम व्यय से अधिक है तो राजकीय बचत होगी जो अन्तत पूँजी बाजार की ओर प्रवाहित होगी और अगर T–G ऋणात्मक है अर्थात् सरकार

का कर आगम कुल व्यय से कम है तो सरकार को पूँजी बाजार से ऋण लेना होगा। परिणामस्वरूप मुद्रा का प्रवाह पूँजी बाजार से राज्य की ओर होगा।

4 पूँजी बाजार (Capital Market) का अभिप्राय वित्तीय सस्थाओ से है, जो बचतो को एकत्रित कर अधिक उत्पादक कार्यों की ओर प्रवाहित करती हैं। पूँजी बाजार मे आय का प्रवाह (i) पारिवारिक बचतो (ii) व्यावसायिक बचतो तथा (iii) राज्य बचतो से होता है जबकि पूँजी बाजार से आय का उत्प्रवाह (i) व्यावसायिक फर्मों मे विनियोग और (ii) राज्य को ऋण के रूप मे होता है।

सवृत अर्थव्यवस्था मे इन चारो घटको को एकीकृत रूप मे प्रस्तुत करने पर आय का चक्राकार प्रवाह चित्र 2 से स्पष्ट होता है। चित्र से स्पष्ट होता है कि आय का प्रवाह परिवारो, व्यावसायिक फर्मों, पूँजी बाजार और राज्य के मध्य निरन्तर होता रहता है। इस चक्राकार प्रवाह के निरन्तर चलते रहने के लिये आवश्यक है कि बचत विनियोग के बराबर हो तथा राजकीय बजट सन्तुलित रहे। बजट म बचन (अतिरेक) से मुद्रा सकुचन होगा और मूल्य गिरग जबकि घाटे के बजट से मुद्रा स्फीति उत्पन्न होगी और मूल्य स्तर बढगा।

सवृत्त अर्थव्यवस्था (Closed Economy)



चित्र 2

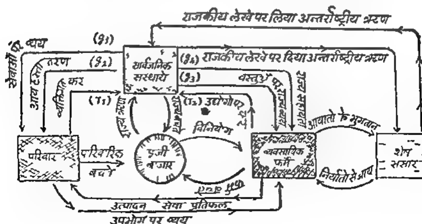
(B) अनावृत्त अर्थव्यवस्था मे आय का चक्राकार प्रवाह
(Circular Flow of Income in an Open Economy)

'एक अनावृत अर्थव्यवस्था (Open Economy) से अभिप्राय उस अर्थव्यवस्था से है जिसका विदेशों से व्यापार सम्बन्ध है अर्थात जिसकी आर्थिक गति विधियाँ केवल देश के भीतरी भाग तक ही सीमित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे फैली हुई होती हैं।' *आज विश्व के सभी राष्ट्रो मे न्यूनाधिक रूप म आर्थिक एव राज*

नैतिक सम्बन्ध है। प्रत्येक देश को दूसरे देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखने पडते है। कुछ अर्थव्यवस्थाओ म विदशी व्यापार का भाग अधिक है तो कुछ मे कम। इस प्रकार विदशी व्यापार (Foreign Trade) के प्रवेश से एक और प्रवाह चालू हो जाता है। परिणामस्वरूप एक अनावृत अर्थव्यवस्था म आय प्रवाह के पाच प्रमुख स्तम्भ हो जाते है। (i) परिवार (ii) व्यावसायिक फर्मे (iii) सरकार (iv) पूँजी बाजार तथा (v) शेष ससार। एक सवृत्त अथव्यवस्था मे जिसका शेष ससार से सबध नही होता पहले चार ही स्तम्भ होते हैं। अत अनावृत्त अथव्यवस्था म आय प्रवाह मे अतिरिक्त कडिया जुड जाती हैं। शेष ससार से व्यापारिक सम्बन्ध जुड जाने से वस्तुओ और सेवाओ के आयत के लिए आय का प्रवाह फर्मों से शेष ससार की ओर होता है तथा वस्तुओ और सेवाओ के विदशो मे निर्यात से निर्यातो के भुगतान के रूप मे आगमन (Exports Receipts) प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त राजकीय लेखो पर अन्तर्राष्ट्रीय ऋण लिये जाते हैं और अन्तराष्टीय ऋण दिये जात हैं। लिये गये अन्तर्राष्टीय ऋण शेष ससार से राज्य की ओर आय के अन्त प्रवाह को बतात है जबकि दिये गये अन्तर्राष्ट्रीय ऋण राज्य की ओर से आय के शेष ससार की ओर उत्प्रवाह को व्यक्त करते हैं।

इसस स्पष्ट है कि अनावृत अर्थव्यवस्था म आय प्रवाह का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। एक सवृत अथव्यवस्था और अनावृत अर्थव्यवस्था मे आय प्रवाह मे केवल यही अन्तर है कि सवृत अर्थव्यवस्था मे तो आय प्रवाह देश के भीतर ही रहता है जबकि अनावृत अर्थव्यवस्था म आय प्रवाह म—(i) आयातो के भुगतान, (ii) निर्यातो

अनावृत्त अर्थव्यवस्था मे आय का चक्राकार प्रवाह
(Circular Flow of Income in an Open Economy)



चित्र—3

से प्राप्त आगम, (iii) राजकीय लेखो पर लिए गये अन्तर्राष्ट्रीय ऋण तथा (iv) राजकीय लेखो पर दिये गये अन्तर्राष्ट्रीय ऋण आदि और सम्मिलित कर लिये जाते हैं जैसा कि चित्र 3 मे स्पष्ट है।

चित्र 3 मे देखने से प्रतीत होता है कि अनावृत अर्थव्यवस्था मे भी आय प्रवाह आन्तरिक भाग मे प्राय. सवृत अर्थव्यवस्था की भांति ही होता है। शेष समार के कारण आय प्रवाह की कुछ कडिया और जुड जाती हैं जिससे आय का चक्राकार प्रवाह अधिक व्यापक हो जाता है।

अगर हम आयातों को I तथा निर्यातो को E से प्रकट करें तो आय का अन्तः प्रवाह—उत्प्रवाह = व्यापार शेष (B) के बराबर होगा। अगर आयात (I) का मूल्य निर्यात (E) से अधिक हुआ तो व्यापार शेष (B) प्रतिकूल होगा और अगर आयात से निर्यात मूल्य अधिक हुआ तो व्यापार शेष अनुकूल होगा। इस समीकरण मे आय प्रवाह निरन्तर चलते रहने के लिए आवश्यक है कि देश की कुल बचत का अन्तः प्रवाह कुल विनियोग के बराबर रहे।

निष्कर्ष—आय के चक्राकार प्रवाह के सम्बन्ध मे दिया गया उपर्युक्त विवरण किसी भी अर्थव्यवस्था चाहे वह सवृत अर्थव्यवस्था हो चाहे अनावृत अर्थव्यवस्था हो, आय के अन्त प्रवाह और उत्प्रवाह का निरूपण करता है। वैसे तो व्यावहारिक जीवन म आय प्रवाह की प्रक्रिया बहुत जटिल है पर उपर्युक्त विवरण व्यावहारिकता के अधिक निकटतम स्थिति का दिग्दर्शन करता है। अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक छात्रों के लिये यह पर्याप्त है। एक दृष्टि से देखने से थोडा सा भी मनन करने पर यह आय-प्रवाह शीघ्र ही समझ मे आ जाता है।

आय-प्रवाह के आकार को निर्धारित करने वाले तत्व

(Factors Determining the Size of The Flow of Income)

आय-प्रवाह का आकार अनेक तत्वो पर निर्भर करता है। जिन अर्थव्यवस्थाओ मे बडी मात्रा मे विनियोग किया जाता है, निर्यातो को निरन्तर बढाया जाता है, सरकारी खर्च व सार्वजनिक व्यय की मदो मे वृद्धि होती है और लोगो मे उपभोग की प्रवृत्ति अधिक और बचत की प्रवृत्ति कम होती है तो आय प्रवाह का आकार अपेक्षाकृत बढता है। इसके विपरीत अगर अर्थव्यवस्था मे बचत की प्रवृत्ति अधिक बडी मात्रा मे आयातो पर निर्भरता तथा सरकार द्वारा करो आदि के रूप मे जनता व व्यावसायिक सस्थाओ से आय वसूली की जाती है तथा विनियोग की कमी होने से रोजगार का स्तर नीचा होता है तो आय-प्रवाह का आकार छोटा होने की प्रवृत्ति होती है। चू कि देश मे आय का स्तर कुल उपभोग, कुल विनियोग, कुल सरकारी व्यय तथा विशुद्ध विदेशी बचत पर निर्भर करता है अर्थात् $Y = C + I + G + (X - M)$ होता है इनमे होने वाला कोई परिवर्तन आय-प्रवाह को भी प्रवाहित करता है इसे हम निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

आय-प्रवाह के आकार के मुख्य निर्धारक तत्व
(Determinants of Flow of Income)

(A) आय प्रवाह को बढाने वाले तत्व	(B) आय प्रवाह को घटाने वाले तत्व
(1) विनियोग मे वृद्धि	(1) बचतो मे वृद्धि
(2) निर्यात मात्रा मे वृद्धि	(2) उपभोग मे कमी
(3) सरकारी व्यय मे वृद्धि	(3) आयातो मे वृद्धि
(4) उपभोग मे वृद्धि एव	(4) करारोपण मे वृद्धि
(5) सग्रह मे कमी	(5) सरकारी व्यय मे कमी

(A) आय प्रवाह के आकार को बढाने वाले तत्व—(Injections in Flow of Income)—अर्थव्यवस्था मे आय प्रवाह का आकार मुख्यत पाच तत्वो पर निर्भर करता है।

(1) विनियोग मे वृद्धि (Increase in Investment) —देश मे आय का प्रवाह विनियोग वृद्धि के साथ-साथ बढता है। ये विनियोग दो रूप मे हो सकते हैं प्रथम पू जीगत माल में विनियोग जैसे मशीनो, सयत्र स्थापना, कारखाना निर्माण, उपकरण एव साज सामान आदि से आय प्रवाह बढता है क्योकि साहसियो एव उद्योगपतियो द्वारा बैंको व वित्तीय सस्थाओ से वित्त व्यवस्था से निर्माण कार्यों पर व्यय करने से आय प्रवाह मे वृद्धि होती है। यह विनियोग सरकार भी हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit financing) से कर सकती है। फर्में एव व्यावसायिक कम्पनिया अपने सचित लाभो व कोषो को विनियोग करके भी आय प्रवाह मे वृद्धि कर सकती हैं। द्वितीय, माल के सग्रह (Inventories) मे विनियोग से भी उनके पूर्ति कर्ताओ को आय प्रवाह बढता है। आय प्रवाह का आकार अन्तत विनियोग की मात्रा एव उसके गुणक (Multiplier) पर निर्भर करता है।

(2) निर्यातो में वृद्धि (Increased Exports)—जब देश मे आयातो मे कमी तथा निर्यातो मे वृद्धि होती है और भुगतान सतुलन देश के पक्ष मे होता है तो विदेशी मुद्रा मे भुगतान प्राप्तियो से देश मे आय प्रवाह बढता है। यही नही, निर्यात साधनो की बढी हुई माग इनके पूर्तिकर्ताओ के आय प्रवाह के आकार मे वृद्धि करने म सहायक होती है। स्पष्ट है निर्यातो मे वृद्धि जहा एक ओर विदेशी मुद्रा अर्जन कर निर्यातको के आय प्रवाह को बढाती है वहा दूसरी ओर निर्यात की जाने वाली वस्तुओ व सेवाओ मे प्रयुक्त साधनो के स्वामियों को भी अधिक आय प्रवाह होता है।

(3) सरकारी व्यय में वृद्धि (Increased Govt Expenditure)—आधुनिक युग मे सरकार एक कल्याणकारी राज्य के रूप मे सार्वजनिक व्यय द्वारा आय

प्रवाह मे काफी वृद्धि कर सकती है। सरकारी व्यय के विभिन्न रूप हो सकते हैं (क) सुरक्षा एवं प्रशासनिक व्यय जनता मे सुरक्षा की भावना के साथ साथ इन कार्यों पर किये गये व्यय से लोगो की आय व रोजगार मे वृद्धि होती है। (ख) विकास व्यय एव विनियोग न केवल आय अर्जन क्षमता बढाकर आय प्रवाह बढता है किन्तु विकास व्यय तत्काल साधनो की कीमतो के रूप मे उनके पूर्तिकर्ताओं को आय प्रवाह बढाते हैं। (ग) सरकार सामाजिक सेवाओं एव कल्याण कार्यों पर व्यय द्वारा आय, रोजगार एव आय प्रवाह मे वृद्धि करती है। सरकार द्वारा प्रत्येक प्रकार का व्यय सामान्यतः आय प्रवाह में वृद्धि करता है।

(4) **उपभोग मे वृद्धि (Increase in Consumption)**—यह भी आय प्रवाह को प्रवाहित करने वाला मुख्य घटक है क्योंकि जितनी ही उपभोग की औसत एव सीमान्त प्रवृत्ति अधिक होगी लोगो की प्रभावपूर्ण माग बढेगी और आय का प्रवाह भी बढ़ेगा। एक व्यक्ति का व्यय दूसरे व्यक्ति की आय का स्रोत होता है अतः उपभोग मे वृद्धि आय प्रवाह को बढाती है अगर उपभोग वस्तुओं की पूर्ति देश के भीतर वस्तुओं एव सेवाओं के उत्पादन से पूरी की जाती है। अगर विदेशी आयातो पर निर्भरता रही तो आय प्रवाह वाछित गति से नही बढ पायगा।

(5) **सग्रह मे कमी (Reduction in Hoardings)**—जब अर्थव्यवस्था मे उपार्जित आय के अधिकाश भाग को उपभोग अथवा विनियोग पर व्यय किया जाता है और सग्रह की प्रवृत्ति घटती है तो आय प्रवाह में वृद्धि होती है क्योंकि उपभोग एव विनियोग मे वृद्धि ऊपर बताये तरीके से उपभोग और विनियोग वस्तुओं की माग बढाकर उनके स्वामियो को आय प्रवाहित करते हैं। पर अगर सग्रह की प्रवृत्ति प्रबल होती है तो उपभोग एव विनियोग क्षेत्र मे प्रभावपूर्ण माग घटने से आय का प्रवाह सूख जाता है। अत. सग्रह प्रवृत्ति मे कमी से आय प्रवाह बढता है।

(B) **आय प्रवाह को घटाने वाले तत्व (Withdrawls from Flow of Income)**—जैसे ऊपर बताये गये तत्व आय प्रवाह मे वृद्धि करते हैं वहां बचतो मे वृद्धि, उपभोग मे कमी, आयातो मे वृद्धि, करारोपण के ऋणात्मक प्रभाव और सरकारी व्यय मे कमी से आय प्रवाह के आकार मे कमी आती है जो शीर्षकानुसार निम्न विवरण से स्पष्ट है:—

(1) **बचतों के आकार में वृद्धि (Increase in Savings)**—जब अर्थव्यवस्था मे बचतें बढती हैं तो लोगो के व्यय मे कमी आती है और व्यय के अभाव म आय प्रवाह की गति मद हो जाती है। ये बचतें प्रायः दो प्रकार की हो सकती हैं। एक ओर (अ) पारिवारिक बचतें तथा दूसरी ओर (ब) व्यावसायिक बचतें जैसे अनिरिक्त लाभ तथा लाभ के संचित कोष आदि। पारिवारिक बचतो और व्यावसायिक बचतो का वह भाग तो पुनः आय प्रवाह मे जुड जाता है जो उत्पादक विनियोगो या अन्य उपयोगो मे प्रयुक्त किया जाता है या उधार दिया जाता है। बचतो का केवल वही भाग आय प्रवाह को घटाता है जो अपसचय (Hoard) कर लिया जाता है।

(2) आयातो की वृद्धि (Increase in Imports)—विदेशी वस्तुओं व सेवाओं के आयात मे वृद्धि के कारण देश की आय विदेशो मे भुगतानार्थ प्रयुक्त की जाती है इससे देश उस आय प्रवाह से वंचित हो जाता है। जिस देश में निर्यातो की अपेक्षा आयातो का मूल्य अधिक होता है तो देशवासियो की आय का निस्सरण विदेशो मे होने से देशवासी इस आय-प्रवाह से वंचित हो जाते हैं अत आयात आय-प्रवाह मे कमी लाते हैं और उसका गुणक प्रभाव भी विदेशो में हस्तान्तरित हो जाता है।

(3) करारोपण (Taxation)—जब सरकार कर लगाती है तो करदाताओं से क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण सरकार के पास होता है अत देश के करदाताओं की आय घटने से उनका आय-प्रवाह भी घट जाता है। करारोपण से आय प्रवाह में उस सीमा तक कमी आती है जिस सीमा तक करदाता आय प्रयोग से वंचित होते है। हा, सरकारी व्यय एव आय हस्तान्तरण से आय-प्रवाह मे धनात्मक वृद्धि कर सकती है।

(4) उपभोग मे कमी (Decrease in Consumption)—जब जनता के उपभोग में कमी आती है तो आय-प्रवाह घट जाता है क्योकि एक व्यक्ति का व्यय दूसरे की आय का स्रोत होता है। जब उपभोग में कमी होती है तो उत्पादक फर्मों की वस्तुओं एव सेवाओं की माग में कमी से उनकी आय घटकर उनके तथा उनमें काम करने वाले साधनो की आय को कम कर देती है। अतः अन्तत आय प्रवाह में कमी आती है।

(5) सरकारी व्यय में कमी (Decrease In Government Expenditure)—सरकार विभिन्न मदो पर खर्चा करके परिवारो तथा उत्पादक फर्मों की आय में वृद्धि करती है तो स्वाभाविक रूप से आय-प्रवाह बढता है किन्तु सार्वजनिक व्यय में कमी की जाती है तो परिवारो एव उत्पादक फर्मों दोनो की आय में कमी हो जाने से आय-प्रवाह अवरुद्ध होता है और उसमें कमी आती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आय-प्रवाह के धनात्मक तत्व (+) क्रमश. (i) विनियोग (I) (ii) उपभोग (C) (iii) निर्यात (Export or (X) (iv) सरकारी व्यय (G) (v) बचतो में कमी करना है। अगर हम पाचवें तत्व को (i) तथा (ii) का ही गौण भाग मानें तो इसे हम गणितीय सूत्र के रूप में आय-प्रवाह के धनात्मक तत्व $= (I + C + G + X)$ कहेगे। इसके विपरीत आय-प्रवाह के ऋणात्मक तत्व (—) भी पाच हैं जो (i) बचतें एव अपसचय (S) (ii) आयात (Imports) (M) (iii) करारोपण (Taxation) (T) (iv) उपभोग में कमी (H) तथा (v) सरकारी व्यय में कमी होना है। गणितात्मक रूप से आय प्रवाह के ऋणात्मक तत्व $= (S + M + T + H)$ होगे।

निष्कर्ष—यह है कि जब धनात्मक तत्वो की आय का जोड ऋणात्मक तत्वो के योग के बराबर है तो आय प्रवाह स्थिर एव अपरिवर्तित रहता है किन्तु अगर

ऋणात्मक तत्वो की अपेक्षा धनात्मक तत्वो का जोड अधिक हो तो आय-प्रवाह बढेगा तथा इसके विपरीत धनात्मक तत्वो का कुल जोड ऋणात्मक तत्वो के जोड से कम होने पर आय-प्रवाह घटेगा । सक्षेप में—

अगर $(I+C+G+X)=(S+M+T+H)$ है तो आय-प्रवाह स्थिर

अगर $(I+C+G+X)>(S+M+T+H)$ है तो आय प्रवाह बढ़ेगा

किन्तु $(I+C+G+X)<(S+M+T+H)$ तो आय-प्रवाह घटेगा

इसमे I विनियोग, C उपभोग, G सरकारी व्यय तथा X निर्यातो के मूल्य को व्यक्त करते हैं जबकि S बचतो, M आयातो, T करारोपण तथा H सरकारी एव निजी व्यय मे कमी को व्यक्त करते हैं । पिछडे राष्ट्रो मे गैर मौद्रिक लेन देनो अर्थात वस्तु विनिमय की क्रियाएं और अन्तर फर्म या अन्तर परिवार वस्तुओ व सेवाओ के आपसी लेन-देन दोनो के कारण आय-प्रवाह कम होता है किन्तु यह मदें कुल आय-प्रवाह मे नगण्य सी होती हैं अत. उन पर विशेष ध्यान नही दिया जाता है ।

चक्राकार आय-प्रवाह मॉडल की सीमायें, कमियां अथवा आलोचनाएं
(Limitations of Circular Flow Model)

उपर वर्णित चक्राकार आय प्रवाह मॉडल की दो बडी सीमायें सामने आती हैं जिनका विकासशील एव अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओ मे अपेक्षाकृत अधिक महत्व है ।

(1) गैर-मौद्रिक लेन-देन एव गैर बाजार सौदो की उपेक्षा—आय-प्रवाह मे गैर मौद्रिक एव गैर बाजार सौदों का समावेश नहीं हो पाता अत: अल्प विकसित देशो मे जहा वस्तु-विनिमय की प्रधानता है अथवा कृषि उपज का बहुत बडा भाग स्वय के उपभोग मे प्रयुक्त कर लिया जाता है, स्वय के उत्पादन साधनो का कोई प्रतिफल नहीं चुकाया जाता वहां वृत्ताकार आय-प्रवाह मॉडल की उपयोगिता कम हो जाती है ।

(2) फर्मों के बीच आपसी लेन देनो तथा परिवारों के बीच लेन-देनों का वृत्ताकार आय प्रवाह में समावेश नहीं होता क्योंकि—लिप्से के अनुसार "यह घरेलू फर्मों एव घरेलू परिवार के बीच भुगतानो एव प्राप्तियो का प्रवाह होता है" जबकि कई फर्में परस्पर एक दूसरे को वस्तुएं एव सेवायें बेचती एव खरीदती हैं । इसी प्रकार कई घरेलू परिवार परस्पर एक दूसरे से वस्तुओ का लेन-देन करते हैं अत वृत्ताकार आय प्रवाह मॉडल मे फर्मों के आपसी लेन-देनो व परिवारो के आपसी आदान प्रदान की उपेक्षा ठीक नही है ।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे मुद्रा के प्रवाह (Flow of Money) का वर्णन कीजिये । अथवा
किसी अर्थव्यवस्था में आय के चक्राकार प्रवाह (Circular Flow of Income) का विवरण दीजिय ।

(संकेत—इसके उत्तर मे एक अर्थव्यवस्था मे आय-प्रवाह का सरल रूप देकर फिर संवृत अर्थव्यवस्था और अनावृत्त अर्थव्यवस्थाओ मे आय प्रवाहो का विवेचन चित्रो सहित दीजिये ।)

2. यह स्पष्ट करें कि "आय का चक्राकार प्रवाह (Circular Flow) अथवा आय का वृत्ताकार प्रवाह राष्ट्रीय उत्पत्ति को राष्ट्रीय आय और राष्ट्रीय व्यय के बराबर कैसे करता है ।"

(संकेत—आय-प्रवाह का एक सरल चित्रण देकर बताइये कि परिवारो से उत्पत्ति के साधन मिलकर देश मे निश्चित मात्रा मे उत्पादन करते है जो राष्ट्रीय उत्पादन को व्यय करता है । फर्में इन उत्पादन साधनो को जो प्रतिफल प्रदान करती हैं वह उनकी आय को व्यक्त करता है तथा कुल प्रतिफल राष्ट्रीय आय को व्यक्त करता है । परिवार इनको वस्तुओ और सेवाओ या पूँजीगत वस्तुओ पर व्यय करते है । इस प्रकार अपनी सब आय अगर व्यय की जाती है तो वह राष्ट्रीय आय को व्यक्त करती है अतः $Y = C + I + G + (X + Y)$ ।)

3. आय के वृत्ताकार प्रवाह का क्या आशय है ? आय के प्रवाह के आकार को निर्धारित करने वाले तत्वो का वर्णन करें ।

(Raj. I yr. T.D.C. 1976, 1980)

(संकेत—प्रथम भाग मे आय-प्रवाह को संवृत अर्थव्यवस्था (Closed Economy) तथा अनावृत अर्थव्यवस्था (Open Economy) मे बताना है फिर दूसरे भागो मे चित्रो द्वारा स्पष्ट करना है और तीसरे भाग मे आय के प्रवाह के आकार को निर्धारित करने वाले घटको को शीर्षकानुसार देना है ।)

4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—
आय का वृत्ताकार प्रवाह । (Raj. I Yr. T.D.C. 1974)

13

राष्ट्रीय आय की धारणायें
(National Income Concepts)

प्रायः राष्ट्रीय आय का अभिप्राय सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के उस भाग से है जो किसी वर्ष विशेष मे देश के विभिन्न उत्पादन साधनो को उनके प्रतिफलो के रूप मे वितरित किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, राष्ट्रीय आय किसी देश के विभिन्न उत्पादन साधनो को प्राप्त प्रतिफलो का कुल योग है जो किसी वर्ष विशेष मे लगान, मजदूरी, वेतन, ब्याज एव लाभ के रूप मे चुकाया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय साधन आयो—लगान, मजदूरी, वेतन, ब्याज तथा लाभ—के कुल योग को व्यक्त करता है। राष्ट्रीय आय की कई धारणायें हैं और उनका आधुनिक अर्थव्यवस्थाओ मे विशेष महत्व है। राष्ट्रीय आय अर्थव्यवस्था का मापदण्ड है, उत्पादन के आकार, प्रकार और वृद्धि का सूचक है, भावी विकास का मार्गदर्शक एव प्रगति का मूल्याकन करती है। राष्ट्रीय आय से ही विकास की दिशा एव स्तर ज्ञात होता है, राष्ट्रीय आय पर ही जीवन स्तर निर्भर है। यह आर्थिक कल्याण का आधार है। अत. राष्ट्रीय आय का समुचित अध्ययन जरूरी है।

राष्ट्रीय आय की परिभाषायें एव राष्ट्रीय आय के अंग
(Definitions & Components of National Income)

राष्ट्रीय आय की परिभाषाओ मे मार्शल ने विस्तृत दृष्टिकोण अपनाया है, जबकि पीगू ने मौद्रिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी है और फिशर ने उपभोग को आधार माना है। इन परिभाषाओ का विवरण एव विवेचन अलग अलग इस प्रकार हैं—

(A) प्रो मार्शल का विस्तृत दृष्टिकोण—प्रो मार्शल के अनुसार "किसी देश की पूंजी एव श्रम का उसके प्राकृतिक साधनो पर प्रयोग से प्रति वर्ष भौतिक एव अभौतिक वस्तुओ तथा सभी प्रकार की सेवाओ की जो शुद्ध सामूहिक उत्पत्ति होती है, इस सम्पूर्ण विशुद्ध उत्पत्ति को ही देश की वास्तविक राष्ट्रीय आय या

देश का आगम या राष्ट्रीय लाभांश कहा जाता है।"[1]

मार्शल के अनुसार—राष्ट्रीय आय = [(वस्तुओं और सेवाओं का वार्षिक उत्पादन + विदेशों से प्राप्त विशुद्ध आय)–(पूँजी की घिसावट + प्रतिस्थापन व्यय)]

मार्शल की परिभाषा के अनुसार—(i) राष्ट्रीय आय की गणना वार्षिक आधार पर की जाती है। (ii) राष्ट्रीय आय में देश के उत्पत्ति के साधनों की शुद्ध *भौतिक एवं अभौतिक तथा सभी सेवाओं की शुद्ध भौतिक उत्पत्ति को सम्मिलित* किया जाता है। (iii) शुद्ध सामूहिक उत्पत्ति को मालूम करने के लिए कुल सामूहिक उत्पत्ति में से पूँजी की घिसावट तथा चल पूँजी के प्रतिस्थापन व्यय को कम किया जाता है अर्थात् कुल उत्पत्ति (Gross Product) में से घिसावट व प्रतिस्थापन *व्यय घटा दिया जाता है। (iv) वस्तुओं के साथ साथ सेवाओं की गणना भी की* जाती है। (v) राष्ट्रीय आय में उन वस्तुओं व सेवाओं को नहीं जोड़ा जाता जो व्यक्ति स्वयं अपने लिए अथवा मित्रों एवं सम्बन्धियों के लिए नि:शुल्क सेवाएं, अपनी व्यक्तिगत वस्तुओं से लाभ, अथवा कर-मुक्त फल आदि सामाजिक सेवाओं से प्राप्त करता है। *(vi) इसमें विदेशों में निवेश से प्राप्त आय जोड़ी जानी चाहिये।* इस प्रकार राष्ट्रीय आय के मुख्य अग निम्न होते हैं—

(1) शुद्ध भौतिक एवं अभौतिक वार्षिक उत्पत्ति।

(2) सभी प्रकार की सेवाओं का मूल्य केवल स्वयं की अथवा मित्र सम्बन्धियों के लिए नि शुल्क सेवाओं को छोड़कर।

आलोचना—यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से मार्शल की परिभाषा में त्रुटि निकालना कठिन है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से यह परिभाषा उपयुक्त नहीं है, इसमें अनेक कमियां हैं—(i) देश में अनेक वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन होता है। अतः उन सबकी सांख्यिकी गणना या माप करना बहुत कठिन है और यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है *जब उत्पादन छोटे पैमाने पर हो और विकेन्द्रित हो। (ii)* दोहरी गणना की सभावना भी अधिक है। क्योंकि अगर कृषि उत्पादन में दो टन गहूं सम्मिलित है तो आटा कम्पनी के आटा उत्पादन में 2 टन फिर से नहीं गिने जाने चाहिये। (iii) किसी वर्ष में उत्पादित वस्तुओं के केवल उस भाग का ही मूल्यांकन होता है जो बाजार में बिकी के लिए आता है, *अत. ऐसी वस्तुओं की मात्रा भी कम* नहीं है जो स्वय के उपभोग के लिये रख ली जाती है जैसे कृषक द्वारा अपने

---

1 "The labour and capital of a country acting on the natural *resources, produce annually a certain net aggregate of* commodities, material and immaterial, including services of all kinds. This is the true national income or revenue of the country or the national dividend "

—Marshall

उपभोग के लिये रखा गया गेहू, (iv) किसी देश की राष्ट्रीय आय वस्तुओ और सेवाओ के रूप मे व्यक्त की जाने से उनकी व्यावहारिक उपयोगिता कम है—एक सामान्य मापदण्ड (Common measure) होना चाहिये।

इन आलोचनाओ के बावजूद भी मार्शल के उत्पादन दृष्टिकोण पर आधारित राष्ट्रीय आय की धारणा सरल एव स्पष्ट है।

(B) पीगू की परिभाषा–मौद्रिक दृष्टिकोण—पीगू ने अपनी सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे भी मौद्रिक दृष्टिकोण अपनाया है। वह राष्ट्रीय आय के अगो (Components) को भी मुद्रा की कसौटी पर परखता है। पीगू के अनुसार "राष्ट्रीय आय किसी भी समुदाय (एक राष्ट्र) की वास्तविक आय (Objective Income' है जिसमे विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल है, का वह भाग है जिसे मुद्रा के रूप में मापा जा सकता है।"[2] इस परिभाषा से केवल उन्ही वस्तुओं और सेवाओ का समावेश राष्ट्रीय लाभाश मे हो सकता है जो मुद्रा द्वारा नापी जा सकें या विनिमय हो। उन वस्तुओं और सेवाओ का, जिनका मुद्रा मे माप न हो सके और भौतिक उद्देश्य से न की जाती हों तो उनका राष्ट्रीय आय मे समावेश नहीं होगा। जैसे एक अध्यापक अपने बच्चो को पढाता है या मित्र को नि शुल्क सेवायें देता है तो उसकी सेवाओ का समावेश राष्ट्रीय आय मे नहीं होता जबकि दूसरे बच्चो को ट्यूशन पढाने या नौकर के रूप मे पढाने या सशुल्क पढाने मे राष्ट्रीय आय मे समावेश होगा। पीगू ने स्वय एक रोचक उदाहरण दिया है कि वेतन पर रखी गई नौकरानी की सेवाओ का राष्ट्रीय आय मे समावेश होगा पर अगर वह व्यक्ति उस नौकरानी से शादी कर ले तो उस औरत की सेवाओ का राष्ट्रीय आय मे समावेश नही होने से राष्ट्रीय आय कम हो जायेगी।

पीगू की परिभाषा की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसके द्वारा द्रव्य के मापदण्ड का राष्ट्रीय आय को मापने के लिये उपयोग करना है। इसने राष्ट्रीय लाभाश की धारणा को निश्चित एव व्यावहारिक बना दिया और मार्शल की परिभाषा के दोषो को दूर कर दिया पर फिर भी अनेक आलोचनायें की गई हैं।

आलोचनायें—(1) समान प्रकार की वस्तुए और सेवाए एक परिस्थिति मे तो राष्ट्रीय आय म शामिल होती हैं अगर उनका मुद्रा से मूल्याकन हो तथा दूसरी परिस्थिति मे उपेक्षा, उपयुक्त नही जैसे नौकरानी के रूप मे सेवाओं का राष्ट्रीय आय मे समावेश परन्तु पत्नी के रूप मे उसी नौकरानी की सेवाओ का राष्ट्रीय आय मे

2. "National Dividend is that part of the objective income of the Community, including ofcourse, income derived from abroad, which can be measured in money"

—Pigou : Economics of Welfare p. 31

समावेश न करना युक्तिसगत नही है (ii) जिन देशो मे वस्तु विनिमय प्रणाली है या मुद्रा विनिमय का प्रयोग सीमित है तो यह परिभाषा उपयुक्त नही है। (iii) यह बहुत ही सकीर्ण दृष्टिकोण को अपनाती है। केवल मुद्रा द्वारा विनिमय की जाने वाली वस्तुओ को ही राष्ट्रीय आय मे सम्मलित करते हैं। (iv) मार्शल की भांति अनेक ऐसी वस्तुओ का छूट जाना स्वाभाविक है जो मुद्रा द्वारा विनिमय नही की जाती है, जैसे किसान का उपभोग के लिये रखा गया अनाज, खुद के उपभोग मे खुद का मकान।

मार्शल और पीगू मे समानता (i) दोनो राष्ट्रीय आय की वार्षिक गणना करते हैं। (ii) दोनो उत्पत्ति की गणना करते है पर मार्शल और पीगू म यह अन्तर है कि (i) मार्शल शुद्ध सामूहिक उत्पादन की ओर ध्यान देता है जबकि पीगू उत्पादन के केवल उसी भाग को राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित करता है जो मुद्रा मे मापी जा सकती है। (ii) पीगू का दृष्टिकोण सकुचित है मार्शल का दृष्टिकोण व्यापक है।

(C) **फिशर की परिभाषा—उपभोग दृष्टिकोण**—फिशर ने उपर्युक्त दोनो दृष्टिकोणो से सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण अपनाया है। फिशर ने राष्ट्रीय आय का आधार उपभोग माना है। फिशर के अनुसार **"राष्ट्रीय लाभाश अथवा राष्ट्रीय आय मे केवल वे सेवाएँ जो अन्तिम रूप मे उपभोक्ताओ को उपभोग के लिये प्राप्त होती हैं चाहे वे भौतिक वातावरण से प्राप्त हुई हो अथवा मानवीय वातावरण से।'** इसी प्रकार अन्य शब्दो मे **"वास्तविक राष्ट्रीय आय वार्षिक उत्पादन का वह भाग है जो उस वर्ष विशेष मे उपभोग किया जाता है।"**[2] यहा फिशर की परिभाषा तार्किक और अधिक उपयुक्त मालूम होती है क्योकि उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य उपभोग होता है इसलिये उत्पादन का केवल वह भाग ही राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित किया जाना चाहिये जो उस वर्ष उपभोग किया जाता हो। फिशर के अनुसार एक ओवरकोट या पियानो का सारा मूल्य राष्ट्रीय आय नही वरन् उनका जितना उपयोग इस वर्ष होता है वह राष्ट्रीय आय का भाग है जबकि बाकी पूँजी मे वृद्धि है।

फिशर की परिभाषा की विशेषताएँ—(i) वार्षिक गणना से सम्बन्ध है। (ii) उपभोग को आधार मानती है। (iii) मानव कल्याण से मेल खाती है। (iv) अधिक तार्कित है क्योकि उत्पादन का अन्तिम लक्ष्य उपभोग है। (v) अधिक उत्पादन अधिकतम कल्याण का सूचक नही, अधिक उपभोग ही अधिकतम कल्याण का सूचक है।

फिशर के विचारो की आलोचना—(i) किसी निश्चित अवधि मे जब उत्पादन की गणना ही मुश्किल है तब उपभोग की गणना करना तो उसके विस्तृत क्षेत्र के कारण और भी बहुत कठिन है। (ii) टिकाऊ वस्तुओ के कुल उपभोग की यथार्थ

[2]. "The true National Income is that part of the annual net produce which is directly consumed during that year.'

—Fisher

अवधि का अनुमान लगाना भी जटिल कार्य है अर्थात् उत्पादित वस्तुओं के जीवन काल का अनुमान लगाना कठिन है। जैसे एक कार के 10 वर्ष चलने का अनुमान लगाया पर किसी खराबी या दुर्घटना के कारण 5 साल ही चली तो राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाने वाला हिस्सा गलत निष्कर्ष देगा। (iii) वस्तुओं का आंशिक उपभोग के बाद हस्तान्तरण होने से तथा टिकाऊ वस्तुओं की लम्बी अवधि से राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किये जाने वाले भाग की गणना कठिन है। (iv) एडविन वाल्टर ने राष्ट्रीय लाभांश की पृथकता प्रवृति की आलोचना की है। एक देश में आय-उपभोग दूसरे देशों की परिस्थितियों से भी प्रभावित होती है।

तीनों परिभाषाओं में श्रेष्ठ कौन ?

इसका स्पष्ट उत्तर देने से पूर्व राष्ट्रीय आय के उद्देश्य की ओर ध्यान देना होता है। अगर कल्याण की सापेक्षिक मात्राओं की तुलना करनी है तो निःसन्देह फिशर की विचारधारा उपयुक्त है परन्तु अगर आर्थिक कल्याण के कारकों का अध्ययन करना है तो मार्शल और पीगू की उत्पादन गणना की परिभाषाएँ उपयुक्त हैं। इसके अलावा पीगू और मार्शल की परिभाषाएँ सरल और व्यावहारिक हैं जबकि फिशर की परिभाषा तार्किक और समाज कल्याण उद्देश्य से मेल खाती है। अतः उद्देश्य के आधार पर ही परिभाषा को श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

राष्ट्रीय आय के बारे में आधुनिक विचार—भारत की राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार "एक निश्चित अवधि में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा को बिना दोहरी गणना के राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जाता है।" संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार राष्ट्रीय आय की परिभाषाएं उत्पादन, वितरण व व्यय के आधार पर की जा सकती हैं। किसी देश की अर्थव्यवस्था में एक वर्ष की अवधि में उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं और सेवाओं के कुल द्रव्यिक मूल्य (बाजार कीमतों पर) को कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gross Nation^l P.oduct) कहते हैं और अगर कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) में से जिनमें अप्रत्यक्ष कर भी शामिल होते हैं पूँजी की घिसाई तथा उत्पादन में प्रतिस्थापन व्यय को घटा दें तो विशुद्ध राष्ट्रीय आय (Net Naional Product or NNP) प्राप्त होती है।" आधुनिक अर्थशास्त्री आय विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन को राष्ट्रीय आय मानते हैं। दो दृष्टिकोणों के अनुसार राष्ट्रीय आय नीचे स्पष्ट है—

विस्तृत दृष्टिकोण—राष्ट्रीय आय =(कुल राष्ट्रीय उत्पादन – घिसावट)

संकुचित दृष्टिकोण—राष्ट्रीय आय=(कुल राष्ट्रीय उत्पादन–घिसावट–अप्रत्यक्ष कर)

राष्ट्रीय आय की विभिन्न धारणायें अथवा स्वरूप

(Various Concepts of National Income)

किसी भी देश की आर्थिक समृद्धि एवं प्रगति का मूल्यांकन मुख्यतः राष्ट्रीय आय के आकार, उसके वितरण एवं प्रयोग की प्रकृति के द्वारा किया जाता है।

चूंकि उत्पादन, व्यय, आय एवं रोजगार परस्पर सम्बन्धित एवं आश्रित घटक है अतः राष्ट्रीय आय की विभिन्न धारणाओं की जानकारी आवश्यक है। मुख्य धारणायें (Concepts) इस प्रकार है—

(1) सकल राष्ट्रीय उत्पाद अथवा कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति
(Gross National Product or GNP)

"किसी भी देश मे एक वर्ष की अवधि मे उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्यों के कुल योग को सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) कहते हैं।"[4] यह किसी देश की वार्षिक उत्पादन क्षमता का द्योतक है और वस्तु प्रवाह (Goods-Flow) को व्यक्त करता है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) में केवल अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं (Final Goods and Services) के बाजार मूल्यों को ही जोड़ा जाता है, अर्द्ध निर्मित अथवा मध्यवर्ती वस्तुओं एवं सेवाओं (Intermediate Goods and Services) के मूल्यों को नहीं जोड़ा जाता क्योंकि अन्तिम वस्तुएँ एवं सेवायें तो अन्तिम उपभोग के लिये हैं, उनका पुनः विक्रय अथवा पुनः निर्माण में प्रयोग नहीं होता जबकि मध्यवर्ती वस्तुओं एवं सेवाओं का अभिप्राय ऐसी वस्तुओं एवं सेवाओं से है जो पुनः विक्रय की जाती हैं अथवा पुनः निर्माण में काम आती हैं।

अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार की वस्तुएँ एवं सेवाएँ उत्पादित होती है और उन्हे विविध अलग अलग इकाइयों मे व्यक्त किया जाता है। जैसे लोहा-इस्पात टनों में, दूध लीटर में, कपड़ा मीटर मे, विद्युत उत्पादन किलोवाट में तो सड़क निर्माण किलोमीटर में और सेवाये घण्टों एवं दिनों मे व्यक्त की जाती है। अतः इन अलग अलग इकाइयों (Hetrogenous Units) का जोड़ करना कठिन होने से सभी वस्तुओं एवं सेवाओं को मुद्रा के सामान्य मापदण्ड में व्यक्त बाजार मूल्यों मे मापा जाता है। सभी प्रकार की वस्तुओं एवं सेवाओं की मात्रा को उनके बाजार मूल्यों से गुणा कर सभी के बाजार मूल्यों का जोड़ ही सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) की निम्न विशेषतायें हैं—

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पाद में केवल अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्यों का योग किया जाता है। मध्यवर्ती अथवा अर्द्ध निर्मित वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य नहीं जोड़ा जाता।

(ii) GNP मे केवल आर्थिक क्रियाओं का ही मूल्य जोड़ा जाता है जो विनिमय एवं मुद्रा के मापदण्ड की परिधि मे आता है। मनोरंजन, पारिवारिक स्नेह, देश प्रेम एवं भावावेश से प्रेरित वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन मूल्य GNP मे

---

4 "Gross National Product is the total of market price of all final goods and services produced annually in the nation."

नही जोडा जाता। जैसे पत्नी की सेवायें, किचन गार्डन की सब्जियाँ आदि सकल राष्ट्रीय आय मे नही आतीं।

(iii) केवल वर्ष के दौरान उत्पादित वस्तुएँ एवं सेवाएँ ही GNP मे शामिल होती हैं। सन्दर्भ वर्ष के अतिरिक्त वस्तुओं एव सेवाओ का मूल्य इस वर्ष की GNP मे नही जोडा जाता चाहे वे इस वर्ष बेची जायें।

(iv) हस्तान्तरण भुगतान, पूँजीगत लाभ एव हानि तथा अवैधानिक गतिविधियो—ब्लैक मार्केटिंग, तस्करी, चोरी, डकैती आदि से अर्जित आयो को सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे नही जोडा जाता।

(v) सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) की गणना मुद्रा के रूप मे की जाती है क्योंकि मुद्रा ही समस्त वस्तुओं एव सेवाओ को मापने का सामान्य मापदण्ड है।

(vi) सकल राष्ट्रीय उत्पाद की गणना तीन अलग-अलग दृष्टिकोणो के आधार पर की जा सकती है किन्तु सभी मे सकल राष्ट्रीय उत्पाद का एक-सा मूल्य रहता है जैसा आगे GNP≡GNI≡GNE की समानता से दर्शाया गया है।

सकल राष्ट्रीय उत्पाद का माप अथवा गणना
(Measurement of Gross National Product or GNP)

सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) का माप अथवा गणना तीन अलग-अलग आधारो से की जा सकती है किन्तु सबसे सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) समान मौद्रिक मूल्य को व्यक्त करता है जो इस प्रकार है—

(१) बाजार मूल्यों पर कुल उत्पादन दृष्टिकोण—इस गणना विधि मे देश मे उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओ एव सेवाओ के वार्षिक उत्पादन को बाजार मूल्यो पर जोडा जाता है, इसमे मध्यवर्ती वस्तुओ एव सेवाओ का मूल्य नहीं जोडा जाता। उदाहरणार्थ एक कारखाने मे उत्पादित 100 कारो का पचास हजार प्रति कार के हिसाब से 50 लाख रु०, उपभोक्ता वस्तुओं का 500 करोड रु०, उत्पादन वस्तुओं का 300 करोड रु०, सेवाओ का मूल्य 300 करोड रु० इन सबके बाजार मूल्यो का योग ही सकल राष्ट्रीय उत्पाद का द्योतक है। गणितीय सूत्र के रूप मे—

बाजार मूल्यो पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP at Market Prices) = (सार्वजनिक उत्पादन का मूल्य + निजी उत्पादन का मूल्य + सभी आर्थिक सेवाओ का मूल्य)

(B) कुल व्यय दृष्टिकोण पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद—इस गणना विधि म वर्ष मे उत्पादित समस्त अन्तिम वस्तुओं एव सेवाओ पर किये गये कुल व्यय को जोडा जाता है। कुल व्यय मे चार प्रकार का व्यय आता है—

(i) कुल उपभोग व्यय (C)—इसमे देश के परिवारो एव लोगो द्वारा दैनिक उपभोग व्यय—रोटी, दूध, ईंधन आदि, टिकाऊ वस्तुओं का उपभोग व्यय—पखा,

रेडियो, कार ग्रादि तथा सेवाग्रों पर **व्यय**—डाक्टर, वकील, अध्यापक, मनोरंजन ग्रादि—सबको जोडा जाता है।

(ii) **सकल निजी विनियोग (I)**—इसके ग्रन्तर्गत समस्त निजी उत्पादको द्वारा **स्थिर विनियोगो**—मशीनो, यन्त्रो एव कारखानो मे विनियोगो पर व्यय, स्टाक एव इन्वेन्टरी मात्रा मे परिवर्तन व्यय तथा ग्राय ग्रजित करने वाली सम्पदाग्रो पर व्यय को जोडा जाता है।

(iii) **सरकारी व्यय (G)**—इसके ग्रन्तर्गत सरकार द्वारा वस्तुग्रो एव सेवाग्रो की खरीद पर किये गये व्यय को जोडा जाता है जो चाहे उपभोग व्यय हो ग्रथवा उत्पादक व्यय। किन्तु इसमे हस्तान्तरण भुगतानो को नही जोडा जाता।

(iv) **विशुद्ध विदेशी विनियोग (X–M)**—इसके ग्रन्तर्गत वस्तुग्रो एव सेवाग्रो के निर्यात मूल्यो मे से ग्रायात मूल्यो को घटाया जाता है। ग्रगर शेष धनात्मक है तो GNP बढता है ग्रौर ग्रगर निर्यातो से ग्रायातो का मूल्य ग्रधिक हुग्रा तो शेष ऋणात्मक होने पर GNP घटेगा। गणितीय सूत्र के रूप मे हम **सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP)** ग्रौर **सकल राष्ट्रीय व्यय** (Gross National Expenditure or GNE) की समानता दर्शा सकते है—

सकल राष्ट्रीय उत्पाद = (कुल पारिवारिक उपभोग व्यय + सकल निजी विनियोग + कुल सरकारी व्यय + विशुद्ध विदेशी विनियोग व्यय)

$$GNP = C + I + G + (X - M)$$

ग्रथवा $GNP = GNE$

(C) **साधन ग्रायों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद दृष्टिकोण** (GNP on Factor Incomes Approach)—इस विधि मे सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) की गणना उत्पादन के सभी साधनो को मिलने वाले पारिश्रमिक के योग से करते हैं। इस प्रकार यह (i) लगान, (ii) मजदूरी तथा वेतन, (iii) ब्याज तथा (iv) लाभ ग्रादि के रूप मे मिलने वाली कुल ग्रामदनियो का जोड होती है।

ग्रगर उत्पादक फर्में ग्रपने समस्त उत्पादन को उत्पादन के साधनो मे पारिश्रमिक के रूप मे बाँट दे तो सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) ग्रौर सकल राष्ट्रीय ग्राय (GNI) बराबर होगे ग्रर्थात् GNP = GNI होगा। किन्तु व्यवहार मे सारा उत्पादन, उत्पादन के साधनो मे नही बाँटा जाता। उत्पादन का कुछ भाग तो पूँजी की घिसावट एव प्रतिस्थापन के लिये रखा जाता है ग्रौर कुछ भाग सरकार को ग्रप्रत्यक्ष करों (Indirect Taxes) के रूप मे चुकाना पडता है। इससे GNP ग्रौर GNI मे ग्रन्तर होगा ग्रौर GNP ग्रधिक होगा GNI से, ग्रर्थात् $GNP > GNI$ ग्रतः दोनो मे समानता के लिये GNI मे ग्रप्रत्यक्ष करो तथा घिसावट को जोडना होगा, तभी GNP = GNI होगा, जैसा निम्न गणितीय सूत्र में स्पष्ट है—

साधन लागत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद = (लगान + मजदूरी, वेतन + ब्याज + लाभ + परोक्ष कर + मूल्य ह्रास)

GNP (At Factor Cost) Or GNP (At Factor Incomes) = (Rent + Wages + Interest + Profits + Indirect Taxes + Depreciation)

अथवा GNP ≡ GNI

सकल राष्ट्रीय उत्पाद, सकल राष्ट्रीय आय तथा सकल राष्ट्रीय व्यय में समानता

(Identity of GNP, GNI and GNE or GNP ≡ GNI ≡ GNE)

इन तीनो धारणाओ मे पारस्परिक समानता है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मूल्य, सकल राष्ट्रीय आय तथा सकल राष्ट्रीय व्यय—ये तीनो एक दूसरे के बराबर हैं, अर्थात् GNP ≡ GNI ≡ GNE होता है क्योंकि उत्पादको को अपनी उत्पादित वस्तुओ एव सेवाओं के विक्रय से जो मूल्य मिलता है वह खरीददारों के द्वारा व्यय की गई राशि के बराबर होता है और इसी प्रकार जो कुछ व्यय किया जाता है वह तत्काल किसी न किसी को आय के रूप मे प्राप्त होता है। आय प्राप्त करने वाले उसको पुनः व्यय करते हैं। इन तीनों मे समानता सिद्ध करने के लिये सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) की गणना की तीनो विधियों—(i) बाजार मूल्यों पर GNP, (ii) कुल व्यय के आधार पर GNP तथा (iii) साधन आय पर GNP का सहारा लिया जा सकता है—

सकल राष्ट्रीय आय GNI	≡ सकल राष्ट्रीय उत्पाद GNP ≡	सकल राष्ट्रीय व्यय GNE
(a) लगान (Rent) + (b) मजदूरी, वेतन (Wages) + (c) ब्याज (Interest) + (d) लाभ (Profits) + (e) अप्रत्यक्ष कर (Indirect Taxes) +	GNP– वर्ष के दौरान उत्पन्न समस्त अन्तिम वस्तुओं एव सेवाओं का बाजार मूल्यो का योग अतः GNP ≡ GNI ≡ GNE क्योंकि तीनों विधियों से प्राप्त मौद्रिक मूल्य एक समान होता है।	1. पारिवारिक उपभोग (C) 2. सकल घरेलू निजी विनियोग (Gross Domestic Private Investment) = (I) 3. सकल सरकारी व्यय (Total Govt. Exp.) (G) 4. विशुद्ध विदेशी विनियोग (X–M) (निर्यात–आयात)

(f) मूल्य-ह्रास (Depreciation) अर्थात् GNI = (a+b+c+d+e+f)		GNE = C+I+G+(X–M)

(2) सकल राष्ट्रीय आय
(Gross National Income or GNI)

"सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के उत्पादन मे अर्जित समस्त आमदनियो—लगान, मजदूरी, वेतन, ब्याज, लाभ आदि—के योग को सकल राष्ट्रीय आय (GNI) कहा जाता है।"[5] दूसरे शब्दो मे, उत्पादन के विभिन्न साधनो को वर्ष के दौरान उत्पादन कार्य हेतु जो प्रतिफल लगान, मजदूरी, वेतन, ब्याज एव लाभ के रूप मे प्राप्त होता है उन सब आमदनियो के योग को सकल राष्ट्रीय आय (GNI) कहा जाता है। इस प्रकार सकल राष्ट्रीय आय (GNI) आय-प्रवाह (Income-Flow अथवा Earnings-Flow) को व्यक्त करता है क्योकि यह समस्त उत्पादन साधनो की वार्षिक आमदनियो (Annual Factor Incomes) का द्योतक है। सूत्र के रूप मे सकल राष्ट्रीय आय (GNI) = लगान + मजदूरी/वेतन + ब्याज + लाभ आदि।

उपर्युक्त सूत्र मे यह मान्यता है कि उत्पादक फर्में सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) को उत्पादन के साधनो मे बाँट देती है, अतः ऐसी अवस्था मे GNP = GNI होगा।

व्यवहार मे उत्पादक फर्में अपने समस्त उत्पादन मूल्य को उत्पादन साधनो मे नही बाटती वरन् उसमे से कुछ भाग तो वार्षिक मूल्य ह्रास (Annual Depreciation) के प्रतिस्थापन के लिये रख दिया जाता है तथा कुछ भाग सरकार को अप्रत्यक्ष करो के रूप मे भुगतान किया जाता है। अतः ऐसी अवस्था मे उत्पादन साधनो की आमदनियो और GNP मे अन्तर रहेगा अर्थात् GNP > GNI होगा और दोनो मे समानता हेतु हमे GNI में मूल्य ह्रास और अप्रत्यक्ष करो की राशि को जोडकर समायोजन करना होगा। सूत्र के रूप मे—

GNP = GNI = लगान + मजदूरी + ब्याज + लाभ + अप्रत्यक्ष कर + मूल्य ह्रास

इसे साधन लागत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP at Factor Cost) भी कहा जाता है क्योकि फर्मों के लिये वह लागत है।

5. Gross National Income (GNI) is the total of all incomes—Rent, Wages, Interest and Profits etc —earned in the production of GNP.

सकल राष्ट्रीय आय (GNI) को दूसरे सूत्र से भी ज्ञात किया जा सकता है–
सकल राष्ट्रीय आय =(सकल व्यावसायिक बचतें + निर्वर्त्य आय + शुद्ध सरकारी कर)

GNI = (Gross Business Savings + Disposable Income + Net Govt Taxes)

सकल व्यावसायिक बचतें मूल्य ह्रास तथा रोके गये लाभ के योग (Depreciation + Retained Profits) से ज्ञात होती हैं और निर्वर्त्य आय (Disposable Income) की गणना व्यक्तिगत आय म से प्रत्यक्ष कर घटाने (PI – Direct Taxes) से ज्ञात होती है जबकि शुद्ध सरकारी करो की राशि कुल करो म से हस्तान्तरण भुगतान घटाने (Total Taxes – Transfer Payments) से प्राप्त होती है।

(३) विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद
(Net National Product or NNP)

सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) मे से उत्पादन की मशीनो एव अचल सम्पत्तियो के वार्षिक मूल्य ह्रास (Annual Depreciation) घटाने से जो शेष बचता है वह विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) कहलाता है।

बाजार मूल्यो पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद की गणना निम्न सूत्र से व्यक्त की जाती है—

विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद = सकल राष्ट्रीय उत्पाद – वार्षिक मूल्य ह्रास

NNP = GNP – Depreciation

विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद, विशुद्ध राष्ट्रीय आय एवं विशुद्ध राष्ट्रीय व्यय मे समानता
(Identity of NNP, NNI and NNE or NNP ≡ NNI ≡ NNE)

जिस प्रकार ऊपर सकल राष्ट्रीय उत्पाद, सकल राष्ट्रीय आय और सकल राष्ट्रीय व्यय मे समानता बताई गई थी उसी प्रकार सभी मे मूल्य ह्रास को घटाकर NNP ≡ NNI ≡ NNE बताया जा सकता है जो निम्न तालिका से स्पष्ट है—

विशुद्ध राष्ट्रीय आय (NNI)	≡	विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP)	≡	विशुद्ध राष्ट्रीय व्यय (NNE)
(a) लगान		विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद		1. पारिवारिक उपभोग
+		(NNP) =		व्यय (C)
(b) मजदूरी		(GNP – Depreciation)		+
+		अतः		2. विशुद्ध घरेलू निजी

(c) ब्याज	NNP≡NNI≡NNE	विनियोग (I)
+		+
(d) लाभ		3 सरकारी व्यय (G)
+		4. विशुद्ध विदेशी
(e) अप्रत्यक्ष कर		विनियोग (X – M)
NNI = a + b + c + d + e		NNE = C + I + G + (X – M)

(4) राष्ट्रीय आय
(National Income or NI)

संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार "वितरण होने वाले भागों के रूप में किसी निश्चित अवधि में उत्पादन साधनों को भुगतान की जाने वाली आय के योग को राष्ट्रीय आय (NI) कहते हैं।" उत्पत्ति के विभिन्न साधनों—मजदूरों को मजदूरी, भूस्वामियों को लगान, पूँजीपतियों को ब्याज, प्रबन्धकों को वेतन तथा साहसी को लाभ के रूप में आय प्राप्त होती है, उन सबका योग ही राष्ट्रीय आय है। दूसरे शब्दों में, *किसी वर्ष में उत्पादन के समस्त साधनों को प्राप्त आय या प्रतिफलों के योग को* **साधन लागत पर राष्ट्रीय आय** (National Income at Factor Cost) कहते हैं।[1] संक्षेप में, गणितीय सूत्र के रूप में हम इसे यों प्रदर्शित करते हैं—

राष्ट्रीय आय (NI) = (लगान + मजदूरी + वेतन + ब्याज + लाभ)

NI = (Rent + Wages + Interest + Profits)

राष्ट्रीय आय की गणना सकल उत्पाद के बाजार मूल्यों के आधार पर भी की जा सकती है और इसे साधन लागत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP at Factor Cost) कहा जाता है। इसके लिये विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में से अप्रत्यक्ष कर घटाया जाता है तथा अनुदान राशि को जोड़ा जाता है। गणितीय सूत्र के रूप में—

राष्ट्रीय आय (NI) = NNP – Indirect Taxes + Subsidies

साधन लागत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद अथवा राष्ट्रीय आय (NNP at Factor Cost) = विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद – अप्रत्यक्ष कर + अनुदान

(5) व्यक्तिगत अथवा निजी आय
(Personal Income or Private Income or PI)

किसी देश में परिवारों के व्यक्तियों को आय के रूप में जो मौद्रिक भुगतान प्राप्त होते हैं अथवा व्यक्तियों को विभिन्न स्रोतों से जो आय प्राप्त होती हैं

1. साधन लागत (Factor Cost) अथवा साधन मूल्यों (Factor Prices) का अभिप्राय उस व्यय से है जो उत्पादन के विभिन्न साधनों को उनकी सेवाओं के प्रतिफल के रूप में प्राप्त होता है।

उनके योग को व्यक्तिगत आय (PI) कहा जाता है । अगर राष्ट्रीय आय में हस्तान्तरण भुगतान (पेन्शन, बेकारी, बीमा, सामाजिक सुरक्षा व्यय) और राष्ट्रीय ऋणों का ब्याज (National Debt Interest) की राशियाँ जोड़कर उस योग में से रोके गये लाभ + लाभ कर + सामाजिक सुरक्षा में अंशदान के योग को घटा देते हैं तो प्राप्त राशि व्यक्तिगत आय (PI) कही जायेगी। संक्षेप में—

व्यक्तिगत आय (PI) = घरेलू उत्पत्ति से निजी क्षेत्र की आय + राष्ट्रीय ऋणों पर ब्याज + विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय + हस्तान्तरण आय + शेष संसार से शुद्ध हस्तान्तरण ।

अथवा

व्यक्तिगत आय (PI) = राष्ट्रीय आय + राष्ट्रीय ऋणों पर ब्याज + हस्तान्तरण भुगतान – रोके गये कम्पनी लाभ – लाभ कर – सामाजिक सुरक्षा अनुदान । कुछ समायोजनों के कारण व्यक्तिगत आय (PI) राष्ट्रीय आय (NI) से अधिक हो सकती है ।

(6) निर्वर्त्य आय (व्यवहार योग्य आय, खर्च योग्य आय अथवा प्रयोज्य व्यक्तिगत आय)

(Disposable Income or DI)

निर्वर्त्य आय को ज्ञात करने के लिए व्यक्तिगत आय (PI) में से प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes) तथा फीस एवं जुर्माने घटा देते हैं क्योंकि व्यक्तिगत आय में कर राशि चुकाने के बाद व्यक्ति उसे अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकता है या चाहे तो बचा सकता है अतः निर्वर्त्य आय (DI) कुल उपभोग व्यय एवं बचत के योग के बराबर होती है । गणितीय सूत्र के रूप में हम इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

निर्वर्त्य आय = व्यक्तिगत आय – प्रत्यक्ष कर – सरकारी फीस एवं जुर्माने

DI = PI–Direct Taxes–Fees and Penalties

अथवा

निर्वर्त्य आय (DI) = व्यक्तिगत उपभोग (C) + बचतें (S)

देश में जनसंख्या का जीवन-स्तर बहुत कुछ DI की वास्तविक वृद्धि पर निर्भर है ।

(7) प्रति व्यक्ति आय

(Per Capita Income)

जब देश की राष्ट्रीय आय में देश की कुल जनसंख्या का भाग दिया जाता है तो जो भाज्यफल आता है वही प्रतिव्यक्ति आय कहलाती है ।

$$\text{प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income)} = \frac{\text{राष्ट्रीय आय}}{\text{जनसंख्या}} = \frac{NI}{P}$$

राष्ट्रीय आय की विभिन्न धारणाओं का पारस्परिक सम्बन्ध

(1) सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) = कुल सार्वजनिक उत्पादन + कुल निजी उत्पादन + अप्रत्यक्ष कर

अथवा GNP = C+I+G+(X—M) जिसमें C व्यक्तिगत कुल उपभोग, I कुल विनियोग, G सार्वजनिक खरीद तथा (X—M) शुद्ध निर्यात को व्यक्त करता है। GNP में हम वस्तु प्रवाह (Goods Flow) का अध्ययन करते हैं।

(ii) सकल राष्ट्रीय आय (GNI) = सकल व्यावसायिक बचतें + निर्वर्त्य आय + शुद्ध कर मात्रा से ज्ञात होती है। इसमें हम आय प्रवाह (Earning Flow) का अध्ययन करते हैं।

दोनों प्रवाहों—GNP और GNI का योग एक दूसरे के बराबर होता है। अर्थात् GNP = GNI

(iii) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) = सकल राष्ट्रीय उत्पाद—मूल्य ह्रास

NNP = GNP—Depreciation

(iv) राष्ट्रीय आय (NI) = शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद—अप्रत्यक्ष कर + अनुदान

= NNP—Indirect Taxes + Subsidies

अथवा (NI) = लगान + मजदूरी + ब्याज + वेतन + लाभ

(v) व्यक्तिगत आय (PI) = राष्ट्रीय आय + ऋणों पर ब्याज + हस्तान्तरण भुगतान—रोके गये कम्पनी लाभ—लाभ कर—सामाजिक सुरक्षा अंशदान

(vi) निर्वर्त्य आय (Disposable Income) = व्यक्तिगत आय–प्रत्यक्ष कर–फीस, जुर्माने

DI = PI—Direct Taxes–Fees and Penalties

(vii) प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income) = राष्ट्रीय आय/जनसंख्या

इन सबके पारस्परिक सम्बन्ध को एक सरल संख्यात्मक उदाहरण द्वारा निम्न प्रकार समझा सकते हैं तथा उससे एक दूसरे का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है—

सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) से प्रयोज्य आय (DI) तक पहुँच तथा प्रति व्यक्ति आय का काल्पनिक उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

(Example Showing Relationship in Various Concepts of National Income)

(राशि करोड़ रु.)

(1) बाजार भावों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP)	40,000
घटाओ : वार्षिक मूल्य ह्रास (Depreciation)	(—) 2,000
(2) प्राप्त हुआ शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) (क्योंकि NNP = GNP—Depreciation)	38000
घटाओ : अप्रत्यक्ष अथवा परोक्षकर (Indirect Taxes)	(—) 2500

जोड़ो : सरकारी अनुदान (Subsidies)	(+) 500
(3) प्राप्त हुई राष्ट्रीय आय (National Income) (NI)	36,000
(क्योंकि राष्ट्रीय आय NI) = (NNP)—परोक्षकर + अनुदान	
घटाओ : (i) निगमो के अवितरित लाभ	(−) 20
(ii) निगम लाभ कर	(−) 10
(iii) सामाजिक सुरक्षा अंशदान	(−) 20
जोड़ो : (i) हस्तान्तरण भुगतान	(+) 50
(ii) सरकार द्वारा शुद्ध ब्याज भुगतान	(+) 40
(iii) उपभोक्ताओं द्वारा चुकाया गया शुद्ध ब्याज	(+) 10
(4) प्राप्त हुई वैयक्तिक (व्यक्तिगत) आय (Personal Income)	36050
(ऊपरी अनेक समायोजनों के कारण वैयक्तिक आय (PI) सामान्यतः राष्ट्रीय आय (NI) से अधिक होती है।)	
घटाओ : (i) प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes)	(−) 130
(ii) सरकारी फीस एवं जुर्माने	(−) 20
(5) प्राप्त हुई निर्वर्त्य आय अथवा खर्च योग्य आय अथवा प्रयोज्य आय (Disposable Income = DI)	35,900
(क्योंकि वैयक्तिक प्रयोज्य आय (DI) = PI—Direct Taxes—Fees and Penalties)	
घटाओ : वैयक्तिक बचतें (Personal Savings)	(−) 900
(6) प्राप्त हुआ वैयक्तिक उपभोग (Personal Consumption)	35,000

(7) $\frac{\text{प्रतिव्यक्ति आय}}{\text{(Per Capita Income)}} = \frac{\text{राष्ट्रीय आय (NI)}}{\text{देश की कुल जनसंख्या}} = \frac{\text{National Income}}{\text{Total Population}}$

अगर राष्ट्रीय आय 36000 करोड़ रु हो और जनसंख्या 60 करोड़ हो तो प्रति व्यक्ति आय = $\frac{36000}{60}$ करोड़ = 600 होगी।

राष्ट्रीय आय के अंग (भाग)

(Components of National Income)

प्रत्येक देश में राष्ट्रीय आय के आकलन व अनुमान के आधार पर राष्ट्रीय आय की विभिन्न मदों का वर्गीकरण भिन्न भिन्न प्रकार से किया जाता है। भारत की राष्ट्रीय आय समिति ने भारत की कुल राष्ट्रीय आय का वर्गीकरण निम्न मदों में किया है। ये ही राष्ट्रीय आय के मुख्य अंग या भाग (Components) कहे जाते हैं—

(1) कृषि —जिसमें कृषि, पशुपालन, वन, मत्स्य पालन आदि सम्मिलित हैं।

(2) उद्योग एव खनिज—जिसमे छोटे—बड़े सभी कारखानो, खनन, विद्युत्, जल-पूर्ति आदि सभी निर्माण उद्योग सम्मिलित है।

(3) वाणिज्य—परिवहन एव सचार, डाक, तार, रेल, सड़क, बैंक, बीमा, महाजनी कार्य आदि सम्मिलित हैं।

(4) अन्य सेवायें—जिसमे अनेक पेशे, कलाएँ सरकारी तथा घरेलू नौकरी, मकान आदि का स्वामित्व, प्रशासन एव सुरक्षा सेवाएँ सम्मिलित की जाती हैं।

(5) विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय—आयात, निर्यात, ब्याज, बीमा, बैंक लाभ आदि इन सबके योग से ही शुद्ध घरेलू उत्पाद मालूम किया जाता है।

राष्ट्रीय आय गणना मे कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण

(1) पेन्टर को सीढ़ी, डाक्टर का कार पर खर्च, साज सामान पर व्यय आदि सब मध्यवर्ती खर्च होता है अत. वह GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय म शामिल नही होता।

(2) पुरानी पेन्टिंग खरीदना, पुरानी कार खरीदना अथवा पूर्व प्रयोग की गई कोई भी परिसम्पत्ति खरीदना आदि परिसम्पत्तियो का विनिमय (Exchange) मात्र है यह सब GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय आदि म शामिल नही होता।

(3) घर मे पत्नी अथवा मा की सेवाए, पारिवारिक स्नेह से प्रवृत्त सेवाए नेता द्वारा राष्ट्र प्रेम से प्रवृत्त सेवाए, चुनाव प्रचार आदि राष्ट्रीय आय, GNP अथवा NNP का अग नही होती क्योकि ये बाजार मे क्रय-विक्रय नही की जाती।

(4) पिता द्वारा पुत्र को जेब खर्च, पति द्वारा पत्नी या बच्चों को जेब खर्च, उपहार या भेंट (Gift) आदि GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय म शामिल नही होते क्योकि ये सब हस्तान्तरण भुगतान मात्र हैं। ये वैयक्तिक आय (PI) मे भी नही जुड़ते क्योकि एक की आय दूसरे के व्यय के बराबर होते है।

(5) लाटरी का इनाम, पेन्शन तथा सार्वजनिक ऋणो पर चुकाया गया ब्याज आदि हस्तान्तरण भुगतान (Transfer Payments) हैं अत ये GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय मे तो नही जुड़ते किन्तु वे वैयक्तिक आय (PI) मे जुड़ते है।

(6) अवितरित कम्पनी लाभ तथा शेयर होल्डरो का चुकाया गया लाभाश (Dividend) GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय का अग होता है किन्तु अवितरित कम्पनी लाभ वैयक्तिक आय मे नही जोड़ा जाता जबकि वितरित लाभाश वैयक्तिक आय (PI) मे जोड़ा जाता है।

(7) किचन गार्डन मे उगाई गई सब्जिया, स्वय के उपभोग के लिए उत्पादित आम, पपीता, आलू एव खाद्यान्न आदि भी GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय मे शामिल नही होते क्योकि ये वस्तुएँ बाजार मे क्रय विक्रय हेतु उत्पादन नही की जाती हैं।

(8) अप्रत्यक्ष अथवा परोक्ष कर (Indirect Tax) बाजार भावो पर GNP

अथवा NNP में शामिल होता है पर राष्ट्रीय आय में नहीं जबकि परोक्ष कर साधन लागत पर GNP तथा NNP और NI में शामिल नहीं होता।

(9) प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) साधन लागत पर GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय का अंग नहीं होता। व्यय योग्य आय (DI) ज्ञात करने के लिए वैयक्तिक आय (PI) में से प्रत्यक्ष कर को घटा देते हैं।

(10) माल के स्टॉक में वृद्धि GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय को तदनुसार बढ़ाती है जबकि स्टॉक में कमी GNP, NNP तथा NI में भी कमी कर देती है। उदाहरणार्थ स्टॉक में 200 करोड़ रु की वृद्धि GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय में भी 200 करोड़ रु की वृद्धि करेगी।

(11) विदेशों से प्राप्त आय एवं निर्यातों का भुगतान आदि GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय के अंग हैं तथा वे इन्हें बढ़ाते हैं जबकि विदेशों को भुगतान तथा विदेशों को आयात का भुगतान GNP, NNP तथा राष्ट्रीय आय को घटाते हैं।

राष्ट्रीय आय को मापने या संगणना की पद्धतियाँ (रीतियाँ)
(Methods of Measuring National Income)

प्रो. कुजनेट्स (Kuznets) के अनुसार राष्ट्रीय आय को मापने या संगणना करने की तीन पद्धतियाँ मुख्य प्रचलित हैं। मापने की मुख्य पद्धतियाँ इस प्रकार हैं—

(1) उत्पादन संगणना पद्धति (Census of Production Method)—इस पद्धति के अन्तर्गत समस्त उत्पादन साधनों द्वारा वर्ष विशेष में उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं का साधन लागत पर मूल्यांकन किया जाता है। इसके लिए पहले अर्थव्यवस्था को विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित किया जाता है जैसे कृषि, खनिज, छोटे उद्योग, बड़े उद्योग, परिवहन संचार, वाणिज्य, अन्य सेवाएँ और फिर वर्ष के दौरान इनके द्वारा किये गये उत्पादन या सेवाओं के विशुद्ध मूल्य को जोड़ा जाता है। विशुद्ध मूल्य का अर्थ है कुल उत्पादन में से कच्चे माल व अन्य पदार्थों का मूल्य, या दूसरे को हस्तान्तरित उत्पत्ति जो स्वयं उत्पादन कर रही है—कम कर देते हैं। उत्पादन के मूल्य में से मशीनों की घिसावट, मरम्मत व प्रतिस्थापन व्यय को भी कम कर दिया जाता है। इसलिए इस रीति को वस्तु सेवा प्रणाली (Commodity Service Method) या औद्योगिक उद्भव द्वारा राष्ट्रीय आय (National Income by Industrial Origin) भी कहा जाता है।

यह पद्धति वहीं काम में लाई जा सकती है जहाँ वर्ष के कुल उत्पादन की संगणना व्यवस्था हो। यह तरीका अर्थव्यवस्था की उत्पादन संरचना की तुलना में उपयोगी है और उनके सापेक्षिक महत्व को स्पष्ट करती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से बड़ी सरल लगती है पर इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं—(i) दोहरी गणना की सम्भावना रहती है जैसे उत्पादन की गणना मूल उत्पत्ति स्थान और निर्माण स्थान दोनों जगहों पर हो सकती है। (ii) मूल्यांकन करना कठिन है।

(2) ग्राय संगणना रीति (Income Census Method)—डॉ० बाउले ग्रोर रोबर्टसन के ग्रनुसार इस प्रणाली मे विभिन्न व्यक्तियो की ग्राय—ग्रायकर देने वाले तथा ग्रायकर न देने वाले—सभी व्यक्तियो की ग्राय का कुल योग है। इसको सुविधाजनक बनाने के लिये व्यक्तियो को विभिन्न ग्राय वर्गों मे विभाजित किया जाता है ग्रौर उनकी ग्राय के ग्राधार पर कुल ग्राय मालूम की जाती है। सक्षेप मे, व्यक्तियो द्वारा प्राप्त, लगान, वेतन, मजदूरी, ब्याज, लाभ, विदेशी प्राप्तिया ग्रादि सभी का योग किया जाता है ग्रर्थात् वितरण की दृष्टि से ग्राय की सगणना की जाती है। इससे वितरण व्यवस्था की तुलना एव सरचना ज्ञात होती है पर इसमे भी ग्रनेक कठिनाइया हैं।

यद्यपि ग्राय सगणना मे दोहरी गणना का भय नही रहता ग्रौर व्यक्तियो की ग्राय को पारिवारिक बजटो से ज्ञात करना सरल लगता है पर व्यावहारिक दृष्टि से कठिनाई ग्राती है—(i) ग्राय के वितरण के बारे मे करो के डर से ग्राय को कम दर्शाने का प्रयत्न किया जाता है। (ii) ग्रशिक्षा ग्रौर पिछड़े देशो मे ग्राय सम्बन्धी सूचना विश्वसनीय नही कही जा सकती है। (iii) स्वनियोजित उद्योगो व व्यवसायो मे मूल्याकन की कठिनाई ग्राती है। (iv) ग्रनेक वस्तुग्रो, सेवाग्रो तथा सुविधाग्रो के रूप मे प्राप्त ग्राय का मूल्याकन भी कठिन है। (v) व्यवसायो के लाभ का वह भाग जो वितरित न किया गया हो, राष्ट्रीय ग्राय मे शामिल होने से छूट जाता है।

(3) व्यय संगणना रीति (Census of Expenditure Method)—इस रीति मे देश के विभिन्न वर्गों द्वारा विभिन्न मदो पर किये गये वार्षिक व्यय को जोड़कर कुल व्यय की राशि ज्ञात कर ली जाती है ग्रौर फिर उस व्यय की कुल राशि मे कुल बचतो को जोड़ लिया जाता है। इस प्रकार दोनो के सामूहिक योग से कुल राष्ट्रीय ग्राय ज्ञात कर ली जाती है। इस कारण इसको उपभोग बचत रीति (Consumption Saving Method) तथा कुल बचत कुल विनियोग के बराबर होने से उपभोग-विनिमय रीति (Consumption Investment Method) भी कहते हैं।

कठिनाइयां—इस रीति मे भी कठिनाइया है—(i) सम्पूर्ण जनसख्या की उपभोग व्यय राशि ज्ञात करना ग्राय की ग्रपेक्षा कठिन है क्योंकि छोटी-छोटी मदो या मात्रा मे व्यय का हिसाब-किताब नही रखा जाता, (ii) बचत या विनियोगो का ब्यौरा प्राप्त करना भी सरल नही है, (iii) ग्रविकसित देशो से सूचना प्राप्त करना प्राय. ग्रसम्भव होता है।

ग्रतः यह रीति भी एक प्रकार से ग्रव्यावहारिक एव कठिनाइयो से परिपूर्ण है ग्रौर पिछड़े राष्ट्रो के लिये बिल्कुल निरर्थक है।

इन तीन प्रमुख प्रणालियो ग्रथवा रीतियो के ग्रतिरिक्त कुछ सुधरी प्रणालियाँ दी जाती हैं जिनमे उपर्युक्त प्रणालियो मे सामजस्य बैठाया जाता है।

(4) सामाजिक लेखा रीति (Social Accounting Method)—प्रो० रिचर्डस्टोन ने इस रीति का प्रतिपादन किया। इसके अन्तर्गत देश की सम्पूर्ण जनसंख्या को विभिन्न वर्गों में बांट दिया जाता है। वर्गीकरण में समान आय वालो को समान वर्ग में रखा जाता है। प्रत्येक वर्ग के कुछ चुने हुए व्यक्तियो की औसत आय के आधार पर सम्पूर्ण वर्ग की आय ज्ञात कर ली जाती है तथा इसी प्रकार सभी वर्गों की सम्पूर्ण आय ज्ञात कर सभी वर्गों की आय का सामूहिक योग करने से ही कुल राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। इस रीति में भी वे ही कठिनाइयां हैं।

(5) व्यवसाय संगणना रीति (Census of Occupation Method)—इसमे देश के सभी उत्पादन व्यवसायों के आधार पर व्यक्तियो का वर्गीकरण कर लिया जाता है जैसे कृषक, व्यापारी, उत्पादक, नौकरी-पेशा आदि-आदि और फिर प्रत्येक व्यवसाय मे लगे लोगो की व्यवसायवार आय ज्ञात की जाती है और उनके सामूहिक योग से राष्ट्रीय आय ज्ञात होती है।

(6) उत्पादन संगणना तथा आय संगणना की मिश्रित रीति (Mixed or Combination Method)—इस प्रणाली में उत्पादक व्यवसायो की संगणना उत्पादन के आधार पर तथा सरकारी और गैर-सरकारी नौकरो की आय की गणना आय संगणना के आधार पर की जाती है। इसमे दोनो का सम्मिश्रण हो जाता है। भारत मे इस प्रणाली का उपयोग डॉ० वी. के. आर. वी. राव ने भारतीय राष्ट्रीय आय की गणना मे किया।

सर्वोत्तम विधि कौनसी? उपर्युक्त राष्ट्रीय आय की संगणना रीतियो का विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियो ने अलग-अलग प्रणालियो को महत्व दिया है। इनमे से कोई सी भी प्रणाली अपने आप मे पूर्ण नही कही जा सकती। इसके अलावा प्रणालियों की सापेक्षता पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है क्योंकि राजनैतिक, सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो में भिन्नता पाई जाती है। अतः यह कहना कठिन है कि कौनसी प्रणाली उपयुक्त है। फिर भी सामान्य रूप में उत्पत्ति संगणना रीति अच्छी एव सर्वोत्तम मानी जाती है।

राष्ट्रीय आय को मापने की कठिनाइयां
(Difficulties in Measuring the National Income)

किसी भी देश मे राष्ट्रीय आय को मापने में अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। प्रमुख कठिनाइयां इस प्रकार हैं—

(1) पारिभाषिक कठिनाइयां—राष्ट्रीय आय से सामान्यतः यह भ्रम होता है कि इसमे भौगोलिक सीमाओ के अन्तर्गत प्राप्त आय ही सम्मिलित होती है जबकि वास्तव मे देश के निवासियो द्वारा विदेशी निवेशो पर प्राप्त ब्याज, बैंकिंग, बीमा, आदि की कमाई भी राष्ट्रीय आय म जोडी जाती है। इसी प्रकार आय, व्यय, बचत, उद्योग आदि शब्दो का अर्थ भी सर्वत्र एक-सा नही लगाया जाता।

(2) मापने की रीति एवं दृष्टिकोण—राष्ट्रीय आय को नापने के लिये कौन-सी रीति का उपयोग किया जाये और आर्थिक क्रिया के किस दृष्टिकोण—उत्पादन वितरण या व्यय को अपनाया जाये? यह सब अर्थव्यवस्था की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जैसे उत्पादन क्षमता का पता लगाने मे उत्पादन विधि उपयोग मे लानी चाहिये जबकि कल्याण के अध्ययन मे उपभोग दृष्टिकोण ठीक रहता है। अतः यह समस्या महत्वपूर्ण है।

(3) गैर-मौद्रिक लेन-देन—राष्ट्रीय आय की गणना द्रव्य मे की जाती है, परन्तु बहुत-सी वस्तुओ और सेवाओ का मुद्रा के माध्यम से विनिमय न होने एव उनका मौद्रिक मूल्याकन नही होने से उन्हे राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित नही किया जाता है, जैसे किसान का स्वय के उपयोग के लिये रखा गया अनाज, स्वय के मकान का उपयोग, पत्नी की सेवायें जबकि वे आर्थिक क्रियाएँ हैं। इसी प्रकार वस्तु विनिमय के रूप मे प्राप्त होने वाली आय का भी राष्ट्रीय आय मे समावेश न होने से त्रुटि रह जाती है।

(4) अशिक्षा एव अन्धविश्वास—अविकसित एव पिछड़े राष्ट्रो मे लोग अशिक्षा के कारण अपनी आय, उत्पादन, उपभोग सम्बन्धी कोई हिसाब-किताब नही रखते। इसके अलावा बहुत-से अन्धविश्वासी होने के कारण अपने उपभोग, आय व व्यय सम्बन्धी सूचना देना ही उपयुक्त नही समझते हैं तो आकडो का सकलन कठिन होगा।

(5) अक-सकलन एव सांख्यिकी व्यवस्था का अभाव—जिन देशो मे सरकारी, गैर-सरकारी कोई भी सस्थाएँ उत्पादन, रोजगार, जनसख्या, व्यवसाय, उपभोग आदि अको के सकलन की व्यवस्था नही करती तो वहा राष्ट्रीय आय मालूम करने मे काफी कठिनाइया रहती हैं। अतः पूर्ण और विश्वसनीय आकडो के अभाव मे राष्ट्रीय आय भ्रमात्मक होगी।

(6) सरकारी व्यय और करारोपण—सरकार के प्रशासनिक व्यय और व्यवहार मे भिन्नता व सामान्य क्रियाओ मे व्यवहार भी भिन्न-भिन्न होता है। अतः उत्पादन, उपभोग एव व्यय के प्रभाव का विश्लेषण मुश्किल रहता है। इसी प्रकार करारोपण के डर से उत्पादन और आय को कम बताने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इससे राष्ट्रीय आय कम दिखाई जाने की प्रवृत्ति होती है।

(7) मूल्य-स्तर मे परिवर्तन—राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आकडो की तुलना में मूल्यो मे हुए परिवर्तनो का समायोजन (adjustment) करना पडता है पर निर्देशाक स्वय अनेक त्रुटियो से पूर्ण होते हैं।

(8) अर्थव्यवस्था में अमुद्रीकृत क्षेत्र की प्रधानता—अविकसित एव पिछड़े राष्ट्रो मे अर्थव्यवस्था का एक बहुत बड़ा भाग अमुद्रीकृत (Non-monetised *Sector*) होता है *जिसकी वस्तु विनिमय माध्यम के कारण राष्ट्रीय आय मे गणना* करना मुश्किल होता है।

(9) दोहरी गणना की सम्भावना—उत्पादन प्रणाली से राष्ट्रीय आय को मालूम करने में दोहरी गणना का भय (Double Counting) रहता है। अतः इस दृष्टि से उपभोग प्रणाली या आय प्रणाली उपयुक्त रहती है। आय प्रणाली में भी हस्तान्तरित भुगतानो की दुबारा गिनती का भय रहता है।

(10) अन्य सकट–कार्यों के स्पष्ट विश्लेषणों से भी राष्ट्रीय आय मे कठिनाई आती है जैसे व्यक्ति की अशतः आय कृषि और उद्योगो से हो, विदेशी फर्मों द्वारा देश मे कमाई गई आय आदि राष्ट्रीय आय मे सम्मिलित होती है जबकि विदेशी शाखाओ द्वारा कमाया गया लाभ मुख्य कार्यालय की जमा मे शामिल होता है। गलत सूचना भी कठिनाई उत्पन्न करती है।

यद्यपि राष्ट्रीय आय के मापने मे अनेक कठिनाइया हैं परन्तु फिर भी राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व निरन्तर बढते जाने के कारण कठिनाइयों पर ध्यान नहीं दिया जाता है और सतर्कता बरतने के प्रयास किये जाते हैं। प्रो० कीन्स द्वारा राष्ट्रीय आय को समष्टिवादी अर्थशास्त्र का अविभाज्य एव महत्वपूर्ण अग मानने के कारण इसका महत्व बढ गया है।

राष्ट्रीय आय का महत्व एवं प्रयोग
(Significance and Use of National Income)

राष्ट्रीय आय देश की समुचित अर्थव्यवस्था की नाडी है जो सामाजिक लेखों के रूप में अर्थव्यवस्था की विभिन्न क्षेत्रो की गतिविधियो, आर्थिक प्रगति के आकडों देश के निवासियो की आर्थिक स्थिति तथा समाज में वितरण व्यवस्था का ज्ञान कराती है। राष्ट्रीय आय वास्तव में आर्थिक गतिविधियो की सूचक है। आज यह निर्विवाद सत्य है कि किसी भी देश की सामाजिक एव राजनैतिक प्रगति बहुत कुछ आर्थिक प्रगति मे निहित है। इन सबका निरूपण राष्ट्रीय आय में होता है। इसलिये राष्ट्रीय आय का महत्व निम्न कारणो से बढ रहा है—

(1) आर्थिक विकास का मापदण्ड—राष्ट्रीय आय में देश का उत्पादन, वितरण, उपभोग, बचत, सब प्रतिबिम्बित होते हैं और राष्ट्रीय आय में वृद्धि आर्थिक विकास की सूचक है। देश में राष्ट्रीय आय जितनी तेजी से बढेगी अन्य बातो के समान रहते हुए आर्थिक समृद्धि के बढने का मापदण्ड है।

(2) जीवन स्तर की जानकारी एव तुलना—राष्ट्रीय आय मे होने वाले परिवर्तनो को जीवन स्तर मे परिवर्तनो से जाचा जा सकता है तथा उनमें विषमता के कारणों को जाचने की प्रवृत्ति होती है दो विभिन्न समयो मे, दो विभिन्न क्षेत्रो मे, विभिन्न वर्गों मे आय के परिवर्तनो की जीवन स्तर मे परिवर्तन से तुलना की जा सकती है। दो देशों की राष्ट्रीय आय और जीवन स्तर मे तुलना की जा सकती है।

(3) अर्थव्यवस्था के ढाचे का ज्ञान—राष्ट्रीय आय के आकडो से अर्थव्यवस्था के विभिन्न अगो की स्थिति तथा अर्थव्यवस्था की सरचना (Structure) का ज्ञान होता है।

(4) **राष्ट्रीय आय और वितरण व्यवस्था**—राष्ट्रीय आय के आकडो से देश मे विभिन्न वर्गों को प्राप्त होने वाली आय का विश्लेषण कर यह जाना जा सकता है कि धन का वितरण देश मे समान है या नही। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने पर भी अगर जीवन स्तर मे वृद्धि नही होती तो जनसंख्या के समान रहने पर धन के असमान वितरण का आभास होता है।

(5) **आर्थिक नीतियों के निर्माण मे सहायक**—राष्ट्रीय आय के आकडा के आधार पर सरकार अपनी कर, प्रशुल्क नीति, मौद्रिक नीति, रोजगार नीति आदि का निर्माण करती है तथा कार्यान्वित करती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय समष्टि दृष्टिकोण से अर्थव्यवस्था की जटिलताओ के समझने मे सहायक होती है।

(6) **अर्थव्यवस्था मे परिवर्तन के रुप का ज्ञान**—राष्ट्रीय आय आकडो से अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो एव अगो म परिवर्तन की प्रवृत्तिया एव उनके रुख का ज्ञान होता है जिससे नीतियो का मूल्याकन होता है।

(7) **तुलनात्मक अध्ययन**—राष्ट्रीय आय से दो देशो की आर्थिक स्थिति की तुलना ही नही की जा सकती बल्कि देश की अर्थव्यवस्था मे विभिन्न समयो, विभिन्न अगो, क्षेत्रो का भी तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। दो देशो की आर्थिक स्थिति की तुलना राष्ट्रीय आय और प्रतिव्यक्ति आय के आधार पर की जा सकती है। यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्थिक प्रगति की दर किसम कितनी अधिक या कम है अथवा किस क्षेत्र का कितना योग है, पता लग जाता है।

(8) **दीर्घकालीन प्रवृत्तियों का ज्ञान**—राष्ट्रीय आय के आकडो से व्यावसायिक गतिविधियो की प्रगति का अवलोकन कर भावी विकास के सम्बन्ध मे अनुमान लगाने मे सुविधा रहती है।

(9) **सामाजिक और आर्थिक दोषों को दूर करने मे मार्ग-दर्शक**—राष्ट्रीय आय के कारण प्रगति का मूल्याकन होता है। अतः हम आर्थिक क्षेत्र मे आने वाली बाधाओ व दोषो को पहले ही निवारण का सकेत मिलता है।

(10) **अन्य**—सघीय सरकार राष्ट्रीय आय के आधार पर विभिन्न क्षेत्रो की स्थिति का पता लगाकर अनुदान देती है। सुरक्षा तथा विकास पर व्यय का निर्धारण भी राष्ट्रीय आय अनुमानो पर आधारित होता है। सरकारी उद्यमो और गैर-सरकारी क्षेत्र का राष्ट्रीय आय मे क्या योगदान है। राष्ट्रीय आय के अनुपात पर सार्वजनिक ऋणों की मात्रा, बजट ऋणो पर ब्याज आदि का ज्ञान लाभप्रद रहता है।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रीय आय के आकडो के अभाव मे विकास योजनाओ का निर्माण, आय के वितरण, रोजगार नीति, मौद्रिक नीति, व्यापारिक व्यवस्था सबमे नीति-निर्माण, क्रियान्वयन तथा मूल्याकन मे कठिनाई रहती है। अत. राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण एव आवश्यक है।

राष्ट्रीय आय के अनुमान एवं उपयोग में सावधानियां
(Precautions)

यद्यपि राष्ट्रीय आय का महत्व बहुत है पर राष्ट्रीय आय की गणना मे भिन्नता, एकत्रित अकों मे समान आधार का अभाव अथवा परिस्थितियों की भिन्नता के कारण राष्ट्रीय आय के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष गलत एव भ्रमात्मक हो सकते हैं अत तुलना करने में अथवा राष्ट्रीय आय के विश्लेषण से आर्थिक निर्णयों में पूर्ण सतर्कता बरतना आवश्यक है। सामान्यतः राष्ट्रीय आय के अनुमान और प्रयोग मे निम्न सावधानियां बरतना उपयुक्त है—

(1) मौद्रिक आय तथा वास्तविक आय में अन्तर करना—देश मे मूल्य स्तर में परिवर्तन होने से मौद्रिक आय मे जो घटत बढत होती है उसका वास्तविक आय से बिलकुल विपरीत सम्बन्ध है। जैसे मुद्रा स्फीति के समय मौद्रिक मूल्य-बढते हैं पर वास्तविक आय घट जाती है इसलिए चू कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि मौद्रिक मूल्यो मे नापी जाती है। अत दो विभिन्न समयों मे राष्ट्रीय आय 10 हजार करोड से बढकर 15 हजार करोड बढ गई परन्तु साथ-साथ मूल्य-स्तर मे भी 50% की वृद्धि हो गई तो मौद्रिक आय के बढ जाने के बावजूद भी देश की वास्तविक आय मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वास्तविक आय मुद्रा की क्रय शक्ति को व्यक्त करती है अतः राष्ट्रीय आय की तुलना करते समय वास्तविक आय को भी ध्यान मे रखना चाहिये।

(2) कुल आय के स्थान पर प्रति व्यक्ति आय—किसी भी देश की राष्ट्रीय आय की तलना कुल आय के रूप मे करना भ्रमात्मक हो सकता है क्योकि एक देश म जनसख्या कम हो, या देश छोटा हो और कुल राष्ट्रीय आय कम हो और दूसरी ओर एक राष्ट्र की जनसख्या विशाल हो और उसकी राष्ट्रीय आय भी अधिक हो तो कुल आय के आधार पर यह नही कहा जा सकता कि कौनसा देश अधिक समृद्ध है। अत. तुलना करने मे प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income) को आधार मानना उपयुक्त रहता है।

(3) आय की वितरण व्यवस्था—राष्ट्रीय आय की कुल मात्रा या प्रति व्यक्ति आय की अधिकता ही अधिकतम कल्याण का द्योतक नहीं है। एक देश मे कुल आय अधिक हो और प्रतिव्यक्ति आय भी अधिक हो परन्तु धन का अत्यधिक असमान वितरण हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि देश का जीवन स्तर ऊँचा है। केवल कुछ ही वर्गों द्वारा आय पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेना सामाजिक और आर्थिक दृष्टि के साथ-साथ राजनैतिक दृष्टि से भी खतरनाक एव अनुपयुक्त है। सामाजिक कल्याण की तुलना करते समय भी वितरण की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय आकडो के प्रयोग मे सावधानी बरती जानी चाहिये तभी निष्कर्ष सही एव वास्तविकता के निकट होंगे।

राष्ट्रीय आय एव आर्थिक कल्याण

(National Income and Economic Welfare)

कल्याण की धारणा भावात्मक है। कल्याण के जिस अग को मुद्रा के माप-दण्ड द्वारा मापा जा सकता है उसे हम आर्थिक कल्याण कहते हैं। राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह निम्न तथ्यो से स्पष्ट हो जाता है—

(1) राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि—अन्य बातो के समान रहने पर राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि समृद्धि का सूचक है क्योकि अगर मुद्रा की क्रय शक्ति समान रहे तो वास्तविक आय मे वृद्धि अधिक उपभोग से जीवन स्तर को ऊँचा बनाती है और गिरने पर विपरीत स्थिति उत्पन्न होती है अतः आर्थिक कल्याण घटता है।

(2) राष्ट्रीय आय और वितरण—आर्थिक कल्याण को प्रभावित करते हैं। अगर राष्ट्रीय आय का समान वितरण हो तो आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी पर अगर असमान वितरण है तो आर्थिक कल्याण कम होगा।

(3) राष्ट्रीय आय एवं व्यय—अगर राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग सुरक्षा सेना या आतक जमाने मे खर्च किया जाता है तो आर्थिक कल्याण बढने के स्थान पर घटेगा परन्तु इसके विपरीत राष्ट्रीय आय को ठीक ढग से व्यय किया जाता हो तो आर्थिक विकास, समृद्धि एव पूर्ण रोजगार का मार्ग प्रशस्त होगा और आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होगी।

(4) उत्पादन का ढंग—किसी देश मे किसी समुदाय का आर्थिक कल्याण राष्ट्रीय लाभाश के उपयोग से प्राप्त सन्तुष्टि तथा उसके उत्पादन मे निहित असतोष के सन्तुलन पर निर्भर करता है। अगर उत्पादन मे शोषण न हो, यातनायें न भुगतनी पड़ें तो राष्ट्रीय आय मे वृद्धि आर्थिक कल्याण मे भी वृद्धि करेगी।

(5) रोजगार एवं विकास—प्रो. कीन्स ने अपना रोजगार सिद्धान्त आय की मात्रा पर आधारित किया है राष्ट्रीय आय मे वृद्धि रोजगार मे वृद्धि कर आर्थिक कल्याण को बढाती है और इसके विपरीत राष्ट्रीय आय के गिरने पर रोजगार एव उत्पादन मे कमी से कल्याण मे कमी आती है।

प्रो. पीगू के अनुसार, अन्य बातो के समान रहने पर, मोटे तौर पर राष्ट्रीय **आय आर्थिक कल्याण को प्रतीक है।** सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि अगर—(i) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के कारण यदि निर्धनो को प्राप्त लाभाश मे वृद्धि हुई हो, (ii) नागरिको की रुचि मे परिवर्तन अच्छाई की ओर हुआ हो, (iii) राष्ट्रीय आय मे उसकी वास्तविक उत्पादन लागत से अधिक वृद्धि हुई हो, (iv) राष्ट्रीय आय की अपेक्षाकृत जनसख्या मे वृद्धि कम हुई हो तथा (v) धन के वितरण मे सुधार हुआ हो तो इन सब परिस्थितियो मे राष्ट्रीय आय से आर्थिक कल्याण की अभिवृद्धि होगी अन्यथा आर्थिक कल्याण घटेगा।

वैसे आर्थिक कल्याण और गैर-आर्थिक कल्याण एक ही समस्या के दो पहलू हैं और एक दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि दोनो को अलग-अलग नही किया जा सकता। आर्थिक कल्याण मे वृद्धि अगर गैर-आर्थिक कल्याण मे कमी लाती है तो कुल कल्याण मे वृद्धि उन दोनो के सापेक्षिक प्रभावो पर निर्भर करेगी।

प्रो. सेम्यूलसन की शुद्ध आर्थिक कल्याण (Net Economic Welfare) की धारणा :

प्रो पाल. ए. सेम्यूलसन ने अपनी कृति मे शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) की नवीन धारणा का प्रतिपादन किया है जिसे वे सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) धारणा से बेहतर बताते हैं। अगर सकल राष्ट्रीय उत्पाद(GNP) मे हम अवकाश (Leisure) से प्राप्त सन्तुष्टि जोड दें और आधुनिक युग मे जल तथा वायु के दूषण (Pollution) से उत्पन्न होने वाली क्षति एवं असन्तुष्टि तथा देश मे अपराधो, युद्धो, शन्ति स्थापना के लिये किये गये व्ययो आदि को घटा दें तो जो शेष बचता है वह शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) का द्योतक है। इनके अनुसार अवकाश (Leisure) से व्यक्ति को उसी प्रकार सन्तुष्टि मिलती है जैसे वस्तुओ व सेवाओ के उपभोग से। ठीक उसी प्रकार जलवायु दूषण, युद्ध, अशान्ति एव अपराधो से असन्तुष्टि सामाजिक कल्याण मे कमी करते हैं। प्रो नोरधस (Nordhaus) तथा प्रो. टोबिन (Prof. Tobin) भी GNP मे से शहरीकरण से उत्पन्न समस्याओ और असुविधाओ को घटाकर शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) निकालते हैं। यह धारणा अधिक उपयुक्त मानी जाती है क्योंकि अभी GNP मे अवकाश से प्राप्त सुख को सम्मिलित नही किया जाता और न वायु एव जल दूषण (Pollution) अपराधो, युद्धो और शहरीकरण की असुविधाओ को घटाया जाता है।

भारत में राष्ट्रीय आय
(National Income in India)

अन्य राष्ट्रो की भांति राष्ट्रीय आय के बढते हुए महत्व के कारण भारत मे भी समय-समय पर राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रस्तुत किये गये हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व राष्ट्रीय आय के आंकडे सकलन की सुव्यवस्था का अभाव था। अनुमान व्यक्तिगत थे और यथेष्ट तत्वो व सूचना की कमी के कारण विश्वसनीय नही कहे जा सकते। दादा भाई नौरोजी ने 1867-68 मे सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने का प्रयास किया और प्रति व्यक्ति आय 20 रु बताई। लार्ड कर्जन ने 1900 में प्रति व्यक्ति आय 30 रु, 1911 मे फिनले शिराज ने 80 रु तथा 1922 मे 116 रु का अनुमान लगाया था। 1931-32 मे डॉ वी के आर. वी राव ने ग्रामीण एव शहरी क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति आय क्रमश 51 रु तथा 166 रु होने का अनुमान लगाया था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने वैज्ञानिक आधार पर राष्ट्रीय आय गणना का प्रयास किया तदनुसार 1946-47 मे

वाणिज्य मन्त्रालय ने कुल राष्ट्रीय आय 5580 करोड तथा प्रति व्यक्ति आय 228 रु होने का अनुमान लगाया था।

भारत मे योजनाबद्ध विकास के आरम्भ के लिये राष्ट्रीय आय का वैज्ञानिक अध्ययन करने तथा अनुमान लगाने के लिये 1949 मे भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष प्रो पी सी महालनोबिस थे। इस समिति ने अपना अन्तरिम प्रतिवेदन 1951 मे तथा अन्तिम प्रतिवेदन 1955 मे प्रस्तुत करके बताया कि 1948-49 और 1953 54 मे राष्ट्रीय आय क्रमश 8650 करोड रु तथा 10610 करोड रु थी और प्रति व्यक्ति आय कमश 247 रु तथा 284 रु थी।

इसके पश्चात् राष्ट्रीय आय गणना का कार्य केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन (Central Statistical Organisation—CSO) को सौंप दिया गया है और सगठन ने इस दृष्टि से सराहनीय कार्य किया है। राष्ट्रीय आय सम्बन्धी कुछ आकडे इस प्रकार हैं—

भारत मे राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय

(चालू मूल्यों मे 1968—69 के आधार पर)

योजनाधार वर्ष		राष्ट्रीय आय (करोड रु०)	प्रति व्यक्ति आय (रुपयो मे)
प्रथम योजना के अन्त मे	1955—56	10800	281 0
द्वितीय योजना के अन्त मे	1960—61	14044	306 7
तृतीय ,, ,,	1965—66	21799	420 5
तीन वार्षिक, ,,	1968—69	28800	546 0
चतुर्थ ,, ,,	1973—74	49290	850
पचम ,, ,,	1977—78	74800	1189
(चालू मूल्यो पर)	1978—79	80090	1249

प्रथम योजना के शुरू मे राष्ट्रीय आय 9530 करोड रु० थी और प्रति व्यक्ति आय 266 रु० थी। ताजा अनुमानों के अनुसार 1978—79 मे चालू मूल्य के अनुसार राष्ट्रीय आय 80090 करोड रु० तथा प्रति व्यक्ति आय 1249 रु० हो गई है।

भारत मे राष्ट्रीय आय की विशेषताएँ

(1) *न्यूनतम स्तर*—भारत की राष्ट्रीय आय समृद्ध राष्ट्रो के मुकाबले बहुत कम है और प्रति व्यक्ति आय तो सम्मानजनक जीवन स्तर प्रदान करने के लिये भी अपर्याप्त है। जहाँ 1978 मे अमेरिका मे प्रति व्यक्ति आय 8000 डालर, इगलैण्ड मे 3400 डालर, लका में 170 डालर थी वहा भारत मे केवल 150 डालर प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है, लगभग 113 पैसा प्रतिदिन। स्वर्गीय राम मनोहर लोहिया ने केवल 20 पैसे प्रति व्यक्ति प्रतिदिन ही बताया।

(2) राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि की दर बहुत कम है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजना मे राष्ट्रीय आय मे क्रमश 17 7%, 20% तथा 12 5% की वृद्धि हुई। छठी योजना मे राष्ट्रीय आय मे 4 5% वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य है जबकि चौथी योजना मे राष्ट्रीय आय मे 4% वार्षिक वृद्धि हुई।

(3) आय का असमान वितरण—आय का वितरण बहुत ही असमान है। देश की 95% जनसख्या 70% राष्ट्रीय आय प्राप्त करती है जबकि दूसरी ओर देश के 5% धनी देश की 30% आय हडप जाते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद समाजवाद मे यह विषमता और बढी है। महालनोबिस समिति ने भी यही सकेत किया था।

(4) दोषपूर्ण सरचना—भारत की राष्ट्रीय आय मे कृषि की प्रधानता है। देश की राष्ट्रीय आय का लगभग 50% कृषि से प्राप्त होता है जबकि उद्योगो व परिवहन का महत्व कम है।

(5) राष्ट्रीय आय का बहुत बडा भाग (58%) खाद्यान्नो पर व्यय होता है और जीवन स्तर नीचा है।

(6) शहरी क्षेत्रो मे आय का स्तर ग्रामीण क्षेत्रो से लगभग दुगुना है।

भारत की राष्ट्रीय आय कम क्यों ?

इसके उत्तर मे भारत की दरिद्रता के सभी कारणो का उल्लेख किया जा सकता है—(i) पिछडी कृषि, (ii) औद्योगीकरण का अभाव, (iii) समुचित आर्थिक विकास का अभाव, (iv) बेरोजगारी, (v) पूजी निर्माण एव पूजी विनियोग का अभाव, (vi) जनसख्या म तेजी से वृद्धि, (vii) यातायात एव सचार साधनो की कमी, (viii) अशिक्षा, रूढिवादिता (ix) भाग्यवादिता तथा (x) राजनैतिक अस्थिरता। अगर, आवश्यक हो तो इन कारणो का विस्तृत विवरण दिया जा सकता है।

भारत मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के उपाय

इसमे भी आर्थिक विकास के बाधक तत्वो व दोषो के निराकरण करने के सुझावो का उल्लेख करना है जैसे—(i) सभी क्षेत्रो मे उत्पादन-वृद्धि, (ii) कृषि एव उद्योगो का तेजी से विकास, (iii) जनसख्या पर नियन्त्रण, (iv) बढते मूल्यो पर रोक, (v) आर्थिक विषमता का समापन, (vi) पूजी निर्माण एव पूजी विनियोग को बढावा, (vii) रोजगार मे वृद्धि, (viii) शिक्षा का प्रसार, (ix) विकास योजनाओ का सफल क्रियान्वयन, (x) कुशलता मे वृद्धि, (xi) भौतिक दृष्टिकोण की अभिवृद्धि तथा (xii) राजनैतिक स्थिरता एव सुरक्षा।

भारत मे राष्ट्रीय आय के अनुमान में कठिनाइया व निराकरण

भारत मे भी आकडे सकलन करने मे वे ही कठिनाइया हैं जो सामान्यत अविकसित एव पिछडे देशो म आती हैं। इनका सविस्तार वर्णन इसी अध्याय में

पहले दिया जा चुका है प्रत पुनरावृत्ति प्रावश्यक नही है। हा, इन कठिनाइयो के निराकरण के लिये—(i) कृषि-क्षेत्रो मे विस्तृत सर्वेक्षण, (ii) पशु-गणना करना, (iii) लघु एव बडे उद्योगों का वार्षिक सर्वेक्षण और प्राकडे सकलन करना, (iv) भवन निर्माण सम्बन्धी प्राकडे पचायतो व नगरपालिकाओ से एकत्रित करना, (v) प्राय-कर न देने वालों का सर्वेक्षण, (vi) प्राकडे सकलन करने वाली गैर-सरकारी सस्थाओ को प्रोत्साहन, (vii) राष्ट्रीय प्राय सम्बन्धी शोध-कार्यों को प्रोत्साहन प्रादि प्रमुख हैं। प्रत प्राकडे सकलन-कार्य को जितना व्यवस्थित एव कुशल बनाया जायेगा उतना ही प्रच्छा है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. राष्ट्रीय प्राय का प्रभिप्राय स्पष्ट कीजिये। राष्ट्रीय प्राय को नापने की विधियो तथा कठिनाइयो की व्याख्या कीजिये।

   प्रथवा

   राष्ट्रीय प्राय की धारणा समझाइये। इसे कैसे नापा जा सकता है तथा नापने मे क्या क्या कठिनाइया होती हैं ?

(सकेत–प्रथम भाग मे राष्ट्रीय प्राय का प्रर्थ तथा उसके विभिन्न प्रग बताइये। फिर दूसरे भाग मे नापने की विधियो का उल्लेख कीजिये। तीसरे भाग मे नापने मे कठिनाइया बताइये।)

2 राष्ट्रीय प्राय से प्राप क्या समझते हैं ? राष्ट्रीय प्राय और प्रार्थिक कल्याण मे क्या सम्बन्ध है ?

(सकेत–राष्ट्रीय प्राय का प्रर्थ बताकर उसके "महत्व एव प्रयोग" शीर्षक के प्रन्तर्गत दी गई विषय-सामग्री का उल्लेख कीजिये तथा प्रन्त मे प्रार्थिक कल्याण से उसका सम्बन्ध बताकर निष्कर्ष दीजिये कि राष्ट्रीय प्राय प्रार्थिक प्रगति की सूचक है।)

3 किसी देश मे राष्ट्रीय प्राय के निर्धारक तत्व क्या क्या हैं ? प्रार्थिक कल्याण राष्ट्रीय प्राय से कैसे प्रभावित होता है ?

(सकेत–किसी देश में राष्ट्रीय प्राय के निर्धारक तत्व—प्राकृतिक साधनो की मात्रा उत्पादन के साधनो का स्टाक, उत्पादन के साधनो की कुशलता, पूंजी निर्माण की गति एव मात्रा, तकनीकी ज्ञान, देश का प्रार्थिक विकास का स्तर तथा राजनैतिक स्थायित्व प्रादि हैं। राष्ट्रीय प्राय प्रार्थिक कल्याण की सूचक तब होती है जब वास्तविक प्रतिव्यक्ति प्राय व प्रतिव्यक्ति उपभोग में वृद्धि हो, राष्ट्रीय प्राय का प्रसारण प्रधिकतम हो, प्रयत्न एव त्याग की मात्रा तथा देश में बेरोजगारी का निराकरण हो।)

4 राष्ट्रीय प्राय की विभिन्न धारणाओ की विवेचना कीजिए। उदाहरण दीजिए। (I yr T D C Arts 1979)

अथवा

सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति, शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति, राष्ट्रीय आय, व्यक्तिगत आय व खर्च योग्य आय में भेद स्पष्ट करें तथा उपयुक्त उदाहरण द्वारा समझावें।

(I yr. T. D C Raj 1976)

(संकेत–अध्याय मे दिये गये शीर्षकानुसार विवरण से GNP, NNP, NI, PI तथा DI की धारणाओं को बताना है और फिर दूसरे भाग मे उदाहरण जैसा देखा है, समझाना है।)

5. वर्णन कीजिये कि वृत्तीय प्रवाह द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन, राष्ट्रीय आय और राष्ट्रीय व्यय किस प्रकार बराबर होता है।

(I yr T.D C. Supple. 1973)

(संकेत–प्रथम भाग मे तीनों का अर्थ समझाइये, फिर अध्याय 12 मे आय के चक्राकार प्रवाह, एवं सरल चित्रण के अन्तर्गत दी गई सामग्री लिखिये, चित्र भी बनाना है।)

6. सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति क्या है? ऐसी कौनसी विधियां हैं जिनसे इन्हे नापा जा सकता है? (I Yr. T.D C. 1977)

(संकेत–GNP का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए तथा मापने की विधियां बतानी हैं।)

7. सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP), सकल राष्ट्रीय आय (GNI), शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP), निजी आय (PI), वैयक्तिक प्रयोज्य आय (DI) को समझाइये तथा उन्हें समीकरणो के माध्यम से व्यक्त कीजिये।

(संकेत–अध्याय के अनुसार इन धारणाओं समझना है।)

8. सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) की परिभाषा दीजिये और बताइये कि उत्पत्ति का मूल्य साधन आयो का सकल योग और अर्थव्यवस्था में कुल व्यय समान होते हैं।

(संकेत–GNP को समझाकर आय नीति तथा व्यय रीति से सिद्ध कीजिये कि (GNI≡GNP≡GNE) अध्याय मे शीर्षकानुसार।)

14

बचत, विनियोग और आय के मध्य सम्बंध

(Relation Between Savings, Investment & Income)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री (Classical Economists) अर्थव्यवस्था मे पूर्ण रोजगार की सामान्य स्थिति मान कर चलते थे क्योंकि उनकी यह मान्यता थी कि "पूर्ति स्वयं अपने लिये माग का निर्माण करती है।" (Supply creates its own Demand) अगर समाज में कोई वस्तु उत्पादित होती है तो वह अवश्य बिकेगी। अतः लोगो को उत्पादन मे नियोजित कर पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करना कठिन नहीं है। इसके विपरीत कार्ल मार्क्स समाज मे व्याप्त बेरोजगारी का प्रमुख कारण पूंजीवाद को मानते थे। अत: वे बेरोजगारी की समस्या के समाधान के लिये पूंजीवाद के उन्मूलन तथा समाजवाद की स्थापना पर जोर देते थे। 1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी मे बड़े पैमाने पर बेकारी की समस्या ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की धारणाओ को चकनाचूर कर दिया। प्रो कीन्स (Keynes) ने रोजगार की समस्या को "आय एवं विनियोग" से सम्बद्ध किया। उसके अनुसार देश मे बेकारी का कारण प्रभावपूर्ण माग (Effective Demand) मे कमी होना है जो देश मे आय, उपभोग एव विनियोग की मात्रा पर निर्भर करता है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "जनरल थ्योरी" (General Theory) मे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की सैद्धान्तिक धारणाओ को चकनाचूर कर प्रभावपूर्ण माँग के सन्दर्भ मे बचत, विनियोग एव आय के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध की व्यावहारिक व्याख्या की। इसे समझने के लिये पहले कीन्स की आय, बचत एव विनियोग सम्बन्धी परिभाषाओ का अध्ययन आवश्यक है।

बचत
(Savings)

कीन्स के दृष्टिकोण से "कुल आय मे से कुल उपभोग व्यय घटाने पर जो शेष रहता है उसे बचत (Saving) कहते हैं।" अर्थात् कुल आय और कुल उपभोग व्यय के अन्तर को बचत कहते हैं। प्रो क्राउथर के अनुसार "किसी व्यक्ति की बचत

उसकी आय का वह भाग है जो उपभोग पदार्थों पर व्यय नहीं किया जाता है।" इसका तात्पर्य है कि आय का वह भाग जिसे तात्कालिक उपभोग पर व्यय नहीं किया जाता उसे बचत कहते हैं। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की वार्षिक आय 5000 रु. है और वह उसमे से 4000 रु. वार्षिक उपभोग पर व्यय कर देता है तो उसकी बचत = आय–उपभोग अर्थात् 1000 रु वार्षिक हुई। इसे हम सूत्र के रूप में यो कह सकते हैं $S = Y - C$ जिसमे S बचत, Y आय और C उपभोग व्यक्त करता है।

बचत की यह परिभाषा व्यक्ति और समाज दोनो पर समान रूप से लागू होती है। सामाजिक बचत या राष्ट्रीय बचत व्यक्तिगत बचतो का एक समूह मात्र होती है। वह समाज की कुल आय और कुल उपभोग व्यय के अन्तर से ज्ञात की जाती है। समाज की बचत की मात्रा समाज की कुल आय तथा उपभोग प्रवृत्ति (Propensity to Consume) पर निर्भर करती है। यदि समाज मे लोग अपनी आय का 80% भाग उपभोग पर व्यय कर देते हैं तो उनकी उपभोग क्षमता 80% हुई जबकि बचत क्षमता (Propensity to Save) 20% हुई। समाज मे उपभोग क्षमता प्रायः स्थिर रहती है अतः समाज मे बचत की मात्रा आय के स्तर पर निर्भर करती है।

व्यक्तिगत और सामाजिक बचत में अन्तर–यद्यपि सामाजिक बचत (Social Saving) व्यक्तिगत बचतो का एक समूह मात्र होती है और प्रथम दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत बचतों मे वृद्धि अन्ततः सामाजिक बचतो मे वृद्धि का कारण बनती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का यह दृढ विश्वास था कि अगर समाज के सभी व्यक्ति बचत करें तो समाज की बचतो मे वृद्धि होगी। कीन्स ने इस धारणा पर प्रहार किया। कीन्स ने बताया कि व्यक्तिगत बचतो मे वृद्धि का अभिप्राय उनके उपभोग व्यय मे कमी होना है। एक व्यक्ति का व्यय दूसरे व्यक्ति की आय का स्रोत है। अगर व्यक्तिगत बचतो से समाज मे उपभोग व्यय घट जाता है तो लोगो की आय घटेगी और उनकी बचत क्षमता भी घट जायेगी। अतः व्यक्तिगत बचतो मे वृद्धि से कुल सामाजिक बचतो में वृद्धि नही हो सकती। उसने इसलिए कहा था कि "बचत जो कि एक व्यक्तिगत गुण है वह सार्वजनिक बुराई बन जाती है।" (Saving which is an Individual Virtue becomes a Public Vice)। व्यक्तिगत दृष्टि से बचत करना एक अच्छा गुण है पर अगर एक साथ सभी व्यक्ति बचत करने लगें तो उपभोग व्यय कम हो जायेगा, रोजगार एव विनियोग घटेंगे और इससे राष्ट्रीय आय घटेगी और समाज मे अन्ततः बचत क्षमता (Propensity to Save) घटेगी जिसका समाज पर व्यापक दुष्प्रभाव पड़ेगा। अत. कीन्स ने व्यक्तिगत बचतों में वृद्धि की अपेक्षा व्यक्तियों को अधिकाधिक व्यय की सलाह दी जिससे आय, रोजगार और सर्वाङ्गीण समृद्धि को सुरक्षित रखने म सहायता मिले।

निवेश या विनियोग
(Investment)

साधारण बोलचाल मे निवेश या विनियोग का अर्थ स्टाक, शेयर्स एव सरकारी बौण्ड आदि के क्रय से है परन्तु कीन्स चालू स्टाक, शेयर्स अथवा बौण्ड के क्रय को निवेश नही मानते। वह तो केवल वित्तीय विनियोग (Financial Investment) है जिसमे प्रचलित वर्तमान निवेशो का केवल हस्तान्तरण मात्र है। प्रो कीन्स के अनुसार वास्तविक विनियोग (Real Investment) से अभिप्राय नव-स्थापित कम्पनियों के स्टाक, शेयर्स प्रतिभूतियों (Securities), बौण्ड्स आदि के खरीदने से होता है। *उनके मतानुसार "वास्तविक पूँजी कोष मे वृद्धि को विनियोग कहते हैं।"* अर्थात् वास्तविक निवेश वर्तमान पूँजी परिसम्पत्ति (Capital Assets) या माल के वर्तमान स्टाक मे वृद्धि करना है, नवीन पूंजी-परिसम्पत्तियो की रचना मे योग देना है जिससे रोजगार मे वृद्धि हो सके।

उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति नयी फर्म की स्थापना मे 30 हजार रु *लगाता है या नवीन स्टाक, शेयर्स, प्रतिभूतिया अथवा बौण्ड खरीदता है तो इस क्रिया* से वास्तविक पूँजी परिसम्पत्ति मे वृद्धि होती है यह वास्तविक विनियोग है जबकि चालू शेयर्स या बौण्ड खरीदना तो एक पक्ष से दूसरे पक्ष को अधिकारों का हस्तान्तरण है। एक व्यक्ति का विनियोग (Investment) दूसरे व्यक्ति के विनिवेश (Disinvestment) से क्षतिपूरक (Compensate) हो जाता है और समाज मे वास्तविक *विनियोग नही होता क्योकि वित्तीय-निवेश से रोजगार मे कोई वृद्धि नही होती है।* स्पष्ट है कि नये पूँजी-निर्माण को ही विनियोग कह सकते हैं।

विनियोग का उद्देश्य केवल वास्तविक पूँजी-परिसम्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि ही नहीं वरन् अपने पास वर्तमान माल के स्टाक मे वृद्धि से भी होता है। अत यदि एक व्यापारी या उत्पादक जिसके पास एक लाख रु की लागत का माल होता है वह *अगर उसे बढाकर 2 लाख रु का कर देता है तो वास्तविक निवेश एक लाख रु* बढ गया है क्योकि इससे उस सीमा तक माल की नयी माग उत्पन्न हो गयी है जिससे रोजगार बढेगा। प्रो काउयर के अनुसार "विनियोग आय का वह भाग है जो पूँजीगत वस्तुओ पर व्यय किया जाता है।" (Investment is the part of income which is spent on Capital Goods.) समाज मे जितनी उत्पत्ति होती है *उसका एक भाग उपभोग कर लिया जाता है* और जो भाग शेष रहता है वह वर्तमान पूँजी कोष या भण्डार मे वृद्धि करता है। वह वृद्धि ही एक प्रकार से विनियोग है। दूसरे शब्दो मे उत्पादित आय का वह भाग जो व्यय नहीं किया जाता, विनियोग कहा जा सकता है, बशर्ते कि लोग उसे गाड़कर नहीं रखते। हम इसे गणितीय सूत्र के रूप मे यो भी कह सकते हैं—

$Y = C + I$ अथवा $I = Y - C$

जिसमे Y आय, C उपभोग तथा I विनियोग को व्यक्त करते हैं।

विनियोग को प्रभावित करने वाले तत्व—किसी भी अर्थव्यवस्था मे विनियोग की मात्रा बचत, सरकारी नीति, ब्याज दर तथा पूँजी की सीमान्त कुशलता (Marginal Efficiency of Capital) पर निर्भर करती है। किसी भी अर्थव्यवस्था मे बचत, विनियोग एव आय परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं। अतः आय का अभिप्राय जान लेना आवश्यक है।

आय
(Income)

कीन्स के मतानुसार किसी वस्तु या सेवा के विनिमय से प्राप्त राशि आय कहलाती है। आय के उत्पन्न होने की विधि यह है कि कोई व्यक्ति समाज मे उत्पादन मात्रा मे वृद्धि करता है तो उसके बदले में उत्पत्ति साधन के स्वामी के रूप मे वह भुगतान प्राप्त करता है। जिस व्यक्ति को आय प्राप्त होती है वह उसको व्यय करता है। इस प्रकार एक व्यक्ति का व्यय दूसरे व्यक्ति की आय का साधन हो जाता है। (One man's expenditure is another man's income)। इस प्रकार समाज के सभी व्यक्तियों की आय समाज के सभी व्यक्तियों के व्यय के बराबर होती है। इस धारणा का आधार यह है कि समाज मे जितनी भी वस्तुएँ और सेवायें उत्पन्न की जाती हैं वे सब इस सभावना पर उत्पन्न की जाती हैं कि कोई न कोई व्यक्ति उन्हें अवश्य खरीदेगा और इस प्रकार खरीदने वाले का व्यय बेचने वाले की आय का स्रोत होगा। अतः सामाजिक उत्पत्ति स्टाक मे वृद्धि की क्रिया से आय का प्रवाह उत्पन्न होता है। आय का जितना भाग व्यय किया जाता है वही दूसरो की आय का साधन बनता है और जितना भाग बचत के रूप मे संचित होता है वह बाद मे विनियोग एव रोजगार का साधन बनता है।

आय-व्यय एव बचतों का चक्राकार प्रवाह—जब प्रत्येक बार व्यक्ति आय को व्यय करता है तो उसमे से कुछ भाग भावी उपयोग के लिए बचा लिया जाता है। बचतों के इस क्रम मे आय, उपभोग और बचत की मात्रा भी घटती जाती है। जैसे एक व्यक्ति को 400 रु मासिक वेतन मिलता है वह उसमे से 10% बचाता है और शेष भाग व्यय करता है अर्थात् उसका व्यय=(आय—बचत) 400 − 40 = 360 रु होगा। इससे दूसरो की आय इसी सीमा तक बढेगी। अगर इन 360 रु को प्राप्त करने वाले उनमे से 10% और बचाकर रखलें तथा बाकी को व्यय करें तो अब दूसरी अवस्था में कुल व्यय (360 − 36) = 324 ही होगा अर्थात् कुल आय भी जो व्यय से उत्पन्न होगी वह भी 324 रु. ही होगी। यही क्रम आगे 10 बार चलता रहे तो प्रत्येक बार बचत, उपभोग और आय की मात्रा घटती ही जायेगी। इन सब दस चक्रो की राशि का योग प्रारम्भिक मूल परिव्यय (Outlay) का 10 गुना होगा अर्थात 400 रु का प्रारम्भिक व्यय कुल 4000 रु व्यय को जन्म देगा। इसी प्रकार मूल आय और नव उत्पन्न की गई आय (New Generated Income) के बीच सम्बन्ध बचतो के आय अनुपात पर निर्भर करेगी। अगर बचतो का अनुपात

1/10 है तो उत्पादित आय भी प्रारम्भिक मूल परिव्यय की 10 गुनी होगी। इसमे गुणांक (Multiplier) दस है। यह विनियोग और नव आय उत्पत्ति के सम्बन्ध को मापने में सहायक है।

किसी भी व्यक्ति की कुल आय (Total Income) प्रायः वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने पर व्यय की जाती है। ये वस्तुयें और सेवायें दो प्रकार की होती हैं पहली तत्काल उपभोग की वस्तुयें जिन्हे चालू वस्तुयें (Current Goods) कहते हैं तथा दूसरी वे वस्तुयें जो उत्पादन के कार्य मे प्रयुक्त होती हैं, उन्हे टिकाऊ वस्तुयें (Durable Goods) कहते हैं। चालू वस्तुओं पर किये गये व्यय को उपभोग (Consumption) कहा जाता है जबकि टिकाऊ वस्तुओ या पूंजीगत वस्तुओ के लिए किये गये व्यय को विनियोग (Investment) कहते हैं अर्थात् आय का वह भाग जो वस्तुओ और सेवाओ के रूप मे बचत किया जाता है उसे विनियोग की संज्ञा दी जाती है।

अगर हम आय को उपभोग तथा विनियोग के रूप मे व्यक्त करें तो गणितीय सूत्र के रूप मे आय को हम इस प्रकार रख सकते है—

आय = उपभोग + विनियोग

$Y = C + I$ ....(i)

इसके विपरीत अगर हम कुल आय को उपभोग एवं बचत के रूप मे व्यक्त करें तो सूत्र का रूप इस प्रकार होगा—

आय = उपभोग + बचत

$Y = C + S$ ...(ii)

इससे यह संकेत मिलता है कि किसी भी देश मे कुल आय उस देश के उपभोग तथा विनियोग की मात्रा अथवा उपभोग एवं बचत की मात्रा पर निर्भर करती है। सन्तुलन की अवस्था मे विनियोग एवं बचत दोनो बराबर ($S = I$) होते हैं।

बचत, विनियोग एवं आय के मध्य सम्बन्ध

बचत और विनियोग के बीच इस प्रकार का एक विशेष सम्बन्ध है कि ये दोनो सदा एक दूसरे के समान होते हैं। जिस प्रकार प्रो मार्शल ने मूल्य विश्लेषण मे मांग और पूर्ति को आधार स्तम्भ माना है इसी प्रकार प्रो कीन्स ने अपने रोजगार एवं आय सिद्धात के विश्लेषण मे बचत (Saving) तथा विनियोग (Investment) दो आधार स्तम्भ माने हैं। सन्तुलन की दशा के लिए दोनो की समता (Equality) *आवश्यक है। किसी भी देश की आय का कोई स्तर इस समता के अभाव मे स्थिर* नही रह सकता। अगर बचतें विनियोग से अधिक हुई तो कुल उपभोग व्यय घटने से प्रभावपूर्ण माग कम होगी, उत्पादन का स्तर नीचा होगा→विनियोग कम होंगे और विनियोग कम होने से आय कम होगी तो अन्ततः आय का स्तर गिर जाने से बचतें भी गिरकर विनियोग के बराबर हो जायेंगी। इसके विपरीत अगर समाज में

निवेशों की मात्रा बचतों से बढ़ जाती है तो प्रभावपूर्ण माग में वृद्धि के कारण पूँजीगत उद्योगों में उत्पादन बढ़ाया जायगा। अधिक रोजगार मिलेगा और परिणामस्वरूप लोगों की आय में वृद्धि होगी जिससे अन्तत लोगों की बचतों में विनियोगों के अनुकूल ही वृद्धि हो जाएगी। बचत और विनियोग के मध्य सम्बन्ध का विश्लेषण दो अलग-अलग दृष्टिकोणों से इस प्रकार दिया गया है—

(A) बचत एवं विनियोग के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रतिष्ठित दृष्टिकोण

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) का भी यही विश्वास था कि बचत और विनियोग (Saving & Investment) दोनों बराबर होते हैं परन्तु उनके विचारों से यह समानता ब्याज की दरों के परिवर्तनों के द्वारा स्थापित होती है। उनकी यह मान्यता थी कि यदि किसी समय बचत और विनियोग असमान भी हो जाते हैं तो ब्याज दर में परिवर्तन से समानता स्थापित हो जाती है। उनके अनुसार यदि आय में वृद्धि के कारण समाज में बचतें बढ़ती हैं तो ब्याज दर में कमी होगी और कम ब्याज पर विनियोग बढ़ेंगे जिसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में बचत और विनियोग दोनों में समानता स्थापित हो जायगी और पूर्ण रोजगार की अवस्था उत्पन्न होगी। इस प्रकार बचत और विनियोग में समानता का श्रेय वे ब्याज दर को देते थे आय को नहीं।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह धारणा दोषपूर्ण है क्योंकि यह अनेक अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। सर्वप्रथम तो इसकी मान्यता है कि समाज में विनियोग के असीम अवसर विद्यमान हैं और इसी कारण समाज में जो कुछ बचत होती है उनका विनियोग निश्चित रूप से किया जाता है। यह धारणा गलत है क्योंकि अगर बाजार में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कम हुई तो लोग विनियोग नहीं करेंगे। इसी प्रकार दूसरी मान्यता है कि बचत में वृद्धि से ब्याज दर कम होती है। यह भी आवश्यक नहीं है क्योंकि बचत आय पर निर्भर करती है और कभी-कभी आय में वृद्धि से बचत में वृद्धि के साथ-साथ ब्याज दर भी बढ़ती है। तीसरी यह मान्यता कि विनियोग पूर्णत: ब्याज दर पर निर्भर होता है, पूर्णत: सही नहीं है। वास्तव में विनियोग पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Efficiency of Capital) तथा ब्याज दर के पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है। इस तथ्य की प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उपेक्षा की। चौथी भ्रमपूर्ण मान्यता आय के क्रम के बारे में थी। उनके अनुसार पहले बचत में वृद्धि होती है, फिर बचत में वृद्धि से ब्याज दरें कम होती हैं, उससे विनियोग बढ़ता है और विनियोग से आय बढ़ती है। अर्थात्—बचत में वृद्धि→ब्याज दर में कमी→विनियोग में वृद्धि→आय वृद्धि। किन्तु यह धारणा भी पूर्णतः सत्य नहीं है। समाज में आय का निर्धारण केवल बचत एवं विनियोग से ही नहीं होता, इनके अतिरिक्त आय को प्रभावित करने वाले तत्व उपभोग की प्रवृत्ति, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, मुद्रा सचय प्रवृत्ति, मुद्रा की मात्रा आदि भी हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण का सबसे बड़ा दोष यह भी था कि व

प्रत्येक बचत को पूँजी निर्माण का कारण मानते थे। यह धारणा भी प्रत्येक स्थिति मे ठीक नही है। अगर बचतो मे वृद्धि से माग घट जावे तो बचतो म वृद्धि से विनियोग बढना असम्भव होगा और परिणामस्वरूप बचतो मे वृद्धि से समाज की आय मे कमी होगी।

(B) बचत विनियोग और आय के सम्बन्ध मे कीन्स का दृष्टिकोण

प्रो कीन्स ने अपने महान ग्रन्थ जनरल थ्योरी (General Theory) मे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो की भ्रमपूर्ण धारणाओ पर कठोर प्रहार किया तथा बचत विनियोग के पारस्परिक सम्बन्ध की एक व्यावहारिक व्याख्या की। प्रो कीन्स यह मानते थे कि कुल निवेश सदैव कुल बचतो के बराबर रहते हैं। जहा प्राचीन अर्थशास्त्री यह मानते थे कि बचत एव विनियोग के बीच समानता ब्याज की दर में परिवर्तनों के द्वारा स्थापित होती है, वहा कीन्स के अनुसार बचत व विनियोग मे समानता आय में परिवर्तनों द्वारा स्थापित होती है। जिस प्रकार मार्शल ने अपने कीमत विश्लेषण मे माग और पूर्ति वक्रो को आधार स्तम्भ माना है उसी प्रकार कीन्स ने अपने आय विश्लेषण मे बचत और विनियोग को आधार बनाया है।

कीन्स के मतानुसार बचत आय द्वारा निर्धारित होती है किन्तु आय स्वय विनियोग (उपभोग स्थिर रहे) द्वारा निर्धारित होती है। यदि किसी समय बचत और विनियोगों में असमानता हो जाती है तो आय में परिवर्तनो द्वारा उनमें पुनः समानता स्थापित हो जाती है। इसे उदाहरण द्वारा भी निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

अगर बचत की मात्रा विनियोग की तुलना मे अधिक हो तो बचत म वृद्धि के कारण उपभोग व्यय कम हो जाएगा, उपभोग व्यय मे कमी देश म प्रभावपूर्ण माग (Effective Demand) मे कमी उत्पन्न करेगी जिससे विनियाग घटेंगे और रोजगार मे कमी होगी। परिणामस्वरूप आय मे कमी होगी जो बचतो को भी कम कर निवेशो (विनियोग) के बराबर कर देगी क्योकि औसत उपभोग प्रवृत्ति समान रहने पर कम आय होने पर बचतें भी कम ही होगी। यही क्रम तब तक चालू रहता है जब तक कि बचत और विनियोग बराबर नही हो जाते। इसके विपरीत अगर कभी विनियोग की मात्रा बचत की तुलना मे बढ जाती है तो भी आय के परिवर्तनो द्वारा दोनो मे समानता स्थापित हो जायगी क्योकि अगर निवेश बढ जाते हैं तो पूँजीगत उद्योगो मे प्रभावपूर्ण माग बढ जाती है उससे रोजगार और आय बढते हैं। आय बढने से औसत उपभोग प्रवृत्ति समान रहने के कारण बचतें भी बढती हैं। यह क्रम तब तक चालू रहता है जब तक कि बचत और विनियोग पुनः परस्पर बराबर नही हो जाते।

कीन्स का उपर्युक्त बचत-विनियोग विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की कार्य प्रणाली में विशेष महत्वपूर्ण है। प्रो. कीन्स ने बचत एव विनियोगों को दो दृष्टिकोणों से समान माना है—

(i) हिसाब-किताब के दृष्टिकोण से समानता,
(ii) कार्य सम्बन्धी समानता ।

(i) हिसाब किताब की दृष्टि से समानता (Accounting or Statistical Equality)—इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीय आय की गणना करते समय हम बचत, वर्तमान आय और उपभोग के अन्तर के बराबर लेते हैं । इसी प्रकार विनियोग आय का वह भाग है जो उपभोग के अतिरिक्त अन्य कार्यों पर व्यय किया जाता है। अतएव बचत एवं विनियोग बराबर होते हैं । कीन्स ने इसे समीकरण के रूप में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

	$Y = C + I$	(i)	(i) आय = उपभोग + विनियोग
	$Y = C + S$	(ii)	(ii) आय = उपभोग + बचत
इसलिए	$C + S = C + I$	(iii)	यानी $S = Y - C$ एवं $I = Y - C$
अथवा	$\therefore S = I$		अतः $S = I$ बचत=विनियोग

उपरोक्त समीकरण में कीन्स ने आय, बचत एवं विनियोग के पारस्परिक सम्बन्ध को बताया है । वह समीकरण (i) में बताता है कि देश की कुल आय (Y) देश के कुल उपभोग व्यय (C) तथा कुल विनियोग व्यय (I) के योग के बराबर होती है अर्थात् $Y = C + I$ अथवा दूसरे शब्दों में कुल आय देश में कुल उपभोग व्यय एवं बचत के योग के बराबर होती है जैसा समीकरण (ii) में बताया गया है । अतः इसके आधार पर $S = I$ को सिद्ध किया जा सकता है । क्योंकि $S = Y - C$ तथा $I = Y - C$ अतएव $S = I$.

हिसाब की दृष्टि से बचत और विनियोगों की समानता का तात्पर्य है कि जब तक अर्थव्यवस्था में बचत की इच्छा एवं विनियोग की इच्छा एवं क्षमता में समानता नहीं है उत्पादकों को उत्पादन एवं रोजगार में परिवर्तन करना पड़ेगा ताकि वे अपने लाभ को अधिकतम बना सकें या हानि को न्यूनतम कर सकें । यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि आय में परिवर्तनों द्वारा बचत एवं विनियोग में समानता स्थापित न हो ।

(ii) बचत एवं विनियोग में कार्य सम्बन्धी समानता (Functional Equality between Saving & Investment)—इसके लिए बचत और विनियोग सूचियों की धारणा अपनाई जाती है । बचत और आय सूचियों का निर्माण भी आय के आधार पर किया जाता है । समाज की बचत समाज की आय पर निर्भर करती है तथा विनियोग भी आय पर निर्भर करता है । यद्यपि बचत और विनियोग दो अलग-अलग स्वतन्त्र प्रवृत्तियां हैं और दो अलग-अलग वर्गों द्वारा पूरी की जाती हैं किन्तु समाज में आय के परिवर्तनों के द्वारा ही बचत और विनियोग में समानता स्थापित होती है । प्रो. कुरिहारा के शब्दों में "बचत और विनियोग में कार्य सम्बन्धी समानता आय तत्वों के सम्बन्ध में बचत और विनियोग तत्वों के बीच सामंजस्य का अन्तिम परिणाम है ।" (The functional equality of saving

and investment is the final result of a process of adjustment between the saving and investment variables in relation of the income variables.")

बचत, विनियोग एवं आय का कार्यात्मक सम्बन्ध

(करोड रु०)

बचत	आय	विनियोग	अवस्था
500	5000	450	I
400	4000	400	II
300	3000	3-0	III
200	2000	250	IV

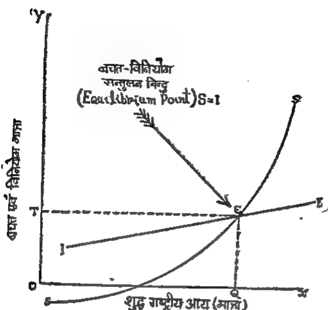
बचत और विनियोग मे समानता आय मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप स्थापित होती है। जैसे तालिका मे पहली अवस्था मे बचत विनियोग की तुलना मे अधिक होने से आय मे कमी की प्रवृत्ति उत्पन्न होगी क्योंकि बचत बढने से उपभोग कम हो जाता है और उपभोग घटने से प्रभावपूर्ण माग कम हो जाती है जिससे उत्पादन और रोजगार मे कमी आती है और आय गिरकर 4000 करोड रह जाती है जहा (दूसरी अवस्था) बचत और विनियोग मे समानता स्थापित हो जाती है। ठीक इसी प्रकार तीसरी एव चौथी अवस्था मे विनियोग बचत की तुलना मे अधिक है अतः प्रभावपूर्ण माग मे वृद्धि से उत्पादन और रोजगार बढेगा और उसके परिणामस्वरूप आय मे वृद्धि होगी। द्वितीय अवस्था में नये आय स्तर पर बचत और विनियोग दोनो बढकर बराबर हो जायेंगे। रेखाचित्रो द्वारा इसका निरूपण इस प्रकार है—

बचत, विनियोग एवं आय के पारस्परिक संबंध का चित्र द्वारा निरूपण

(Diagrammatic Representation of Relationship Amongst Saving, Investment and Income)

बचत विनियोग एव आय का पारस्परिक सम्बन्ध चित्रो द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। बचत विनियोग की प्रवृत्ति, आय के स्तर तथा अन्य उद्देश्यों पर निर्भर करती है जबकि विनियोग अर्थव्यवस्था मे ब्याज की दर तथा पूंजी की सीमान्त उत्पादन कुशलता आदि प्रावैगिक तत्वों पर निर्भर करती है। ये दोनो एक दूसरे के समान होते हैं तथा इन दोनो मे समानता आय मे परिवर्तन के फलस्वरूप प्राप्त होती है। इस प्रकार ये तीनो परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। यह रेखा-चित्र 1 में स्पष्ट है।

रेखाचित्र-1 मे SS बचत वक्र (Saving Curve) है जो विभिन्न आय स्तरों पर बचत के विभिन्न स्तरों को व्यक्त करता है और उसी प्रकार है II



चित्र–1. बचत, विनियोग एवं आय का निर्धारण

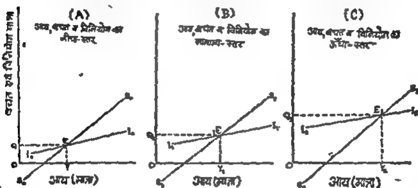
विनियोग वक्र (Investment-curve) है जो विभिन्न आय स्तरों पर विभिन्न विनियोग मात्राओं को बताता है। ये दोनो वक्र E बिन्दु पर परस्पर एक दूसरे को काटते हैं यही बचत एवं विनियोग का सन्तुलन बिन्दु है जहा S = I पर आय का स्तर OQ है। बचत एव विनियोग OT = EQ है।

E बिन्दु के बायीं तरफ बचतें विनियोग से कम हैं अर्थात् $S<I$ अतः समाज में उपभोग का स्तर ऊँचा एव बचतें कम होने से उत्पादन, रोजगार और आय में वृद्धि होगी और आय में वृद्धि से बचतें बढकर E बिन्दु पर विनियोग के बराबर हो जायेंगी। इसी प्रकार E बिन्दु की दाहिनी ओर बचतें अधिक और विनियोग कम हैं अर्थात् $S>I$ है अत बचतें बढने से उपभोग घटेगा और उपभोग घटने से आय का स्तर गिरकर बचतों को भी विनियोग के बराबर कर देगा और अन्ततः E बिन्दु पर दोनों बराबर होंगे।

यहा यह उल्लेखनीय है कि बचत एवं विनियोग का प्रत्येक सन्तुलन बिन्दु पूर्ण रोजगार का बिन्दु होना आवश्यक नही है। अगर बचत एव विनियोग आय के निम्न स्तर पर ही बराबर हो जायें तो S = I की इस साम्यावस्था मे भी काफी बेकारी होगी और इसके विपरीत अगर बचत और विनियोग मे समानता आय के बहुत ऊँचे स्तर पर हो तो अर्थव्यवस्था मे अतिरोजगार की स्थिति हो सकती है

जबकि बचत एवं विनियोग का वह सन्तुलन बिन्दु हो पूर्ण रोजगार का बिन्दु होगा जहां अर्थव्यवस्था में न तो संकुचन और न विस्तार की प्रवृत्ति हो।

रेखाचित्र–2 (B) में SS_1 तथा II_1 दोनों E_1 बिन्दु पर सन्तुलन में हैं जबकि चित्र 2 (A) में SS_0 तथा II_0 दोनों निम्न आय स्तर पर ही बराबर हो जाते हैं और इसके विपरीत चित्र 2 (C) में SS_2 तथा II_2 दोनों आय के अपेक्षाकृत उच्च स्तर OY_2 पर सन्तुलन में होते हैं जहां बचतो, विनियोग तथा आय तीनों का स्तर ऊँचा है। यही कारण है कि पिछड़े राष्ट्रों में बचतो एवं विनियोग के निम्न स्तर पर ही साम्यावस्था के कारण बेरोज्गारी सामान्य स्थिति होती है।



चित्र-2 बचत, विनियोग एव आय के विभिन्न स्तर

बचत, विनियोग एवं आय के मध्य सम्बन्धों के बारे में निष्कर्ष

बचत, विनियोग और आय के मध्य सम्बन्ध का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि प्राचीन अर्थशास्त्री बचत और विनियोग की समानता ब्याज की दर परिवर्तन द्वारा स्थापित होना मानते थे। उनकी यह धारणा त्रुटिपूर्ण थी। प्रो. कीन्स बचत और विनियोग में समानता आय में परिवर्तन के द्वारा स्थापित होना मानते हैं। इसके पारस्परिक सम्बन्ध में परिवर्तन होने से आय में परिवर्तन होता है और आय में परिवर्तन के माध्यम से बचत एवं विनियोग में समानता स्थापित होती है। यह आय, बचत एवं विनियोग का समग्र विश्लेषण है। कीन्स का विश्लेषण इस दृष्टि से भी उपयुक्त है कि आय के विभिन्न स्तरों पर बचत एवं विनियोग की समानता को स्वीकार करता है अतः यह आवश्यक नहीं है कि बचत एवं विनियोग की समानता सदैव पूर्ण रोजगार एवं सन्तुलन की द्योतक हो। बेकारी, पूर्ण रोजगार तथा पूर्ण रोजगार से अधिक की स्थिति में भी बचत एवं विनियोग बराबर हो सकते हैं। स्पष्ट है कि आय, विनियोग एवं बचत परस्पर एक कड़ी से जुड़े हुए हैं। आय में परिवर्तन ही बचत एवं विनियोग में समानता स्थापित करता है।

समग्र रूप में—

(1) आय, बचत एवं विनियोग परस्पर शृंखलाबद्ध जुड़े हुए हैं।

(2) कीन्स के अनुसार Y = C+S तथा Y = C+I होने से पारिभाषित रूप में बचत = विनियोग अर्थात् S = I होता है।

(3) बचत एवं विनियोग में समानता आय में परिवर्तन द्वारा होती है। जिस प्रकार माग एवं पूर्ति में सन्तुलन मूल्य द्वारा होता है ठीक उसी प्रकार बचत एवं विनियोग में सन्तुलन आय द्वारा स्थापित होता है।

(4) कीन्स के अनुसार आय के विभिन्न स्तरों पर बचत और विनियोग बराबर होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि बचत और विनियोग में समानता सदैव पूर्ण रोजगार की अवस्था में ही हो। पूर्ण रोजगार से अधिक अथवा कम स्थिति में भी बचत एवं विनियोग बराबर होते हैं।

(5) बचत और विनियोग की समानता (S = I) सदैव सन्तुलन का द्योतक नहीं है। अर्थव्यवस्था में असन्तुलन की अवस्था में भी ये दोनों बराबर हो सकते हैं।

(6) बचतों में वृद्धि से आय में गुणक के अनुपात में कमी तथा विनियोगों में वृद्धि से आय में गुणक के अनुपात में वृद्धि होती है अगर उनमें कहीं रिसाव (Leakage) न हो।

(7) अगर कभी बचत और विनियोग में अन्तर होता है तो आय में परिवर्तन होकर दोनों में समानता स्थापित हो जाती है जैसे अगर बचतें विनियोग से अधिक हों तो आय का स्तर गिरने से अन्ततः बचतें गिरकर विनियोग के बराबर हो जायेंगी और इसके विपरीत अगर विनियोग की मात्रा बचतों से अधिक हो तो विनियोग से आय का स्तर ऊँचा होगा और बचतें बढ़ने से अन्ततः S = I हो जायेंगे। जैसा रेखा-चित्र–1 में दर्शाया गया है।

(8) आय, बचत और विनियोग में त्वरक या गतिवर्धक (Accelerator) की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है क्योंकि त्वरक विनियोग की मात्रा पर उपभोग-दर में होने वाली कमी-वृद्धि के प्रभावों को मापता है और बताता है कि उपभोग में विशुद्ध परिवर्तन और विनियोग के विशुद्ध परिवर्तन में क्या अनुपात है।

भारत में बचत, विनियोग एवं आय की स्थिति

भारत में बचत, विनियोग और राष्ट्रीय आय के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया जा सकता है। भारत में प्रति व्यक्ति आय का निम्न स्तर होने के कारण बचतें नहीं के बराबर हैं और बचतों के अभाव में पूँजी-निर्माण की गति धीमी है। पूँजी के अभाव में देश में प्राकृतिक साधनों का विदोहन नहीं हो पाया है, सामाजिक सेवाओं तथा आर्थिक ऊपरी परिव्ययों—परिवहन, संचार, सिंचाई, विद्युत, शिक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओं का नितान्त अभाव है, औद्योगीकरण नहीं हो पाया है जिससे

रोजगार के अवसरों का अभाव है। लोगो के लिये केवल कृषि क्षेत्र ही उपलब्ध हैं। श्रम की अकुशलता, अत्यधिक जनसख्या का भार आदि से कृषि पर भार बढ गया है तथा दूसरे क्षेत्रो में वैकल्पिक रोजगार का अभाव है अत आय का स्तर बहुत नीचा है।

भारत मे आय, बचत और विनियोगों के नीचे स्तर के कुचक्र मे भारतीय दरिद्रता का चित्रण होता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रारम्भिक अवस्था में 1950 मे बचतें राष्ट्रीय आय का 5% थीं तथा विनियोग की दर भी लगभग 6% थी। पचवर्षीय योजनाओं म सार्वजनिक एव निजी क्षेत्र मे विनियोग बढाया गया। पहली योजना मे 450 करोड रु से 675 करोड रु प्रतिवर्ष विनियोग किया गया जिससे राष्ट्रीय आय म 18% वृद्धि हुई। विनियोग एव बचत की दर दोनो बढकर क्रमश. 7 3% तथा 6 75 % रही।

योजनाबद्ध विकास के पिछले 28-29 वर्षों मे सार्वजनिक एव निजी क्षेत्रो मे बचत और विनियोग दोनो बढे हैं। अब बचत आय का 20% तथा पूँजी विनियोग राष्ट्रीय आय का 21% होने का अनुमान है। भारत की प्रति व्यक्ति आय जो 1950–51 मे तात्कालिक मूल्यों पर 267 रु थी, 1978–79 के मूल्यो पर बढकर 1249 रु होने का अनुमान है। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय जो 1950–51 में 9830 करोड रु थी 1968–69 के मूल्यो के आधार पर 1969–70 मे 28500 करोड रु तक पहुच गई। *चतुर्थ योजना के अन्त मे यह 49250* रोड रु थी जबकि चालू मूल्यो पर 1978–79 मे राष्ट्रीय आय 80090 करोड रु प्रति व्यक्ति आय 1249 रु होने का अनुमान है।

इस प्रकार देश म बचत और पूँजी विनियोग मे वृद्धि आय में वृद्धि से सम्बद्ध है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. बचत, विनियोग और राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध पर एक सक्षिप्त लेख लिखिये।
(I Yr T.D C, 1973, 1975)

अथवा

बचत, विनियोग एव आय के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना कीजिय।
(B. A Hon 1977)

(सकेत–प्रश्न के पहले भाग म बचत, विनियोग और आय का आशय सक्षेप मे स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे तीनो का सम्बन्ध बताने में क्लासिकल दृष्टिकोण तथा कीन्स दृष्टिकोण के आधार पर Y = C + S तथा Y = C + I और S = I के समीकरण, तालिका व चित्रो द्वारा समझाना है फिर अध्याय मे चित्रो व अन्तिम निष्कर्षों को दे दीजिये।)

2 बचत और विनियोग की समानता के सम्बन्ध मे कीन्स के (i) हिसाब किताब दृष्टिकोण तथा (ii) कार्यात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

कीन्स द्वारा बचत और विनियोग कार्य के सन्दर्भ मे विश्लेषण की व्याख्या कीजिये। यह समूची अर्थव्यवस्था के कार्य कारण को समझने मे कहाँ तक सहायक है?

(सकेत—पहले बचत, विनियोग एव आय का सक्षेप म अर्थ समझाइये। दूसरे भाग मे कीन्स के हिसाब किताब, दृष्टिकोण व कार्यात्मक दृष्टिकोण को समीकरण एव तालिका द्वारा समझाइये। अन्त मे निष्कर्ष दीजिये कि कीन्स का विश्लेषण अर्थव्यवस्था के आय विश्लेषण का एक समग्र रूप है। पुस्तक के विभिन्न शीर्षकों के अनुसार विषय सामग्री दीजिये।)

परिशिष्ट
(APPENDIX)

राष्ट्रीय आय का निर्धारण
(Determination of National Income)

अध्याय 14 में बचत, विनियोग एवं आय के पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण करने के बाद यह जानना भी महत्वपूर्ण है कि आय का निर्धारण कैसे होता है ? आय निर्धारण की मूलभूत बातों को समझने के लिए अगर राजकीय व्यय एवं करों को अनुपस्थित मान लें तो अधिक सुगमता रहती है। आय-निर्धारण को दो तरह से ज्ञात किया जाता है—

(1) बचत एवं विनियोग की अनुसूचियों के परस्पर कटाव अथवा बचत विनियोग साम्य (सन्तुलन) से आय निर्धारण;

(2) उपभोग व विनियोग की समग्र अनुसूची (C+I) के 45° रेखा के कटाव अथवा समग्र माग वक्र और 45° रेखा के कटाव से आय का निर्धारण।

इन दोनों विधियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(1) बचत एवं विनियोग की अनुसूचियों से साम्य अथवा उनके परस्पर कटाव से आय का निर्धारण—बचत एवं विनियोग दो अलग-अलग क्रियायें हैं तथा प्रायः दो वर्गों द्वारा पूरी होती हैं। बचत आय पर "निष्क्रिय" रूप से निर्भर करती है जबकि विनियोग विकास की प्रक्रिया में अनेक स्वचालित तत्वों पर निर्भर होता है। प्रो. कीन्स के मतानुसार अर्थव्यवस्था में सन्तुलन की स्थिति तब होती है जब नियोजित बचत और विनियोग बराबर (S = I) होना है। अगर बचत और विनियोग में समानता नहीं हुई तो आय तथा रोजगार का स्तर भी अस्थिर रहेगा। पर बचत और विनियोग में समानता आय के परिवर्तनों द्वारा स्थापित होती है। बचत आय व उपभोग की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है तो विनियोग पूंजी की उत्पादन क्षमता, ब्याज दर तथा उपभोग की प्रवृत्ति पर आश्रित है। अतः आय का निर्धारण उस सन्तुलन बिन्दु पर होता है जहाँ बचत और विनियोग बराबर होते हैं। दूसरे शब्दों में आय का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहां बचत वक्र रेखा (Saving Curve) विनियोग वक्र-रेखा (Investment Curve) को काटती है अर्थात् जहाँ बचत और विनियोग सन्तुलन की स्थिति (S = I) में होता है।

गणितीय उदाहरण के रूप में निम्न तालिका में तृतीय स्थिति में आय क

निर्धारण 100 करोड रु पर होता है जहां बचत और विनियोग दोनो बराबर अर्थात् दस करोड रुपये है—

तालिका–1 बचत विनियोग साम्य द्वारा आय का निर्धारण (करोड रु)

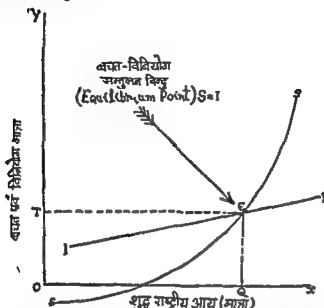
स्थिति	शुद्ध राष्ट्रीय आय (NNP)	उपभोग (C)	बचत (S)	विनियोग (I)	आय की प्रवृत्ति
प्रथम	130	105	25	15	सकुचन
द्वितीय	120	100	20	12	सकुचन
तृतीय	100	90	10	→ 10 →	सन्तुलन
चतुर्थ	90	82	8	9	विस्तार
पचम	80	75	5	7	विस्तार

रेखाचित्र द्वारा निरूपण

बचत एव विनियोग अनुसूचियो के परस्पर कटाव द्वारा आय के निर्धारण को रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाचित्र 1 मे SS बचत वक्र-रेखा (Saving Curve) है जो विभिन्न आय स्तरो पर बचत के विभिन्न स्तर व्यक्त करती है तथा II विनियोग वक्र रेखा (Investment Curve) जो विभिन्न आय स्तरो पर विभिन्न विनियोग मात्रा की अभिव्यक्ति करती है। ये दोनो वक्र-रेखाएँ E बिन्दु पर एक दूसरे को परस्पर काटती हैं यही बचत और विनियोग का साम्य एव सन्तुलन बिन्दु है अत आय की मात्रा OQ निर्धारित होती है। E बिन्दु के दाहिनी ओर S>I (बचत विनियोग से अधिक) है। अत अर्थव्यवस्था मे प्रभावपूर्ण माग (Effective Demand) बचत की वृद्धि के कारण कम होगी जिससे बाजार में मूल्य गिरेंगे, उत्पादन रोजगार व आय का स्तर घटेगा। परिणामस्वरूप बचतें गिरकर विनियोग के बराबर होने की प्रवृत्ति होगी अर्थात् अर्थव्यवस्था मे सकुचन के कारण आय गिरेगी तथा बचत व विनियोग मे साम्य स्थापित हो जावेगा।

इसके विपरीत E बिन्दु के बायी तरफ बचत विनियोग से कम है अर्थात् S<I है अत समाज मे उपभोग चालू उत्पादन से अधिक होने के कारण मूल्यो मे वृद्धि उत्पादन, रोजगार आय मे वृद्धि को जन्म देगी। अर्थव्यवस्था का विस्तार होगा। आय मे वृद्धि से बचतें बढ़कर विनियोग के बराबर होने की प्रवृत्ति रहेगी।

निम्नांकित चित्र 1 मे शुद्ध राष्ट्रीय आय OQ है तथा बचत एवं विनियोग दोनो OT = EQ सन्तुलन की स्थिति मे हैं।

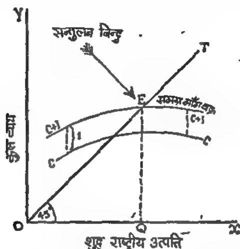


चित्र–1 बचत, विनियोग द्वारा आय निर्धारण

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बचत और विनियोग का प्रत्येक सन्तुलन बिन्दु पूर्ण रोजगार का बिन्दु हो ऐसा आवश्यक नहीं है। अगर बचत और विनियोग निम्न स्तर पर ही बराबर हो जायें तो इस साम्यावस्था में काफी बेरोजगारी भी प्रकट हो सकती है। अतः बचत और विनियोग का वह सन्तुलन बिन्दु ही पूर्ण रोजगार का बिन्दु होगा जहाँ अर्थव्यवस्था मे न संकुचन और न विस्तार की प्रवृत्ति हो अर्थात् अर्थव्यवस्था भी साम्यावस्था में हो तथा राष्ट्रीय आय व रोजगार मे वृद्धि सम्भव न हो सके। यही कारण है कि पिछड़े राष्ट्रों मे बचत और विनियोग की निम्न आय स्तर पर साम्यावस्था हो जाने से बेरोजगारी सामान्य स्थिति है।

2. उपभोग एवं विनियोग की समग्र अनुसूची (C+I) के 45° रेखा के कटाव से आय का निर्धारण—आय निर्धारण की यह दूसरी ऐसी विधि है जो उपभोग तथा विनियोग व्यय पर जोर देती है। प्रथम विधि मे बचत और विनियोग पर बल दिया था पर इस विधि मे उपभोग तथा विनिमय के समग्र व्यय (C+I) पर ध्यान केन्द्रित है। इसमें उपभोग वस्तुओं पर कुल व्यय तथा विनियोग वस्तुओं पर कुल व्यय का समग्र योग किया जाता है। सरकारी उपभोग एवं विनियोग शामिल करने से यह (C+I+G) की व्यावहारिक विधि बन जाती है जिसका विवरण आगे दिया जा रहा है।

इस विधि के अनुसार आय का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहा उपभोग विनियोग की समग्र रेखा (C+I) अर्थात् समग्र मांग वक्र (Aggregate Demand Curve) 45° रेखा को काटती है जैसे चित्र 2 मे स्पष्ट है। चित्र मे OT



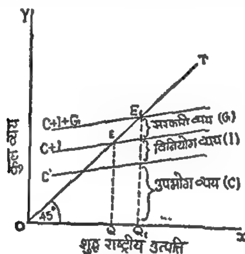
चित्र–2 उपभोग-विनियोग से आय का निर्धारण

रेखा 45° रेखा है जो आय-व्यय की समानता को सूचित करती है। इसके प्रत्येक बिन्दु पर आय-व्यय (उपभोग व्यय + विनियोग व्यय (C+I) को व्यक्त करती है इसी कारण इसकी लम्बवत् एव क्षैतिज अक्षो की दूरी प्रत्येक बिन्दु पर समान होती है। जैसे E बिन्दु पर OQ=EQ शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति तथा कुल व्यय (C+I) में समानता का द्योतक है। CC वक्र विभिन्न आय स्तरो पर उपभोग प्रवृत्ति अथवा उपभोग अनुसूची प्रदर्शित करता है। अगर इसमे पूंजीगत वस्तुओ पर किये जाने वाले व्यय को जोड दिया जाये (जैसे चित्र म I दूरी से बताया गया है) तो (C+I) वक्र उपभोग तथा विनियोग की समग्र अनुसूची अथवा कुल माग वक्र (Aggregate Demand Curve) हो जाता है। यह (C+I) वक्र 45° रेखा को E बिन्दु पर काटता है अतः यह वह सन्तुलन बिन्दु (Equlibrium Point) है जहां कुल आय समग्र व्यय (D+I) के बराबर है अत. आय का निर्धारण E बिन्दु पर OQ है तथा कुल व्यय भी EQ है अतः OQ=EQ के साम्य से आय का निर्धारण होता है।

सरकारी व्यय का राष्ट्रीय आय निर्धारण पर प्रभाव
(Effect of Government Expenditure on Determination of National Income)

आय-निर्धारण के उपर्युक्त अध्ययन में हमने केवल निजी उपभोग एव निजी विनियोग का ही समावेश किया है, पर आधुनिक अर्थव्यवस्थाओ मे राजकीय व्यय

(Government Expenditure) का महत्व बहुत बढ़ गया है। आज सरकार अपने व्यय और विनियोग से रोजगार तथा आय के स्तर में वृद्धि कर अर्थव्यवस्था की प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। अतः आय-निर्धारण का व्यावहारिक स्वरूप (C+I) में सार्वजनिक व्यय को जोड़ने पर आता है। उपर्युक्त रेखाचित्र-2 में (C+I) वक्र (उपभोग-विनियोग) का समग्र योग प्रदर्शित करती है जबकि कुल व्यय में सरकारी व्यय को भी जोड़ने से आय का स्तर ऊँचा हो जाता है। निम्न रेखाचित्र-3 में CC उपभोग वक्र है। C+I उपभोग तथा विनियोग समग्र वक्र है और अगर इसमें सरकारी व्यय को भी जोड़ दिया जाये तो कुल माग वक्र (C+I+G)



चित्र–3

45° रेखा को E_1 बिन्दु पर काटता है और राष्ट्रीय आय का निर्धारण E_1 बिन्दु पर OQ_1 होता है जबकि सरकारी व्यय का समावेश न करने पर C+I वक्र 45° रेखा को E बिन्दु पर ही काटता है जहा आय OQ ही है। अतः स्पष्ट है कि राज्य व्यय का प्रभाव राष्ट्रीय आय को ऊँचा करने तथा नीचा करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अगर सरकारी व्यय नहीं होता तो राष्ट्रीय आय OQ ही रहती जबकि सरकारी व्यय से राष्ट्रीय आय बढ़कर QQ_1 हो जाती है अर्थात् QQ_1 की वृद्धि होती है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार के बिन्दु से पूर्व सरकार अपना व्यय बढ़ाकर रोजगार एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि कर सकती है।

यहा यह उल्लेखनीय है कि सरकारी व्यय एवं विनियोग से आय में वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक होती है क्योंकि गुणक की प्रक्रिया (Multiplier) उसमें तेजी लाती है। गुणक (Multiplier) वह सख्या है जिसे विनियोग के परिवर्तन से गुणा करने पर आय का परिवर्तन निकल आता है—जैसे अगर सरकारी व्यय या विनियोग

40 करोड रु० होने पर राष्ट्रीय आय मे वृद्धि 120 करोड रु० हो जाने पर गुणक 3 होगा। इसके विपरीत अगर विनियोग घटाया जाय तो आय मे गुणक के अनुसार ही परिवर्तन होगा। अत गुणक का प्रभाव धनात्मक एव ऋणात्मक दोनों दिशाओ मे हो सकता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आय-निर्धारण को दो दृष्टियो से देखा जा सकता है—पहला, बचत विनियोग साम्य (Saving Investment Equilibrium) दृष्टि से तथा दूसरा, उपभोग विनियोग अथवा समग्र मांग दृष्टिकोण से। किन्तु दोनो के परिणाम एकसे निकलते हैं। आय निर्धारण के ये सिद्धान्त यह स्पष्ट करते है कि अर्थव्यवस्था मे रोजगार व आय मे वृद्धि के लिये उपभोग, बचत, विनियोग तथा सरकारी व्यय—सबकी महत्वपूर्ण भूमिका है तथा ये सब एक दूसरे पर परस्पर आश्रित हैं, अत, इनका अध्ययन समग्र रूप से करने की कीन्स की विधि लाभदायक कही जाती है। उपभोग, विनियोग एव राजकीय व्यय (C+I+G) सिद्धान्त सार्वजनिक व्यय एव विनियोग के आय एव रोजगार के प्रभाव का विश्लेषण करता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओ में उपभोग एव विनियोग के स्तर को ऊँचा रखने की नीति उनके कुशल क्रियान्वयन की कुंजी है। पूंजीवाद की मन्दी एव बेरोजगारी की समस्या का समाधान इस सिद्धान्त में निहित है। समाजवादी राष्ट्रो के विकास और रोजगार-वृद्धि में राजकीय व्यय की भूमिका इस सिद्धान्त की देन है। गुणक इसकी वृद्धि-कमी का विवेचन करने में सहायक है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 राष्ट्रीय आय का निर्धारण कैसे होता है ? समझाइये।
(संकेत–राष्ट्रीय आय-निर्धारण की दोनो विधियो को पूर्णत. चित्र देकर समझाइय।)

15

आय एवं सम्पत्ति की असमानता

(Inequality of Income & Wealth)

आज विश्व के सभी कल्याणकारी राष्ट्रों में आर्थिक समानता की आवाज बुलन्द होती जा रही है और आर्थिक विषमता के समापन के प्रयास जारी हैं। एक ओर गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, वैभवपूर्ण जीवन तथा विशाल सम्पत्ति तो दूसरी ओर रहने के लिए नीला आकाश, दरिद्रता का कष्टमय जीवन और सम्पत्ति का नितान्त अभाव आर्थिक विषमता की चरम सीमाओं के द्योतक हैं। आर्थिक व्यवस्था में समाज के कुछ व्यक्ति राष्ट्रीय आय एवं सम्पत्ति के मालिक बन बैठे जबकि अधिकांश व्यक्ति निर्धनता के कुचक्र में पिसते रहे, कुछ वैभव एवं विलासिता का जीवन बिताएँ और अधिकांश रोजी-रोटी के लिए तरसें, यह स्थिति एक सभ्य समाज के लिये कलंक ही नहीं अपितु विश्व शान्ति एवं समृद्धि के लिये भी स्थायी खतरा है। इसीलिये कहा जाता है कि दुनिया के किसी भी भाग में गरीबी विश्व समृद्धि को सबसे बड़ा खतरा है। अतः यथासम्भव आय और सम्पत्ति की विषमता को कम करना प्रत्येक कल्याणकारी एवं समाजवादी सरकार का परम कर्तव्य एवं लक्ष्य है क्योंकि आर्थिक कल्याण के लिये राष्ट्रीय आय का प्रसारण (Diffusion of Income) अधिकतम होना चाहिये।

आय एवं सम्पत्ति की असमानता का विचार (The concept of inequality of Income & Wealth)—आर्थिक असमानता के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं। पहला आय की असमानता (Income Inequality) तथा दूसरा सम्पत्ति की असमानता (Wealth Inequality)। आय की असमानता का अभिप्राय है कि समाज के विभिन्न व्यक्तियों में राष्ट्रीय आय इस प्रकार विभाजित होती है कि समाज के कुछ व्यक्तियों को तो आय का बहुत बड़ा भाग मिलता है जबकि अधिकांश व्यक्तियों को बहुत छोटा अंश प्राप्त होता है। जैसे कुछ व्यक्तियों को तो प्रतिवर्ष लाखों रुपये की आय हो जबकि अधिकांश को प्रतिवर्ष न्यूनतम जीवनयापन के लिए भी आय प्राप्त न हो। भारत में प्रो. महालनोबिस समिति ने बताया था कि 1955-56 में 1 प्रतिशत व्यक्ति कुल व्यक्तिगत आय का 11% भाग प्राप्त करते थे जबकि 25% से भी अधिक व्यक्ति 10% से भी कम आय प्राप्त करते थे। इसी प्रकार प्रो. लेविस के शब्दों में इंगलैंड में 2% व्यक्ति वहाँ की राष्ट्रीय आय का 20%

आय की असमानता और सम्पत्ति की असमानता दोनों एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। आय की असमानता सम्पत्ति की असमानता को बढ़ाती है और सम्पत्ति की असमानता आय उपार्जन क्षमता से अन्तराल को स्थायी बनाती है तथा उसमें निरन्तर वृद्धि करती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में धन और आय के वितरण में असमानता अधिक होती है जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में सम्पत्ति के असमान वितरण को कम कर आय में असमानता को दूर करने का प्रयास किया जाता है।

धन और आय के वितरण में असमानता एक सभ्य समाज के लिये अभिशाप है और समृद्धि के बीच निर्धनता का होना और भी अधिक भयकर माना जाता है। सामाजिक एवं नैतिक न्याय की दृष्टि से भी समाज में आर्थिक विषमता अन्यायपूर्ण एवं अनपेक्षित है। यही कारण है कि विश्व में सर्वत्र आर्थिक समानता की दुहाई दी जाती है और प्राय सभी कल्याणकारी राष्ट्रों में आय एवं सम्पत्ति की विषमता को समाप्त करने के प्रयास प्रबल हैं।

आर्थिक समानता का अभिप्राय :—

आर्थिक असमानता अथवा आय एवं सम्पति की समानता का अभिप्राय अर्थशास्त्र की शब्दावली में यह कतई नहीं है कि सभी व्यक्तियों की आय और सम्पति में पूर्ण समानता अर्थात् गणितात्मक समानता (Arithmetical equality in Income and Wealth) हो। यह पूर्ण गणितात्मक समानता न तो कभी सम्भव ही है और न आर्थिक दृष्टि से वाछनीय ही है। अर्थशास्त्र के अनुसार तो आय और सम्पत्ति की समानता का अभिप्राय आय और सम्पत्ति में अत्यधिक असमानताओं को यथासम्भव कम करना है। उसमें व्याप्त अन्तराल को पाटना तथा उनमें होने वाले अत्यधिक उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करना। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आय एव सम्पति की समानता (आर्थिक समानता) का अर्थ पूर्ण समानता या गणितात्मक समानता स्थापित करना नहीं अपितु आय और सम्पत्ति के वितरण में व्याप्त अत्यधिक असमानता के अन्तराल को यथासम्भव पाटना या कम करना है।

आर्थिक असमानता (विषमता) के कारण
(Causes of Economic Inequalities)

आय और सम्पत्ति में असमानता पूँजीवाद का सम्भवतः सबसे बुरा लक्षण है। पूँजीवाद में विभिन्न तत्व आर्थिक असमानता के जन्मदाता एवं पोषक हैं। इसी कारण प्रो कोल ने कहा है "उद्योग के मन्दिर में पुजारी और दासो के वैभव में जमीन आसमान का अन्तर है।" पूँजीवाद में धनी और अधिक धनी तथा गरीब और अधिक गरीब बनते जाते हैं जबकि समाजवाद के अन्तर्गत आर्थिक समानता की प्रवृत्ति प्रबल होती है। किसी भी अर्थव्यवस्था में आय एवं सम्पत्ति की असमानता के प्रायः निम्न कारण होते हैं। इनमें कुछ कारण आय की असमानता को जन्म देते हैं, कुछ उसे बढ़ाते हैं तथा कुछ उसमें चिर-स्थायित्व लाते हैं और सामूहिक रूप में आय एवं सम्पत्ति में असमानता की स्थिति को सुदृढ करते हैं।

(1) जन्मजात योग्यताओं में अन्तर (Difference in Natural Talents)—प्रकृति ने भी सभी मनुष्यो को शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से समान पैदा किया है। कुछ व्यक्ति अपने अन्य सहयोगियो की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान, योग्य, परिश्रमी एवं प्रभावशाली होते हैं। योग्य, बुद्धिमान एवं अच्छे व्यक्तियों को अच्छी नौकरी, व्यवसाय में अधिक लाभ तथा अन्य क्षेत्रो में अधिक आय प्राप्त होती है जबकि अपेक्षाकृत कम योग्य व्यक्तियो की आय भी कम होती है। इस प्रकार जन्मजात गुणों में अन्तर आय असमानता को जन्म देते हैं।

(2) अवसरों में असमानता (Inequality of Opportunity)—विभिन्न व्यक्तियों के जन्मजात गुणो में ही अन्तर नहीं होता वरन् उनके मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से समान होते हुए भी अवसर एवं वातावरण की असमानता भी उनमें आय की असमानता को जन्म देती है। जिन व्यक्तियो को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का पर्याप्त अवसर, वातावरण एवं सुविधाएँ प्राप्त होती हैं उन व्यक्तियों को अपेक्षाकृत अधिक आय अर्जन का अवसर प्राप्त होता है जिन्हे अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का कोई अवसर ही न मिले और वातावरण एवं सुविधाओं का भी नितान्त अभाव हो। प्रायः हम देखते हैं कि धनी वर्ग के सामान्य बुद्धि वाले बच्चे उचित शिक्षा, साधन एवं अवसर मिलने से आगे बढ़ जाते हैं जबकि कुशाग्र बुद्धि वाले गरीब बच्चे साधनो व अवसरो के अभाव में पिछड़ जाते हैं। प्रो टावनी (Tawney) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ("Acquisitive Society') में लिखा है 'आधुनिक समाज में धन का वितरण अवसर के अनुसार होता है। यद्यपि अवसर कुछ अंश तक योग्यता एवं शक्ति पर निर्भर करता है पर यह बहुत कुछ सामाजिक स्थिति, शिक्षा तथा पैतृक सम्पत्ति पर निर्भर करता है एक निर्धन व्यक्ति का पुत्र अपनी शक्ति एवं योग्यता से अवसर उत्पन्न कर सकता है पर धनी व्यक्ति के पुत्र को अवसर स्वयं अपने आप मिल जाता है।' इससे स्पष्ट है कि आय एवं धन की

असमानता का एक प्रमुख कारण अवसरों की असमानता है। अगर समान योग्यता वाले व्यक्तियो को शिक्षा, प्रशिक्षण, वातावरण एव अन्य अवसरो की समानता रहे तो आर्थिक असमानता सीमित होगी।

(3) व्यवसायों की विभिन्नता (Difference in Jobs)—आय और सम्पत्ति में असमानता का एक प्रमुख कारण व्यवसायों में भिन्नता पाया जाना है। जिन व्यवसायो में उच्च व्यावसायिक योग्यता, दीर्घ अनुभव अथवा तकनीक प्रशिक्षण प्राप्त योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता होती है उन्हें ऊँची दर से पारिश्रमिक मिलता है पर अधिकांश व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें सामान्य व्यक्तियो से काम चल जाता है और ऐसे व्यवसायो में निम्न दरो मे पारिश्रमिक मिलता है। व्यवसायो के वेतनमानो या प्रतिफलो मे जितना अधिक अन्तर होगा उतनी ही समाज में आर्थिक विषमता अधिक होगी। आज भारत में बडे-बडे उद्योगो व व्यवसायो के मैनेजरो, निदेशको व अध्यक्षो को ऊँची दर से पारिश्रमिक मिलता है जबकि अधिकांश मजदूरो को निम्न वेतन दरो से भुगतान होता है। फिल्म अभिनेताओं को अपने कार्य के लिए बहुत ही ऊँचा हजारों रुपया पारिश्रमिक मिलता है जबकि अन्य व्यवसायों मे इतने वेतन या प्रतिफल की स्वप्न म भी आशा नहीं की जा सकती। अत समाजिक मूल्यांकन एव कार्य की योग्यता के अनुसार प्रतिफल में अन्तर आर्थिक विषमता का महत्वपूर्ण घटक है। पूँजीवादी राष्ट्रो म यह विषमता समाजवादी राष्ट्रो की अपेक्षा अधिक है।

(4) एकाधिकारी प्रवृत्तियां (Monopolistic Tendencies)—समाज मे आय एव धन की असमानता का एक प्रमुख कारण समाज में एकाधिकारी प्रवृत्तियो का विद्यमान होना है। कुछ व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपने लाभ को अधिक करने के लिए अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं की कृत्रिम कमी कर पूर्ति को सीमित करने का प्रयास करते हैं। वे प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर गुटबन्दी द्वारा अधिक मूल्य निर्धारण करने म सफल होते हैं। इसमे ऐस व्यक्तियो की आय उन व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक होती है जो केवल सामान्य लाभ कमाते हैं। पूँजीवादी राष्ट्रो म आर्थिक असमानता अधिक होती है।

एकाधिकारी प्रवृत्तियां न केवल उद्योग एव व्यवसायो मे ही व्याप्त होती हैं वरन् श्रमिकों एव वैतनिक कर्मचारियों के समूहो म भी होती हैं जो अन्तत आर्थिक असमानता बढाते हैं।

(5) आर्थिक शोषण (Economic Exploitation)—व्यक्तिगत सम्पत्ति एव निजी लाभ की भावना आर्थिक शोषण को जन्म देती है। कार्ल मार्क्स ने अतिरेक मूल्य (Surplus Value) के विचार का प्रतिपादन कर यह स्पष्ट किया कि पूँजीपति श्रमिको को उनके श्रम के बराबर मजदूरी नही देकर उनका शोषण करते हैं। श्रमिको की मोल-भाव करने की शक्ति भी कम होती है। अत पूँजीपति श्रमिकों का पेट काटकर अपना पेट बढाते हैं। यदि पूँजीपति श्रमिको को उचित

धनी के बेटे धनी, निर्धन के बेटे निर्धनता मे पलते हैं और इस प्रकार उत्तराधिकार की प्रथा के कारण आर्थिक असमानता-स्थायी बनी रहती है। आज की विषमता कल की विषमता ही नही बनती वरन् बढती जाती है क्योकि धन मे बहुगुणित होने की प्रवृत्ति होती है। पैसा ही पैसा कमाता है और आय तथा सम्पत्ति की असमानता बढती है। प्रो टाजिग ने इस सम्बन्ध मे ठीक ही लिखा है "यह (उत्तराधिकार) **प्रथा ही पूजी और आय अर्जित करने वाली सम्पत्तियो की आय असमानताओं को स्थायित्व प्रदान करती है तथा धनी एव निर्धनो के मध्य व्याप्त गहरी खाई की व्याख्या करती है।"** अत यह कहना युक्तिसगत है कि उत्तराधिकार प्रथा आय और सम्पत्ति मे विषमता को बढाने तथा असमानता को स्थायित्व प्रदान करने वाला महत्वपूर्ण घटक है।

(8) विविध—आर्थिक असमानता को जन्म देने मे तथा उन्हे बढाने मे कुछ अन्य कारण भी हैं जिन्हे यद्यपि महत्वपूर्ण तो नही माना जा सकता परन्तु आर्थिक विषमता बढाने म इन कारणो का भी न्यूनाधिक योगदान रहा है। निर्धन देशो मे ये कारण महत्त्वपूर्ण हैं—

(i) विपत्तियों की असमानता—कुछ व्यक्तियो की लम्बी बीमारी, दुर्घटना अथवा आकस्मिक मृत्यु से आय का स्रोत अवरुद्ध हो जाता है जबकि स्वस्थ एव दीर्घायु वाले व्यक्तियो की आय का स्रोत निरन्तर बना रहता है। इन दो असमानताओ से धन एव आय की विषमता उत्पन्न होती है व बढती है।

(ii) मुद्रा-स्फीति (Inflation)—यह भी समाज में धन के वितरण को प्रभावित कर आर्थिक असमानता में वृद्धि करता है। आर्थिक तेजी धनिकों के पक्ष म आर्थिक साधनो को मनमाने ढग से वितरण करती है जबकि श्रमिको व निर्धनो को तेजी काल मे आय का कम भाग मिलता है। मुद्रा-स्फीति की तुलना ऐसे लुटेरे से की जा सकती है जो गरीबो को लूटकर धनिको को साधन देता है।

(iii) मुनाफाखोरी एव कालाबाजारी (Profiteering and Black Marketing)—ये मुद्रा-स्फीति की ही उपज हैं जिसके कारण व्यापारी एव उद्योगपति बाजार मे कृत्रिम कमी उत्पन्न कर मुनाफाखोरी एव कालाबाजारी से अत्यधिक धन अर्जित कर लेते हैं। सट्टाबाजी आदि भी उसमें सहायक होते हैं।

(iv) करों की चोरी—धनी, व्यापारी एव उद्योगपति सट्टे, कालाबाजारी एव कृत्रिम कमी से प्राप्त मुनाफों को अर्जित करके भी उन पर कर नही देते जबकि ऊँची करारोपण व्यवस्था म ईमानदार व्यक्तियो की आय घट जाती है अत बडे पैमान पर करो की चोरी करने वालो की आय तेजी से बढती है और अन्तत आर्थिक असमानता म वृद्धि होती है।

(v) जनसख्या विस्फोट (Population Explosion)—विभिन्न आय वर्गों के लोगो की आर्थिक विषमता म वृद्धि का एक कारण जनसख्या विस्फोट भी माना जाता है क्योकि निम्न आय वर्ग म ऊँची जन्म दर तथा ऊँची आय वाले वर्ग म

अपेक्षाकृत नीची जन्म दर से गरीबों में जनसंख्या में विस्फोट वृद्धि से आर्थिक असमानता बढ़ी है।

(vi) गतिशीलता में अन्तर (Difference in Mobility)—सामान्यतः जिन व्यक्तियों में अत्यधिक गतिशीलता होती है उनकी आय उन व्यक्तियों की तुलना में अधिक तीव्र गति से बढ़ती है जो गतिहीन या बहुत कम गतिशील होते हैं। साहसी एवं गतिशील श्रमिकों व व्यवसायियों की आय गरीब एवं गतिहीन व्यवसायियों के मुकाबले अधिक बढ़ी है।

(vii) बेरोजगारी एवं भाग्य—जो व्यक्ति रोजगार में हैं अथवा जिनका भाग्य साथ देता है उनकी आर्थिक समृद्धि बढ़ती जाती है जबकि बेरोजगार एवं भाग्यहीन की आय का स्रोत न होने से गरीबी बढ़ती है। परिणामस्वरूप आर्थिक विषमता बढ़ती है। रंक से राजा और राजा से रंक भाग्य की देन है।

आर्थिक विषमता के दुष्प्रभाव या हानिकारक प्रभाव
(Consequences or Evil Effects of Economic Inequality)
अथवा
आर्थिक समानता क्यों हो? (Why Economic Equality ?)
या
आर्थिक विषमता के विपक्ष में तर्क[1]
(Arguments Against Economic Inequality)

आर्थिक विषमता एक सभ्य एवं कल्याणकारी समाज के लिए कलंक है। आर्थिक विषमता सामाजिक न्याय और नैतिक दृष्टि से भी अनपेक्षित है। पूँजीवादी राष्ट्रों में व्याप्त आर्थिक असमानताओं ने आर्थिक शोषण, राजनैतिक केन्द्रीकरण, सामाजिक अन्याय एवं नैतिक पतन को जन्म दिया है और यही कारण है कि अब पूँजीवादी राष्ट्र भी आर्थिक विषमता को अभिशाप मानने लगे हैं। आर्थिक विषमता निम्न दुष्प्रभावों को जन्म देती है—

1. आर्थिक साधनों का अनुचित वितरण एवं सामाजिक अपव्यय (Misallocation of Resources and Social Waste)—आर्थिक विषमता की स्थिति में देश की क्रयशक्ति धनिकों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है और वे बाजार माँग को प्रभावित करते हैं। उत्पादक कीमत-प्रक्रिया से प्रभावित होकर देश के आर्थिक साधनों का प्रयोग समृद्ध वर्ग के लिए विलासिताओं के उत्पादन के लिए करते हैं तथा निर्धनों की अनिवार्यताओं की भी अवहेलना की जाती है। देश के आर्थिक साधनों का प्रयोग महत्वपूर्ण अनिवार्यताओं की तुष्टि के लिए न होकर विलासिताओं की तुष्टि के लिए अधिक होता है। धनिकों को अधिक खाने को मिलता है जबकि निर्धन भूखे रहते हैं इस प्रकार देश के आर्थिक साधन अधिक उपयोगी एवं आवश्यक कार्यों से

1. इस शीर्षक को हम यों भी लिख सकते हैं आर्थिक समानता के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Economic Equality.)

हट कर कम महत्वपूर्ण, विलासिताओं और अनुपयोगी कार्यों में प्रयुक्त होते हैं। साधनों का यह अनुचित वितरण सामाजिक अपव्यय को जन्म देता है। आर्थिक समानता साधनों के अनुचित वितरण से सामाजिक कल्याण में वृद्धि करती है।

2 उत्पादन शक्ति का ह्रास (Loss in Production Power)—आर्थिक असमानता अर्थव्यवस्था के दोनों सिरों (धनी वर्ग और निर्धन वर्ग) की उत्पादन शक्ति में कमी लाती है। एक ओर निर्धन व्यक्तियों के अल्प-शोषण (Under-nourishment) वस्त्राभाव तथा अनुपयुक्त आवास व्यवस्था के कारण उनमें व्यसन, अपराध और बदले की भावना पनपती है, स्वास्थ्य गिरता है और बीमारियां बढ़ती हैं। इनसे पीढ़ी दर पीढ़ी उत्पादन शक्ति में निरन्तर ह्रास होता जाता है। वहां दूसरी ओर धनी वर्ग में विलासितापूर्ण जीवन, चरित्र हीनता और परोपजीवी प्रवृत्ति से शारीरिक एवं मानसिक निष्क्रियता बढ़ती है। इस प्रकार एक ओर विपुल सम्पत्ति आर्थिक निष्क्रियता को बढ़ाती है तो दूसरी ओर निर्धनता में व्यक्ति जीवन के प्रति रुचि ही खो बैठता है। परिणाम यह होता है कि आर्थिक सीढ़ी (*Economic Ladder*) के दोनों सिरों पर उत्पादन शक्ति में कमी से देश की उत्पादन शक्ति में ह्रास होता है। अतः देश की उत्पादन शक्ति में निरन्तर वृद्धि के लिए आर्थिक समानता वांछनीय है। आर्थिक विषमता अनुपयुक्त है।

3 अवसरों की असमानता (Inequality of Opportunities)—आर्थिक असमानता न केवल उत्पादन शक्ति में कमी लाती है वरन् यह अवसरों की असमानता भी उत्पन्न करती है। साधन सम्पन्न व्यक्ति अपने बच्चों को उचित शिक्षा प्रशिक्षण एवं आवश्यक साधनों की व्यवस्था कर उन्हें उच्च वेतन वाले रोजगारों में भेज सकते हैं जबकि निर्धन व्यक्ति अपने बच्चों के लिए उपयुक्त सुविधायें जुटाने में प्रायः असमर्थ होते हैं और उन्हें निम्न वेतन स्तर वाले रोजगारों में ही सन्तोष करना पड़ता है। इस प्रकार एक ओर अवसरों की प्राप्ति से धनी अधिक धनी और साधन सम्पन्न होते जाते हैं और गरीब पर्याप्त अवसरों के अभाव में पिछड़ जाता है और दरिद्रता के चंगुल से नहीं निकल पाता।

4 वर्गभेद (Social Stratification)—आर्थिक असमानता में समाज तीन मुख्य वर्गों में बंट जाता है—निर्धन मध्यम वर्ग और उच्च धनी वर्ग। समाज का यह वर्गीकरण उनमें परस्पर वैमनस्य, असंतोष और घृणा को पनपाता है। इसीलिये आर्थिक समानता वर्ग विभेद के निराकरण और अवसरों की समानता के लिये उपयोगी मानी जाती है।

5 वर्ग संघर्ष को बढ़ावा एवं सामाजिक असंतोष (Class Conflict & Social Discontent) आर्थिक विषमता में आय और धन की असमानता समाज में वर्ग विभेद ही नहीं करती बल्कि उनमें परस्पर द्वेष, घृणा और असंतोष की भावना को उभाड़ती है। बहुसंख्यक निर्धन धनिकों के शोषण के विरुद्ध संगठित

होते हैं। उनमें असन्तोष और द्वेष का शोला खूनी क्रांति की आग भड़काता है। रूस में 1917 की खूनी क्रांति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। कार्ल मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Das Capital" में पूंजीवाद के समापन के पीछे आर्थिक विषमता और आर्थिक शोषण को महत्वपूर्ण घटक माना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक असमानता समाज में वर्ग संघर्ष को जन्म देकर क्रांतिकारी आंदोलनों व साम्यवादी खूनी क्रांतियों को आमन्त्रण देती है। इसीलिए वर्ग संघर्ष के समापन, सामाजिक संतुष्टि एवं क्रांति के लिए आर्थिक समानता आवश्यक है।

6 आर्थिक विषमता से और अधिक विषमता बढ़ती है (Economic Inequality Increases Inequality Rapidly)—आय और धन की असमानता का एक दुष्प्रभाव यह भी है कि इससे समाज में धनी व्यक्ति अधिक धनी और गरीब व्यक्ति अधिक गरीब होते जाते हैं। साधन सम्पन्न धनी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति और साधनों के कारण उपयुक्त अवसर एवं रोजगार में अपनी आय और सम्पत्ति को निरन्तर बढ़ाता है जबकि निर्धन अपनी निर्धनता के कुचक्र में पिसता रहता है और पीढ़ी दर-पीढ़ी निर्धन बनते रहते हैं। इसके कारण आर्थिक विषमता में निरन्तरता एवं स्थायित्व की प्रवृत्ति होती है। इसी कारण प्रो पीगू (Pigou) का यह कथन युक्तिसंगत लगता है कि 'एक पीढ़ी में आय की असमानता केवल एक दोष नहीं है वरन् इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि यह दूसरी पीढ़ी में भी विषमता का कारण है। अतः आर्थिक असमानता में ही भावी विषमता समापन निहित है।"

7 आर्थिक असुरक्षा (Economic Insecurity)—आर्थिक विषमता का एक बड़ा दुष्परिणाम यह होता है कि समाज का एक प्रमुख बहुसंख्यक निर्धन वर्ग आर्थिक सुरक्षा के अभाव में जीवनयापन करता है। धन और आय के अभाव में आर्थिक सुरक्षा के अभाव में जीवनयापन करता है। धन और आय के अभाव में बेकारी, भुखमरी, बीमारी, बुढ़ापा दुर्घटना और मृत्यु आदि परिस्थितियों में उसका तथा उसके परिवार का जीवन आर्थिक असुरक्षा में फंस जाता है। उनके बच्चे रोटी के लिये बिलखते हैं। बीमारी में वे तड़फ तड़फ कर मर जाते हैं और अपने आश्रितों को असहाय छोड़ जाते हैं। उन्हें नारकीय जीवन व्यतीत करना पड़ता है अतः आर्थिक सुरक्षा के लिए आर्थिक समानता आवश्यक है।

8 बेरोजगारी और आर्थिक मंदी का भय (Danger of Economic Depression and Unemployment)—आर्थिक असमानता आर्थिक मंदी और बेरोजगारी का भय भी उत्पन्न करती है। आर्थिक विषमता से क्रय शक्ति धनिकों के पास केंद्रित हो जाती है और वे ही बाजार में प्रभावपूर्ण मांग (Effective D mand) को निर्धारित करते हैं। प्रो कीन्स ने सर्वप्रथम इस तथ्य को स्पष्ट किया कि ज्यों ज्यों व्यक्ति की आय बढ़ती है उसकी सीमांत उपभोग क्षमता (Marginal Propensity to Consume) कम होती जाती है और बचत की क्षमता (Propensity to Save) बढ़ती जाती है। उपभोग की क्षमता कम

होने तथा बचत की क्षमता बढने से बचत और विनियोग मे असतुलन हो जाता है। बचत बढने और विनियोग घटने का परिणाम यह होता है कि प्रभावपूर्ण माग कम हो जाती है और उद्योगो व व्यवसायो मे मदी और बेरोजगारी का कुचक्र प्रारम्भ होता है। 1930 की आर्थिक मुदी इस स्थिति की परिचायक है। मदी और बेरोजगारी के निवारण के लिये स्वय प्रो कीन्स (Keynes) ने आय की असमानता को समाप्त करने की सलाह दी क्योकि निर्धनो की उपभोग क्षमता बहुत होती है और अगर उन्हे क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण किया जाय तो प्रभावपूर्ण माग मे वृद्धि से विनियोग, रोजगार और आय वृद्धि मे आर्थिक मदी के दुष्प्रभावो की समाप्ति मे सहायक होगी। प्रो बोल्डिग (Boulding) ने ठीक ही कहा है 'एक नये समाज को आवश्यक रूप से समाजवादी होना चाहिए अन्यथा वह अपनी सम्पन्नता बेरोजगारी से कुचल देगा।"

9. आर्थिक एव राजनीतिक शक्तियों का केन्द्रीकरण (Concentration of Economic and Political Power)—आय और धन की विषमता से आर्थिक और राजनैतिक शक्तियो का केन्द्रीकरण धनी व्यक्तियो के पास हो जाता है। पैसे के बल पर चुनाव जीते जाते हैं, उच्च पद खरीदे जा सकते हैं। यहा तक कि रिश्वत से राजनीतिज्ञो और उच्च प्रशासको को अपनी इच्छानुसार कार्य करने को बाध्य किया जा सकता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे धनी अपने साधनो का दुरुपयोग कर राजनैतिक और आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण कर लेते हैं। भारत मे डॉ हजारे ने प्रतिवेदन मे बिडलाओ के आर्थिक केन्द्रीकरण का रहस्योद्घाटन किया है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि निर्धन साधनो के अभाव मे न राजनैतिक शक्ति प्राप्त कर सकता है और न आर्थिक सत्ता ही। आर्थिक समानता होने पर देश के सभी वर्गों को अपने व्यक्तित्व, प्रतिष्ठा और योग्यता के विकास का समान अवसर मिलता है।

10. लोक-कल्याण मे कमी (Reduction in Public Welfare)—आर्थिक विषमता का सबसे बडा दुष्प्रभाव यह होता है कि आर्थिक एवं गैर-आर्थिक कल्याण मे कमी होती है। सीमात उपयोगिता ह्रास नियम के क्रियाशील होने से धनवानो के लिए तो द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। कुछ ही धनिको के पास अपार सम्पत्ति एव धन से उन्हे उतनी उपयोगिता नही मिलती जितनी समाज को धन के समान वितरण से बहुसख्या मे उच्च सीमात उपयोगिता के कारण मिल जाती। अत धनिको की आय एव सम्पत्ति की गरीबो के मध्य वितरण म अधिक सीमान्त उपयोगिता कुल लोक कल्याण म वृद्धि करेगी। इसी प्रकार समाज म घृणा, वैमनस्य और शोषण की भावना आर्थिक विषमता का दुष्परिणाम है और इनसे गैर-आर्थिक कल्याण का ह्रास होता है। अगर देश मे धन एव सम्पत्ति का समान वितरण हो तो लोगो मे जीवन के प्रति रुचि, मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध एव सद्भावना भी सामाजिक कल्याण मे वृद्धि करेगी। सैद्धातिक दृष्टि से आय और सम्पत्ति का वितरण तब आदर्श कहा जाता है जब (i) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं

को सन्तुष्ट करने का समान ग्रवसर हो, (ii) प्रत्येक व्यक्ति को वास्तविक सतुष्टि समान हो तथा (iii) प्रत्येक व्यक्ति को ग्रपने व्यय किये जाने वाले द्रव्य की समान सीमात उपयोगिता प्राप्त हो।

11 जीवन स्तर मे भिन्नता (*Difference in Standard of Living*)—ग्रार्थिक विषमता के कारण एक ग्रोर धनी व्यक्ति ग्रपने ग्रपार वैभव एव सम्पत्ति से ग्रच्छा भोजन, रहने की उत्तम व्यवस्था, उच्च शिक्षा-दीक्षा तथा उत्कृष्ट उपभोग से ग्रपना जीवन स्तर बहुत ऊँचा एव विलासितापूर्ण बना लेते हैं, जबकि दूसरी ग्रोर निर्धन साधनो के ग्रभाव म भूखे, नगे ग्रौर प्यासे रहते हैं। रहने के लिये नीला ग्राकाश ग्रौर सोने के लिए धरती होती है। उन्हे ग्रपने जीवनयापन के साधन ही नही मिल पाते ग्रत उनका जीवन-स्तर बहुत नीचा होता है। समाज के बहुत बडे वर्ग को न्यूनतम जीवन स्तर भी उपलब्ध नही होता। धनी ग्रधिक खाने से दुखी हैं ग्रौर निर्धन खाने के ग्रभाव मे दुखी हैं। दोनो मे ग्रशाति है। भारत मे विभिन्न वर्गों के जीवन-स्तर म घोर ग्रन्तर का कारण ग्रार्थिक विषमता है।

12 सामाजिक एव नैतिक ग्रन्याय (*Social and Moral Injustice*)—ग्रार्थिक विषमता सामाजिक एव नैतिक दृष्टि से भी ग्रन्यायपूर्ण है क्योकि जहा एक ग्रोर धनी व्यक्तियो को बिना विशेष प्रयासो के विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने का ग्रवसर मिलता है वहा दूसरी ग्रोर कठोर परिश्रम ग्रौर रात-दिन काम करने पर भी निर्धनो को भरपेट भोजन नही मिलता। समाज का ग्रल्पसख्यक धनी वर्ग बहुसख्यक निर्धन वर्ग के शोषण व परिश्रम की कमाई से गुलछर्रे उडाता है। यह सामाजिक ग्रन्याय नही तो ग्रौर क्या है?

नैतिक दृष्टि से भी ग्रार्थिक विषमता ग्रन्यायपूर्ण ही है क्योकि जहा ग्रत्यधिक वैभव, विलासिताग्रो, व्यसनो एव ग्रनैतिक भ्रष्ट प्रवृत्तियो को बढाता है वहा निर्धनता मे वेश्यावृत्ति, ग्रपराध एव ग्रात्म हत्यायें बढती हैं। सम्पूर्ण समाज ग्रनैतिकता के गर्त मे गिर जाता है। ग्रत ग्रार्थिक विषमता नैतिकता की दृष्टि से भी ग्रनपेक्षित है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ग्राय एव सम्पत्ति की विषमता ग्रार्थिक, राजनैतिक एव सामाजिक सभी दृष्टिकोणों से ग्रनुपयुक्त है क्योकि इससे देश के उत्पादक साधनो का ग्रनुचित वितरण सामाजिक ग्रपव्यय को बढाता है, जीवन स्तर में कमी करता है, देश की भावी पीढी की उत्पादन क्षमता कम करता है ग्रौर ग्रन्तत सामाजिक कल्याण का ह्रास होता है। बहुसख्यक निर्धनों का ग्रसन्तोष खूनी क्रान्ति ग्रौर भारी उथल-पुथल को जन्म देता है ग्रत ग्रार्थिक विषमता का निराकरण करना प्रत्येक कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य है।

ग्रार्थिक विषमता (ग्रसमान वितरण) के पक्ष में तर्क
(Arguments in Favour of Economic Inequality)

यद्यपि ग्रार्थिक विषमता को ग्रभिशाप माना है फिर भी पूँजीवाद के कुछ समर्थक ग्रार्थिक विषमता के पक्ष म तर्क देकर सत्य पर पर्दा डालने का ग्रसफल प्रयास करते हैं। उनके ग्रनुसार ग्रग्रलिखित तर्क उल्लेखनीय हैं—

1 बचत और विनियोग मे कमी का तर्क—आर्थिक विषमता के कारण धन का केन्द्रीकरण धनी वर्ग के पास हो जाता है। उच्च आय स्तर पर बचाने की क्षमता अधिक होती है। अत समृद्ध वर्ग बचतों को बढ़ाते हैं और उन बचतों का विनियोग करते हैं जिससे रोजगार और आय बढ़ती है। अगर धन का वितरण समान हो तो प्रति व्यक्ति आय कम होगी और उपभोग क्षमता अधिक होने से बचत की प्रवृत्ति पर प्रहार होगा, विनियोग घटेगा तथा देश में निर्धनता बनी रहेगी। पर अगर इस तर्क को हम प्रो कीन्स के अर्थशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में देखें तो स्पष्ट होता है कि आर्थिक विषमता से बहुसंख्यक निर्धन वर्ग के कारण प्रभावपूर्ण माग कम होने से रोजगार, आय, विनियोग और बचत सब गिर जाते हैं अत. उन्होंने स्वय आर्थिक विषमता कम करने की सलाह दी थी। प्रो. बोल्डिंग (K E Boulding) ने तो यहा तक कहा है "एक धनी समाज को आवश्यक रूप से समाजवादी होना चाहिए अन्यथा वह अपनी समृद्धि बेकारी से खो बैठेगा।"[1]

2 जीवन स्तर में ह्रास और निर्धनता की वृद्धि का विचार—यह तर्क निर्धनता की समस्या को असमानता की समस्या का दूसरा रूप मानकर चलता है। अगर देश की राष्ट्रीय आय को समानरूप से वितरित किया जाय तो प्रति व्यक्ति आय कम होगी। इससे उत्पादन, बचत, विनियोग, रोजगार एव जीवन स्तर सबका स्तर नीचा होगा और निर्धनता पीढ़ी दर-पीढ़ी बनी रहेगी। जैसे अगर भारत में कुल राष्ट्रीय आय को 65 करोड जनसंख्या म विभाजित किया जाय तो प्रतिव्यक्ति आय-लगभग 1080 रु० आती है। यह उपाय तो रूखा समाज (Crude Socialism) ही है, असमानता को कम करने के बजाय उत्पादन वृद्धि पर बल दिये जाने की बात कही जाती है। इस तर्क मे कुछ सत्यता अवश्य है।

3 उत्पादन प्रोत्साहन का तर्क—समाज म आर्थिक विषमता उत्पादकों को अपनी क्षमता बढ़ाने का प्रोत्साहन देती है। लोगो म समृद्ध बनने की होड़ लगती है। अत. अधिक आय उपार्जन के साधन खोजने का प्रयास किया जाता है। नयी-नयी वस्तुओ, उत्पादन पद्धतियो, उन्नत उत्पादन तरीकों, नये बाजारो तथा नये विनियोगो को प्रोत्साहन मिलता है इससे देश मे उत्पादन बढ़ता है। केवल उद्योगपति एव व्यापारी ही लाभान्वित नही होते पर साथ ही श्रमिको को भी रोजगार मिलता है, वे भी कुशलता बढ़ाकर अधिक आय उपार्जित करने का प्रयास करते हैं। निजी सम्पत्ति का जादू मिट्टी को भी सोना बनाने का प्रयास करता है।

इस तर्क मे काफी सत्यता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का तो यह आधार ही है। पर समाजवादी अर्थव्यवस्था म भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया गया है। इस

1. A rich society must be equalitarian or it will spill its riches in unemployment

तर्क को देश की समूची उत्पादन व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखा जाने पर यह तथ्य सामने आता है कि आर्थिक विषमता से देश में आर्थिक साधनों का समुचित वितरण सामाजिक अपव्यय को बढ़ाता है। सामाजिक असन्तोष चरित्रहीनता नैतिक पतन और बहुसंख्यक निर्धन वर्ग की उत्पादन क्षमता में ह्रास सब मिलकर सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था को ही अस्त-व्यस्त कर देते हैं। अतः यह तर्क भी विशेष महत्व नहीं रखता।

पूर्ण समानता नहीं अपितु आर्थिक विषमता (असमानता) में कमी आदर्श होना चाहिये

(No Perfect Equality but Reduction in Economic Inequality should be the Ideal)

आर्थिक विषमता के पक्ष एवं विपक्ष में दिये गये तर्कों पर निष्पक्ष रूप से दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक विषमता किसी भी सभ्य समाज के लिये अभिशाप एवं कलंक है। जहाँ एक ओर आर्थिक विषमता से बचत और विनियोग में वृद्धि तथा उत्पादन को प्रोत्साहन की कल्पना की जाती है वहाँ दूसरी ओर आर्थिक विषमता से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के छिन्न भिन्न होने का भय व्याप्त रहता है। आर्थिक विषमता से आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक केन्द्रीयकरण आर्थिक साधनों के दुरुपयोग को बढ़ावा देता है, आर्थिक असुरक्षा उत्पन्न होती है, समाज के बहुसंख्यक निर्धन वर्ग में असंतोष व विरोध की ज्वाला भभकती है, समाज नैतिक पतन के गर्त में गिरता जाता है अतः आर्थिक विषमता में कमी करना वांछनीय हो जाता है।

आर्थिक विषमता की समाप्ति का अभिप्राय यह कतई नहीं है कि पूर्ण समानता अथवा गणितात्मक समानता स्थापित की जाय। यह न तो सम्भव ही है और न वांछनीय ही है। स्वयं समाजवादी राष्ट्र रूस ने भी अनुभव किया कि आय में पूर्ण समानता स्थापित करना अनुपयुक्त है। निपुण एवं अनिपुण, योग्य एवं अयोग्य, श्रेष्ठ और सामान्य व्यक्तियों की मजदूरी एवं वेतन में कुछ अन्तर आवश्यक है क्योंकि कार्यात्मक असमानताओं (Functional inequalities) के बिना उत्तरदायी तथा कुशल श्रम शक्ति का विकास सम्भव नहीं होता। उत्पादन में प्रोत्साहन, कार्यकुशलता में वृद्धि तथा उत्तरदायित्व की भावना के प्रोत्साहन के लिये कार्यात्मक असमानताओं का विद्यमान होना आर्थिक और नैतिक दोनों ही दृष्टियों से अनिवार्य है, चाहे अर्थव्यवस्था समाजवादी हो या पूँजीवादी।

यद्यपि समाजवादी अर्थव्यवस्था में निजी सम्पत्ति का अभाव होता है पर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का तो यह मुख्य आधार ही है। अतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में निजी सम्पत्ति, आय एवं सम्पत्ति की विषमता का महत्वपूर्ण घटक है। सम्पत्ति स्वामित्व की भावना शोषण को बढ़ावा देती है। पूँजीवाद के उत्थान एवं पतन का इतिहास यह सिद्ध करता है कि निजी लाभ की पूर्ति में सार्वजनिक हित की बलि दे दी जाती है जिससे सामाजिक कल्याण कम होता है। इसी कारण निजी सम्पत्ति एवं पूँजी स्वामित्व को यथासम्भव कम करने की भावना प्रबल है। आधुनिक सामाजिक

सामाजिक नैतिकता निजी सम्पत्ति के अधिकार को परम पवित्र नहीं मानती अपितु निजी सम्पत्ति अधिकार को सामाजिक दायित्व के परिप्रेक्ष्य मे देखती है और इसी कारण निजी सम्पत्ति के अधिकार एवं उत्तराधिकार मे प्राप्त सम्पत्ति की विषमता को कम करने के प्रयास प्रबल हैं।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि सम्पत्ति के कारण उत्पन्न असमानताओं को तेजी से कम करने या समाप्त करने के लिये अहिंसात्मक तरीकों को प्रभावी रूप से लागू करना चाहिये पर निपुणता और कुशलता के कारण उत्पन्न कार्यात्मक असमानताओं (Functional Inequalities) को कम करना अवांछनीय है। प्रो लेविस (Lewis) ने कहा है 'यदि कोई समाज आलस्य की तुलना में कठोर परिश्रम के लिये और अयोग्यता की तुलना मे योग्यता अथवा बुद्धिमानी के लिए अधिक प्रतिफल (Reward) नहीं देता वह समाज शीघ्र ही गरीबी के गर्त मे पड जाएगा।' अत पूर्ण आर्थिक समानता नहीं अपितु आर्थिक असमानता म कमी ही आदर्श होना चाहिये। आज विश्व के सभी कल्याणकारी राष्ट्रो म आर्थिक विषमता को यथासम्भव कम करने के प्रयास निरन्तर जारी हैं।

आर्थिक विषमता (असमानता) में कमी के उपाय

(Measures for Reducing Economic Inequalities)

आर्थिक असमानता प्रत्येक सभ्य समाज के लिए एक अभिशाप है और इसके दुष्प्रभावों को दृष्टिगत रखते हुए समाजवादी एव पूंजीवादी सभी अर्थव्यवस्थायें आर्थिक विषमता को यथासम्भव कम करने म प्रयत्नशील हैं। समाजवादी एव साम्यवादी राष्ट्रो मे आर्थिक विषमता की समाप्ति के लिए मार्क्स के उग्र उपायों (Extreme Measures) का सहारा लिया गया है और उन सब तत्वों का ही उन्मूलन कर दिया गया है जो आ थक विषमता को बढाते तथा उसे स्थायित्व प्रदान करते हैं। पूंजीवादी राष्ट्रो म भी अनेक उदार उपायो (Moderate Measures) का सहारा लिया गया है पर वे आर्थिक विषमता को प्रभावी रूप से कम करने म अपर्याप्त ही हैं। अध्ययन की दृष्टि से आर्थिक विषमता को कम करने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले तरीको को हम दो वर्गों म बाट सकते हैं—(A) समाजवादी या साम्यवादी उग्र उपाय तथा (B) पूंजीवादी उदार उपाय। दोनों का विवेचन इस प्रकार है—

(A) समाजवाद या साम्यवाद के अन्तर्गत उग्र उपाय

(Extreme Measures Under Socialism or Communism)

कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तो के समर्थक समाजवादी या साम्यवादी आर्थिक विषमता की समाप्ति के लिए उग्र उपायो का सहारा लेते हैं। वे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की उन संस्थाओ (Institution) का पूर्ण उन्मूलन करने पर जोर देते हैं जो आर्थिक विषमता के पोषक तत्व हैं। इसके अन्तर्गत व निजी लाभ, व्यक्तिगत स्वामित्व तथा उत्तराधिकार संस्था आदि को ही समाप्त कर सम्पत्ति एवं उत्पत्ति के

साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की सिफारिश करते हैं। इस प्रकार इन संस्थाओं के उन्मूलन से सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली आर्थिक विषमता की समाप्ति सम्भव होती है।

आय में असमानता के निराकरण के लिए साम्यवादी एवं समाजवादी दो विकल्प प्रस्तुत करते हैं—

1. सभी व्यक्तियों को समान आय—इस उग्र विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को बिना उसके जाति, धर्म, लिंग, व्यवसाय, शक्ति आदि का भेद करते हुए समान आय प्रदान करने की बात कहते हैं, पर आय की यह पूर्ण समानता न तो सम्भव है और न वांछनीय ही। क्योंकि (i) यह रीति उत्पादन प्रेरणा की अवहेलना करती है, (ii) कार्यात्मक असमानता (Functional Disparity) को महत्व नहीं देती तथा (iii) समाज के भावी विकास में बाधक है।

2 आवश्यकतानुसार आय—इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार दिया जाये चाहे वह कितना कमाता हो या नहीं। इसमें साम्यवाद के सिद्धान्त "Each According to Need & Each According to Capacity" का पालन होता है। पर यह सिद्धांत व्यवहार में कठिन और दोषपूर्ण है क्योंकि (i) विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है। मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त हैं उसकी किन आवश्यकताओं को आधार माना जाय, (ii) मनुष्य की आवश्यकतायें व्यक्तिगत तत्वों पर निर्भर करती हैं। अतः उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, तथा (iii) यह रीति केवल आवश्यकता पर ध्यान देती है, व्यक्तियों की योग्यता एवं क्षमता की अवहेलना करती है जिससे उत्पादन में प्रेरणा का अभाव रहता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाजवादी उग्र उपाय आर्थिक विषमता को कम करने में काफी सफल माने जाते हैं। आज समाजवादी राष्ट्रों में आर्थिक विषमता पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में नगण्य है। आर्थिक समानता के कारण वे तेजी से विकास की ओर अग्रसर हुए है।

(B) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उदार उपाय
(Moderate Measures under Capitalism)

पूँजीवाद के समर्थक आर्थिक विषमता में निहित सामाजिक लाभों (Social Adantages) को ध्यान में रखते हुए आय और सम्पत्ति के वितरण में असमानता को पूर्णतया समाप्त करना नहीं चाहते वरन् वे आर्थिक विषमता को समाज के सहन करने योग्य न्यूनतम स्तर तक करने के उदार उपायों का सहारा लेते हैं।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक विषमता को कम करने के लिए समस्या पर द्वि-दिशा आक्रमण (Two Pronged Attack) की आवश्यकता है। पहली दिशा में सम्पत्ति और आयों में अत्यधिक असमानताओं को कम करना जिससे आर्थिक विषमता में स्थायित्व एवं वृद्धि न हो तथा दूसरी दिशा में निर्धनों की आय,

उत्पादन क्षमता एवं धनोपार्जन गतिविधियों की वृद्धि। इस प्रकार अर्थव्यवस्था के दो सिरों के अन्तराल को पाटने से सहायता मिलती है।

(क) अत्यधिक सम्पत्ति और आयों में कमी द्वारा आर्थिक असमानता को कम करना

(Levelling Down Excessively Large Wealth & Incomes for Reducing Economic Inequality)

इसके अन्तर्गत (i) अनार्जित आया पर प्रगतिशील करारोपण, (ii) सम्पत्ति के उत्तराधिकार पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण तथा (iii) आय की उत्पत्ति में समृद्ध वर्ग की आय में कमी करना आदि हैं। इसके अन्तर्गत समृद्धि पर नियन्त्रण रखा जाता है। जैसे—

1. अनार्जित आयों पर प्रगतिशील करारोपण (Progressive Taxation on Unearned Incomes)—आय व सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिये उन अनार्जित आयों पर ऊँची एवं प्रगतिशील दरों से करारोपण किया जाय जिनके उपार्जन में व्यक्तिगत परिश्रम एवं योग्यता की कम आवश्यकता होती हो जैसे भूमियों की कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि से लाभ, लगान से प्राप्त आय, सट्टा एवं कालाबाजारी से अनपेक्षित व्यावसायिक लाभ तथा एकाधिकारी लाभ पर ऊँची दर से कर लगाना चाहिये।

2. धन एवं सम्पत्ति के उत्तराधिकार एवं हस्तान्तरण पर प्रभावी नियन्त्रण (Effective Control Over Inheritance & Transfer of Wealth & Property)—आर्थिक विषमता को शाश्वत बनाने वाला मुख्य तत्व निजी सम्पत्ति का उत्तराधिकार है। अतः आय की विषमता को कम करने के लिये मृत्यु कर के रूप में बहुत ऊँची दरों में करारोपण जैसे भारत में मृत्यु कर (Death Duties), स्वामित्वाधिकार को हस्तान्तरण करने पर उपहार कर (Gift Tax) आदि का सहारा लिया जाता है।

3. निजी सम्पत्ति के स्वामित्व को सीमित करना (Restriction of Ownership of Private Property)—निजी सम्पत्ति का अधिकार न केवल आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति बढ़ाता है वरन् सम्पत्ति के स्वामित्व से आयों में असमानता बढ़ती है। अतः सम्पत्ति स्वामित्व की सीमितता आर्थिक विषमता को कम करने में सहायक है। भारत में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, जोत की अधिकतम सीमा (Ceiling on Holdings), शहरी सम्पत्ति की अधिकतम सीमा (Ceiling on Urban Property), एकाधिकारी, प्रवृत्तियों, प्रन्यास आदि के व्यवसाय, व्यापार की मात्रा पर नियन्त्रण करना आदि है। इसी प्रकार बिना मुआवजा दिये सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करना भी आर्थिक विषमता को कम करने में सहायक है।

4. समृद्ध वर्ग की आय कम करने का उपाय—इसके अन्तर्गत उन उपायों का समावेश होता है जो राष्ट्रीय आय में समृद्ध वर्ग की आय के भाग को कम करते

हैं। इनमे (i) ऋणो पर ब्याज दरो म कमी करना (ii) भूमि लगान दरो मे कमी करना तथा (iii) अधिकतम लाभ की सीमा निर्धारित करना ताकि समृद्ध वग की आय उपार्जन क्षमता घट जाय और आर्थिक असमानता को कम करन म सहायता मिले।

5 प्रगतिशील करारोपण (Progressive Taxation)—सम्पत्ति एव आय की असमानता को कम करने के लिए अमीरो पर प्रगतिशील करारोपण की नीति अपनाना चाहिये। एक निश्चित सीमा तक आय को कर मुक्त रखकर उसके बाद आय मे उत्तरोत्तर वृद्धि पर उत्तरोत्तर ऊची दरो से कर वसूल करने स आय की असमानताओ को दूर किया जा सकता है और करो की उस आय को निधनो के आर्थिक विकास मे प्रयुक्त किया जाना चाहिये।

(ख) निम्न आय वर्ग की आयो मे वृद्धि करना

(Levelling up the Incomes of Lower Ladder of Economy for Reducing Inequality)

आर्थिक विषमता की कमी केवल समृद्ध वर्गों की समृद्धि कम करने म ही नहीं वरन् निर्धन व्यक्तियो की समृद्धि बढाने मे भी निहित है। अत यह धनात्मक पहलू भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना ऊपर दिया गया ऋणात्मक पहलू। निम्न वर्ग के न्यूनतम आय स्तर को उठाने के लिये निम्न उपाय उल्लेखनीय है—

1 मजदूरी दरो मे वृद्धि (Raising of Wages Level)—उद्योग एव व्यवसायो मे श्रमिको को न्यूनतम मजदूरी, अधिकतम तथा उचित मजदूरी, अधिनियमों के लागू करने से श्रमिको की आय मे न्यायोचित वृद्धि का अवसर मिलता है और इसी प्रकार श्रम सगठनो का निर्माण भी धनी व्यक्तियो की शोषण प्रवृत्ति को सीमित करता है। श्रमिको को श्रम की उत्पादकता के बराबर प्रतिफल दिया जाने पर श्रमिको की आय बढ जाती है जिसके परिणामस्वरूप आय असमानता मे ह्रास होता है।

2. सामाजिक सुरक्षा (Social Security)—मानवता के पाच महान् शत्रु—बेकारी, बीमारी, बुढापा, दुर्घटना एव मृत्यु हैं। इनकी विपत्ति का सबसे अधिक दुष्प्रभाव निर्धन वर्ग पर पडता है। इन विपत्तियो से सुरक्षा के लिय सरकार को एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा योजना कार्यान्वित करनी चाहिये जिससे निर्धनो की आय मे वृद्धि हो।

3 सामाजिक सेवाओ का विस्तार (Extension of Social Services) निर्धनो की आय वृद्धि का एक सुगम उपाय यह है कि सरकार धनी व्यक्तियो से प्राप्त आगम (Revenue) को ऐसी सामाजिक सेवाओ के विस्तार पर व्यय करे जिनका लाभ निर्धन-वर्ग को अधिक मिले। इसके अन्तर्गत चिकित्सा, स्वास्थ्य, शिक्षा, मातृ व

केन्द्रों तथा शिशु गृहों की नि शुल्क सेवा उपलब्ध करना आदि हैं । इससे दोहरा लाभ मिलेगा । एक ओर निर्धनों की भावी पीढ़ी की आय-अर्जन क्षमता बढ़ेगी और दूसरी ओर धनिकों के ऊँचे कर वसूली का औचित्य बनेगा ।

4. आय उपार्जन के अवसरों मे वृद्धि (Increase in Opportunities for Earning)—निर्धन वर्ग को अपने व्यक्तित्व के विकास तथा रोजगार अवसरो मे वृद्धि के लिये आवश्यक वातावरण, शिक्षा एव प्रशिक्षण की व्यवस्था सरकार को बढ़ानी चाहिये । राजनीतिक प्रजातन्त्र तब तक निरर्थक है जब तक कि आर्थिक प्रजातन्त्र के अ तर्गत समाज के सभी सदस्यो को उन्नति के समान अवसर प्राप्त न हों । *इसके लिये निर्धनों के योग्य बच्चों को छात्र-वृत्ति, नि शुल्क प्रशिक्षण एव शिक्षा,* सुरक्षित स्थानो मे वृद्धि आदि महत्वपूर्ण तरीके है ।

5 निम्न आय वर्ग के सन्तानोत्पत्ति पर नियन्त्रण—यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि निर्धनों की आय उपार्जन की क्षमता कम, पर बच्चे उत्पादन की क्षमता अधिक होती है जिससे निर्धनता में स्थायित्व और निरन्तर वृद्धि होती है । अत आर्थिक विषमता को कम करने के लिये सरकार को निम्न आय वर्ग में तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसख्या पर प्रभावी नियन्त्रण कार्यक्रम अपनाना चाहिये ।

6. आर्थिक सहायता एवं अनुदान—सरकार को निर्धनो एव पिछडे वर्गों को अपने साधनो की वृद्धि के लिए आर्थिक सहायता तथा अनुदान प्रदान करना चाहिये । सरकार अनिवार्य वस्तुओं की कीमतो को कम रख सकती है या उन कार्यों पर व्यय हेतु सरकार ऋण दें जो उनकी समृद्धि मे सहायक हो ।

7 सामाजिक सुधार (Social Reforms)—निर्धन व्यक्ति सामाजिक रूढ़िवादिता और भाग्यवादिता से त्रस्त होते हैं जिससे उनकी आय का सदुपयोग नही होता । सामाजिक कुरीतियो मे सुधार एव व्यसनो से मुक्ति प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप स निर्धनता मे कमी करने मे सहायक होंगे ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आर्थिक असमानता की समस्या के हल के लिये उपर्युक्त दोहरे आक्रमण की व्यूह रचना का अनुसरण करना होगा । *वैसे सम्पत्ति मे व्याप्त असमानता को समाजवादी ढग से समाप्त करना ही अधिक* प्रभावी उपाय है क्योंकि आय मे समानता के पूँजीवादी उदार उपाय अपेक्षाकृत अप्रभावी सिद्ध हुए है । यही कारण है कि समाजवादी राष्ट्रों मे आर्थिक समानता पूँजीवादी राष्ट्रों की अपेक्षा कहीं अधिक है ।

आर्थिक विषमता एवं आर्थिक विकास

(Economic Inequalities & Economic Development)

आर्थिक विषमता के विवेचन मे प्रायः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि आर्थिक विषमता का आर्थिक विकास पर क्या प्रभाव पडता है ? इसका स्पष्ट उत्तर देना कठिन है । ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे इस स्थिति का विवेचन सक्षेप मे इस प्रकार है—

पाश्चात्य राष्ट्रों मे 18वी और 19वी शताब्दी मे औद्योगीकरण के पीछे आर्थिक असमानता एक प्रमुख तत्व था। आविष्कारो, विदेशी व्यापार एवं उपनिवेशवाद से उत्पन्न लाभो का केन्द्रीयकरण कुछ ही हाथो मे हुआ जिससे पूंजी निर्माण को प्रोत्साहन मिला। श्रमिको के असगठित होने से उद्योगपति शोषण द्वारा अर्जित अधिकांश लाभ का पुनः विनियोग कर पूंजी विनियोग करते रहे और इस प्रकार आर्थिक असमानता के कारण विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अब परिस्थितिया बिलकुल भिन्न है। श्रमिक सगठित एव अपने अधिकारो के प्रति जागरूक हैं। प्रजातन्त्रीय सरकारें कल्याणकारी राज्य की स्थापना मे प्रयत्नशील हैं। अधिक शोषण की प्रवृत्तियो का भारी विरोध किया जाता है। देश का धनी वर्ग प्रदर्शन प्रभाव (Demonstration effect) से पीडित है। ऐसी स्थिति मे आर्थिक असमानता से 18वी एव 19वी शताब्दी की भाति ही विकास एव पूंजी निर्माण की आशा करना व्यर्थ है फिर भी 20वी शताब्दी के कुछ अर्थशास्त्री यह मानते है कि अर्द्ध विकसित देशो मे विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे आर्थिक असमानता पूंजी-निर्माण एव आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती है क्योकि आय के असमान वितरण से अल्पसख्यक धनिक एव पूंजीपति वर्ग की बचत एव विनियोग की क्षमता अधिक होती है जबकि आय के निम्न स्तर के कारण बहुत से गरीबो की ऊँची उपभोग प्रवृत्ति के कारण बचतें नगण्य होने से पूंजी निर्माण सम्भव नही हो पाता और न विकास की प्रक्रिया को तेज किया जा सकता है। ऐसे देशो मे समान वितरण आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव डालता है।

इसके विपरीत कुछ अर्थशास्त्री इस बात पर जोर देते हैं कि आर्थिक समानता विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। धन के समान वितरण से श्रमिको व बहुसख्यक वर्ग का उपभोग एव जीवन स्तर बढता है, आर्थिक साधनो का उचित वितरण सामाजिक अपव्यय को कम करता है। धनी वर्ग के उत्कृष्ट उपयोग (Conspicuous Consumption) मे कमी होती है। निर्धनो को अपने व्यक्तित्व विकास का पर्याप्त अवसर मिलता है, उनमे मानसिक शान्ति उनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि करती है। ये सब सामूहिक रूप से आर्थिक विकास की वृद्धि करते है। रूस और साम्यवादी राष्ट्रो मे तीव्र गति से आर्थिक विकास इस विचारधारा की पुष्टि करते है।

निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि अल्पविकसित राष्ट्रो में जहा लोगो का आय और बचत का स्तर बहुत नीचा है उन राष्ट्रो मे आर्थिक विकास के प्रारम्भिक स्तर पर असमान वितरण पूंजी-निर्माण को प्रोत्साहन देता है। ऐसे देशो मे समान वितरण आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव डालता है। पर विकास की गति तेज होने तथा आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों मे आय की असमानता पूंजी निर्माण को विशेष प्रोत्साहन नहीं देती। समाज मे धन का न्यायोचित वितरण ही आर्थिक विकास मे उपयुक्त माना जा सकता है।

भारत मे आर्थिक असमानता को कम करने के लिये किये गये प्रयत्नो का मूल्यांकन

भारतीय अर्थव्यवस्था मे समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य से प्रेरित हो सरकार ने देश मे आय व धन की विषमता को कम करने के कई उपाय चालू किये हैं। कुछ प्रयत्न अत्यधिक सम्पत्ति और आयों मे विषमता को कम करने से सम्बन्धित हैं तो कुछ प्रयत्न निर्धनो की आय और सम्पत्ति के स्तर को ऊँचा उठाने से सम्बन्धित है। इस प्रकार देश मे ऋणात्मक तथा धनात्मक दोनो पद्धतियो का सहारा लिया गया है।

(1) प्रगतिशील करारोपण—देश मे प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के करो मे प्रगतिशीलता का सहारा लिया गया है। धनवानो पर न केवल करो की दरें प्रगतिशील हैं वरन् करो मे विविधता भी है, जैसे सम्पत्ति कर, उपहार कर, मृत्यु कर, पूँजीगत लाभ कर, आय कर, व्यय कर आदि आदि। यही नही, भारत मे व्यक्तिगत आय कर की अधिकतम सीमात दर 97 75% थी अब 66% है जो विश्व मे काफी ऊँची दर है।

(2) सम्पत्ति की सीमा निर्धारण—सम्पत्ति की असमानता आर्थिक असमानता बढाती है तो देश मे शहरी एव ग्रामीण सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारित करने के प्रयास प्रबल हैं। कृषि भूमि पर सीलिंग अधिनियम लागू किये गये हैं तथा अतिरिक्त सम्पत्ति एव भूमि को हस्तगत कर सार्वजनिक उपयोग मे लिया जा रहा है या भूमिहीनो को भूमि आवटित की जा रही है।

(3) एकाधिकार आयोग व लाइसेन्स नीति—एकाधिकारी प्रवृत्तियो को रोकने तथा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को मिटाने के लिये एकाधिकार आयोग की स्थापना की गई तथा नये लाइसेन्स केवल छोटे व नये उद्योगपतियो को दिये जाने की प्रवृत्ति बढाई जा रही है। सरकार स्वय भी इस क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने लगी है। बडे औद्योगिक घरानो द्वारा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण पर प्रभावी नियन्त्रण लगाये गये हैं।

(4) सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी से विस्तार हो रहा है—जहा 1950–51 मे सार्वजनिक उपक्रमो की सख्या 5 थी जिसम केवल 29 करोड रु का विनियोग था पर अब सार्वजनिक क्षेत्र मे 160 इकाइया और उनमे 14000 करोड र पूँजी लगी हुई है। अत सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार आर्थिक विषमता को कम करने मे अधिक उपयोगी है। आन्तरिक खाद्यान्न व्यापार तथा विदेशी व्यापार मे भी सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका बढाई जा रही है।

(5 लघु एव कुटीर उद्योगों का पुनरुत्थान व विकास को अधिक महत्व दिया जा रहा है ताकि आय का वितरण अधिक न्यायोचित हो तथा आर्थिक साधनो व सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण कुछ ही हाथो मे न हो जाय। सरकार द्वारा लघु उद्योगो के विकास पर अधिक बल दिया जा रहा है।

(6) राष्ट्रीयकरण की प्रवृ.तया प्रबल हैं—इससे सार्वजनिक लाभ मे वृद्धि हो रही है। बीमा उद्योग का राष्ट्रीयकरण, 20 बडे बैंको का राष्ट्रीयकरण तथा अब विदेशी व्यापार के राष्ट्रीयकरण, की बात भी जोर पकडती जा रही है।

(7) निर्धन तथा पिछडे वर्गों के कल्याण के लिये अनेक एजेन्सिया स्थापित की गई हैं, जिनम सामाजिक सुरक्षा, छात्रवृत्तिया, अन्त्योदय, आर्थिक कल्याण योजनाएँ आदि उल्लेखनीय हैं।

(8) श्रमिको को रोजगार एव न्यूनतम वेतन की गारण्टी—पूँजीपतियो के शोषण से मुक्ति सम्बन्धी अनेक अधिनियम देश मे पारित किय गये है। ग्रामीण क्षेत्रो म रोजगार योजनाएँ चालू करना तथा ग्रामीण निर्माण कार्यों को बढावा देना क्षेत्रीय विषमता मे कमी करने मे योगदान कर रहा है।

(9) मुद्रा स्फीति पर नियन्त्रण के प्रयास प्रबल हैं। मूल्यो म स्थिरता के लिये ठोस कदम उठाये गये हैं और जमाखोरी, मुनाफाखोरी जैसे आर्थिक अपराधियो के साथ सख्ती बरती जा रही है फिर भी पिछले एक वर्ष म महगाई तेजी से घटी है।

(10) भूतपूर्व राजाओं, जागीरदारो और जमींदारों की भू सम्पत्ति एव सम्पत्ति की अधिकतम सीमा से अतिरिक्त सम्पत्ति को हस्तगत करने का क्रम प्रगति पर है।

(11) अनिवार्य एव जीवन रक्षक वस्तुओं की पूर्ति मे वृद्धि कर नियन्त्रित मूल्यो पर उनकी पूर्ति गरीबों के उत्थान मे सहायक सिद्ध हुई है।

इन सब नीतियो के अनुसरण के बावजूद भी भारत मे आर्थिक विषमता घटने के स्थान पर बढी ही है। स्वय सरकार इस बात को महसूस करती है कि योजनाबद्ध विकास का अधिक लाभ धनिको को मिलने के कारण देश मे गरीब और अमीर के बीच खाई अधिक चौडी ही हुई है क्योकि (i) भ्रष्टाचार के कारण बडे उद्योगपतियों को अधिक लाइसेन्स दिये गये हैं। (ii) हरित क्रान्ति का लाभ केवल समृद्ध किसानो को मिला है जबकि निर्धन किसान उसके लाभ से वचित रहने से आर्थिक विषमता बढी है। (iii) पुराने जागीरदारो की समाप्ति के बाद राजनेता व समृद्ध वर्ग के नये जागीरदारो का जन्म हुआ है इसमे अधिकारी वर्ग भी समय का लाभ उठाने म नही चूके है। (iv) देश मे बढती बेरोजगारी, अवसरो की असमानता तथा नये रोजगार मे चैक व जैक की प्रवृत्तियो ने स्थिति को और बिगाडा है। (v) बढती हुई महगाई तथा उत्पादन की स्वल्पता मे चोर बाजारी को बढावा मिला जिससे निर्धन व मध्य वर्ग की तो कमर ही टूट गई है और आय का वितरण धनवानो के पक्ष मे हुआ है। (vi) सरकार की कथनी और करनी म काफी अन्तर होने से भी तथा योजनाओ मे सम्भावित लक्ष्यो की पूर्ति न होने से देश मे आर्थिक विषमता का उग्र रूप बना है। (vii) करों की चोरी के कारण भी प्रगतिशील करारोपण का उद्देश्य पूरा नही हो सका है।

ऐसी परिस्थितियों में आर्थिक असमानता को कम करने के लिये सरकार के प्रभावी प्रयत्नों, राजनैतिक चेतना तथा कुशल व ईमानदार प्रशासन की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव इस प्रकार हैं—(1) सार्वजनिक क्षेत्र का तेजी से विस्तार हो तथा अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण बिना मुआवजा दिये किया जा सकता है। (2) छोटे किसानों, छोटे उद्योगपतियों व स्व-नियोजित व्यक्तियों को अधिक आर्थिक सहायता, ऋण आदि की व्यवस्था करना। (3) भूमि सुधार कार्यक्रमों को ईमानदारी से लागू किया जाय तथा भूमि उसकी हो जो भूमि पर स्वयं खेती करता है ताकि अनुपस्थित जमींदारों का समापन हो सके। (4) प्रगतिशील करारोपण कर उनकी प्रभावी ढंग से वसूली की जानी चाहिये। (5) सम्पत्ति व आय की अधिकतम सीमा निर्धारित की जाय तथा न्यूनतम व अधिकतम आय के बीच अन्तर यथासम्भव कम ही हो। (6) देश में बेरोजगारी, अर्द्ध बेकारी को यथाशीघ्र दूर किया जाय तथा सबको अपनी योग्यता व क्षमता से बढ़ने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया जाये। (7) सरकार अपनी नीतियों को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित करे तथा उनमें कानूनी खामियों को यथाशीघ्र दूर करे।

इन सब प्रयत्नों के द्वारा ही अर्थव्यवस्था में आर्थिक समानता को कम करने में सहायता मिल सकती है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 आर्थिक समानता के क्या-क्या कारण होते हैं और आर्थिक असमानता के घातक परिणामों को कैसे रोका जा सकता है?

(संकेत—आर्थिक समानता का अर्थ व कारणों का उल्लेख करते हुए इसके दुष्प्रभाव का संक्षिप्त विवरण देते हुए असमानता को दूर करने के उपाय बताइये।)

2 आय व सम्पत्ति की असमानता क्यों उत्पन्न होती है, उसके क्या-क्या दुष्प्रभाव होते हैं? क्या साम्यवाद की स्थापना से असमानता की समस्या हल हो सकती है?

(संकेत—असमानता के कारणों का उल्लेख कीजिये, दूसरे भाग में उसके दुष्प्रभाव बताइये तथा तीसरे भाग में साम्यवाद में असमानता को दूर करने के क्रान्तिकारी तरीकों का उल्लेख कीजिये तथा निष्कर्ष दीजिये कि साम्यवाद में आय की असमानता को समाप्त करना सम्भव होता है।)

3 भारत के विशेष सन्दर्भ में आर्थिक असमानता की समस्या के कारणों व उसके निराकरण के उपायों की समीक्षा कीजिये।

(संकेत—भारत में विषमता के कारणों व आर्थिक असमानता को दूर करने के लिये किये गये प्रयत्नों की समीक्षा कीजिये।)

4. आय की असमानता के कारणों को समझाइये। संक्षेप में उन तरीकों की विवेचना कीजिये जो किसी गरीब देश में इन असमानताओं को दूर करने के लिये प्रयोग किये जा सकते हैं। (Raj I yr T.D.C. 1973)

अथवा

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक समानता के क्या कारण होते हैं ? इस असमानता को दूर करने के लिये आप किन उपायों का सुझाव देंगे ?

(Raj I yr T D C 1974)

अथवा

आय की असमानताओं के क्या कारण होते हैं ? इन असमानताओं को दूर करने के लिये आप किन किन उपायों का सुझाव देंगे ?

(Raj I yr T D C (विशेष परीक्षा) 1974)

(संकेत—प्रथम भाग में आय की असमानता का अर्थ समझाकर कारणों का शीर्षकानुसार विवेचन करना है तथा दूसरे भाग में आर्थिक असमानता को दूर करने के पूँजीवादी एवं समाजवादी उपायों का शीर्षकानुसार विवरण देना है।)

5 आयों में असमानताओं के कौनसे प्रमुख कारण हैं ? निर्धन देशों में असमानतायें अधिक क्यों होती हैं ?

(I yr T D C Collegiate 1977, 1979)

(संकेत—प्रथम भाग में आय की असमानता के कारण अध्याय के शीर्षकानुसार देना है। निर्धन देशों में असमानतायें अधिक होने का कारण असन्तुलित विकास, मुद्रा-स्फीति, बेरोजगारी, गतिशीलता का अभाव, जनसंख्या विस्फोट, अकुशल नियन्त्रण, कर चोरी आदि हैं।)

16

विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक विकास के घटक/तत्व

(Factors in Economic Development of Developing Countries)

आज विश्व के सभी विकसित एवं विकासशील राष्ट्र मे आर्थिक विकास की होड़ लगी है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिये यह आवश्यक भी है कि विश्व मे निर्धनता और असमानता को समाप्त किया जाये। विश्व के किसी भी भाग में निर्धनता आर्थिक समृद्धि की सबसे बड़ी शत्रु है। विश्व की तीन चौथाई जनसख्या घोर निर्धनता तथा व्यथा का जीवनयापन करे यह मानव सभ्यता पर सबसे बड़ा कलंक है। एक ओर अमेरिका, इगलैण्ड, रूस, जापान तथा अन्य पाश्चात्य राष्ट्र आर्थिक समृद्धि के उच्च शिखर पर पहुच रहे हैं, दूसरी ओर अफ्रीका के देश, भारत, लका, पाकिस्तान व अन्य एशिया के देश निर्धनता के कुचक्र मे पिसे जा रहे हैं। विश्व-जनसख्या का 18% भाग विश्व आय का 67% भाग प्राप्त करता है और विश्व की 67% जनसख्या कुल विश्व-आय का केवल 15% भाग प्राप्त करती है, आर्थिक विषमता की इस गहरी खाई को पाटना विश्व-आय को सभी विकसित एवं अल्प-विकसित राष्ट्रो मे पुनर्वितरण से सम्भव नही है पर अल्प विकसित राष्ट्रो के तीव्र आर्थिक विकास मे निहित है। अत: अल्प-विकसित राष्ट्रो को अपने आर्थिक विकास पर दृढ सकल्प कर उसे पूरा करने का प्रयास करना है तो दूसरी ओर समृद्ध एवं विकसित राष्ट्रो को विकास मे तन, मन और धन से सहयोग देना है।

आर्थिक विकास का अर्थ

(Meaning of Economic Development)

आर्थिक समृद्धि एवं भौतिक सुखो की प्राप्ति आर्थिक विकास मे निहित है। आर्थिक विकास का अभिप्राय राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करना, अर्थव्यवस्था की संरचना में परिवर्तन करना, देश की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि करना, देशवासियों की मान्यताओं और दृष्टिकोण में इस प्रकार से परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ करना कि जनता के जीवन-स्तर में सुधार हो और मानव के सर्वांगीण

विकास का मार्ग प्रशस्त हो। कुछ लोग आर्थिक विकास का बहुत ही सकीर्ण अर्थ लगाते है जैसे मेयर एव बाल्डविन के अनुसार 'आर्थिक विकास एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी अर्थव्यवस्था की वास्तविक राष्ट्रीय आय मे दीर्घकालीन वृद्धि होती है।' इसमे आर्थिक विकास का अर्थ राष्ट्रीय आय मे वृद्धि से लगाया है। इसके विपरीत कुछ विद्वानो ने जैसे लेविस (Lewis) के अनुसार 'आर्थिक विकास का अभिप्राय प्रति व्यक्ति उत्पादन मे वृद्धि से है।'

इन दोनो विचारो मे राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय वृद्धि पर ही ध्यान दिया गया है जबकि अधिक उत्पादन के न्यायोचित वितरण की उपेक्षा की गई है। अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्री उपर्युक्त परिभाषाओ को अपूर्ण मानते है। इनके अनुसार आर्थिक विकास का आशय राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि से ही नही वरन् साथ-साथ राष्ट्रीय उत्पादन के न्यायोचित वितरण से भी है। इससे आर्थिक विकास का सम्बन्ध मानव के कल्याण एव सर्वांगीण विकास से जुड जाता है। सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रतिवेदन मे दी गयी आर्थिक विकास की परिभाषा उपयुक्त है—"विकास मानव की भौतिक आवश्यकताओ से ही नहीं अपितु उसके जीवन की सामाजिक दशाओ के सुधार से भी सम्बन्धित है। अत विकास न केवल आर्थिक वृद्धि ही है किन्तु आर्थिक वृद्धि तथा सामाजिक, सास्कृतिक, सस्थागत एव आर्थिक परिवर्तनो का योग है।"

यद्यपि यह परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टि से बहुत उपयुक्त है पर उपर्युक्त परिवर्तनो का मापना कठिन है और माप के अभाव मे विकास की दर की व्याख्या मे मूल्य निर्णय सम्भव नही होता इसी कारण अधिकाश अर्थशास्त्री आर्थिक विकास को राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि से व्यक्त करते हैं।

विकासशील अथवा अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थायें

(Developing or Under developed Economies)

विकासशील राष्ट्रो का अभिप्राय उन अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो से है जो आर्थिक विकास के प्रयत्न कर रहे हैं तथा इन प्रयासो से उनकी प्रतिव्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो रही है। विकासशील राष्ट्रो को हम अर्द्ध-विकसित राष्ट्र कह सकते है। भारतीय योजना आयोग के अनुसार "एक अर्द्ध-विकसित देश वह है जिसमे एक ओर अधिक या कम अश मे अप्रयुक्त मानव शक्ति और दूसरी ओर अशोषित प्राकृतिक साधनो का सह-अस्तित्व हो।" राष्ट्रसघ प्रतिवेदन के अनुसार "एक अर्द्ध-विकसित देश वह है जिसकी प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी यूरोपीय देशो की प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय की तुलना मे कम हो।" प्रो० सिंगर अर्द्ध-विकसित देशो की परिभाषा देने की कठिनाई के कारण कह देते हैं कि "एक अर्द्ध-विकसित देश अफ्रीका के जिराफ की तरह है जिसका वर्णन कठिन है किन्तु देखने से समझ जाते हैं।" अतः एक विकासशील राष्ट्र मे अग्रलिखित विशेषतायें पाई जाती हैं।

विकासशील राष्ट्रों (अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओं) की विशेषतायें

(1) अर्द्ध-विकसित एवं अप्रयुक्त प्राकृतिक साधनों का बाहुल्य—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों मे प्राकृतिक साधनो के होते हुए भी विकास के अभाव मे वे बेकार पड़े रहते हैं। अकेले अफ्रीका मे विश्व की समावित जल शक्ति का 44% भाग है किन्तु केवल 0·1% भाग का प्रयोग हुआ है। खनिज सम्पत्ति के अतुल भण्डारो का विदोहन नही हो पाया है। भारत में भी प्राकृतिक साधनो का पूरा-पूरा विदोहन नही हो पाया है।

(2) कृषि की प्रधानता एवं उसकी निम्न उत्पादकता—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे कृषि, खनन आदि की प्रधानता होती है। वहा की जनसख्या का लगभग 2/3 से अधिक भाग प्राथमिक उद्योगो (Primary Industries) मे नियोजित होता है। जैसे भारत मे 69% जनसख्या कृषि पर आश्रित है। यही नही, कृषि पिछड़ी होने के कारण उत्पादकता का स्तर बहुत नीचा होता है और कृषि मे नियोजित व्यक्तियो की प्रति व्यक्ति आय नीची होती है।

(3) औद्योगीकरण का अभाव—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे औद्योगीकरण का *नितान्त अभाव होता है। औद्योगीकरण के अभाव मे देश की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि* कठिन होती है। पूँजी-निर्माण एव विनियोग का नीचा स्तर होता है।

(4) पूँजी का अभाव—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे कृषि की प्रधानता एव पिछड़ापन, औद्योगीकरण के अभाव तथा प्रति व्यक्ति आय का नीचा स्तर होने से बचतें कम होती हैं, इसम पूँजी निर्माण का अभाव है।

(5) जनाधिक्य (Over Population)—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे जनाधिक्य होता है। भारत, चीन, पाकिस्तान आदि इसके उदाहरण हैं।

(6) बेकारी एव अर्द्ध बेकारी—औद्योगीकरण के अभाव एव प्राकृतिक साधनो के विदोहन मे शिथिलता के कारण देश मे बेकारी एव अर्द्ध बेकारी का साम्राज्य व्याप्त होता है। एक ओर अप्रयुक्त साधन तथा दूसरी ओर बेकारी का साम्राज्य होता है।

(7) आर्थिक कुचक्र—अर्द्ध-विकसित राष्ट्र निर्धनता के कुचक्र मे फँसे हुए हैं। नर्कसे के अनुसार "एक देश निर्धन है क्योंकि यह निर्धन है" (The Country is poor beacuse it is poor)। यह उक्ति इसलिये चरितार्थ होती है कि ऐसे देशो मे अर्द्ध-विकसित साधन, पूँजी की कमी, तकनीकी ज्ञान का अभाव, बाजार की *अपूर्णताएँ आदि के कारण अर्थव्यवस्था पिछड़ी रह जाती है।*

(8) तकनीकी ज्ञान का अभाव—अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे साधनो के विदोहन व औद्योगीकरण के मार्ग म तकनीकी ज्ञान प्राप्त व्यक्तियो का अभाव रहता है तथा ऐसे राष्ट्रो मे मानव-पूँजी का पूरा विकास नही हो पाया है।

(9) प्रति व्यक्ति आय का नीचा स्तर—उपर्युक्त सब कारणो से अर्द्ध-विकसित राष्ट्र मे प्रति व्यक्ति आय बहुत नीची होती है। जहा अमेरिका मे प्रति व्यक्ति आय 8000 डालर से अधिक है वहा अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे प्रति व्यक्ति आय 150 डालर से भी कम है।

(10) विदेशी व्यापार पर आश्रित अर्थव्यवस्था होती है जो कृषि एव खनिज पदार्थों के निर्यात से विदेशी मुद्रा का अर्जन करते हैं।

विकासशील राष्ट्रो मे आर्थिक विकास का महत्व अथवा आवश्यकता

विश्व मे निर्धनता के निराकरण तथा विश्व मे व्याप्त आर्थिक विषमताओ मे कमी करने के लिए आर्थिक विकास ही एक विकल्प है। आर्थिक विकास से मानव के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त होगा। इसी कारण आज के भौतिकवादी युग में 'आर्थिक विकास' का नारा सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन गया है।

आर्थिक विकास का अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र मे महत्व है। आर्थिक विकास के फलस्वरूप देश मे (i) प्राकृतिक साधनो का तेजी से विदोहन होता है। (ii) देश मे औद्योगीकरण सम्भव होता है। (iii) रोजगार के साधनो मे वृद्धि से बेकारी और अर्द्ध बेरोजगारी को मिटाने मे सहायता मिलती है। (iv) उत्पादन पद्धतियो म वैज्ञानिक और तकनीकी विकास होता है और अर्थव्यवस्था मे निर्धनता का कुचक्र टूटने मे सहायता मिलती है। (v) राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि होती है। (vi) आय बढने से बचतें एव विनियोग बढते हैं। (vii) लोगो के जीवन-स्तर मे वृद्धि होती है (viii) आर्थिक विषमतायें घटती हैं। (ix) नये नये उद्योगो की स्थापना से अर्थव्यवस्था मे आर्थिक समृद्धि, सामाजिक समानता और राजनैतिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त होता है। सक्षेप मे यह कहना पर्याप्त है कि "आर्थिक विकास इस भौतिक युग मे मानव के सर्वांगीण विकास की कु जी है।

आर्थिक विकास के घटक, तत्व या कारण

(Factors of Economic Development)

किसी भी अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास के निर्धारक तत्वो (घटको या कारको) को भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियो ने अलग-अलग रूपो मे व्यक्त किया है। प्रो रोस्टोव (Rostow) के मतानुसार "आर्थिक विकास पू जी सग्रह की मात्रा एवं स्वरूप तथा श्रमशक्ति की मात्रा एव स्वरूप पर निर्भर करता है। स्पेंगलर (Spengler) ने आर्थिक विकास के 19 निर्धारक तत्वो का उल्लेख किया है। प्रो नर्क्से का कथन है कि आर्थिक विकास बहुत कुछ सामाजिक भावनाओ (Attitudes), राजनैतिक दशाओं, मानवीय योग्यताओ तथा ऐतिहासिक घटनाओं पर निर्भर करता है। प्रो राईट (D M Wright) ने भी आर्थिक विकास मे अभौतिक एव गैर-आर्थिक तत्वो को प्रधानता दी है। इस प्रकार जहा रोस्टोव तथा स्पेंगलर ने आर्थिक विकास के निर्धारक तत्वो मे आर्थिक तत्वो को अधिक महत्व दिया है वहा नर्क्से तथा राईट ने गैर-आर्थिक कारको पर बल दिया है। कुछ तत्व आर्थिक विकास के प्रधान चालक या निर्धारक होते हैं जबकि अन्य तत्व विकास को गति प्रदान करते हैं। विकासशील राष्ट्रो के आर्थिक विकास के प्रमुख घटक या निर्धारक तत्वो का विवेचन निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) प्राकृतिक साधन (Natural Resources)
(2) मानवीय साधन (Human Resources)
(3) पूंजी निर्माण (Capital Formation)
(4) तकनीकी ज्ञान (Technology)
(5) संगठन (Organisation)
(6) राज्य की नीति (State Policy)
(7) साहसी एवं नव प्रवर्तन (Enterpreneurs and Innovations)
(8) विकास की इच्छा, वातावरण एवं संस्थाएं (Envirorment, Institutions and Desire for Development)
(9) अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां (International Conditions)

1. प्राकृतिक साधन (Natural Resources)—प्राकृतिक साधन आर्थिक विकास के आधारभूत घटक हैं और प्रो. लेविस के अनुसार "प्राकृतिक साधन विकास का मार्ग निर्धारित करते हैं।" प्राकृतिक साधनों से हमारा अभिप्राय उन सब प्राकृतिक साधनों से है जो भूमि, पानी, खनिज सम्पत्ति, वन, वर्षा, हवा एवं जलवायु के रूप में उत्पादन के लिए मानव को निःशुल्क प्राप्त होते हैं। अन्य बातों के समान रहते हुए, जिस देश में प्राकृतिक साधन जितने अधिक होंगे उसका आर्थिक विकास उतना ही अधिक होगा। उर्वरा भूमि एवं जल के अभाव में कृषि विकास असम्भव होगा, कोयला, लोहा एवं प्राकृतिक खनिजों के अभाव में औद्योगीकरण कठिन होगा, उपयुक्त भौगोलिक परिस्थितियों का अभाव एवं जलवायु की प्रतिकूलता आर्थिक विकास में बाधक होंगे। इसलिए प्रो. रिचार्ड गिल ने ठीक ही लिखा है कि "जनसंख्या और श्रम की पूर्ति की तरह प्राकृतिक साधन भी एक देश के आर्थिक विकास में आवश्यक रूप से महत्वपूर्ण भाग अदा करते हैं।"

विकसित राष्ट्रों—अमरिका, रूस, जापान, इंगलैंड, कनाडा आदि के आर्थिक विकास का बहुत कुछ श्रेय उनके प्राकृतिक साधनों की प्राचुर्यता को है। उनके प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता ने उनके आर्थिक विकास और समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है। यह उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक साधनों की बहुलता ही आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं है, आर्थिक विकास के लिये उन साधनों का योजनाबद्ध ढंग से समुचित उपयोग होना भी आवश्यक है। वर्तमान साधनों के साथ साथ सम्भावित साधनों का भी उतना ही महत्व है। अतः प्राकृतिक साधनों की पर्याप्तता, उन साधनों का समुचित विदोहन, नये साधनों की खोज और इन साधनों के नये नये प्रयोगों की प्रकृति ये सब मिलकर आर्थिक विकास का मार्ग निर्धारित करते हैं। प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी उनके विदोहन के अभाव में भारत में आर्थिक विकास की गति धीमी रही है। प्राकृतिक साधनों की विकास नीति एवं विकास कार्यक्रमों में संसाधनों के संरक्षण, अनुसंधान, समुचित प्रयोग और नियोजित विकास पर अधिक ध्यान देने से आर्थिक विकास में तेजी आयगी।

2 *मानवीय साधन* (Human Resources)—आर्थिक विकास का दूसरा महत्वपूर्ण घटक "मानवीय साधन" है। प्राकृतिक साधन निष्क्रय हैं जबकि मानव शक्ति उत्पादन का सक्रिय साधन है जो प्राकृतिक साधनो को उत्पादन मे प्रयुक्त कर आर्थिक विकास सभव बनाता है। आर्थिक विकास म मानवीय साधनो के महत्व को स्पष्ट करते हुए प्रो रिचार्ड गिल ने लिखा है **"आर्थिक विकास एक यान्त्रिक प्रक्रिया नहीं है, यह मानवीय उपक्रम है और समस्त मानवीय उपक्रमो के समान इसकी सफलता अन्तिम रूप से इसे क्रियान्वित करने वाले मनुष्यो की कुशलता, गुण, शक्ति एव प्रवृत्तियो पर निर्भर करेगी।**

मानवीय साधनो का अभिप्राय देश की समस्त जनसख्या से है। देश की कार्यशील जनसख्या (Working Population) जो उत्पादन प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है वही आर्थिक विकास को प्रभावित नही करती वरन् अप्रत्यक्ष रूप मे देश की समस्त जनसख्या का आकार (Size), गुण (Qualities), कार्यकुशलता (Efficiency), सरचना (Composition), वृद्धि की दर (Rate of Growth) तथा जनसख्या का व्यावसायिक वितरण (Occupational Distribution) आदि सभी तत्व सामूहिक रूप मे आर्थिक विकास की गति एव मार्ग निर्धारित करते हैं। श्रम उत्पादन का एक सक्रिय और अनिवार्य साधन है। अत स्टालिन ने श्रम को **देश की मूल्यवान उत्पादक पूँजी की सज्ञा दी है।**

मानवीय साधनो की आर्थिक विकास म दोहरी भूमिका रहती है। एक ओर श्रम आर्थिक विकास म एक सक्रिय उत्पादक साधन है तो दूसरी ओर समस्त उत्पादन क्रियाओ का साध्य है। यह उत्पादक और उपभोक्ता दोनो है। जनसख्या मे वृद्धि से उत्पादन तथा आर्थिक क्रियाओ के विस्तार के लिए श्रम-शक्ति प्राप्त होती है तो साथ-साथ उपभोक्ता के रूप मे वे वस्तुओ और सेवाओ की माग उत्पन्न कर उत्पादन वृद्धि एव विस्तार को प्रेरित करते हैं। *यहा यह उल्लेखनीय है कि जनसख्य मे वृद्धि सभी परिस्थितियो मे आर्थिक विकास को प्रेरित नही करती।* अर्द्धविकसित राष्ट्रो मे श्रम शक्ति का बाहुल्य आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव भी डाल सकता है जैसे भारत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जिसमे बढती हुई जनसख्या आर्थिक विकास को नगण्य बना रही है। फिर भी यह सामान्य मान्यता है कि जनसख्या सम्बन्धी शक्तिया न केवल उत्पादन की प्रवृत्ति व मात्रा को प्रभावित करती हैं वरन् वे आर्थिक विकास की गति एव मार्ग भी निर्धारित करती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनसख्या अगर उत्पादन से उपभोग अधिक करे तो विकास की सारी प्रक्रिया ही विफल हो जाती है। प्रो. नर्क्से के अनुसार **अर्द्ध-विकसित देशो मे अप्रयुक्त अतिरिक्त मानवीय साधनों के समुचित उपयोग मे पूँजी निर्माण की सम्भावनायें छिपी हैं।** इस प्रकार *विकसित मानवीय साधन आर्थिक विकास का एक प्रमुख, सक्रिय एव अत्याज्य (Active and indispensible) घटक* है। अमेरिका, रूस, जापान, इगलैंड तथा चीन के आर्थिक विकास का राज उनकी

विकसित श्रम शक्ति मे छिपा है इसी कारण आर्थिक विकास के लिए मानवीय साधनो के विकास पर अधिक बल दिया जाता है और कहा जाता है कि यदि कोई राष्ट्र मानवीय साधनो का विकास करने मे असमर्थ है तो वह आर्थिक क्षेत्र मे विकास नही कर सकता। अत. शिक्षा, प्रशिक्षण, अनुभव, प्रेरणा, सगठन तथा नियोजन से मानव शक्ति को विकसित करना चाहिये। प्रो राय के अनुसार विकास प्रक्रिया मे मानवीय साधनों को अधिक प्रभावी बनाने के लिये मानव शक्ति के शारीरिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक तथा सगठनात्मक विकास पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये।

3. पूँजी (Capital)—आर्थिक विकास का तीसरा महत्वपूर्ण घटक पूँजी की मात्रा और पूँजी निर्माण की दर है। पूँजी का अभिप्राय मानव द्वारा उत्पादित धन के उस भाग से है जो अधिक उत्पादन मे प्रयुक्त किया जाता है। कारखाने, मशीनें, औजार, यन्त्र, उपकरण, भवन आदि पूँजी क अन्तर्गत आते हैं। दूसरे शब्दो मे "व्यक्तिगत तथा सामूहिक धन का वह भाग जो और अधिक धन उत्पादन मे सहायक होता है पूँजी कहलाता है। पूँजी निर्माण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत समाज तथा व्यक्ति अपने वर्तमान उपभोग को कम करके धन बचाते हैं और अधिक उत्पादन के लिये बचतों को उत्पादक कार्यों मे लगाते है। ये बचत पारिवारिक (Household), सस्थागत (Institutional) तथा राजकीय (Government) हो सकती हैं। इन वास्तविक बचतो को एकत्रित कर पूँजीगत सम्पत्ति (Capital Assets) मे बदलना ही पूँजी निर्माण है।

पूँजी का आर्थिक विकास म विशेष महत्व है। प्रो लेविस क अनुसार आर्थिक विकास म केन्द्रीय महत्व इस बात का है कि निर्धन देश बचत की निम्न दर को ऊँची दर म कैसे परिवर्तित करते हैं। पूँजी निर्माण की समस्या ही वस्तुत' आर्थिक विकास की प्रमुख समस्या है। पूँजी के महत्व का प्रो रिचार्ड गिल ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है "पूँजी का सचय वर्तमान युग में निर्धन देशो को धनवान बनाने और औद्योगिक युग का प्रारम्भ करने वाले कारको मे से एक प्रमुख कारक है।" पूँजी के द्वारा ही आधारभूत भारी उद्योगो की स्थापना से औद्योगीकरण का सुदृढ आधार तैयार होना है। पूँजी से ही परिवहन और कृषि का विकास और मानवीय साधनों के विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। आर्थिक विकास की उच्चतम दर प्रायः उन्ही देशो म पाई जाती है जहा पूँजी निर्माण की गति तीव्र होती है। जापान म युद्धोत्तरकालीन तीव्र विकास का राज वहा की पूँजी निर्माण क्षमता म छिपा है। पूँजी निर्माण की दर जितनी अधिक होती है उतना ही आर्थिक विकास तीव्र होता है। उदाहरण के लिए जापान मे बचत और पूँजी निर्माण राष्ट्रीय आय का क्रमश 35% और 38% है, अमेरिका मे यह क्रमश 25% और 28% है जबकि भारत म पूँजी निर्माण राष्ट्रीय आय का 20% होता है और जबकि आन्तरिक बचतें 18 5% ही हैं अर्थात् 1 5% विदेशी बचतो का प्रयोग होता है।

जाता है, उत्पादन की गति तीव्र होती है या उत्पादित वस्तुओ के गुणो मे विस्तार होता है।

तकनीकी ज्ञान का आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण योगदान रहता है। प्रो. लेविस (Lewis) के शब्दो मे "आर्थिक विकास एक ओर वस्तुओं और जीवधारियो के विषय में प्रोद्योगिक ज्ञान (Technology) पर निर्भर है और दूसरी ओर यह मनुष्य और उसके साथियों के आपसी सम्बन्धो के सामाजिक ज्ञान पर निर्भर करती है।" विकासशील राष्ट्रो म प्रोद्योगिक ज्ञान की कमी के कारण न तो उनमे प्राकृतिक साधनो का समुचित विदोहन हो पाया है और न वे आर्थिक दरिद्रता के कुचक्र से निकल पाये हैं। उत्पादन की नयी तकनीकी विधियो व परम्परागत विधियो मे सुधरे प्रयोगो में ही विकासशील राष्ट्रो के कृषि उद्योग, परिवहन एव मानवीय साधनों की प्रगति निहित है। तकनीकी ज्ञान न केवल अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए जरूरी है वरन् विकसित राष्ट्रो के लिये भी इसका विशेष महत्व है। अगर विकसित राष्ट्रो में प्रोद्योगिक ज्ञान की प्रगति न होती तो आधुनिक विकास असंभव था। आज व्यक्ति चन्द्रमा पर पहुँच गया है, मगलग्रह पर उतरने की तैयारी है। कम्प्यूटर मानव मस्तिष्क का सहारा बना है। टेस्ट ट्यूब में सन्तानोत्पत्ति होन लगी है। कृत्रिम दिल लगाया जाने लगा है। यह सब विज्ञान के ही चमत्कार हैं। नये विचारों, आविष्कारो, तकनीको खोजो तथा नई प्रोद्योगिक विधियो का प्रयोग वर्तमान तथा भावी आर्थिक विकास की कुन्जी है। प्रो. एल्टिस के मतानुसार 'तकनीकी प्रगति सम्भवत आर्थिक विकास को सम्भव बनाने वाला सबसे महत्वपूर्ण घटक है।"

विकासशील राष्ट्रो में आर्थिक विकास के लिये तकनीकी और प्रोद्योगिक ज्ञान के महत्व को दृष्टि मे रखते हुये उसके विकास के प्रयत्न जरूरी हैं। (1) ज्ञान की वृद्धि के लिये तर्कशील, जिज्ञासु और प्रयोग प्रिय मस्तिष्क वाले व्यक्तियों को प्रोत्साहन देना चाहिये। (2) अनुसधान एव आविष्कारों को बढावा भी महत्वपूर्ण है। (3) आर्थिक विकास के लिय ज्ञान का विकास, नय आविष्कार या उत्पादन की नयी विधियों की खोज ही पर्याप्त नही है वरन् उस ज्ञान का प्रसार एव व्यवहार मे प्रयोग भी उतना ही आवश्यक है। इसके लिये नवीन प्रक्रियाओ के प्रयोग की रुचि मे अभिवृद्धि जरूरी है। (4) शिक्षा एव प्रशिक्षण सेवाओ का विस्तार किया जाना चाहिये। (5) विदेशो से तकनीकी एव प्रोद्योगिक ज्ञान का आयात भी विकास मे सहायक सिद्ध हो सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि तकनीकी ज्ञान की उपलब्धता ही आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। इस ज्ञान का आर्थिक क्षेत्र मे योजनाबद्ध ढग से समुचित उपयोग भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

5 संगठन (Organisation)—आर्थिक विकास का पाचवाँ महत्वपूर्ण घटक उचित व्यवस्था या संगठन है। संगठन का अभिप्राय उत्पत्ति के विभिन्न साधनो- भूमि, श्रम पूंजी एवं साहस को एकत्रित करने तथा उनको अनुकूलतम अनुपात मे मिलाने की क्रिया से है। दूसरे शब्दो मे संगठन वह आर्थिक क्रिया है जिसके द्वारा उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को एकत्रित कर उनमे आदर्श संयोग स्थापित किया जाता है जिससे कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन सम्भव हो सके। जो व्यक्ति संगठन कार्य को करता है उसे संगठनकर्त्ता कहते है। अगर आर्थिक क्रियाओ को उचित ढग से संगठित किया जावे तो उत्पादन साधनो की एक दी हुई मात्रा तथा तकनीकी विधियो से भी अधिक उत्पादन सम्भव होता है। विश्व के विकसित राष्ट्रो के आर्थिक विकास का यह प्रमुख लक्षण रहा है कि कुल उत्पादन में वृद्धि की दर उत्पादन साधनो की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा कही अधिक रही है। इस तीव्रता का श्रेय बहुत कुछ उत्पादन साधनो के उचित संगठन को जाता है।

संगठन के अन्तर्गत वे सब क्रियाये आती हैं जो उत्पादन साधनो मे आदर्श संयोग स्थापित करने मे सहायक है जैसे पडत भूमि को कृषि योग्य भूमि बनाना, अच्छे बीजो खाद व सिंचाई की व्यवस्था करना, देश के प्राकृतिक साधनो—वन, जल, खनिजो एवं मानव शक्ति के समुचित विदोहन की व्यवस्था करना, उद्योगो का आदर्श आकार, बडे पैमाने की उत्पत्ति विशिष्टीकरण, श्रम विभाजन, औद्योगिक संयोग आदि संगठन के ही रूप हैं। इनसे आर्थिक विकास की गति तेज होती है। इसीलिए प्रो डॉब (Dobb) ने कहा है '*आर्थिक विकास की समस्या मुख्यत वित्तीय समस्या नहीं है बल्कि यह तो आर्थिक संगठन और व्यवस्था की समस्या है।*

प्रो रिचार्ड गिल भी इस मत से सहमत हैं कि संगठन भी आर्थिक विकास का प्रमुख कारक है। बडे पैमाने की उत्पत्ति एवं विशिष्टीकरण से आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययिताएँ प्राप्त होती हैं जिससे अधिक उत्पादन कम लागत पर होता है। अर्थशास्त्र के जनक स्वयं एडम स्मिथ का कथन था कि "श्रम की उत्पादन शक्तियो मे सर्वाधिक सुधार श्रम विभाजन के प्रभावो से हुआ है।" संगठन व्यक्तिगत कुशलता, भौगोलिक परिस्थितियो की अनुकूलता, उत्पादन में यन्त्रीकरण एवं प्रमापीकरण से आर्थिक विकास में शक्तिशाली योग देता है।

विकासशील एवं अर्द्धविकसित राष्ट्रो में अनुकूल आर्थिक संगठन के अभाव के कारण विकास की गति बहुत धीमी है। बाजारो की सीमितता, लघु एवं कुटीर उद्योगो की प्रधानता, श्रम विभाजन एवं बडे पैमाने की उत्पत्ति का अभाव आदि आर्थिक पिछडेपन के लिये उत्तरदायी हैं। यही कारण है कि ऐसे देशो म आर्थिक संगठन के उचित परिवर्तन आवश्यक है। भारत मे तीव्र आर्थिक विकास के लिये बडे पैमाने के उद्योगो की स्थापना, भूमि व्यवस्था मे सुधार, श्रम विभाजन, उद्योगो को कम्पनियो सहकारी संस्थाओ व स्वशासित निगमो के रूप मे संगठित करने के प्रयास आर्थिक विकास म संगठन के महत्व के ही परिचायक है।

6. राज्य नीति (State Policy)—आर्थिक विकास का छठा महत्वपूर्ण घटक उपयुक्त सरकारी नीति है। वे दिन हवा हुए जब राज्य आर्थिक क्षेत्र में न्यूनतम हस्तक्षेप की नीति अपनाता था पर अब राज्य आर्थिक क्षेत्र में सक्रिय हस्तक्षेप करता है, वह अपनी आर्थिक नीति से समूचे आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करता है। अतः आर्थिक विकास के लिये भी सर्वप्रथम आवश्यकता एक सुदृढ़ सरकार की उपयुक्त आर्थिक नीतियां हैं। प्रो लेविस ने तो यहां तक कहा है कि "कोई भी देश बिना अपनी बुद्धिमान सरकार से सक्रिय प्रोत्साहन पाये आर्थिक विकास नहीं कर सका है।" यह कथन अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्थाओं के सम्बन्ध में भी पूर्णत सत्य उतरता है। जापान का आर्थिक विकास सरकार के सक्रिय सहयोग से हुआ। रूस का विकास भी साम्यवादी सरकार के नियोजन ने हुआ। परतन्त्र भारत अंग्रेजों की दोषपूर्ण नीति के कारण विकास न कर सका जबकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के आर्थिक विकास में गति उत्पन्न हुई है।

आर्थिक विकास के लिए राज्य नीतियों के अन्तर्गत हम राज्य की मूल्य नीति, मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, विदेशी व्यापार नीति, औद्योगिक नीति, कृषि नीति, श्रम नीति, जनसंख्या नीति तथा वित्तीय नीति आदि का समावेश करते हैं। देश में शान्ति एवं व्यवस्था तथा देश की बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा आदि भी सरकारी नीति के प्रमुख अंग हैं। ये सब मिलकर सामूहिक रूप से आर्थिक विकास को प्रभावित करते हैं। अगर सरकार की नीतियाँ उपयुक्त हुई तो आर्थिक विकास को गति मिलती है अन्यथा विकास हतोत्साहित होता है।

आज विकासशील राष्ट्रों में कुशल श्रम, पूँजी, तकनीकी ज्ञान एवं आधारभूत उद्योगों का अभाव होने के कारण अपार प्राकृतिक साधनों का विदोहन नहीं हो पाया है। सरकार अपनी उपयुक्त नीतियों से पूँजी निर्माण, औद्योगीकरण तथा विदेशी व्यापार को बढ़ावा दे सकती है। जिन क्षेत्रों में निजी व्यक्ति आगे आने से हिचकिचाते हैं सरकार स्वयं एक व्यवसायी या उद्योगपति की भूमिका अदा कर सकती है। एक उपयुक्त राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति देश में बेरोजगारी, भुगतान असन्तुलन, वित्तीय साधनों का अभाव तथा तकनीकी विशेषज्ञों की कमी को दूर कर आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। जिस प्रकार 1917 की साम्यवादी खूनी क्रान्ति ने रूस के आर्थिक विकास का द्वार खोला उसी प्रकार भारत में गांधीजी की अहिंसा से अंग्रेजी शासन के पतन और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ है। भारत ने पंचवर्षीय योजनाओं में जो प्रगति की है उसका बहुत कुछ श्रेय भारत सरकार की आर्थिक नीतियों को जाता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक नीतियों की घोषणाओं से ही आर्थिक विकास नहीं होता, उन नीतियों का प्रभावी कार्यान्वयन भी जरूरी है। उसके लिए प्रशासनिक कुशलता तथा सरकार की राजनैतिक स्थिरता भी आवश्यक है। आर्थिक विकास में राज्य की भूमिका का विशद् विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

7 साहसी एव नव प्रवंतन (Entrepreneurs & Innovations)–साहसी एव नव प्रवननकर्ता भी अन्य घटको के समान ही आर्थिक विकास के महत्वपूर्ण घटक माने जाते हैं। साहसी वे व्यक्ति होते हैं जिनमे जोखिम उठाने का साहस इच्छा एव रुचि होती है और जो नये-नये आविष्कारो एव तकनीकी ज्ञान को उत्पादन तथा आर्थिक साधनो के विदोहन मे प्रयुक्त करने का साहस करते हैं। नव प्रवतनकर्ता वे होते हैं जो साहसी के रूप मे नव प्रवर्तनो को जन्म देते हैं जैसे उत्पादन की नवीन विधियो की खोज कच्चे माल के नवीन साधनो का उपयोग सगठन की नवीन विधियो का प्रयोग, नये बाजारो की खोज अथवा साधनो के नवीन उपयोग आदि हैं।

आर्थिक विकास मे साहसी एव नव प्रवतन का विशेष महत्त्व है। कोई नया आविष्कार या तकनीकी विधि तभी उपयोगी सिद्ध होती है जब कोई दूरदर्शी साहसी आत्मविश्वास से इन नये साधनो को उत्पादन मे प्रयुक्त कर उत्पादन म वृद्धि एव लागत मे कमी की जोखिम उठाता है। प्रो रिचार्ड गिल के अनुसार 'तकनीकी ज्ञान आर्थिक दृष्टि से प्रभावपूर्ण तभी होता है जबकि इसका नव प्रवतन के रूप मे प्रयोग किया जाय।' इसी परिप्रेक्ष्य म प्रो ब्राउन का यह कथन उपयुक्त लगता है— 'आर्थिक विकास उद्यम या साहस के साथ इस प्रकार बधा हुआ है कि उद्यमकर्ता को उन व्यक्तियो के रूप मे परिभाषित किया गया है जो नये सयोगो का सृजन करते हैं।'

विकासशील राष्ट्रा म साहसियो का अभाव है अत साहस के अभाव म विभिन्न उत्पादन क्रियाओ के विस्तृत क्षेत्रो का विदोहन नही हो पाया है। भारत म विदेशी साहसियो का महत्वपूर्ण योग रहा है। अब देश के भीतर ही साहसियो को प्रेरित किया जा रहा है। सरकार स्वय एक बडे साहसी के रूप म आर्थिक क्षेत्र म प्रविष्ट हुई है। विस्तृत सार्वजनिक क्षेत्र उद्योग इसके परिचायक हैं।

8 विकास की इच्छा वातावरण एव सस्थाएं (Desire, Environment and Institution of Development)—आर्थिक विकास केवल आर्थिक तत्वो पर ही निर्भर नही करता गैर आर्थिक घटक भी आर्थिक विकास की गति एव दिशा को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। देश मे प्राकृतिक साधनो की बहुलता मानव शक्ति की प्रचुरता तथा पर्याप्त पूंजी एव तकनीकी ज्ञान के बावजूद भी अगर लोगो म भौतिक प्रगति की इच्छा नहीं है या आर्थिक प्रगति का कोई वातावरण नहीं है तो साधनो के होते हुए भी आर्थिक विकास सभव न होगा। राष्ट्रसघ समिति के प्रतिवेदन के अनुसार 'उपयुक्त वातावरण की अनुपस्थिति मे आर्थिक प्रगति असभव है। आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है कि लोगो मे प्रगति की इच्छा हो और उनकी सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक एव वैधानिक सस्थाएं इस इच्छा को क्रियान्वित करने मे सहायक हों।" इसका अभिप्राय है कि आर्थिक विकास और देश की सस्थाओ म घनिष्ठ सम्बन्ध है। अगर ये सस्थाएँ ऐसी हैं जो लोगो को उच्च जीवन स्तर, अधिक कार्य, अवसरो के प्रति जागरूकता को प्रेरित करे तो आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होगा। अगर सस्थाएँ अनुकूल होती हैं तो प्रयत्न करने की

इच्छा को बढावा मिलता है और अगर इच्छा बलवती हुई तो वे स्वयं संस्थाओं में अनुकूल परिवर्तनों को जन्म देती हैं। प्रो. एलबर्ट ने भी इस मत की पुष्टि की है। उनके अनुसार "आर्थिक विकास के लिए एक बहुत बड़ी धनात्मक प्रेरणा एक ऐसी सभ्यता है जो मूल्यों में भौतिक समृद्धि को उच्च प्राथमिकता देती है।" हम यह देखते हैं कि विकसित राष्ट्रों में आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त संस्थाएँ विद्यमान हैं।

अर्द्ध-विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों में स्थिति भिन्न है। वहां भी अनेक ऐसी आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाएं हैं जो आर्थिक विकास में साधक न होकर बाधक हैं जैसे संयुक्त परिवार-प्रथा, जाति प्रथा, दास-प्रथा, भू धारण की दोषपूर्ण प्रथाएँ, धार्मिक रूढ़िवादिता, पर्दा-प्रथा, आध्यात्मिक दृष्टिकोण, उत्तराधिकार नियम आदि ने आर्थिक विकास का मार्ग ही अवरुद्ध कर दिया। अतः विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में इन बाधक संस्थाओं में आमूल-चूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। धीरे-धीरे ये संस्थाएँ कमजोर होती जा रही हैं और आर्थिक विकास के द्वार खुल रहे हैं। इन संस्थाओं में ऐसा परिवर्तन आवश्यक है कि ये संस्थाएँ लोगों में भौतिक समृद्धि की आकांक्षा, आर्थिक लाभ के अवसरों के विदोहन की अभिलाषा तथा आर्थिक साधनों में समुचित उपयोग की तीव्र इच्छा जागृत करें जिससे आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो सके।

9. **अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ (International Conditions)**—आज विश्व के सभी राष्ट्र एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि एक देश की परिस्थितियाँ दूसरे देश को न्यूनाधिक रूप में अवश्य प्रभावित करती हैं। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय परस्पर निर्भरता के युग में देशों का आर्थिक विकास परस्पर निर्भर है। एक अर्द्ध-विकसित राष्ट्र विकसित राष्ट्रों के तकनीकी ज्ञान, आधारभूत औद्योगिक मशीनें एवं औजार तथा वित्तीय साधन प्राप्त कर अपना तेजी से विकास कर सकता है वहां विकसित राष्ट्रों को भी अप्रत्यक्ष रूप से विकास एवं विस्तार का अवसर मिलता है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्र अपने कृषि विकास के लिए उर्वरक, कीटनाशक औषधियां, सुधरे बीज, कृषि उपकरण एवं तकनीकी ज्ञान आयात कर सकते हैं। औद्योगीकरण के लिए भी कच्चा माल, मशीनें आदि आयात कर अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ कर सकते हैं। यह विभिन्न राष्ट्रों के परस्पर मैत्रीपूर्ण आर्थिक एवं राजनैतिक सम्बन्धों पर निर्भर है। अगर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तनावपूर्ण हों, देश परस्पर युद्ध की ज्वालाओं में जल रहे हों तो विकास की सम्पूर्ण सम्भावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। आज पाकिस्तान की दुर्दशा इसकी परिचायक है। भारत में भी पाकिस्तानी आक्रमण से आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न हुई थी। पहले अमेरिका तथा पाश्चात्य राष्ट्रों से भारत को आर्थिक विकास के लिए काफी सहायता मिली है अब धीरे-धीरे कम हो गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां भी आर्थिक विकास को बढ़ावा देती हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, प्रतिकूल परिस्थितियां एवं युद्धकालीन परिस्थितियां आर्थिक विकास को अवरुद्ध कर देती हैं।

आर्थिक विकास के घटकों का सापेक्षिक महत्व
(Relative Importance of Factors of Economic Development)

उपर्युक्त विवरण आर्थिक विकास के विभिन्न घटकों के महत्व पर प्रकाश डालता है। ये सब घटक या इनमे से कुछ घटक मिलकर आर्थिक विकास पर प्रभाव डालते हैं। अकेले एक कारक (घटक) का कोई महत्व नही है क्योंकि ये घटक परस्पर सम्बन्धित तथा एक दूसरे के पूरक हैं। यदि देश मे प्राकृतिक साधनो का प्राचुर्य हो पर उनके विदोहन के लिए पूंजी, तकनीकी ज्ञान, श्रम शक्ति तथा विदोहन की इच्छा न हो तो प्राकृतिक साधन आर्थिक विकास मे निरर्थक सिद्ध होगे। हां, एक साधन दूसरे साधन मे वृद्धि करता है जैसे प्राकृतिक साधनो के अधिक होने पर उत्पादन क्षमता अधिक होगी, आय बढ़ेगी, आय मे वृद्धि से बचत, उपभोग और विनियोग बढ़ेंगे। मानवीय साधनो का विकास होगा। तकनीकी ज्ञान की अभिवृद्धि होगी तथा सरकार भी आय जुटाकर आर्थिक विकास मे अपना उत्तरदायित्व निभा सकेगी। परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनो का समुचित उपयोग आर्थिक विकास मे सहायक होगा।

इसके विपरीत प्राकृतिक साधनो के अभाव मे आर्थिक विकास सीमित होगा। अमेरिका, रूस, इगलैंड के आर्थिक विकास मे उनके प्राकृतिक साधनो की बहुलता का महत्वपूर्ण योग रहा है। इसके विपरीत जापान, स्विटजरलैण्ड आदि के विकास मे राज्य की नीति तथा मानवीय साधनो की कुशलता का अधिक योग रहा है।

एक ओर प्रो लेविस ने पूंजी निर्माण को आर्थिक विकास की केन्द्रीय समस्या माना है तो दूसरी ओर कुछ अर्थशास्त्री तकनीकी ज्ञान, साहस एव नव प्रवर्तन को अधिक महत्व देते हैं। कुछ ने गैर-आर्थिक तत्वो को प्रधानता दी है जबकि साम्यवादी श्रम को विश्व की उत्पादक एव मूल्यवान पूंजी मानते हैं। इस प्रकार इन घटकों के सापेक्षिक महत्व के बारे मे मतैक्य का अभाव है।

इस मतभेद को मिटाने के लिये हम किसी घटक विशेष को आर्थिक विकास का मूल या अधिक महत्वपूर्ण या कम महत्वपूर्ण कारण नही कह सकते। आर्थिक विकास मे ये सब कारण परस्पर सम्बन्धित एव एक दूसरे के पूरक हैं। उनका सापेक्षिक महत्व देश की परिस्थितियो, विकास की अवस्था और विचारधाराओ पर निर्भर करता है। प्रो. बी शेपर्ड ने इसी कारण कहा है कि "किसी एक कारण से नहीं अपितु विभिन्न महत्वपूर्ण कारको के उचित अनुपात में मिलने से आर्थिक विकास होता है।"

निष्कर्ष—आर्थिक विकास के विभिन्न घटकों के सापेक्षिक महत्व को स्पष्ट करने के लिए जोसेफ फिशर का यह कथन उपयुक्त है "आर्थिक विकास के लिये किसी एक विशेष तत्व को अलग करना और इसे ऐसे आर्थिक विकास का प्रथम या प्राथमिक कारण बनाना न तो उपयुक्त है और न विशेष सहायक हो। प्राकृतिक साधन, कुशल श्रम, मशीनें एवं उपकरण, वैज्ञानिक एव प्रबन्धात्मक साधन एवं

आर्थिक वातावरण एवं रुचि महत्वपूर्ण हैं। यदि उन्हें आर्थिक समृद्धि प्राप्त करनी है तो इन कारणों को प्रभावपूर्ण ढंग से मिलाना चाहिये।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 एक देश के आर्थिक विकास को निर्धारित करने वाले विभिन्न घटकों को समझाइये। (I yr. T. D. C. 1979)

(संकेत—आर्थिक विकास के सभी घटक शीर्षकानुसार देकर समझाना है।)

2 "आर्थिक विकास केवल साधनों की पूर्ति समस्या नहीं वरन् उनके उचित संगठन व उपयोग की समस्या है।" विवेचन कीजिए।

(संकेत—इसके प्रथम भाग में आर्थिक विकास के प्रमुख तत्वों की आर्थिक विकास में भूमिका को बताते हुए दूसरे भाग में यह बताना है कि साधनों की पूर्ति होने पर भी अगर उनका उपयोग व संगठन ठीक नहीं रहा तो विकास सम्भव नहीं होता।)

3 उन प्रमुख तत्वों को समझाइये जिन पर एक गरीब देश का आर्थिक विकास निर्भर करता है। (Raj I yr. T D C. 1973)
(I yr. T. D C. Non-Collegiate 1976)

(संकेत—पहले भाग में गरीब देश का अभिप्राय स्पष्ट करना है जिसमें आय, प्रति-व्यक्ति आय, रोजगार, उपभोग और विनियोग का स्तर नीचा है, जनाधिक्य और अतिरिक्त तथा अप्रयुक्त श्रम शक्ति है उनके आर्थिक विकास में सभी निर्धारक तत्वों का उल्लेख कीजिए।)

4 आर्थिक विकास से आप क्या समझते हैं? उन प्रमुख तत्वों को समझाइये जिन पर एक विकासशील देश का आर्थिक विकास निर्भर करता है। (I yr. T. D. C. Spe. Exam. 1974)

(संकेत—प्रथम भाग में आर्थिक विकास का अर्थ समझाकर फिर विकास के घटकों का विवेचन शीर्षकानुसार दीजिये।)

5 विकासशील देशों के आर्थिक विकास में तकनीकी प्रगति एवं पूँजी का क्या योगदान होता है?

(संकेत—प्रथम भाग में विकासशील देश का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए तथा फिर दोनों तत्वों की भूमिका बताना है।)

6 आर्थिक विकास से आप क्या समझते हैं? एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था के प्रमुख तत्वों को समझाइये। (I yr. T D. C. 1978, 1979)

(संकेत—प्रथम भाग में आर्थिक विकास का अर्थ व दूसरे भाग में विकासशील अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ देना है।)

17

आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका

(The Role of the Government in Economic Development)

प्राक्कथन—वे दिन हवा हुये जब आर्थिक क्षेत्र म सरकार का हस्तक्षेप अवाछनीय समझा जाता था। जनसाधारण की यह मान्यता थी "राजा व्यापार करेगा तो देश नष्ट हो जायेगा।" स्वतन्त्र व्यापार के उस युग (Era of laissez Faire) म देश की सरकार का काम केवल देश की आन्तरिक एव बाह्य सुरक्षा, न्याय एव शिक्षा तक सीमित था। कालान्तर म प्रजातन्त्र की प्रगति एव स्वतन्त्र व्यापार नीति की असफलता के कारण आर्थिक क्षेत्र म राज्य का हस्तक्षेप बढने लगा। स्वतन्त्र व्यापार नीति का दम भरने वाले पूँजीवादी राष्ट्रो म विश्वव्यापी 1930 की मन्दी के दुष्प्रभावो ने उन्हे भी राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करने के लिए मजबूर किया। वर्तमान युग म सरकारें आर्थिक क्षेत्र म महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। वर्तमान सरकारो के चार प्रमुख कार्य हैं—(i) प्राकृतिक साधनो का अधिकतम उपयोग करना, (ii) पूर्ण रोजगार की सुविधाएँ प्रदान करना, (iii) सुदृढ आर्थिक नियन्त्रण तथा (iv) आर्थिक समृद्धि से जीवन-स्तर म वृद्धि।

विकास मे राज्य का महत्व—आज अधिकाश अर्थशास्त्रियो की यह दृढ धारणा है कि आर्थिक विकास के लिए राज्य का योगदान अनिवार्य है। प्रो लेविस ने लिखा है 'कोई देश अपनी बुद्धिमान सरकार का सक्रिय प्रोत्साहन पाये बिना आर्थिक विकास नहीं कर सकता है।" इसी प्रकार की विचारधारा अन्य विद्वानो ने प्रकट की है। अर्द्ध विकसित राष्ट्रो मे आर्थिक विकास मे राज्य का योग अनिवार्य है। एक विद्वान् के अनुसार "विकास कार्यों को प्रारम्भ करते समय जो देश जितना अधिक पिछडा होता है उसे उतना ही अधिक राज्यो के कार्यों की आवश्यकता होती है।"

पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओ म सरकार आर्थिक विकास के लिए प्रत्यक्ष हस्तक्षेप कम पर अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप अधिक रखती है जबकि समाजवादी राष्ट्रों म सरकार आर्थिक विकास का प्रमुख घटक होती है। आर्थिक विकास की गति एव प्रकृति देश मे सगठित सरकार के स्वरूप पर निर्भर करती है।

अगर आर्थिक विकास के क्षेत्र मे सरकार की भूमिका को हम ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे देखे तो भी स्पष्ट होता है कि आज विश्व के विकसित राष्ट्रो की आर्थिक

प्रगति एव समृद्धि मे वहा की सरकार का सक्रिय योगदान रहा है। इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) की नीव एडवर्ड तृतीय एव उसके बाद के बुद्धिमान शासको ने डाली। 1917 मे औद्योगिक एव कृषि की दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े रूस की वर्तमान आर्थिक प्रगति के पीछे भी रूस की समाजवादी सरकार का हाथ रहा है। अमेरिका मे आर्थिक विकास के प्रोत्साहन का श्रेय सघ तथा राज्य सरकारो को जाता है। आर्थिक विकास मे भी वहा की सरकार का अद्वितीय योग रहा है। आज सभी विकासशील राष्ट्रो मे राज्य आर्थिक विकास का प्रेरणा स्रोत है।

इस प्रकार अब यह निर्विवाद सत्य है कि राज्य आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है चाहे अर्थव्यवस्था पूँजीवादी हो, चाहे समाजवादी। समाजवादी एव साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओ मे आर्थिक विकास की सम्पूर्ण जिम्मेदारी सरकार पर होती है जबकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास मे सरकार की भूमिका अपेक्षाकृत कम होती है। राज्य आर्थिक विकास का नियमन एव मार्गदर्शन करता है।

अर्थव्यवस्थाओ मे बढ़ता सरकारी भूमिका के कारण
(Causes of Increasing Role of Government in Economies)

आज विश्व के सभी विकसित तथा विकासशील राष्ट्रो मे आर्थिक विकास स्थायित्व एव रोजगार वृद्धि के साथ साथ आर्थिक समानता की होड लगी है। अत अर्थव्यवस्थाओ मे पूँजी के दोषो के नियन्त्रण तथा नियोजित विकास के लाभ प्राप्त करने के लिए सरकारो की भूमिका निरन्तर बढती जा रही है। इसके प्रमुख कारण ये हैं—

1 सन्तुलित एव तीव्र आर्थिक विकास की लालसा—सदियो से उपेक्षित राष्ट्र अब अपनी आर्थिक दरिद्रता एव बेरोजगारी के निराकरण के लिए अधिक इन्तजार नहीं कर सकते। अत उनके सन्तुलित एव तीव्र आर्थिक विकास के लिये सरकार की महत्वपूर्ण भूमिका आवश्यक है। सरकार योजनाबद्ध विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

2. पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के दोषों का निराकरण एव नियन्त्रण—बाजार तत्र पर आधारित स्वतन्त्र अर्थव्यवस्थाओ मे शोषण व्यापार चक्रो के प्रकोप, आर्थिक असमानता और समृद्धि के बीच गरीबी एव बेकारी का ताण्डव नृत्य आदि दोषो का निवारण व उन पर प्रभावी नियन्त्रण के लिए सरकार मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, रोजगार नीति व आय नीति आदि द्वारा प्रभावी भूमिका निभा सकती है।

3 विकास की आधारभूत सरचना का निर्माण—सरकार अर्थव्यवस्था म विकास के लिए आधारभूत सरचना तैयार कर सकती है जिनमे सामाजिक पूँजी,

रेलो, सडको, बाधो एव नहरो का निर्माण उल्लेखनीय है। सरकार तकनीकी शिक्षा एव प्राविधिक शिक्षा द्वारा मानव पूँजी निर्माण कर सकती है।

4 दुर्लभ साधनो का विवेकपूर्ण उपयोग—सरकार विकासशील देशो में दुर्लभ साधनो का उपयोग विकास की प्राथमिकताओ के अनुरूप करने का मार्ग-दर्शन कर सकती है। दुरुपयोग को रोक सकती है।

5. पूँजी निर्माण में बढ़ती भूमिका—आज आर्थिक विकासके लिए पूँजी की आवश्यकता सर्वोपरि है। सरकार बचतो को प्रोत्साहन देकर, वित्तीय सस्थाओ की स्थापना कर तथा बचतो को उत्पादन कार्यों मे प्रेरित कर पूँजी निर्माण को बढावा दे सकती है। अविकसित देशो मे इसकी आवश्यकता और भी अधिक है।

6. जनसख्या विस्फोट तथा बेरोजगारी का नियन्त्रण—विकासशील देशो मे जनसख्या की विस्फोटक वृद्धि तथा बढती बेरोजगारी विश्व समृद्धि को निरन्तर खतरा बनी हुई है अत उनके दुष्प्रभावो को रोकने के लिए भी सरकार की भूमिका बढती जा रही है।

7. आय एव सम्पत्ति के वितरण में बढती खाई को पाटना—वर्ग-सघर्ष की जड आय एव सम्पत्ति मे असमानता है और यही शोषण का मूल कारण है। अतः सरकार को आर्थिक समानता स्थापित करने के लिये पहल करनी पडती है।

8. कल्याणकारी राज्य की स्थापना—आज राज्य का प्रमुख उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। अत. कदम-कदम पर इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है।

अर्द्ध-विकसित एव विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में सरकारी नीति निर्धारण के दिशा-निर्देश

(Guidelines for Formulating Government Policies for Under-Developed & Developing Countries)

अर्द्ध-विकसित एव विकासशील अर्थव्यवस्थाओ मे आर्थिक विकास के लिये आवश्यक अन्तर-सरचना (Infrastructure) का अभाव होता है, बडे पैमाने पर बेरोजगारी एव अर्द्ध-बेरोजगारी होती है। साधनो का आवटन अनुचित ढग से होने से उत्पादन, आय एव बचत का स्तर नीचा होता है। पूँजी-निर्माण की गति धीमी होती है और सामाजिक असमानता के साथ-साथ लोगो मे विकास की रुचि का अभाव होता है। अतः इन बाधाओ एव समस्याओ के परिप्रेक्ष्य मे सरकार को आर्थिक विकास की नीति निर्धारित करते समय निम्न दिशा-निर्देशो (Guidelines) पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये—

(1) आर्थिक विकास के लिये आधारभूत सरचना (Infrastructure) के निर्माण मे तेजी—अर्द्ध-विकसित एव विकासशील अर्थव्यवस्थाओ मे सिचाई,

परिवहन, विद्युत, आधारभूत उद्योगों और पूँजीगत साधनो का नितान्त अभाव होता है। तकनीकी शिक्षा, प्रौद्योगिकी ज्ञान एवं प्रशिक्षण सुविधाएँ नहीं होतीं। अत सरकार को आर्थिक विकास की नीति निर्धारण म इस आधारभूत ऊपरी पूँजी एव अन्तर-सरचना के लिए सिचाई, विद्युत विकास, परिवहन एव सचार, तकनीकी एव प्रौद्योगिक शिक्षा, आधारभूत उद्योगों के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता देना चाहिये और उनमें यथासभव शीघ्रता से तीव्र आर्थिक विकास के लिए सुदृढ आधार तैयार करना चाहिये।

(2) मानव शक्ति के समुचित प्रयोग की व्यवस्था—अर्द्ध विकसित एव विकासशील देशो म जनाधिक्य एव बड़ पैमाने पर बकारी एव अर्द्ध-बेरोजगारी की समस्या है अत सरकार को आर्थिक विकास के नीति निधारण म देश म उपलब्ध श्रम शक्ति के यथासभव समुचित प्रयोग की पर्याप्त व्यवस्था करनी चाहिय। पूँजी की कमी एव श्रम शक्ति के आधिक्य को दृष्टिगत रखते हुए श्रम प्रधान योजनाओं (Labour Intensive Schemes) को कार्यान्वित करना चाहिय। यही नहीं, सरकार को उपयुक्त मानव शक्ति नियोजन (Man Power Planning) पर ध्यान देना चाहिये। इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों म छिपी बेरोजगारी का प्रयोग पूँजी निर्माण म किया जाना चाहिय।

(3) साधन आवटन में प्रभावी नियोजन—सरकार को अर्द्ध विकसित एव विकसित देशो में उपलब्ध मानवीय एव भौतिक साधनों को आर्थिक विकास म सक्रिय करने के लिय उनके आवटन म प्रभावी नियोजन (Effective Planning) की नीति अपनानी चाहिये। इसके लिए सरकार को जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु साधना का आवटन अनिवार्य क्षेत्रा की ओर करना चाहिये तथा विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन म साधना के आवटन पर प्रभावी रोक लगाना होगा।

(4) पूँजी निर्माण में तेजी—अर्द्ध विकसित देशा म अप्रयुक्त भौतिक एव मानवीय साधनों के विदोहन के लिए बड़ी मात्रा म बचत और विनियोग (Investment) की व्यूह रचना करनी चाहिय ताकि पूँजी निर्माण की गति तेज हो। इसके लिए सरकार को प्रदर्शनात्मक उपभोग पर रोक लगाना चाहिए। छोटी-छोटी बचतों को एकत्रित कर उन्हें पूँजी निर्माण म प्रवाहित करने की नीति पर बल देना चाहिए। सावजनिक करारोपण एव बचतों से भी पूँजी निर्माण की गति तेज की जा सकती है। वित्तीय एव बैंकिंग सस्थाओं के विस्तार एव विकास से पूँजी निर्माण की गति तेज हो सकती है।

(5) विकासोन्मुख सस्थागत ढाचे का निर्माण—अर्द्ध-विकसित एव विकासशील देशों म सरकार वहा परम्परागत रूढ़िवादी आर्थिक, सामाजिक एव धार्मिक सस्थाओं में आमूल चूल परिवर्तन करके आर्थिक विकास में तेजी ला सकती है, अत सरकार को सयुक्त परिवार प्रथा, पर्दा प्रथा, दोषपूर्ण भूमि व्यवस्था, धार्मिक अन्धविश्वास आदि को कानून बनाकर विकासोन्मुख सस्थाओं के रूप म परिवर्तित करना चाहिये। सरकार को प्रगतिशील सस्थाओं की स्थापना करने म

करती है, विकास के अनुकूल प्रवृत्तियों को प्रभावित करती है, साधनों के सदुपयोग को बढ़ावा देती है, आय के वितरण में समानता लाती है, मुद्रा की मात्रा को देश की विकास आवश्यकतानुसार नियन्त्रित करती है, पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करती है, अर्थव्यवस्था में भारी उतार-चढ़ाव को नियन्त्रित करती है तथा देश में पूंजी विनियोग को प्रोत्साहन देकर लोगों को आर्थिक प्रेरणा में वृद्धि करती है तो इन क्रियाओं से आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत अगर सरकार शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने में विफल होती हो, शोषण बढ़ता हो, लोकोपयोगी सेवाओं की उपेक्षा की जाती हो, अत्यधिक नियन्त्रण या अत्यधिक निर्बाध नीति का अनुसरण करती हो, फिजूल खर्चों एवं युद्धों में रत हो और विदेशी सम्पर्क में बाधा डाली जाती हो तो इनका देश के आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रो. हरमन फाईनर (Hermans Finer) का यह मत है कि सरकार (i) वाछनीय विधान, कानून तथा नियमों को निश्चित करके, (ii) कुशल श्रम शक्ति का निर्माण करके, (iii) पूर्ण रोजगार की व्यवस्था करके, (iv) उपभोक्ता, विनियोगकर्ता साहसियों एवं नव प्रवर्त्तकों को प्रभावित करके, (v) जनसंख्या और साधनों को प्रभावित करके तथा (vi) विदेशी व्यापार को प्रभावित कर आर्थिक विकास को प्रोत्साहित कर सकती है। सरकार स्वयं उत्पादक, नव प्रवर्त्तक एवं आर्थिक क्रियाओं का संगठन कर आर्थिक विकास में वृद्धि कर सकती है। इन सब विचारों के संकलन के आधार पर हम आर्थिक विकास के लिए सरकार की भूमिका निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं—

1 शांति एवं सुरक्षा की स्थापना (Maintenance of Peace and Security)—राष्ट्र की बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा तथा आन्तरिक शांति व्यवस्था (Law and Order) किसी भी देश के आर्थिक विकास की अनिवार्य शर्त है। अगर सरकार देश में आन्तरिक शांति एवं व्यवस्था रखती है तो बचत और पूंजी निर्माण बढ़ता है। आर्थिक क्रियाएँ सुचारु रूप से चलती हैं तथा आर्थिक विकास को बल मिलता है। इसके विपरीत अगर देश की सरकार विदेशी आक्रमण से सुरक्षा न रख सके, या आन्तरिक विद्रोह, गृहयुद्ध, डकैती, लूट-पाट तथा कानून और व्यवस्था का अभाव हो तो जनता में आतंक और भय छाया रहता है। विदेशी आक्रमण की सन्दिग्धता और आन्तरिक अव्यवस्था के कारण सरकार को बहुत अधिक वित्तीय साधन अस्त्र-शस्त्रों, युद्ध के सामान तथा सेनाओं तथा पुलिस प्रशासन पर व्यय करने पड़ते हैं जिससे आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त वित्तीय साधनों का अभाव रहता है। ऐसे वातावरण में उद्योगों, व्यवसायों व उत्पादन कार्यों को धक्का पहुँचता है और आर्थिक विकास की सम्भावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। जैसे भारत पर 1962 में चीनी आक्रमण, 1965 व 1971 में पाकिस्तानी आक्रमणों के कारण हमारे आर्थिक विकास को भारी धक्का लगा। बंगला देश के शरणार्थियों व पाकिस्तान से युद्ध में देश को भारी क्षति उठानी पड़ी। असम में अव्यवस्था एवं विद्रोह, हत्यायें

लूट-पाट आदि के कारण आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हुआ। अत सरकार अर्थव्यवस्था को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान कर तथा आन्तरिक शान्ति एव व्यवस्था कायम करके आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। अर्द्ध-विकसित विकासशील राष्ट्रो की सरकारें देश मे शान्ति एव सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता देकर देश को आर्थिक विकास की ओर अग्रसर करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।

2 विकास के लिये आवश्यक आर्थिक एव सामाजिक सुविधाओं की व्यवस्था (Provision of Economic and Social Overhead Facilities)—आर्थिक विकास के लिए जहा एक ओर आवश्यक आर्थिक सुविधाओ—यातायात एव सचार, विद्युत शक्ति, सिंचाई, अनुसधान, भूसरक्षण आदि की आवश्यकता होती है तो दूसरी ओर आवश्यक सामाजिक सेवाएँ—शिक्षा, आवास, चिकित्सा एव स्वास्थ्य, श्रम कल्याण तथा समाज कल्याण आदि की आवश्यकता होती है। ये सुविधाएँ सरकार ही उपलब्ध कर सकती है क्योंकि एक तो इनमे भारी धनराशि व्यय करनी पड़ती है तथा दूसरी ओर ये ऐसे विनियोग हैं जिनका लाभ दीर्घकाल में मिलता है। इसके अतिरिक्त इन सुविधाओ की पूर्ति निजी साहसी की सीमाओं से परे है। इन सुविधाओ के विस्तार से अर्थव्यवस्थाओ मे बाह्य मितव्ययिताओं का उदय होता है। उद्योगो की स्थापना एव विस्तार को बल मिलता है, कृषि का विकास होता है। मानवीय पूँजी की कुशलता बढ़ती है। तकनीकी ज्ञान का प्रसार होता है। ये सब सामूहिक रूप से आर्थिक विकास को गति प्रदान करते हैं जबकि इन सुविधाओ की अनुपस्थिति मे विनियोग नही बढ़ने, प्राकृतिक साधनो का विदोहन, परिवहन एव सचार साधनों के अभाव मे कठिन होता है। अत सरकार इन आर्थिक एव सामाजिक सेवाओ का विकास एव विस्तार कर आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों मे इन आवश्यकी सुविधाओ का नितान्त अभाव होता है। सरकार इन सुविधाओं की व्यवस्था कर सकती है। भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन सुविधाओ का तेजी से विकास एव विस्तार किये जाने से आर्थिक विकास की गति तेज हुई है। पचवर्षीय योजनाओ म विद्युत, सिंचाई, परिवहन एव सचार, जन स्वास्थ्य, शिक्षा पर भारी व्यय किया गया है।

3. साधनो का विदोहन एव सरक्षण (Exploitation and Conservation of Resources)—आर्थिक साधनो के प्रयोग के सम्बन्ध मे सरकार का दृष्टिकोण व्यापक एव दीर्घकालीन होता है जबकि निजी व्यवसायी अपने निजी लाभ से प्रेरित होकर अल्पकालीन लाभ मे आस्था रखते हैं। ऐसी स्थिति मे सरकार साधनो के उचित विदोहन की नीति का अनुसरण कर सकती है। साधनों का उपयोग आर्थिक विकास की प्राथमिकताओ के अनुसार किया जा सकता है और उनकी बर्बादी को

रोका जा सकता है। अतः सरकार को आर्थिक विकास के लिये देश के प्राकृतिक एव मानवीय साधनो के उचित विदोहन का मार्ग-दर्शन करना चाहिये तथा उन साधनो के सरक्षण की व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकार सरकार साधनो के वर्तमान और भावी उपयोग को निर्धारित कर आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। आज हम देखते हैं कि भारत सरकार न केवल देश के प्राकृतिक साधनो के विदोहन—जैसे नदी घाटी योजनाएँ, खनिज विकास, भूमि पर कृषि आदि पर ध्यान दे रही है वरन् उनके उचित सरक्षण की भी पर्याप्त व्यवस्था कर रही है।

4 कुशल श्रम शक्ति का निर्माण तथा तकनीकी ज्ञान का प्रसार (Creation of Skilled Labour Force and Expansion of Technical Knowledge)—किसी भी देश का आर्थिक विकास बहुत कुछ उसकी कुशल श्रम शक्ति और उसके तकनीकी ज्ञान की मात्रा पर निर्भर करती है। कुशल एव तकनीकी श्रम के अभाव मे विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे श्रम शक्ति का बाहुल्य है पर श्रम अकुशल है। सरकार शिक्षा, प्रशिक्षण, चिकित्सा एव स्वास्थ्य सेवाओ के विस्तार से कुशल श्रम शक्ति का निर्माण कर सकती है। सरकार श्रमिकों की आदतो को प्रभावित कर सकती है, उन्हें तकनीकी ज्ञान प्रदान कर सकती है।

आर्थिक विकास के लिये श्रम और पूँजी के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध औद्योगिक शान्ति मे सहायक होता है जिससे उत्पादन, आय एव विनियोगों को बढ़ावा मिलता है जो अन्तत आर्थिक विकास को प्रेरणा देते हैं। श्रम और पूँजी के अच्छे सम्बन्धो से औद्योगिक शान्ति तो बढ़ती ही है पर साथ ही श्रमिको मे उत्पादन वृद्धि के प्रति उत्तरदायित्व भी बढ़ता है। श्रम की कुशलता के लिए उपयुक्त प्रेरणाओ की व्यवस्था की जा सकती है तथा श्रमिको को शोषण से मुक्ति दिलाकर उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है।

5 बचतों पूंजी निर्माण एव विनियोगो को प्रभावित करना (Influence the Level of Savings, Capital Formation and Investment)—देश म बचतो, पूँजी निर्माण और विनियोगो का ऊँचा स्तर आर्थिक विकास के महत्वपूर्ण घटक हैं। इनके अभाव मे आर्थिक विकास की गति धीमी हो जाती है तथा साधनों का विदोहन प्राय मुश्किल होता है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रो मे पूँजी और विनियोग के नीचे स्तर के कारण देश में उत्पादन स्तर नीचा है, उत्पादन कम होने स लोगो की आय कम है। उपभोग की कमी तथा बचतो की कमी से पूँजी निर्माण और विनियोग प्रेरित नही होते और इस प्रकार अर्द्ध-विकसित राष्ट्र अपन निर्धनता के कुचक्र मे फसे हुए हैं। ऐसी स्थिति से छुटकारा दिलाने म राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। सरकार प्रदर्शनात्मक उपभोग पर नियन्त्रण लगा सकती है, अनिवार्य बचतो को प्रेरित कर सकती है। करो स प्राप्त बचतें उत्पादक कार्यों म विनियोग की जा सकती हैं। सरकार अपनी उपयुक्त नीति से बचत करने को

उचित परिस्थितियां उत्पन्न कर सकती है। देश में अल्प बचत योजनाएँ, बैंक, बीमा तथा वित्तीय संस्थाओं की स्थापना से न केवल बचतों को बढ़ावा मिलता है वरन् इन बचतों से उत्पादक कार्यों में, विनियोग में सहायता मिलती है। सरकार अपनी कर नीति से उद्योगों में विनियोगों को प्रेरणा दे सकती है। सरकार निजी उपक्रमों को आर्थिक सहायता या रियायतें देकर भी उन्हें उत्पादक उद्योगों में विनियोग के लिए प्रेरणा दे सकती है। एक सुनिश्चित औद्योगिक एवं कृषि नीति भी पूँजी निर्माण और विनियोगों को बढ़ाती है। इस तरह अनेक प्रकार से सरकार बचतों, पूँजी निर्माण तथा विनियोगों के स्तर को बढ़ाकर आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। भारत सरकार की कर नीति, औद्योगिक नीति आदि इस दृष्टि से उपयुक्त हैं।

6. **आर्थिक क्रियाओं में प्रत्यक्ष भाग लेना (Direct Participation in Economic Activities)**—आर्थिक विकास की योजनाओं में भारी व्यय करना पड़ता है, जोखिम उठानी पड़ती है तथा उनके संचालन में विशेषज्ञों की सेवाओं व कुशल श्रमिकों की आवश्यकता होती है जो अर्द्ध-विकसित देशों में निजी व्यवसायियों के साधनों से परे होती है। यातायात, सिंचाई, विद्युत और भारी आधारभूत उद्योग की विशाल योजनाओं को कार्यान्वित करने में निजी क्षेत्र पहल नहीं करता, ऐसे क्षेत्रों में सरकार स्वयं प्रत्यक्ष रूप से एक साहसी एवं उद्योगपति के रूप में प्रवेश कर आर्थिक विकास को बढ़ावा दे सकती है। जैसे भारत सरकार ने परिवहन एवं संचार व्यवस्था, लोह एवं इस्पात उद्योग के चार कारखाने—रूरकेला, भिलाई, दुर्गापुर और बोकारो-हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, भोपाल का हैवी इलेक्ट्रोनिक कारखाना आदि की स्थापना की है, विशाल विद्युत एवं सिंचाई योजनाएँ क्रियान्वित की हैं। यही नहीं, निजी व्यक्तियों के साथ सहयोग से भी उद्योग स्थापित किये गये हैं। जब सरकार यह महसूस करे कि मार्ग-दर्शन ही पर्याप्त नहीं तो स्वयं आगे आकर आर्थिक विकास की गति तेज कर सकती है। आर्थिक क्षेत्र में सरकारी प्रवेश से एकाधिकारी प्रवृत्तियां प्रबल होती हैं। जहां पहले सरकार का औद्योगिक विनियोग में 15% भाग था अब बढ़कर 38% हो गया है। सरकार का विनियोग 160 सार्वजनिक उपक्रमों में 14000 करोड़ रु. के लगभग है।

7. **संस्थागत परिवर्तनों को प्रभावित करना (Influencing Institutional Changes)**—आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं का आर्थिक विकास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अगर ये संस्थायें लोगों में भौतिक समृद्धि, व्यक्तिगत विकास तथा उज्ज्वल भविष्य के प्रति प्रेरणा जागृत करती हों तो देश में आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है और अगर ये संस्थाएँ कार्य के प्रति अरुचि, आध्यात्मिक प्रवृत्तियों और रूढ़िवादिता को प्रोत्साहित करती हों तो विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। अत: सरकार इन संस्थाओं में अनुकूल परिवर्तन लाकर आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान कर सकती है। अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में दोषपूर्ण भूमि

सहायक हैं। स्त्रियो मे शिक्षा का प्रसार, उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता, व्यवसायो मे काय की प्रवृत्ति, पिछड़ी जाति का विकास भी महत्वपूर्ण काय है।

9 आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाली सरकारी नीतिया (Government Policies Conductive for Economic Development)—आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाली अनेक सरकारी नीतियो का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। इन सरकारी नीतियो म 6 नीतिया प्रमुख हैं —

(i) **प्रशुल्क नीति (Tariff Policy)** के द्वारा सरकार विदेशी वस्तुओ के आयात पर भारी कर लगाती है। उनसे दोहरा लाभ होता है। एक ओर देश के आन्तरिक उद्योगो को सरक्षण मिलता है तथा दूसरी ओर सरकार को आय प्राप्त होती है जिसे सरकार विकास कार्यो पर व्यय कर आर्थिक विकास को बढ़ावा दे सकती है। भारत मे सरक्षण की नीति का अनुसरण अग्रेजी शासन म 1921 से हुआ तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की प्रशुल्क नीति का भारतीय आर्थिक विकास म अधिक योग रहा है।

(ii) **राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)**—इस नीति के अन्तगत सार्वजनिक राजस्व, व्यय, ऋण तथा हीनार्थ प्रबन्ध आदि का समावेश होता है। राजकोषीय नीति से उपभोग को नियन्त्रित कर बचतो मे वृद्धि करना, विनियोग मे वृद्धि कर उन्हे देश के उत्पादक कार्यो मे प्रेरित करना, आय एव सम्पत्ति की असमानताओ को समाप्त करना तथा सार्वजनिक व्यय के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध करना आदि उद्देश्यो की पूर्ति आर्थिक विकास मे योगदान करती है। सार्वजनिक व्यय से उद्योगो मे मदी और बेकारी पर नियन्त्रण होता है। प्रगतिशील करारोपण से प्रदशनात्मक व्यय पर रोक तथा आर्थिक विषमता मे कमी होती है। पूँजी निर्माण कार्यो को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। भारत मे राजकोषीय नीति को आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त बनाया गया है।

(iii) **मौद्रिक नीति (Monetary Policy)**—मौद्रिक नीति का अभिप्राय वाछित आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए मुद्रा एव साख की मात्रा का सकुचन एव विस्तार करना है। मौद्रिक नीति का सचालन देश का केन्द्रीय बैंक करता है। उत्पादक कार्यों के लिए साख की पूर्ति, अनावश्यक कार्यों के लिए साख पर नियन्त्रण, देश की विकास आवश्यकताओ के अनुकूल साख सृजन आदि मौद्रिक नीति के प्रमुख उद्देश्य हैं। मौद्रिक नीति से पूर्ण रोजगार एव आर्थिक विकास, आर्थिक स्थिरता तथा भुगतान असन्तुलन मे सुधार से विकास कार्यो म योग मिलता है। भारत म रिजर्व बैंक अपनी मौद्रिक नीति को इस प्रकार क्रियान्वित कर रहा है कि यह हमारे आर्थिक विकास मे सहायक हुई है।

(iv) **मूल्य नीति (Price Policy)**—आर्थिक विकास के लिए आन्तरिक मूल्यो म स्थायित्व (Stability in Price) आवश्यक है। धीरे धीरे बढ़ते हुए मूल्यो

से देश म उत्पादन, विनियोग और रोजगार मे वृद्धि होती है जबकि तेजी से गिरते हुए मूल्यो से विनियोग कम हो जाता है, लाभ कम होने से उत्पादन कार्यों की गति धीमी या ठप्प हो जाती है, बेकारी फैलती है। तेजी से बढते हुए मूल्यो से भी आर्थिक विकास म बाधा पहुँचती है जैसा कि भारत म हम अनुभव कर रहे हैं। वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य तेजी से बढन के कारण लोगो मे सग्रह प्रवृत्ति बढती है, ऊँची लागतें सरकार के विकास कार्यों का महगा कर देती है। जनता का रोष बढ जाता है जिससे आन्तरिक अशान्ति बढती है। अत सरकार मूल्य स्थायित्व की नीति अपना कर आर्थिक विकास म योग दे सकती है। भारत म मूल्य स्थायित्व की नीति की असफलता स आर्थिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हुआ है। अब इसे प्रभावी बनाने की बहुत आवश्यकता है। एक उचित मूल्य नीति वह है जो उद्योगो, कृषको को अधिक उत्पादन की प्रेरणा दे तथा उपभोक्ताओ को उचित मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध हो जायें। मूल्यो म अत्यधिक उतार चढाव (Fluctuations) न हो।

(v) विदेशी व्यापार नीति (Foreign Trade Policy)—आर्थिक विकास के लिए मशीनें, औजार, पूँजीगत सामान, तकनीकी विशषज्ञो आदि का आयात करना पडता है। इन सबका आयात विदेशी विनिमय की उपलब्धता पर निर्भर करता है। अत सरकार को-भुगतान सन्तुलन और व्यापार सन्तुलन को अपने पक्ष म करने के लिए एक ऐसी विदेशी व्यापार नीति का अनुसरण करना चाहिए कि अनावश्यक आयात घटे, निर्यात बढे और ऐसी वस्तुओं के आयात की अनुमति हो जो आर्थिक विकास को बढावा देता हैं। आयात नियन्त्रण की नीति देशी उद्योगो को सरक्षण प्रदान करती है। भारत म 1957 के बाद से निर्यात सम्वर्द्धन प्रयत्नो का विकास हुआ। अनावश्यक आयातो को हतोत्साहित करने के लिए आयात नियन्त्रण लगाए हैं। बहुत सी वस्तुओ का आयात ही बन्द कर दिया गया है। इस प्रकार एक विकास प्रेरित विदेशी व्यापार नीति का अनुसरण आर्थिक विकास म सहायक रहा है।

(vi) जनसख्या एव श्रम नीति (Popul tion Policy and Labour Policy)—एक आदर्श जनसख्या देश के आर्थिक विकास म सहायक होती है जबकि जनाभाव और जनाधिक्य की समस्यायें आर्थिक विकास को अवरुद्ध करती हैं। भारत म अत्यधिक जनसख्या क कारण आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पडा है और उसक कारण अनक आर्थिक समस्याओं का प्रादुर्भाव हुआ है जैसे बेकारी, खाद्यान्न समस्या, आवास समस्या आदि। भारत म परिवार नियोजन कार्यों पर व्यय करना पडता है। अब इस नीति का साकारात्मक प्रभाव पड रहा है जो भावी आर्थिक विकास मे सहायक होगा। इसी प्रकार उपयुक्त श्रम नीति स पूँजी और श्रम म सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर उनम सघर्ष टाला जा सकता है औद्योगिक शान्ति स्थापित की जा सकती है तथा श्रमिकों का उद्योगो के लाभ म सहभागिता द्वारा

अधिक उत्पादन की प्रेरणा दी जा सकती है। ये सब उपयुक्त श्रम-नीति के वे भाग हैं जो प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक विकास को प्रभावित करते हैं।

10 **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना (To Secure International Co-operation for Economic Development)**—आज के अन्तर्राष्ट्रीय परस्पर निर्भरता के युग मे सरकार आर्थिक विकास मे विकसित राष्ट्रो का आर्थिक सहयोग प्राप्त कर अपने आन्तरिक विकास को प्रेरित कर सकती है। विदेशो से औजार, मशीनें, तकनीकी विशेषज्ञ आदि आर्थिक विकास के लिये आयात किये जा सकने हैं और बदले म ऐसी वस्तुएँ दी जा सकती हैं जिनसे देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त हो और देश मे लोगो को रोजगार भी मिले। विकसित राष्ट्रो से मैत्री सम्बन्ध रखकर सरकार अर्द्ध विकसित राष्ट्र के लिये विदेशी ऋण ले सकती है, सैनिक सन्धियो से बाह्य आक्रमण से मुक्ति पा सकती है।

भारत को अपनी विकास योजनाओ को क्रियान्वित करने मे पाश्चात्य राष्ट्रो से ही सहायता नही मिली वरन् साम्यवादी रूस, चेकास्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि से भी सहायता मिली है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सगठनो का भी पूर्ण योग रहा है। भारत म गुट निरपेक्षता की नीति से पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनो शक्तियो के सहयोग से सरकार आर्थिक विकास मे काफी सहायक सिद्ध हुई है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 "सरकार का आर्थिक योगदान सदैव बदल एव बढ रहा है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

(सकेत–प्रथम भाग मे बताना है कि सरकार की भूमिका बदलने के साथ साथ बढ रही है। दूसरे भाग मे वर्तमान सरकारो की भूमिका शीर्षक की सामग्री देना है।)

2 एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे सरकार को अपनी नीति निर्धारित करने के लिये जिन दिशा निर्देशो को ध्यान म रखना चाहिये, उन पर अपने सुझाव प्रस्तुत कीजिये।

(सकेत–आधुनिक सरकारो की अर्थव्यवस्थाओ मे बढती भूमिका के शीर्षक की सामग्री विकास, जनसख्या नियन्त्रण, बेरोजगारी पर रोक, आर्थिक समानता, शोषण पर रोक, दरिद्रता निवारण, पूँजी-निर्माण, प्रवृत्तियो को प्रभावित करने आदि के सन्दर्भ मे देना है।)

3 वे कौन-कौनसी विधियां हैं जिनके द्वारा आधुनिक सरकार देश की आर्थिक क्रियाओ मे हस्तक्षेप करती है या आर्थिक क्रियाओ का नियमन करती है?

(Raj I yr T D C 1974)

अथवा

आधुनिक ढग की सरकारें किस प्रकार आर्थिक विकास मे अपनी भूमिका अदा करती हैं?

अथवा

विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक विकास को गति प्रदान करने के लिये सरकार क्या-क्या उपाय अपना सकती है?

अथवा

मिश्रित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकार के आर्थिक महत्व को स्पष्ट कीजिये।

(संकेत—प्रश्न के उत्तर में "आर्थिक विकास में सरकार की भूमिका" शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये सभी विषय सामग्री को संक्षेप में दीजिये।)

4. "सरकार आर्थिक विकास की प्रेरक, मार्ग दर्शक और निर्धारक है" इस कथन की भारतीय सदर्भ में पुष्टि कीजिये।

(संकेत—प्रश्न के उत्तर में "सरकार की आर्थिक विकास में भूमिका" तथा आर्थिक विकास को गति प्रदान करने वाले तरीकों को भारतीय उदाहरण देकर बताइये।)

5. उन तरीकों का वर्णन कीजिये जिनके द्वारा सरकार देश के आर्थिक विकास का प्रोत्साहन दे सकती है। (Raj Ist Yr. TDC 1973, 75, 77)

(संकेत—इसके उत्तर में अध्याय में दिये गये तरीकों का शीर्षकानुसार विवेचन कीजिये।)

6 एक विकासशील अर्थव्यवस्था में सरकार की अपनी नीति निर्धारित करने के लिए जिन दिशा निर्देशों को ध्यान में रखना चाहिये, उन पर अपने सुझाव प्रस्तुत कीजिये। (Raj Ist yr. T D.C. 1978)

(संकेत—प्रथम भाग में अर्द्ध-विकसित एवं विकासशील अर्थव्यवस्था का अभिप्राय स्पष्ट करके दूसरे भाग में आवश्यक दिशा निर्देश (Guidelines) अध्याय में शीर्षकानुसार देना है और तीसरे भाग में उन सुझावों को दीजिये जो आर्थिक विकास में जरूरी हैं जैसे जन सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, जनसंख्या नियन्त्रण, राजनैतिक स्थायित्व आदि।)

18

आधुनिक अर्थव्यवस्था में मुद्रा तथा मुद्रा का सृजन

(Creation of Money in Modern Economy)

आधुनिक युग म मुद्रा का महत्व इतना अधिक बढ गया है कि इसे मुद्रा युग कहा जाय तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी। मानव की समस्त आर्थिक क्रियाये– उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा राजस्व मुद्रा के इद गिद चक्कर काटती है। इसी प्रकार मुद्रा को अर्थतन्त्र की धुरी कहा गया है।

मुद्रा का अर्थ (Meaning of Money)—अग्रेजी म "Money" शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के "Moneta" शब्द से हुई है जो रोम की देवी जुनो का प्रथम नाम था। वह स्वर्ग की रानी मानी जाती थी। इसी कारण मुद्रा (Money) को भी स्वर्गीय आनन्द का प्रतीक माना जाता है क्योंकि मुद्रा के प्रयोग से सब काय सम्भव होत है। मुद्रा को अनेक विद्वानो ने परिभाषित किया है। रावर्टसन जैसे अर्थशास्त्री केवल धात्विक सिक्को को ही मुद्रा मानते हैं। उनके अनुसार मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो अन्य वस्तुओ के मूल्य के भुगतान मे अथवा व्यवसायिक दायित्वों को निपटाने मे विस्तृत रूप मे स्वीकार की जाती है। जबकि दूसरी ओर हार्टले विदर्स (Hartley Withers) के अनुसार "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे" (Money is what money does)। इसी प्रकार प्रो कोल के अनुसार मुद्रा केवल क्रय-शक्ति है जो वस्तुएँ खरीदती है। रोबर्टसन की परिभाषा बहुत सकीर्ण है जबकि हार्टले विदस तथा कोल की परिभाषाएँ बहुत ही विस्तृत हैं। विस्तृत दृष्टिकोणो के अनुसार तो धात्विक, कागजी मुद्रा व साख-पत्र सब मुद्रा मे सम्मिलित होते हैं। आधुनिक विचारधारा के अनुसार मध्यम मार्ग एव उचित दृष्टिकोण अपनाया गया है जिसम कीन्स, मार्शल तथा क्राउथर आदि प्रमुख हैं। मार्शल के अनुसार "मुद्रा मे वे सब सम्मिलित है जो किसी समय अथवा स्थान पर नि सकोच वस्तुओ व सेवाओं को खरीदने तथा खर्चों के भुगतान के साधन के रूप में साधारणतया प्रचलित रहती हैं।" इसी प्रकार कीन्स (Keynes) के शब्दो मे "मुद्रा वह वस्तु है जिसको देकर ऋण प्रसविदों तथा कीमत प्रसविदो का भुगतान किया जाता है और जिसके रूप मे सामान्य क्रय शक्ति का सचय किया जाता है।"

उपयुक्त परिभाषा—उपर्युक्त विभिन्न दृष्टिकोणों के समन्वय से हम मुद्रा की एक उपयुक्त परिभाषा दे सकते हैं "कोई भी वस्तु जिसे विनिमय के माध्यम, मूल्य का मापक, भावी ऋणों के भुगतान का मापदण्ड तथा मूल्य सचय के साधन के रूप में स्वतन्त्र, विस्तृत तथा सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो, मुद्रा कहलाती है।" इससे स्पष्ट है अगर साख-पत्र किसी क्षेत्र विशेष मे निःसकोच विनिमय का माध्यम व मूल्य का मापक होने के साथ-साथ सर्वग्राह्य हों तो वह भी मुद्रा ही कही जा सकती है पर सामान्यतया साख-पत्रों को मुद्रा की श्रेणी मे नहीं लिया जाता क्योंकि उनमें सर्वग्राह्यता तथा एच्छिक हस्तान्तरण का अभाव होता है। साख-पत्रों में सचय शक्ति भी नहीं होती। अत. मुद्रा में विधिग्राह्य धात्विक सिक्के व कागजी मुद्रा ही सम्मिलित होते हैं।

मुद्रा का स्वभाव या प्रकृति (Nature of Money)—मुद्रा अर्थव्यवस्था का एक सक्रिय एव सचेष्ट साधन है क्योंकि मुद्रा के प्रयोग से आर्थिक गतिविधियों का मार्गदर्शन होता है, साहसी को प्रेरणा मिलती है। मुद्रा एक ऐसा आवरण है जिसके पीछे वास्तविक आर्थिक शक्तियों का कार्य छिपा है। मुद्रा में सर्वग्राह्यता का गुण होता है जो वस्तु के गुण व विधिग्राह्यता पर निर्भर करता है। मुद्रा एक साधन है साध्य नहीं क्योंकि मुद्रा विनिमय का माध्यम और मूल्य मापक होता है। मुद्रा सम्पत्ति का सबसे तरल रूप होता है क्योंकि मुद्रा मे सर्वग्राह्यता होती है। मुद्रा की उपयोगिता स्थान और समय के अनुसार भिन्न भिन्न होती है जैसे भारतीय मुद्रा का अमेरिका में कम महत्व होता है। आजकल मुद्रा की पूर्ति तथा माग पर सरकार का प्रभावी नियन्त्रण रहता है।

मुद्रा के कार्य
(Functions of Money)

मुद्रा का आविष्कार ही वस्तु विनिमय में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के समाधान के लिये हुआ है। सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे मुद्रा का कार्य वस्तुओं व सेवाओं के विनिमय का माध्यम व मूल्य मापक था पर आधुनिक युग म मुद्रा अनेक कार्यों का सम्पादन करती है। प्रो. क्राउथर (Crowther) के अनुसार "मुद्रा के कार्य हैं चार—माध्यम, मापक, सचय और आधार" (Money is a matter of functions four—A madium, A measure, A standard, A Store)। आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा के कार्यों को चार भागों मे विभाजित करते हैं—

मुद्रा के कार्य (Functions)

प्राथमिक कार्य	गौण कार्य	आकस्मिक कार्य	अन्य कार्य
(1) विनिमय का माध्यम	(1) विलम्बित	(1) आय-वितरण	(1) निर्णय वाहक

(2) मूल्य का मापक भुगतान का आधार (ii) अधिकतम उपयोग (ii) शोध क्षमता की गारन्टी
(ii) क्रय-शक्ति का सचय (iii) साख का आधार
(iv) पूँजी की तरलता
(iii) मूल्य-हस्तान्तरण

(1) **मुद्रा के प्राथमिक कार्य** (Primary Functions)—ये मुद्रा के अत्यावश्यक कार्य हैं जो अर्थव्यवस्था मे मुद्रा को पूरे करने पड़ते हैं । (i) **विनिमय का माध्यम** (Medium of Exchange)—मुद्रा मे सर्वग्राह्यता का गुण होने से यह वस्तुओ और सेवाओ के विनिमय के माध्यम का कार्य करती है । यह वस्तु-विनिमय (Barter) की कठिनाइयो को समाप्त करती है । अब मुद्रा के द्वारा क्रय-विक्रय अथवा लेन देन सरल हो गया है (ii) **मूल्य मापक** (Measure of Value)—मुद्रा का दूसरा प्रमुख कार्य वस्तुओ और सेवाओ के लेन-देन मे उनका तुलनात्मक मूल्य मापन करना है । कालबोर्न ने मुद्रा के इस कार्य को प्रमुख माना है । जिस प्रकार लीटर, मीटर, किलो, भौतिक वस्तुओ के मापदण्ड हैं उसी प्रकार मुद्रा सभी वस्तुओ और सेवाओ का एक सामान्य मापदण्ड (Common Measure of value) है । मुद्रा के दोनो कार्य परस्पर सम्बन्धित हैं ।

(2) **मुद्रा के सहायक या गौण कार्य** (Secondary Functions of Money)—मुद्रा के उपर्युक्त दो कार्यों के अतिरिक्त कुछ गौण कार्य भी महत्वपूर्ण हैं । इसके अन्तर्गत तीन कार्य हैं—

(i) **विलम्बित भुगतान का मान** (Standard for Deferred Payments)—आधुनिक युग मे समूचा आर्थिक ढाचा उधार लेनदेन व साख पर आधारित है अत. भावी भुगतानो का आधार मुद्रा ही है । आज के उधार सौदे भविष्य मे मुद्रा के द्वारा ही निपटाने मे उपयुक्त मान माना जाता है ।

(ii) **क्रय शक्ति का सचय** (Store of Value)—मुद्रा मे सर्वग्राह्यता, टिकाऊपन, मूल्य स्थिरता तथा सग्रह की सुविधा होती है अतः मुद्रा मे क्रय-शक्ति का सचय अपेक्षाकृत सरल होता है । वर्तमान आय को मुद्रा के रूप मे भविष्य के लिये बचाकर पूँजी सचय किया जाता है ।

(iii) **मूल्य का हस्तान्तरण** (Transfer of Value)—मुद्रा की सर्वग्राह्यता टिकाऊपन तथा विनिमय के माध्यम के रूप मे मूल्य का हस्तान्तरण सुविधाजनक हो गया है । अगर व्यक्ति एक स्थान पर अपनी सम्पत्ति को बेचकर मुद्रा प्राप्त करता है दूसरे स्थान पर खरीद लेता है इससे साधनो की गतिशीलता व वहनीयता बढ़ जाती है ।

3 **मुद्रा के आकस्मिक कार्य** (Contingent Functions)—प्रो० किनले (Kinley) ने आर्थिक विकास की प्रक्रिया मे मुद्रा के आकस्मिक रूप से उद्भव होने

वाले चार कार्यों का उल्लेख किया है जिससे आर्थिक क्रियायें ठीक प्रकार से चलती हैं—

(i) सामाजिक आय का वितरण (Distribution of Social Income)—बड़े पैमाने की उत्पत्ति मे उत्पादन के विभिन्न साधनो का सहयोग प्राप्त कर उत्पत्ति की जाती है। इस सामूहिक उत्पादन का उन साधनो मे वितरण मुद्रा के रूप मे भुगतान द्वारा ही सम्भव होता है। मुद्रा उत्पत्ति के विभिन्न साधनो का मूल्य-निर्धारण तथा उनमे वितरण की व्यवस्था सुविधाजनक बनाती है।

(ii) साधनों के अधिकतम उपयोग का आधार—मुद्रा के उपयोग से उपभोक्ता अपने सीमित साधनो से अधिकतम सन्तुष्टि सम सीमान्त उपयोगिता नियम के द्वारा कर सकता है। ठीक इसी प्रकार उत्पादक भी उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर प्रतिफल चुकाता है। इस प्रकार मुद्रा द्वारा उत्पादन तथा उपभोग दोनो क्षेत्रो म अधिकतम लाभ प्राप्त करना सम्भव होता है।

(iii) मुद्रा साख का आधार है (Money is basis of Credit)—क्योकि बैंकिंग एव वित्तीय सस्थायें मुद्रा के आधार पर ही साख का सृजन करती हैं। बैंको, हुण्डियो एव साख पत्रो का आधार मुद्रा ही है।

(iv) पूँजी की तरलता एव उत्पादकता मुद्रा म बहुत कुछ निहित है क्योकि मुद्रा पूँजी को तरलतम रूप प्रदान कर उसे गतिशील बनाती है। यही कारण है कि व्यक्ति अधिक लाभोपार्जन के लिये पूँजी को तरल रूप मे रखना पसन्द करते हैं।

4 विविध कार्य—इसके अन्तर्गत दो कार्य आते है। पहला मुद्रा निर्णय का वाहक (Bearer of Option) होती है। मुद्रा से व्यक्ति अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ, सेवायें हर समय तथा हर स्थान पर प्राप्त कर सकता है तथा दूसरा मुद्रा शोधन क्षमता की गारन्टी (Guarantor of Solvency) है। जब तक लोगो के पास मुद्रा होती है वे ऋणो को भुगतान करने की क्षमता रखते है तथा उनके दिवालिया घोषित होने की सम्भावना नही होती।

आधुनिक अर्थव्यवस्था मे मुद्रा का महत्व या भूमिका
(Importance or Role of Money in Modern Economy)

आधुनिक युग "मुद्रा का युग" कहा जाये तो भी कोई अतिशयोक्ति नही होगी क्योकि मुद्रा आज हमारे आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक जीवन की मार्ग दर्शक और सचालक है। मार्शल के अनुसार "मुद्रा वह धुरी है जिसके चारो ओर अर्थतन्त्र चक्कर काटता रहता है।" प्रो० क्राउथर ने यहा तक कहा है कि जो महत्व यन्त्र शास्त्र मे पहिए का, विज्ञान मे अग्नि का तथा राजनीति मे मत (Vote) का है वही स्थान मनुष्य के आर्थिक जीवन मे मुद्रा के आविष्कार का है।' इन विचारो के सन्दर्भ मे हम मुद्रा का निम्न महत्व देखते हैं—

1 मुद्रा आर्थिक क्रियाओं की प्रेरक है, मुद्रा अर्जन के लिये मनुष्य आर्थिक क्रियाएँ करता है, जोखिम उठाता है नये कार्यों की शुरुआत करता है अर्थात् मुद्रा आर्थिक क्रियाओ की शुरुआत करती है तथा उन्हे प्रेरणा देती है।

2. मुद्रा आर्थिक घटनाओ व कार्यों का मापक होती है—क्योकि मुद्रा मूल्य का सामान्य मापदण्ड प्रदान करती है। एक देश की आर्थिक क्रियाओ की तुलना या एक ही देश मे आर्थिक क्रियाओ की विभिन्न समयो व स्थानो पर तुलना करना मुद्रा के द्वारा ही सम्भव होता है। आर्थिक विकास को मुद्रा के मापदण्ड द्वारा ही मापा जाता है।

3. मुद्रा अर्थ-तन्त्र की धुरी है। मुद्रा के कारण उपभोग के क्षेत्र मे उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि सम्भव होती है और जीवन-स्तर को ऊँचा करने मे सहायता मिलती है। **मुद्रा के कारण उत्पादन मे विविधता तथा अधिकतम वृद्धि सम्भव होती** है। पूँजी निर्माण मे सहायता मिलती है। उत्पादन के साधनो मे गतिशीलता आती है। **विनिमय के क्षेत्र** मे मुद्रा की भूमिका अद्वितीय है मुद्रा के कारण वस्तु-विनिमय कठिनाइयो का समापन हुआ है। मुद्रा आधुनिक बाजार व्यवस्था का आधार है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो का विकास हुआ है। **वितरण के क्षेत्र** मे भी मुद्रा ने सामूहिक उत्पादन की व्यवस्था को सुगम बनाया है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनो का प्रतिफल मुद्रा म ही दिया जाता है। **राजस्व की सब क्रियायें**—करारोपण, व्यय, ऋण, अनुदान आदि की व्यवस्था मुद्रा के रूप मे ही की जाती है।

4 मुद्रा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का तो प्राण ही है *क्योकि उसमे उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण तथा राजस्व की सब क्रियाओ का सम्पादन मुद्रा द्वारा ही सम्भव होता है। मुद्रा मूल्य तन्त्र के रूप मे आर्थिक गतिविधियो की नियन्त्रक व* सचालक है।

5. आधुनिक साख, वित्तीय एव बैंकिंग व्यवस्था मुद्रा पर निर्भर है क्योकि साख सृजन मुद्रा द्वारा होता है। वित्तीय सस्थायें बैंक, बीमा आदि के व्यवसाय का मूल आधार मुद्रा ही है।

6 मुद्रा आर्थिक प्रगति का सूचक एव नियन्त्रक है—हम किसी देश की आर्थिक स्थिति का मूल्याकन राष्ट्रीय आय के आकार को जो द्रव्य के रूप मे व्यक्त होता है, के आधार पर करते है। प्रतिव्यक्ति आय तथा धन का वितरण अर्थव्यवस्था की स्थिति स्पष्ट करता है। मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है। आर्थिक मन्दी तथा युद्धोत्तरकालीन तेजी मे मुद्रा का महत्वपूर्ण योग रहता है। यही कारण है कि आजकल उचित मौद्रिक नीति से आर्थिक जीवन को नियन्त्रित किया जाता है।

7. आर्थिक विकास व रोजगार मे वृद्धि मुद्रा की सहायता से सम्भव होती है। मुद्रा के रूप मे आय, बचत व उपभोग प्रभावित होता है जिससे विनियोग व उत्पादन क्रियाओ का विस्तार होता है। आर्थिक विकास के साथ-साथ पूर्ण रोजगार का मार्ग प्रशस्त होता है।

8 राजनैतिक क्षेत्र मे भी मुद्रा की भूमिका महत्वपूर्ण है। मुद्रा से राजनैतिक चेतना उत्पन्न होती है। प्रजातन्त्र मे सत्ता हथियाने मे मुद्रा सहायता देती है

तथा मौद्रिक सहयोग से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ता है। आज विकसित राष्ट्र पिछड़े राष्ट्रों को आर्थिक सहायता मुद्रा के रूप मे देकर उन पर अपना राजनैतिक प्रभाव जमाते हैं।

9 समाज मे प्रतिष्ठा, शिक्षा, जीवन-स्तर आदि मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करते हैं। लोगो के पास पर्याप्त मुद्रा उनकी गरीबी को मिटाती है, सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है। एक अच्छे कलाकार, गायक, लेखक व वकील की पहचान उसकी मौद्रिक आय पर निर्भर करती है। ससार के सभी सुख, सम्मान व वस्तुएँ मुद्रा द्वारा प्राप्त होती हैं। इसीलिये प्रो होरेस (Horrace) ने कहा है—

"All Things Human, Divine-Renown, Honour and Worth at Money's Shrine go down"

मुद्रा के सम्भावित दोष या खतरे
(Evils or Disadvantages of Money)

यद्यपि मुद्रा मानव के आर्थिक जीवन म महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, उससे अनेक दोष भी हैं। प्रो० रोबर्टसन के शब्दो मे "मुद्रा जो मनुष्य मात्र के लिये अनेक वरदानो का स्रोत है, अनियन्त्रित रहने पर सकट एव अस्त-व्यस्तता का कारण बन जाती है।" इस तरह मुद्रा का आविष्कार एक बहुमूल्य किन्तु भयानक आविष्कार है। (i) मुद्रा के कारण आर्थिक विषमता मे वृद्धि होती है। पूँजीपति अधिक आय उपार्जित करते हैं जबकि गरीब मुद्रा के अभाव म कम आय प्राप्त करते हैं। (ii) मुद्रा से आर्थिक शोषण को प्रोत्साहन मिलता है क्योकि अधिक धन केन्द्रित करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। पूँजीपति कम मजदूरी, वेतन, अधिक लगान आदि के रूप मे शोषण करते हैं। (iii) ऋणग्रस्तता म वृद्धि होती है क्योकि मुद्रा के कारण ऋण व्यवस्था सरल हुई है। (iv) मुद्रा की मात्रा मे अत्यधिक कमी या वृद्धि व्यापार चक्रों को जन्म देती है। मुद्रा के कारण अति-उत्पादन तथा अधि पूँजीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। (v) मुद्रा समाज मे वर्ग संघर्ष को जन्म देती है तथा मुद्रा के मोह से लालच, धोखेबाजी, चोरी-डकैती तथा नैतिक बुराइयो को प्रोत्साहन मिलता है। मुद्रा के महत्व ने प्रेम, सदाचार, सद्भावना तथा मित्रता जैसे पावन विचारो को समाप्त-सा कर दिया है। (vi) मुद्रा राजनैतिक भ्रष्टाचार, दल बदल, साम्राज्यवाद तथा शोषण का कारण है।

मुद्रा का वर्गीकरण
(Classification of Money)

मुद्रा का वर्गीकरण अनेक आधारो पर किया जाता है पर हम यहा मुद्रा का वर्गीकरण उसके मुद्रा-पदार्थ के आधार पर ही करेंगे।

1. **धात्विक मुद्रा (Metallic Money)**—मुद्रा वह होती है जिसम धातु के बने सिक्के प्रचलन मे रहते हैं। ये सिक्के सोना, चादी या तावा आदि किसी

धातु के बने होते हैं। वैसे तो सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे चमडा, हथियार, मोती, कोडियाँ, अनाज, पशु आदि मुद्रा के रूप मे प्रयुक्त किये जाते थे, पर धात्विक मुद्रायें ही अधिक प्रचलन मे रही हैं। धात्विक मुद्रा मे अगर स्वर्ण मुद्रामान का आधार होता है तो उसे स्वर्णमान (Gold Standard), रजत या चादी की मुद्राएँ प्रचलित होने पर रजतमान (Silver Standard) कहते हैं।

जब धात्विक मुद्रा के पूर्णकाय सिक्के प्रचलन मे होते हैं अर्थात् (i) धातु की मुद्रा देश की प्रधान मुद्रा होती है, (ii) वह असीमित मात्रा मे विधिग्राह्य होती है, (iii) सिक्को का आन्तरिक एव बाह्य मूल्य बराबर होता है तथा (iv) सिक्को की ढलाई स्वतन्त्र होती है तो ऐसे सिक्को या धात्विक मुद्रा को प्रामाणिक या पूर्णतया धात्विक मुद्रा (Standard Coins) कहते हैं।

इसके विपरीत अगर धात्विक सिक्को का प्रचलन मे गौण स्थान हो, (i) उनको सीमित मात्रा मे ही विधिग्राह्य माना जाता हो, (ii) उनका आन्तरिक मूल्य बाह्य मूल्य से कम हो तथा (iii) स्वतन्त्र ढलाई न हो तो उन्हे साकेतिक सिक्के (Token Coins) कहते हैं। इसके अन्तर्गत 10, 20, 25 पैसे के सिक्के आते हैं।

भारतीय रुपये के सिक्को को प्रामाणिक साकेतिक सिक्का (Standard Token Coins) कहते है क्योकि उसमे पहली दो विशेषताएँ—देश का प्रधान सिक्का व असीमित विधिग्राह्य—तो प्रामाणिक मुद्रा की हैं जबकि दो विशेषताएँ—आंतरिक मूल्य बाह्य मूल्य से कम तथा स्वतन्त्र ढलाई नही—साकेतिक सिक्के की हैं।

2. पत्र मुद्रा (Paper Money)—आजकल विश्व के सभी राष्ट्रो मे कागजी मुद्रा प्रचलित है। कागज के नोट मुद्रा के रूप मे प्रचलित रहते हैं। मुद्रा निर्गमन अधिकारी कागजी नोटो के पीछे सुरक्षा की दृष्टि से कुछ सुरक्षित कोष बहुमूल्य धातुओ के रूप मे रखते हैं परन्तु धीरे-धीरे देशो मे मौद्रिक व्यवस्था मे लोगो का विश्वास जमते जाने के कारण धात्विक कोषो का प्रचलन कम होता जा रहा है। (i) जब पत्र मुद्रा के पीछे शत-प्रतिशत धात्विक कोष रखे जाते है तो उसे प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative Paper Money) कहते हैं। (ii) जब पत्र मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत कोष नहीं रखकर आनुपातिक कोष रखे जाते है और सरकार नोटो को धातु मे परिवर्तन का उत्तरदायित्व लेती है तो उसे परिवर्तनशील पत्रमुद्रा (Convertible Paper Money) कहते हैं। (iii) जब सरकार नोटो के पीछे धात्विक कोष तो रखती है पर उन्हे धातु मे बदलने का उत्तरदायित्व नही लेती तो अपरिवर्तनशील (Inconvertible Paper Money) कहते हैं। आजकल प्राय. अधिकाश देशो मे अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा ही प्रचलित हैं।

मुद्रा का सृजन
(Creation of Money)

किसी भी देश मे मुद्रा (Money) का सृजन सरकार या सरकार द्वारा अधिकृत सस्था द्वारा किया जाता है। पुराने जमाने मे भी सरकार की टकसालो मे

धात्विक सिक्के ढाले जाते थे। धीरे-धीरे मुद्रा का आर्थिक क्षेत्र में महत्व बढ़ता गया और मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण की नौबत आई। धात्विक मुद्रा सृजन में पहले पूर्णकाय धातु के सिक्के ढाले जाते थे पर लोगों में विश्वास बढ़ने तथा अत्यधिक मात्रा में मुद्रा की पूर्ति को देखते हुए पूर्णकाय सिक्को के स्थान पर अर्द्ध-शुद्धता के सिक्के प्रचलित होने लगे। अब तो विश्व के प्रायः सभी देशों में कागजी मुद्रा का बोलवाला है। भारत में रिजर्व बैंक की स्थापना के पहले धात्विक सिक्कों की ढलाई सरकारी विभाग के अन्तर्गत होती थी तथा कुछ बड़े बैंकों को नोट छापने का अधिकार दिया गया था। पर रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद से नोट छापने तथा सिक्के ढालने का सारा कार्य रिजर्व बैंक के पास है। भारत सरकार का वित्त विभाग एक रुपये के नोट छापता है। इन्हें करेन्सी नोट (Currency Note) कहा जाता है जबकि रिजर्व बैंक द्वारा छापे जाने वाले नोटों को बैंक नोट (Bank Note) कहा जाता है। भारत में प्रचलित कागजी मुद्रा के प्रचलन का एक मात्र अधिकार भारतीय रिजर्व बैंक के पास है। केन्द्रीय बैंक के मुद्रा सृजन की विधि में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। 1957 से पूर्व भारत में नोट निर्गमन के लिये आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) प्रचलित थी जिसमें रिजर्व बैंक नोट निर्गमन के पीछे 40% स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोष रखना आवश्यक था बाकी 60% भारतीय प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता था। किन्तु 1957 से भारतीय मुद्रा प्रणाली को लोचपूर्ण एवं मितव्ययितापूर्ण बनाने के लिये तथा विदेशी विनिमय संकट से छुटकारा पाने के लिये न्यूनतम कोष (Minimum Reserve System) अपनाई गई है। अब रिजर्व बैंक को नोट निर्गमन के लिये कुल मिलाकर 115 करोड़ रु मूल्य का स्वर्ण कोष तथा 85 करोड़ रु की विदेशी प्रतिभूतियां अर्थात् कुल मिलाकर 200 करोड़ रु कोष रखने की आवश्यकता है और बिना किसी दिक्कत के असीमित मात्रा में नोट निर्गमन किया जा सकता है।

देश में धात्विक सिक्कों की ढलाई भी भारतीय रिजर्व बैंक के अन्तर्गत होती है जो सरकार के निर्देशानुसार देश की मौद्रिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए मुद्रा का सृजन करता है। भारतीय रिजर्व बैंक का नोट निर्गमन विभाग इसके पूर्ण देख-रेख में मुद्रा सृजन करता है। देश में रेजगी की कमी को पूरा करने के लिये एल्यूमिनियम व निकल आदि घटिया धातुओं के सिक्के ढाले जा रहे हैं। रुपया देश का सांकेतिक प्रामाणिक सिक्का है जबकि अन्य धात्विक सिक्के देश के सांकेतिक सिक्के हैं।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 मुद्रा जो मानव के लिये बहुत से वरदानों का स्रोत है, यदि हम उसे नियन्त्रित न करें तो वह खतरों एवं अव्यवस्था का स्रोत भी बन जाता है। विवेचन कीजिये। (I yr T D C Collegiate 1977)

(सकेत–मुद्रा को वरदानो का स्रोत सिद्ध करने के लिये उसके महत्व को बताना है तथा दूसरे भाग मे उसके दोषो की व्याख्या करना है।)

2 "मुद्रा एक अच्छा नौकर है पर बुरा स्वामी" इस कथन की पुष्टि कीजिये।

अथवा

मुद्रा के महत्व एव उसके दोषो का उल्लेख कीजिये।

(सकेत–पहले भाग मे मुद्रा का अर्थ बताकर फिर मुद्रा के आर्थिक, राजनैतिक एव सामाजिक महत्व को स्पष्ट कीजिये तथा फिर उसके दोषों का उल्लेख कीजिये और अन्त मे निष्कर्ष दीजिये कि मुद्रा एक साधन है, उसके नियन्त्रण के लिए मानव जिम्मेदार है।)

3 "मुद्रा वह धुरी है जिसके चारो ओर अर्थतन्त्र चक्कर लगाता है।" स्पष्ट कीजिये।

(सकेत–इसमे मुद्रा के आर्थिक महत्व को स्पष्ट कीजिये।)

4 मुद्रा की प्रकृति, कार्य एव महत्व का विवेचन कीजिये।

(Raj I yr T D C 1976)

(सकेत–अध्याय मे दिये गये शीर्षकानुसार विवरण देना है।)

19

साख-सृजन एवं साख-सृजन संस्थायें

(Creation of Credit & Institutions Creating Credit)

आधुनिक अर्थव्यवस्था में साख के महत्व को स्पष्ट करते हुए वेब्स्टर ने लिखा है "राष्ट्रों को धनवान बनाने में दुनियां की समस्त खानों ने जो काम किया है उससे कई हजार गुना कार्य साख द्वारा किया गया है।" आज साख के अभाव म व्यापार, उद्योग एवं व्यवसाय चौपट हो सकते हैं। अत. साख के महत्व को देखते हुए इसके बारे में जानकारी आवश्यक है।

साख का अर्थ (Meaning of Credit)—'साख' शब्द की उत्पत्ति लेटिन शब्द "Credo" से हुई है जिसका अर्थ "मैं विश्वास करता हूं" होता है। जब कोई व्यक्ति भविष्य में भुगतान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर वर्तमान में मुद्रा अथवा मूल्यवान वस्तुएँ व सेवाएँ प्राप्त करता है यह शक्ति या सामर्थ्य ही साख कहलाती है। प्रो जेवन्स के अनुसार "साख का अर्थ भुगतान को स्थगित करना है।" जबकि किनले के शब्दों म "साख से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति की उस शक्ति या सामर्थ्य से है जिससे वह अन्य व्यक्ति को भविष्य मे भुगतान की प्रतिज्ञा पर अपनी आर्थिक वस्तुएँ देने को प्रेरित करता है।" इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि "साख ऋणी की उस शक्ति अथवा गुण का परिचायक है जिसके आधार पर वह वर्तमान मे मुद्रा, वस्तुओं व सेवाओं का प्रयोग भविष्य की भुगतान प्रतिज्ञा पर प्राप्त करता है जैसे एक उत्पादक मशीन उधार पर प्राप्त कर उत्पादन करता है या बैंक से ऋण लेकर कच्चा माल प्राप्त करता है अथवा उधार पर माल खरीदा-बेचा जाता है।"

साख के आधार (Basis of Credit)—किसी व्यक्ति की साख अनेक बातों पर निर्भर करती है— (i) विश्वास साख का प्रमुख आधार है। विश्वास के अभाव में साख नहीं होती (ii) चरित्र साख का दूसरा आधार है। जो व्यक्ति उच्च चरित्र वाला होता है उनकी साख भी अधिक होती है (iii) सम्पत्ति का आधार जितना बड़ा होगा उतनी ही साख अधिक होगी साथ ही अगर सम्पत्ति तरल हो तो साख अधिक होती है (iv) साख का उपयोग अगर उत्पादक कार्यों मे किया जाता है तो साख अधिक और अनुत्पादक कार्यों मे होने पर साख कम होती है (v) अल्पकाल

मे साख अधिक जबकि दीर्घकाल मे साख कम होती हैं (vi) ऋण की राशि कम होने पर साख बढती है पर ऋण बढ जाने पर साख कम हो जाती है।

बैंको द्वारा साख का निर्माण
(Creation of Credit by Banks)

आधुनिक बैंको का एक प्रमुख काय साख निर्माण या साख सृजन करना है। साख-सृजन का अर्थ वित्तीय सस्थाओं की उस शक्ति या क्षमता से है जिसके द्वारा वे अपने ऋणो अग्रिमों अथवा निवेशों की प्रक्रिया आदि से साख की मात्रा बढा देते हैं। आश्चय तब होता है जब किसी देश के बैंको मे कुल जमा (Total Bank Deposits) देश म प्रचलित कुल मुद्रा की मात्रा (Total Currency in Circulation) से अधिक ही नही वरन् कई गुना अधिक होती है जैसे इगलैंड म 1969 मे 368 करोड पौण्ड मुद्रा प्रचलन मे थी पर उस वष बैंको मे कुल जमा राशि का योग 2461 करोड पौण्ड अर्थात् लगभग 7 गुना अधिक थी। यही बैंको की रहस्यमयी साख निर्माण की करामात है। इसीलिये प्रो सेयम ने कहा है कि "बैंक केवल एक द्रव्य जुटाने वाली सस्था ही नहीं हैं वरन् वे द्रव्य सृजन सस्थाएँ भी हैं।"

साख निर्माण कैसे होता है ?—साख का निर्माण अथवा सृजन कई प्रकार से किया जाता है।

(i) बैंक नोटो का निर्गमन—बैंक (अब केन्द्रीय बैंक) नोटो का निगमन कर साख का निर्माण करता है। नोट कागज के प्रतिज्ञा पत्र हैं जो निगमन करने वाली बैंकिंग सस्था के विश्वास पर वस्तुओ और सेवाओं के आदान प्रदान का काय करते हैं, आपसी दायित्वो को निपटाते हैं। आजकल नोट निगमन करने वाले बैंक अपने थोडे से धात्विक कोषो के आधार पर असख्य परिवतनशील पत्र मुद्रा जारी करते हैं। इस प्रकार से साख का निर्माण या सृजन होता है। पहले व्यापारिक बैंको को भी नोट निर्गमन का अधिकार होता था पर अब केवल देश के केन्द्रीय बैंक ही नोट निगमन कर साख का निर्माण करते हैं।

(ii) नकद जमा तथा साख जमा द्वारा साख सृजन—यह रीति अपेक्षाकृत ज्यादा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके कारण देश मे मुद्रा की मात्रा की अपेक्षा जमा (Deposits) अथवा निक्षेप कई गुना ज्यादा हो जाते हैं। जब बैंक मे रुपया जमा कराया जाता है तो बैंक उसका कुछ भाग अपने पास निश्चित प्रतिशत नकद कोष (Cash Reserve) के रूप मे रखकर बाकी को ऋण दे देता है। बैंक द्वारा दिया गया ऋण या तो ऋणी का खाता खोलकर उसके खाते म जमा कर दिया जाता है या वह ऋणी उस रकम को अपने दूसरे बैंक म ले जा कर जमा कर देता है ताकि जब जरूरत हो निकाल ले। यह जमा साख जमा (Credit Deposit) कहलाती है। बैंक इन ऋणियो को चैक या अन्य साख पत्रो की सहायता से इस राशि को निकालने की सुविधा दे देता है। इस प्रकार बैंक अपनी जमाओ से ऋण देकर उसे पुन

जमाओं (Deposits) के रूप में लेते हैं। जितनी अधिक रकम उधार या ऋण दी जायगी उतनी ही जमा की मात्रा बढ़ेगी। इस प्रकार पहले ऋण जमा को जन्म देते हैं (Loans create Deposits) और फिर बैंक अपने जमा के आधार पर ही ऋण देते हैं। जितनी जमाएँ अधिक होंगी उसका कुछ प्रतिशत अपने पास रखकर बाकी को उधार दे देंगे इससे जमा ऋणों को जन्म देगी (Deposits will create Loans)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बैंकों को जितना भी नकद जमा (Cash Deposits) तथा साख-जमा (Credit Deposits) के रूप में प्राप्त होता है उसके कुछ भाग को अपने पास रखकर बाकी को उधार या ऋण दे देते हैं। इस प्रकार की निरन्तर की प्रक्रिया से बैंकों के पास साख का एक बहुत बड़ा ढांचा तैयार हो जाता है। इस सम्बन्ध में प्रो कीन्स का यह कथन "ऋण जमा की सन्तान है तथा जमा ऋणों की सन्तान" सही हो जाता है।

(iii) बैंक प्रतिभूतियों, बिलों, हुण्डियों व विनिमय विपत्रों की कटौती या क्रय-विक्रय करके भी साख का निर्माण करते हैं क्योंकि इन विपत्रों का अनेक व्यक्तियों के पास हस्तान्तरण उनके नकद भुगतानों के दायित्वों को निपटाने में समर्थ होता है।

"ऋण जमा की सन्तान है और जमा ऋणों की सन्तान" कैसे ?

प्रो कीन्स ने बैंकों की साख निर्माण करने की प्रक्रिया को इन शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है—ऋण जमा की सन्तान है और जमा ऋणों की सन्तान (Loans are Children of Deposits and Deposits are the Children of Loans)। यह कथन इस रूप में चरितार्थ होता है कि जब लोग अपनी नकद बचतों को बैंक में जमा कराते हैं तो ये जमा प्राथमिक जमा (Primary Deposits) अथवा नकद जमा (Cash Deposits) या प्रत्यक्ष जमा (Direct Deposits) कहलाती हैं। फिर जब कोई व्यक्ति ऋण लेता है तो बैंक अपने नकद जमा का कुछ प्रतिशत अपने नकद कोष (Cash Reserve) में रखकर बाकी को उधार (Loans) दे देता है। बैंक द्वारा यह उधार दी गई राशि नकद में नहीं चुका कर उसके खाते में जमा करली जाती है। इस प्रकार उधार ऋण से प्राप्त जमा को व्युत्पन्न जमा (Derived Deposit) या साख जमा (Credit Deposit) कहा जाता है। जितना अधिक उधार दिया जायगा उतनी ही Credit Deposits की मात्रा बढ़ती जायगी। इस प्रकार ऋण से जमा बढ़ेगी और जमा से अधिक ऋण देना सम्भव होगा। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है—

उदाहरण—माना कि A ने बैंक में 10,000 रु. जमा कराये और बैंक इन जमाओं का 10 प्रतिशत अपने पास कोष रख कर बाकी को ऋण या अग्रिम के रूप में दे देता है। बैंक 10,000 रु की प्राथमिक नकद जमा पर 10% के हिसाब से 1,000 रु नकद कोष रख कर 9,000 रु उधार ऋणी व्यक्ति B को

दे उससे निक्षेप प्राप्त कर लेगा अर्थात् उसके खाते में जमा कर लेगा। फिर उसम से अर्थात् 9000 के 10% के रूप में कोष रख कर बाकी 8100 रु C को ऋण देकर उससे निक्षेप प्राप्त कर लेगा, फिर इसी प्रकार 8100 रु का 10% अपने पास रख बाकी 7290 रु को ऋण देकर निक्षेप प्राप्त कर लेगा। इस तरह यह क्रम चलता रहेगा। यहाँ यह मान्यता मानी गई है कि या तो (i) व्यक्ति ऋण राशि को उसी बैंक में जमा कराता है या (ii) ऋणी उस राशि को नकद लेकर दूसरे बैंक में जमा कराता है। प्रथम में पहले वाले बैंक की ही जमा और ऋणों में वृद्धि होगी और दूसरी स्थिति में अलग-अलग बैंकों में जमा और ऋण बढ़ेंगे। उपर्युक्त प्रक्रिया को तालिका में भी बताया जा सकता है—

तालिका के रूप में निरूपण

ऋणी-जमाकर्त्ता	प्राथमिक विशेष के रूप में राशि	दिये गये ऋण	कोषानुपात 10%	व्युत्पन्न निक्षेप
A	10,000	9000	1000	9000
B	9000	8100	900	8100
C	8100	7290	810	7290
D	7290	6461	729	6461
4 ऋणों से	34390	30851	3439	30851

तालिका से स्पष्ट है कि बैंक के पास प्राथमिक नकद जमा केवल 10 हजार रु. थे पर केवल तीन बार ऋण देकर निक्षेपों में जमा करने से ही कुल जमा 34390 रु हो गई तथा ऋणों की मात्रा 30851 रु है। इस प्रकार बैंक अनेकों व्यक्तियों से तो नकद जमायें प्राप्त करते हैं तथा अनेकों को उधार देते हैं इसके अनुपात में ही जमा व ऋण बढ़ते जाते हैं। इस प्रवृत्ति को ही गुणित साख निर्माण (Multiple Creation of Credit) की संज्ञा दी जाती है।

साख-निर्माण को ज्ञात करने का गणितीय सूत्र (Formula)

किसी देश के बैंकों में प्रारम्भिक जमाओं के आधार पर देश में कुल जमाओं (Total Deposits) तथा साख निर्माण क्षमता (Credit Creation Capacity) अथवा व्युत्पन्न निक्षेप (Derived Deposits) की मात्रा को हम निम्न गणितीय सूत्र से आसानी से ज्ञात कर सकते हैं—

$$\text{कुल जमा (TD)} = \frac{A}{R}$$

जिसमें A बैंको की प्रारम्भिक जमा निक्षेपो तथा R कोपानुपात (Reserve Ratio) को व्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त तालिका की प्रारम्भिक जमाम्रो (Original Deposits) तथा कोपानुपात के प्राधार पर हम देखते हैं कि—

$$\text{कुल जमा (TD)} = \frac{A}{R} = \frac{10000}{10\%} = \frac{10000}{\frac{1}{10}} = \frac{10000 \times 10}{1}$$
$$= 1,00,000 \text{ रु}$$

व्युत्पन्न जमा अथवा साख निर्माण क्षमता = (कुल जमा – प्रारम्भिक जमा)
$$= 1,00,000 - 10\,000 = 90,000 \text{ रु}$$

व्यावहारिक जीवन मे हम प्राय देखते हैं कि बैंको की कुल साख निर्माण क्षमता केवल रखे जाने वाले कोपानुपात अथवा नकद तरल कोषो की मात्रा पर ही निर्भर नही करती वरन् जमाम्रो का वह भाग जो अप्रयुक्त (Unutilized) पड़ा रहता है उससे भी प्रभावित होती है अत साख निर्माण की क्षमता को ज्ञात करते समय हमे बैंको द्वारा केन्द्रीय बैंक मे रखे जाने वाले कोपानुपात (Reserve Ratio), बैंको द्वारा अपने पास रखे जाने वाले तरल कोपानुपात (Liquid Ratio) तथा बैंको के पास बेकार या अप्रयुक्त धनराशि के प्रतिशत (Unutilized Fund Ratio) का भी ध्यान रखना पड़ता है। अत सशोधित सूत्र इस प्रकार दिया जा सकता है—

$$\text{कुल जमा (TD)} = \frac{A}{R+L+U}$$

जिसमे A• प्रारम्भिक जमा, R केन्द्रीय बैंक के पास रखे जाने वाले कोपानुपात, L बैंको द्वारा स्वय के पास रखे जाने वाले तरल कोपानुपात तथा U बैंको के पास अप्रयुक्त निक्षेपो के अनुपात को व्यक्त करते हैं।

उदाहरणार्थ अगर प्रारम्भिक जमा 10,000 रु है, केन्द्रीय बैंक के कोपानुपात 10%, बैंको के तरल कोपानुपात 25% तथा अप्रयुक्त कोपानुपात 5% मान लो कुल जमा व व्युत्पन्न निक्षेपो की मात्रा इस प्रकार होगी—

$$\text{कुल जमा (TD)} = \frac{A}{R+L+U} = \frac{10000}{10\% + 25\% + 5\%}$$
$$= \frac{10000}{40\%} = \frac{10000}{\frac{40}{100}}$$
$$= \frac{10000 \times 100}{40}$$
$$= 25000 \text{ रु०}$$

अत व्युत्पन्न जमा = कुल जमा – प्रारम्भिक जमा
(नया साख सृजन) =25,000 – 10 000 रु
(Creation of Credit) = 15,000 रु

स्पष्ट है कि जितने कोषानुपात बढते हैं उतनी ही साख निर्माण क्षमता कम हो जाती है और कोषानुपात मात्रा कम होती है तो साख निर्माण की क्षमता अधिक होती है।

विश्लेषण की मान्यताएँ—(i) व्यक्ति ऋण की राशि को उसी बैंक मे जमा कराते हैं या एक बैंक से नकद लेकर दूसरे बैंक मे जमा कराते है। (ii) बैंक अपने पास नकद कोष मे जमाओ का केवल केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित प्रतिशत ही रखते हैं अतिरिक्त कोष नही। (iii) समाज मे ऋणो की माग इतनी अधिक है कि सम्पूर्ण उधार देय शक्ति का पूर्ण प्रयोग हो रहा है।

मान्यताएँ अव्यावहारिक एव भ्रमपूर्ण हैं—क्योंकि (i) सभी व्यक्ति बैंक मे अपना खाता नही खोलते अत नकद भुगतान की आवश्यकता होती है। (ii) बैंक अपनी सम्पूर्ण उधार देय-क्षमता का पूरा उपयोग नही करते क्योंकि जोखिम बढ जाती है। (iii) उधार लेने वालो की भी एक सीमा होती है।

बैंको की नकद व अन्य कोषानुपात का साख-सृजन से सम्बन्ध
(Relation between Reserve Ratio & Cash Deposits of Banks)

नकद कोष (Cash)—साख सृजन की मात्रा बहुत कुछ बैंको के नकद जमा और कोषानुपात पर निर्भर करती है अत इसमे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्य बातो के समान रहते हुए बैंको के पास नकद जमा जितनी अधिक होगी उतनी ही उनकी साख सृजन की क्षमता अधिक होगी क्योंकि साधन सम्पन्न बैंक ही अधिक उधार दे सकते हैं। छोटे बैंक जिनके पास नकद जमा कम होता है वे कम साख सृजन कर पाते हैं। बैंको के पास नकद राशि देश मे उपलब्ध विधि ग्राह्य मुद्रा की मात्रा तथा लोगो मे बैंकिंग आदत पर भी निर्भर करती है। जिस देश मे विधि ग्राह्य मुद्रा जितनी अधिक होगी और लोग बैंको में जमा कराने व उधार लेने के आदी होगे तो देश मे साख सृजन की कुल मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी और इसके विपरीत अगर देश मे विधि ग्राह्य मुद्रा की मात्रा कम हुई तो बैंको के पास नकद कम हो जाने से कुल साख निर्माण कम होगा।

कोषानुपात (Reserve Ratio)—प्रत्येक बैंक को जमा राशि व नकद के बीच एक निश्चित अनुपात बनाये रखना पडता है जिसे रिजर्व अनुपात (Reserve Ratio) की सज्ञा दी जाती है। उदाहरण के लिए अगर बैंक 100 रु जमा के पीछे 20 रु नकद कोष मे रखकर बाकी राशि को उधार देने की नीति का अनुसरण करता है तो रिजर्व अनुपात 20% हुआ। भारत मे प्रत्येक बैंक को अपनी

जमाओं का 6% तो रिजर्व बैंक के पास रखना होता है तथा कम से कम 34% अपने पास तरल-परिसम्पत्तियों के रूप मे रखना पडता है। जब देश म साख सृजन मे वृद्धि की नीति अपनायी जाती है तो इन रिजर्व-अनुपातो को घटा दिया जाता है जिससे बैंकों के पास अधिक मुद्रा उधार देने को उपलब्ध हो जाती है और इसके विपरीत अगर कुल साख में कमी करना हो तो रिजर्व अनुपातो को बढा दिया जाता है। इससे स्पष्ट है कि कोषानुपात और साख निर्माण म विपरीत सम्बन्ध है अर्थात् रिजर्व अनुपात 20% अर्थात् $\frac{1}{5}$ होने पर कुल साख निर्माण 5 गुना हो सकता है और अगर रिजर्व अनुपात 50% अर्थात् $\frac{1}{2}$ रहा तो साख निर्माण दुगुना ही होगा।

साख निर्माण की सीमायें अथवा साख निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्व

(Limitations or Factors affecting the Creation of Credit)

जैसा ऊपर बताया गया है कि बैंक गुणित साख सृजन करते हैं पर इस साख सृजन की कुछ सीमायें हैं। प्रो बेहनम ने साख निर्माण की तीन सीमाओं का उल्लेख किया है—(i) देश मे प्रचलित मुद्रा की मात्रा, (ii) बैंकिंग आदत और (iii) नकद कोषों का प्रतिशत। पर वास्तव में देखा जाय तो व्यापारिक एव औद्योगिक एव बैंकिंग विकास का स्तर, राजनैतिक परिस्थितिया, केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति तथा लोगों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तिया आदि ये सब साख की मात्रा को प्रभावित करती हैं। इस दृष्टि से देखने पर हम साख निर्माण की निम्न सीमायें अथवा साख निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्वों का उल्लेख करते हैं—

(1) देश मे विधिग्राह्य मुद्रा की मात्रा—साख निर्माण की सबसे पहली सीमा एव प्रभावित करने वाला घटक देश मे उपलब्ध विधिग्राह्य मुद्रा की मात्रा (Quantity of Legal Tender Currency) है। जिस देश मे कानूनी ग्राह्य मुद्रा जितनी अधिक होगी, अन्य बातो के समान रहते साख निर्माण भी अधिक होगा। नकद कोषो की मात्रा देश मे विधिग्राह्य मुद्रा पर ही निर्भर करती है। अगर देश मे विधिग्राह्य मुद्रा की मात्रा कम हुई तो साख भी कम होगी।

(2) जनता में बैंकिंग आदत—जनता मे जितनी ही प्रबल बैंकिंग आदत होगी उतनी ही साख निर्माण की प्रवृत्ति प्रबल होगी। आज हम यह देखते हैं कि विकसित राष्ट्रो मे बैंको की साख निर्माण करने की क्षमता अविकसित एव विकासशील राष्ट्रो से अधिक है क्योंकि वहा के लोगो मे बैंकिंग आदत अधिक है। अविकसित राष्ट्रो के लोगो मे द्रव्य को नकद रूप मे रखने की प्रवृत्ति प्रबल है। बैंकिंग आदत नाम मात्र की है।

(3) कुल जमाओ का नकद कोष मे प्रतिशत—प्रत्येक बैंक को अपनी जमाओ का एक निश्चित भाग नकद कोषो (Cash Reserves) के रूप मे रखना पडता है ताकि जमाकर्ताओ की माग पर उनकी जमा राशि का भुगतान किया जा सके। जितनी अधिक राशि बैंक अपने पास नकद कोष मे रखेंगे उतनी ही साख निर्माण

करने की क्षमता कम होगी और जितनी कम राशि नकद कोष मे रखी जाएगी उतना ही अधिक साख निर्माण सम्भव होगा। यह बैंक के अनुभव, परिस्थितियो आदि पर निर्भर करता है।

(4) बैंकिंग सुविधायें तथा विकास—बैंको के द्वारा साख निर्माण किया जाता है। जितनी बैंकिंग व्यवस्था उन्नत होगी और जितनी अधिक बैंकिंग सुविधाये उपलब्ध होगी उतनी ही अधिक साख निर्माण की प्रवृत्ति होगी और इसके विपरीत स्थिति मे साख निर्माण कम होगा।

(5) आर्थिक विकास का स्तर—जो देश जितना उन्नत होगा, व्यापार, उद्योग, व्यवसाय और कृषि की दृष्टि से विकसित होगा उतनी ही साख निर्माण की प्रवृत्ति अधिक होगी और अगर देश पिछड़ा है, व्यापार, उद्योग अविकसित या अर्द्ध-विकसित है तो साख की मात्रा कम होगी। इसी प्रकार जितना जीवन स्तर उन्नत होगा उतनी ही साख का निर्माण होने की प्रवृत्ति अधिक प्रबल होगी।

(6) व्यापारिक दशायें (Trade Conditions)—अगर देश मे व्यापार और उद्योग के फलने फूलने व ऊंचे लाभ की दशायें हो तो व्यापार और उद्योग मे अधिकाधिक धन लगाया जावेगा और साख का विस्तार होगा जैसा कि तेजी काल मे होता है। इसके विपरीत अगर व्यापारिक दशा मन्द है, निराशा का वातावरण व्याप्त है तो चाहते हुए भी साख का निर्माण अधिक नही होगा।

(7) केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति—आजकल प्रत्येक देश मे वहा का केन्द्रीय, बैंक देश के बैंको पर साख नियन्त्रण सम्बन्धी नीति अपनाता है। अगर केन्द्रीय बैंक साख कम करना चाहता है तो केन्द्रीय बैंक के आदेशो, निर्देशनो आदि से साख की मात्रा भी कम होगी और इसके विपरीत अगर केन्द्रीय बैंक साख का विस्तार करना चाहता है तो साख की मात्रा बढेगी। (केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति का उल्लेख आगे सम्बद्ध अध्याय मे दिया गया है।)

(8) केन्द्रीय बैंक के पास जमा कोषो की मात्रा—प्रत्येक बैंक को अपनी जमाओ का एक निश्चित प्रतिशत नकद मे केन्द्रीय बैंक के पास जमा कराना होता है। जमा की प्रतिशत जितनी अधिक होगी बैंक के पास साधन कम रहने से साख निर्माण क्षमता भी कम होगी और विपरीत अवस्था मे अधिक होगी।

(9) मौद्रिक व्यवस्था—अगर देश मे मौद्रिक व्यवस्था का संचालन कुशलता से हो रहा है, मार्ग मे बाधाए कम हैं तो साख निर्माण अधिक होगा और अगर मौद्रिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त है तो साख निर्माण कम होगा।

(10) राजनैतिक दशायें—अगर देश मे राजनैतिक अस्थिरता है, उथल पुथल, दगे फिसाद की अशान्तिपूर्ण प्रवृत्तिया है तो बैंको द्वारा साख निर्माण कम होगा। परन्तु अगर राजनैतिक शान्ति, सुरक्षा एवं स्थिरता है तो साख निर्माण अधिक होने की प्रवृत्ति होगी।

(11) सरकार की नीति—सरकार भी अपनी आर्थिक नीतियो से व्यापार और उद्योग मे विनियोग, साख आदि को प्रभावित करती है। अगर सरकार की नीति आर्थिक दृष्टि से विकास की ओर अग्रसर करना है तो साख का विस्तार होगा परन्तु अगर सरकार ने अत्यधिक नियन्त्रण और नियमन की नीति अपनाई है तो साख का संकुचन होगा।

(12) सट्टे का जोर एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ—अगर सट्टे का जोर हो तो सट्टा चू कि साख पर ही अधिक निर्भर करता है, साख मे वृद्धि को जन्म देगा और इसके विपरीत सट्टे का प्रभाव अगर सीमित है तो साख का विस्तार भी कम होगा। मनोवैज्ञानिक भावना भी साख निर्माण को प्रभावित करती है। अगर लोग आशावादी दृष्टिकोण रखकर उज्ज्वल भविष्य की आशा मे काम करते हैं तो साख की मात्रा बढेगी और अगर निराशावादी दृष्टिकोण से अन्धकारमय भविष्य की कल्पना है तो साख की कमी होगी।

(13) अन्तर्राष्ट्रीय ऋण—अगर देश को विदेशो से ऋण मिलते हैं और उन ऋणों का उपयोग उद्योगो, व्यापार आदि मे होता है तो साख की मात्रा बढने की प्रवृत्ति होगी और विपरीत अवस्था मे साख घटेगी।

(14) जमानत की प्रकृति—इसके अलावा जमानत की प्रकृति भी साख को प्रभावित करती है अगर जमानत पर्याप्त है तो साख बढेगी अन्यथा कम होगी।

साख निर्माण का महत्व, कार्य अथवा लाभ

(Importance, Functions or Uses of Creation of Credit)

आधुनिक युग मे साख का महत्व आर्थिक क्षेत्र मे इतना बढ गया है कि साख को अगर औद्योगिक व्यवस्था का हृदय और व्यापारिक गतिविधियो की रक्तवाहिनी धमनियां कहे तो भी कोई अतिशयोक्ति नही होगी। वेब्स्टर ने तो इतना कहा है कि "राष्ट्रों को धनवान बनाने मे दुनियां की समस्त खानों ने जो काम किया है उससे कई हजार गुना कार्य साख द्वारा सम्पन्न किया जाता है।" आज हमारा सम्पूर्ण आर्थिक जीवन साख से ओत-प्रोत है। साख निर्माण का महत्व, कार्य अथवा लाभों का संक्षिप्त विवरण निम्न है—

(1) भौतिक समृद्धि मे वृद्धि एव सकटों से मुक्ति—आज साख ने व्यक्ति को अपनी आय से अधिक व्यय करने का सुअवसर प्रदान कर वर्तमान और भविष्य दोनो की भौतिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है। बुद्धिमानी से प्रयोग की गई साख जहा एक ओर जीवन के भौतिक सुखो की सामयिक पूर्ति मे सहयोग प्रदान करती है वहा सकट काल मे साख ही आकस्मिक विपत्ति से मुक्ति का सर्वोत्तम साधन उपलब्ध करती है।

(2) पूंजी की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि—साख के कारण पूंजी की गतिशीलता मे वृद्धि हुई है और पूंजी के सर्वोत्तम उपयोग की सुविधा मिली है। साख

छोटी-छोटी बचतो को साहसियो व उद्योगपतियो को उपलब्ध कर समाज की निष्क्रिय और अनुत्पादक पूजी उत्पादक कार्यों मे लगाकर लाभ पहुचाती है।

(3) **बहुमूल्य धातुओं की बचत**—पहले देश मे मुद्रा के रूप मे पूर्णकाय प्रामाणिक सिक्के प्रचलन मे रहते थे जिनमे घिसावट होती थी और बहुमूल्य धातुओ का उपयोग केवल विनिमय के माध्यम के रूप मे सीमित था। साख के कारण बिलो, हुण्डियो, विनिमय विपत्रो और यहां तक कि अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा ने बहुमूल्य धातुओ मे बचत को बढाया है तथा मुद्रा नीति को लोचपूर्ण बनाया है।

(4) **आर्थिक विकास मे योग**—आजकल देश मे आर्थिक विकास की योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए विपुल धन-राशि की आवश्यकता होती है। सरकार लोगो से ऋण लेकर, बैंको व वित्तीय सस्थाओ से ऋण लेकर तथा हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing) से विकास योजनाओ को पूरा करती है। इसमे आन्तरिक और बाह्य (देश-विदेश) दोनो की साख महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। इससे देश के साधनो का अधिकतम उपयोग सम्भव होता है।

(5) **राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों मे सहायता**—आजकल आन्तरिक और बाह्य व्यापार मे बिलो, हुण्डियो, विनिमय विपत्रो द्वारा दोनो प्रकार के भुगतान मितव्ययितापूर्ण एव सुविधाजनक तरीके से निपटाये जाते हैं। इससे सभी देशो को आर्थिक लाभ पहुचता है।

(6) **मुद्रा प्रणाली मे लोच एव कीमतो मे स्थायित्व**—बैंक व्यापारिया एव उद्योगपतियो के साथ साथ देश के सभी लोगो की मुद्रा माग से परिचित होते हैं तथा साख मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन करते रहते हैं। इससे एक ओर मुद्रा प्रणाली मे लोच आती है, तथा दूसरी ओर अर्थव्यवस्था मे कीमत स्तर मे अनावश्यक उतार-चढाव नही हो पाते। जब मूल्य बढ रहे हो, साख की मात्रा घटाई जावे और अगर मूल्य-स्तर नीचे जा रहे हो तो साख का विस्तार किया जा सकता है।

(7) **आर्थिक सकट का सामना**—जब देश पर कोई सकट आ पडता है तो सरकार को बैंको से साख निर्माण तथा हीनार्थ प्रबन्ध से युद्ध व आर्थिक मन्दी, अकाल, बाढ, भूकम्प आदि सकटो का मुकाबला करने मे सुविधा ही नही रहती बल्कि देश को पतन से बचाया जा सकता है।

(8) **साधनों के पूर्ण रोजगार की व्यवस्था**—साख की सहायता से देश मे उपलब्ध विपुल प्राकृतिक साधनो का विदोहन कर साधनो के उपयोग से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त की जा सकती है। साख विस्तार से व्यापार, कृषि, उद्योग आदि मे विनियोग बढाकर तथा उपभोग बढाकर अधिक लोगो को रोजगार प्रदान किया जा सकता है।

(9) **उपभोग वृद्धि**—साख के विस्तार से उपभोग वस्तुओ के उपभोग में वृद्धि की जा सकती है और लोगो का जीवन-स्तर बढाया जा सकता है। उपभोग मे

वृद्धि विकासशील राष्ट्रों में उस सीमा तक ही उपयुक्त है जब तक मूल्य-स्तर में स्थायित्व रह सके।

(10) नियन्त्रित अर्थव्यवस्था—साख के उपयोग से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को निश्चित अनुशासन में रखा जा सकता है क्योंकि व्यापार एवं उद्योगों को कार्यशील पूँजी बैंकों से प्राप्त होती है। केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा एवं दिशा में भी परिवर्तन कर सकता है। नियोजित अर्थव्यवस्था में तो साख अर्थतन्त्र का सफल संचालन करने में सहायक होती है।

(11) बचतों को प्रोत्साहन एवं पूँजी निर्माण—बैंक साख निर्माण की दृष्टि से आकर्षक ब्याज तथा भुगतान की सुविधा प्रदान कर जमायें अधिक बढ़ाने का प्रयास करते हैं। थोड़ी-थोड़ी बचतें मिलकर बड़ा भण्डार बनाते हैं। इससे पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रकार साख निर्माण आज की औद्योगिक व्यवस्था के लिए एक ऐसे चिकनाई वाले तेल के समान है जो उन्हें ठीक प्रकार से चलने में मदद करता है।

साख-निर्माण के दोष एवं बुराइयां-खतरे

(Dangers, Disadvantages and Evils of Credit Creation)

नियन्त्रित साख निर्माण देश में समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करती है तथा अनियन्त्रित साख पतन के गर्त में ढकेलती है। साख के निर्माण से निम्न दोषों एवं खतरों का प्रादुर्भाव होता है—

(1) एकाधिकार को बढ़ावा—बैंक साख निर्माण करते समय जमानत एवं प्रतिष्ठा के आधार पर अधिकाधिक लाभ धनवानों और बड़े बड़े पूँजीपतियों को पहुँचाते हैं। इससे उत्पादन, व्यापार आदि में एकाधिकारी प्रवृत्तियां पनपती हैं जो शोषण का कारण बनती हैं। समाजवाद का मार्ग अवरुद्ध करती हैं।

(2) सट्टे को प्रोत्साहन—सट्टे के लिए साख सर्वाधिक प्रयोग की जाती है। सट्टे के कारण अर्थव्यवस्था में मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल से अर्थव्यवस्था में अस्त-व्यस्तता का भय रहता है।

(3) साख स्फीति—अत्यधिक साख निर्माण से अर्थव्यवस्था में मुद्रा-स्फीति का कुचक्र बढ़ता चला जाता है जो मध्यम वर्ग और गरीबों के लिए असह्य बन जाता है। धन के असमान वितरण को प्रोत्साहन देता है।

(4) साख का अपव्यय—उधार पर वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति होने से व्यक्ति में फिजूलखर्ची को बढ़ावा मिलता है, आत्मनिर्भरता की भावना समाप्त हो जाती है। यहां तक कि ऋण-ग्रस्तता बढ़ती है और कभी-कभी अनैतिक कार्यों को भी बढ़ावा मिलता है।

(5) अकुशलता पर आवरण—साख के कारण एक अकुशल उत्पादक या व्यवसायी भी जीवित रह सकता है। पर अन्त में जब साख बन्द होती है तो कुल आर्थिक क्षति बहुत होती है। इससे व्यावसायिक षड्यन्त्रों को भी बढ़ावा मिलता है

ग्रौर षडयन्त्रो के भण्डाफोड से जनता को व्यापार एव उद्योगो मे धन लगाने मे सकोच होने लगता है।

(6) धन के ग्रसमान वितरण को प्रोत्साहन—साख के बल पर ही कुछ धनवान लोग बडे-बडे विनियोग कर भारी लाभ कमाते हैं। एक ग्रोर जिनको साख उपलब्ध है ग्राथिक समृद्धि की ग्रोर बढते है, गरीबो को साख के ग्रभाव मे विनियोग तो दूर, खाने के लाले पडते हैं। इससे ग्राथिक विषमता बढना स्वाभाविक है।

(7) ग्रति-उत्पादन का भय—साख का ग्रत्यधिक बढता उपयोग उत्पादन ग्राधिक्य को जन्म देता है या कभी कभी उद्योग मे पूँजी ग्राधिक्य की स्थिति उत्पन्न करते हैं।

(8) व्यापार चक्रों का जन्म—प्रारम्भ मे तो बैंको द्वारा बडी मात्रा मे साख उपलब्ध करना ग्रौर फिर एकदम बन्द करना या कम कर देना ग्रर्थतन्त्र मे मनोवैज्ञानिक भय उत्पन्न कर देता है। 1930 की ग्राथिक मन्दी मे यह एक बडा कारण था। ग्रत. साख मे ग्रत्यधिक वृद्धि ग्रथवा एकदम कमी से व्यापार-चक्रो का जन्म होता है।

साख निर्माण ग्रौर ग्राथिक विकास
(Credit Creation & Economic Growth)

साख के उपर्युक्त दोषो एव गुणो का विवेचन करने से स्पष्ट है कि जब साख ग्रनियन्त्रित हो जाती है तो मानव के ग्राथिक कष्टो का कारण बनती है ग्रौर नियत्रण मे रहते हुए ग्राथिक विकास मार्ग प्रशस्त करती है। साख ग्राथिक विकास मे उद्योगो को चालू पूँजी प्रदान करती है। भारी विनियोगो से पूँजी निर्माण सम्भव बनाती है। विदेशी व्यापार भुगतानो मे ग्रन्तर्राष्ट्रीय ग्राथिक सहयोग, ग्राथिक विकास मे भारी योगदान करता है। साख उपभोग को बढावा देकर तथा विनियोगो को प्रेरित कर ग्रर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार की ग्रोर ग्रग्रसर करती है। प्रसिद्ध विचारक डिफो (Defoe) के शब्दो मे—"साख एक कारण नहीं, परिणाम है यह पहिये का तेल, हड्डियो की मज्जा, नाडियो मे खून ग्रौर विश्व व्यापार के वक्षस्थल मे प्राणशक्ति की भाति है।"[1]

साख निर्माण ग्रौर कीमत
(Price and Creation of Credit)

क्या साख कीमतो को प्रभावित करती है? इस सम्बन्ध मे प्रो. वाकर ग्रौर वेगलिन इस मत के समर्थक हैं कि साख मूल्यो को प्रभावित नही करती क्योकि—

1 Credit is a consequence and not a cause, it is the oil of the wheel, the morrow of the bones, the blood in the veins, and the spirits in breast of all trade and commerce of the world.
—Defoe

(i) साख क्रय-शक्ति है पर भुगतान-शक्ति नहीं है। (ii) साख-क्रय से जो क्रय-शक्ति बढ़ जाती है, साख-विक्रय से वह कम भी हो जाती है। (iii) साख का उपयोग जहा क्रय-शक्ति के रूप में होता है वहा उत्पादन के रूप में भी होता है। अतः माग का पूर्ति से सन्तुलन हो जाता है।

वहा दूसरी ओर मिल का कहना है कि—(i) साख में क्रय-शक्ति के कारण यह मूल्य स्तर को मुद्रा की भांति प्रभावित करती है। (ii) केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण नीति भी इसकी पुष्टि करती है। (iii) उपभोग कार्यों के लिये दी गई साख से मूल्य-स्तर बढ़ते हैं। (iv) व्यापार एव उद्योगो को दी गई साख मूल्य-स्तर को प्रभावित करती है।

दोनो के आधार पर प्रो० कीन्स ने मत व्यक्त किया कि साख का मूल्य-स्तर पर प्रभाव मुद्रा की अपेक्षा कम पड़ता है क्योंकि—(i) साख के लिये बैंक को नकद कोष रखने पड़ते हैं तथा (ii) साख मुद्रा का पूर्णरूपेण प्रतिस्थापन नहीं कर सकती। अब यह धारणा प्रबल है कि साख भी मूल्य-स्तर को प्रभावित करती है और इसी लिये साख नियन्त्रण विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों का प्रमुख कार्य बन गया है। भारत में साख-प्रसार से मूल्यो में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है।

क्या साख पूंजी है ?
(Is Credit Capital ?)

यह प्रश्न भी विवादास्पद रहा है। प्रो० मैक्लियोड के अनुसार "मुद्रा और साख दोनों पूंजी हैं। व्यापारिक साख व्यापारिक पूंजी है। यह कथन भ्रमात्मक लगता है क्योकि पूंजी का आशय धन का वह भाग है जो अधिक उत्पादन में काम में लिया जाता है। इस दृष्टि से न तो साख पूंजी है और न उत्पत्ति का साधन ही। यह तो केवल पूंजी के अधिकार का हस्तान्तरण है। रिकार्डो के शब्दों में, "साख पूंजी का सृजन नहीं करती, यह केवल यह निश्चित करती है कि पूंजी का उपयोग किसके द्वारा किया जाये।" इस प्रकार के विचार मिल ने भी व्यक्त किये हैं। अतः साख पूंजी को गतिमान बनाती है पर स्वय पूंजी नहीं और न उत्पादक का पृथक साधन ही।

साख-निर्माण के प्रमुख विपत्र

साख के प्रमुख प्रलख क्रमशः (i) विनिमय-विपत्र (Bills of Exchange), (ii) हुण्डिया (Hundies), (iii) प्रतिज्ञा पत्र (Promissory Note), (iv) चैक (Cheque), (v) बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft), (vi) कोषागार-विपत्र (Treasury Bills), (vii) साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit), (viii) यात्री चैक आदि हैं।

बैंक इन विपत्रों के प्रयोग या कटौती से साख-निर्माण करते हैं। ये विपत्र खासतौर से अल्पकालीन साख निर्माण के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं जबकि दीर्घकालीन साख में ऋण-पत्रो (Debentures), बोण्डों, अंशों एव प्रतिभूतियो का समावेश होता है।

साख-सृजन करने वाली संस्थायें
(Institutions Creating Credit)

साख-सृजन का कार्य अनेक सस्थाओ द्वारा होता है जिनमे प्रमुख केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक तथा अन्य वित्तीय सस्थाएँ हैं जो मुद्रा को ऋण पर देती हैं तथा जनता से जमा प्राप्त करती हैं। कुछ सीमा तक साख का निर्माण व्यापारी एव उद्योगपति तथा व्यवसायी भी करते हैं।

1. केन्द्रीय बैंक (Central Bank)—देश के केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार होता है वे नोटो के निर्गमन द्वारा साख का निर्माण करते हैं। यह साख पत्र विधिग्राह्य होता है। भारत मे रिजर्व बैंक नोट निर्गमन द्वारा साख निर्माण करता है।

2. व्यापारिक बैंक—देश के व्यापारिक बैंक भी लोगो से रुपया जमा पर प्राप्त कर तथा बाद मे लोगो के ऋण (Loans), अग्रिमो (Advances), अधिविकर्षों (Bank overdrafts), नकद साख (Cash Credits) अथवा साख प्रपत्रो जैसे विनिमय बिलो, प्रोमीजरी नोट्स, चैंको, ड्राफ्ट्स, यात्री चैक तथा ट्रेजरी बिलो के द्वारा साख निर्माण करते हैं।

3. अन्य वित्तीय सस्थायें—जिनमे सहकारी बैंक, भूमि बन्धक बैंक, औद्योगिक बैंक, कृषि बैंक, जीवन बीमा, आदि ऐसी ही वित्तीय सस्थाएँ हैं जो साख निर्माण मे योग देती हैं।

4. व्यापारी एव उद्योगपति आदि भी कुछ मात्रा मे साख का सृजन करते हैं परन्तु उनके द्वारा साख सृजन का बैको की साख सृजन क्षमता के मुकाबले कम महत्व है।

साख सृजन के सम्बन्ध मे प्रो केनन तथा लीफ आदि का मत है कि साख-निर्माण करने का श्रेय जमाकर्त्ताओ को जाना चाहिये क्योंकि अगर ये प्राथमिक निक्षेप (Deposits) के रूप मे जमा न करावें, ऋण नकद मे भुगतान लेने लगें तथा सम्पूर्ण जमा को एक ही साथ निकाल लें तो बैंक साख निर्माण नही कर सकेंगे।

जबकि दूसरी ओर प्रो सीयर्स "बैंको को केवल द्रव्य जुटाने वाली सस्था ही नहीं वरन् द्रव्य निर्माता भी" मानता है। प्रो कीन्स के अनुसार ऋण जमा को जन्म देते हैं और साख-निर्माण का श्रेय बैंको को ही है। सैलिगमेन के अनुसार भी "बैंक पहले नकद निक्षेपो मे व्यवसाय करते थे अब वे प्रमुख रूप मे साख निक्षेपो मे व्यवसाय करते हैं।" अत स्पष्ट होता है कि यद्यपि जमाकर्त्ता और ऋणी साख निर्माण के अविभाज्य अग हैं पर साख-निर्माण का कार्य बैंक प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव होता है। बैंक ही साख का निर्माण करते हैं जमाकर्त्ता व ऋणी तो उसके दो पहलू हैं।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. साख-निर्माण से आप क्या समझते हैं, साख-निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्व कौन-कौन से हैं ?

(संकेत–साख-निर्माण का अभिप्राय स्पष्ट कीजिये, फिर दूसरे भाग में उसे प्रभावित करने वाले तत्वों का उल्लेख कीजिए।)

2. साख निर्माण का आर्थिक क्षेत्र में क्या महत्व होता है और अत्यधिक साख निर्माण किस प्रकार अर्थव्यवस्था पर दुष्प्रभाव डालता है ?

(संकेत–साख-निर्माण का अर्थ संक्षेप में बताकर उनके महत्व व कार्यों को बतलाइये तथा तीसरे भाग में साख के दोषों का उल्लेख कीजिए।)

3. बैंक साख का निर्माण कैसे करते हैं, तथा उनकी क्या समस्याएँ हैं ? "ऋण जमा की सन्तान है अथवा जमा ऋणों की सन्तान" विवेचना कीजिये।

(संकेत–इनमें बैंकों द्वारा साख-निर्माण की प्रक्रिया बताइये तथा उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये, अन्त में सीमाओं का उल्लेख कीजिये।)

4. व्यापारिक बैंक साख-सृजन किस प्रकार करते हैं ? उसकी सीमायें क्या हैं ? (Raj 1978)

(संकेत–प्रथम भाग में व्यापारिक बैंकों द्वारा साख सृजन की प्रक्रिया अध्याय के शीर्षकानुसार बताना है तथा दूसरे भाग में उसकी सीमाएँ देना है।)

5 "आप किस प्रकार कह सकते हैं कि ऋण जमाओं के बच्चे तथा जमा ऋणों के बच्चे हैं।"

(संकेत–इस कथन की पुष्टि के लिए उदाहरण एवं सूत्रों से बैंकों द्वारा साख निर्माण की प्रक्रिया समझानी है।)

6. व्यापारिक बैंकों द्वारा साख सृजन की प्रक्रिया समझाइये। (I yr. T.D.C. Arts 1979)

(संकेत–अध्याय के शीर्षकानुसार उदाहरण देकर समझाना है।)

20

केन्द्रीय बैंक एवं उसके कार्य

(Central Bank & Its Functions)

(भारत के रिजर्व बैंक के विशेष सन्दर्भ में)

प्रारम्भिक—आधुनिक युग में देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था में केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण स्थान होता है। केन्द्रीय बैंक देश के सभी बैंकों का सिरताज, मित्र, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक ही नहीं वरन् देश की मौद्रिक व्यवस्था का नियन्त्रक एवं नियमनकर्त्ता है। देश की अर्थव्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन करने तथा बैंकिंग एवं मौद्रिक व्यवस्था को संगठित एवं सुरक्षित रखने में केन्द्रीय बैंक की महत्व पूर्ण भूमिका है। प्रो. रोजर्स ने केन्द्रीय बैंक के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए लिखा है "मानवता के इतिहास में तीन महत्वपूर्ण आविष्कार हुए हैं अग्नि, चक्र एवं केन्द्रीय बैंक।" भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया देश का केन्द्रीय बैंक है।

केन्द्रीय बैंक का विकास मुख्य रूप से 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हुआ है। वैसे केन्द्रीय बैंकों की शुरूआत 1657 में स्वीडन के रिस्क बैंक (Risk Bank) की स्थापना से हुई। सन् 1664 में बैंक ऑफ इंगलैण्ड की स्थापना को एक आदर्श केन्द्रीय बैंक की शुरूआत माना जाता है जो 1844 में एक आधुनिक केन्द्रीय बैंक के रूप में सामने आया। इंगलैंड की देखा-देखी विश्व के अन्य देशों—हालैण्ड में 1814, आस्ट्रिया में 1817, फ्रांस में 1800, जर्मनी में 1875, भारत में 1935 में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना उल्लेखनीय है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ ही इने गिने देशों में केन्द्रीय बैंक थे, पर पिछले 100 वर्षों में केन्द्रीय बैंकों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी है कि आज विश्व में कोई भी देश ऐसा नजर नहीं आता जहां केन्द्रीय बैंक न हो। विश्व में 1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के बाद व्यापार चक्रों से मुक्ति के लिये एक सुव्यवस्थित मौद्रिक व्यवस्था और सुसंगठित बैंकिंग प्रणाली को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय बैंक की स्थापना एक अनिवार्य घटक बन गया। 1927 में हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिश के आधार पर 1935 में भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में प्रादुर्भाव हुआ।

केन्द्रीय बैंक का अर्थ एवं परिभाषाएँ—विभिन्न विद्वानों ने केन्द्रीय बैंक को अलग अलग रूपों में परिभाषित किया है। प्रो. डी काक (De Cock) के अनुसार

केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो मौद्रिक एव बैंकिंग रचना के शीर्ष पर बनाया जाता है।" प्रो. रायमण्ड के शब्दो मे "केन्द्रीय बैंक एक सस्था है जिसे सामान्य जनता के कल्याण के हित मे मुद्रा की मात्रा के विस्तार तथा सकुचन की व्यवस्था का दायित्व सौंपा जाता है।" बैंक ऑफ कनाडा अधिनियम के अनुसार "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो राष्ट्र के आर्थिक जीवन के सर्वोत्तम हित मे साख और चलन का नियमन करता है राष्ट्र की मौद्रिक इकाई के बाह्य मूल्य को नियन्त्रित करता है और मौद्रिक क्रिया द्वारा यथासम्भव प्रभाव डालकर उत्पादन, व्यापार, कीमतों तथा रोजगार के सामान्य स्तरो मे होने वाले उच्चावचन को रोकता है।" जानसे ने समाशोधन कार्य को ही केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य माना है जबकि वेरा स्मिथ के मतानुसार केन्द्रीय बैंक का आशय उस बैंकिंग व्यवस्था से है जिसमें किसी एक बैंक को नोट निर्गमन का पूर्ण तथा आशिक एकाधिकार होता है। प्रो शाह के अनुसार "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जो साख को नियन्त्रित करता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ मे कोई भी परिभाषा पूर्ण नही है क्योकि प्रत्यक परिभाषा म केन्द्रीय बैंक के किसी कार्य विशेष को ही परिभाषा का आधार माना है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से आजकल केन्द्रीय बैंक एक सर्वोच्च मौद्रिक एव बैंकिंग सत्ता के रूप म देश की वित्तीय एव साख नियन्त्रण की नीति का सचालक है। एक उचित परिभाषा के रूप मे "केन्द्रीय बैंक वह सस्था है जो देश की आर्थिक प्रगति को वांछित गति एवं दिशा प्रदान करने हेतु देश की मौद्रिक, बैंकिंग एव साख व्यवस्था का नियन्त्रण एव नियमन करती है।"

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता क्यो ?/महत्व
(Necessity & Importance of Central Bank)

विभिन्न देशो मे केन्द्रीय बैंको की जो लोकप्रियता पिछली एक शताब्दी म दृष्टिगोचर हुई वे उनकी आवश्यकता की ओर सकेत करती है। केन्द्रीय बैको की स्थापना के प्रमुख कारण निम्न है--

1. नोट निर्गमन का कार्य सुचारु रूप से करना--विभिन्न देशो म मुद्रा व्यवस्था के सचालन के साथ साथ जब स्वर्णमान का परित्याग कर पत्र मुद्रामान अपनाया गया तो उसके सफल सचालन का कार्य केन्द्रीय बैंको के माध्यम से सही हो सकता था। अत केन्द्रीय बैंको की स्थापना करना आवश्यक था।

2. साख नियन्त्रण—जहा एक ओर साख निर्माण मे विवेक तथा उपयोग मे सतर्कता अर्थव्यवस्था को प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करती है वहा साख के दुरुपयोग से समूची अर्थव्यवस्था को पतन के गर्त म ढकेला जा सकता है। अत साख पर प्रभावी नियन्त्रण के लिये केन्द्रीय बैंको को उत्तरदायित्व सौंपा गया।

3 बैंकिंग व्यवस्था का विकास एव नियन्त्रण—केन्द्रीय बैंक दूसरे बैंको के लिये एक सच्चे मित्र (Friend) दार्शनिक, (Philosopher) तथा मार्ग दर्शक

(Guide) के रूप में कार्य करता है। वह बैंकों की आर्थिक संकट काल में सुरक्षा करता है तथा सही मार्ग-दर्शन देता है। जब बैंक आधुनिक अर्थतन्त्र में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं तो उन पर प्रभावी नियन्त्रण भी आवश्यक है। यह नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक उनके एक सिरताज के रूप में ठीक प्रकार कर सकता है।

4. **सरकार की मौद्रिक नीति की सफलता**—सरकार की मौद्रिक नीति के सफल संचालन के लिये भी एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती है जो कि अर्थ-तन्त्र को वांछित गति से आगे बढ़ने तथा उत्पादन, व्यापार, रोजगार से होने वाले उच्चावचनों को रोकने में सहयोगी सिद्ध होता है।

5. **अन्तर्राष्ट्रीय वित्त समस्याओं का समाधान**—आजकल विदेशी व्यापार में निरन्तर वृद्धि तथा बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं प्रतिस्पर्द्धा ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय समस्याओं को जन्म दिया है। देश के केन्द्रीय बैंक से ही इन समस्याओं के समाधान में सरलता रहती है।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से केन्द्रीय बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला है।

केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्त
(Principles of Central Banking)

केन्द्रीय बैंकों के कार्य सिद्धान्त व्यापारिक बैंकों से बहुत भिन्न हैं। केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना नहीं होकर राष्ट्र के कल्याण में अभिवृद्धि करना होता है। केन्द्रीय बैंक को कार्य संचालन में विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। वह राजनैतिक प्रभाव से मुक्त होकर देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था को इस प्रकार से नियन्त्रित एवं नियमित करने का प्रयास करता है कि जिससे देश में उत्पादन, व्यापार और रोजगार के क्षेत्र में भारी उच्चावचनों को रोका जा सके तथा अर्थव्यवस्था को वांछित गति एवं दिशा में प्रगति की ओर अग्रसर किया जा सके अतः केन्द्रीय बैंक के उपर्युक्त उद्देश्यों के परिप्रेक्ष्य में निम्न सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं—

1. **राष्ट्रीय हित की भावना**—केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य अपने आर्थिक लाभ को अधिकतम करना न होकर लोकहित या समुचित समाज का आर्थिक कल्याण करना होता है इसलिये वह अपनी सब क्रियाओं को जन-कल्याण से प्रेरित होकर सम्पादित करता है।

2. **मौद्रिक एवं वित्तीय स्थायित्व**—केन्द्रीय बैंक का दूसरा सिद्धान्त चलन मुद्रा और साख मुद्रा का इस प्रकार नियन्त्रण एवं नियमन करना है कि जिससे देश में मौद्रिक एवं वित्तीय स्थिति में स्थिरता बनी रहे और अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से बचाया जा सके।

3. **राजनैतिक प्रभावों से मुक्त**—केन्द्रीय बैंक विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों पर अपना कार्य करता है। राजनैतिक प्रभाव केन्द्रीय बैंक के कार्यों पर अधिक प्रभाव नहीं डालते।

(4) लोचपूर्ण साख व्यवस्था—केन्द्रीय बैंक के कार्य इस सिद्धान्त से सचालित होते हैं कि देश मे आवश्यकतानुसार साख का निर्माण सम्भव हो और इसके लिए केन्द्रीय बैंक अपनी साख नियन्त्रण नीति में लोचता लाकर अर्थव्यवस्था मे स्थायित्व की दृष्टि से साख निर्माण करने मे योग देता है ।

(5) केन्द्रीय बैंक को विशेषाधिकार दिये जाते हैं ताकि वह अपने दायित्वो को सफलतापूर्वक निभा सके ।

केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों मे तुलना

(Comparison between *Central & Commercial Banks*)

केन्द्रीय बैंक के सामान्य सिद्धान्तो का सक्षिप्त अध्ययन यह बताता है कि केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों मे बहुत कुछ भिन्नता पाई जाती है ।

यद्यपि केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक दोनो ही साख का निर्माण करते हैं, दोनो ही स्थिर पू जी की पूर्ति नहीं करते अर्थात् साख की पूर्ति अल्पकालीन ही होती है और दोनो ही अपने धन को इस प्रकार के ऋणों मे लगाते हैं जिससे कि तरलता बनी रहे फिर भी दोनो मे निम्न अन्तर हैं—

केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों में अन्तर

आधार	केन्द्रीय बैंक	व्यापारिक बैंक
(1) संख्या	किसी देश मे केन्द्रीय बैंक एक ही होता है ।	व्यापारिक बैंक अनेक होते हैं ।
(2) उद्देश्य	लोकहित मे मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रण करना होता है ।	व्यक्तिगत लाभ को अधिक करने का उद्देश्य रहता है जिसके अधिकारी अंशधारी होते हैं ।
(3) क्षेत्र	केन्द्रीय बैंक, बैंको का बैंक होता है । जनता से प्रत्यक्ष व्यवहार नही होता ।	व्यापारिक बैंको का जनता ही से प्रत्यक्ष व्यवहार अधिक होता है ।
(4) नोट निर्गमन	केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का पूर्ण या आंशिक एकाधिकार होता है ।	व्यापारिक बैंको को नोट निर्गमन का अधिकार नही होता ।

आधार	केन्द्रीय बैंक	व्यापारिक बैंक
(5) साख नियन्त्रण	यह साख नियन्त्रण करता है।	इनकी साख का नियन्त्रण किया जाता है।
(6) मौद्रिक नीति	यह देश की मौद्रिक नीति का निर्धारण एवं क्रियान्वयन करता है।	व्यापारिक बैंक मौद्रिक नीति के निर्धारण एवं क्रियान्वयन में अप्रत्यक्ष योगदान देते हैं, प्रत्यक्ष नहीं।
(7) विशेष अधिकार	केन्द्रीय बैंक को अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये विशेषाधिकार होते हैं।	व्यापारिक बैंकों को विशेष अधिकार प्रदान नहीं किये जाते
(8) ऋणदाता	केन्द्रीय बैंक बैंकों के लिए अन्तिम ऋणदाता का काम करता है।	व्यापारिक बैंक उद्योगपतियों व व्यापारियों के लिए ऋणदाता का काम करते हैं।
(9) शीर्ष बैंक	केन्द्रीय बैंक देश का सर्वोच्च बैंक होता है।	जबकि व्यापारिक बैंक बैंकिंग व्यवस्था के अङ्ग मात्र हैं।

केन्द्रीय बैंक के कार्य
(Functions of Central Bank)
(भारत के रिजर्व बैंक के विशेष सन्दर्भ में)

केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था में सर्वोच्च बैंक होने तथा देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था के विकास, नियन्त्रण और नियमन के प्रति विशेषाधिकार प्राप्त बैंक होने के नाते अनेक महत्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है। जहां प्रो. हाट्रे के अनुसार केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता का काम करता है, प्रो. वेरा स्मिथ के अनुसार यह नोट निर्गमन का एकाधिकारी होता है, वहां प्रो. शाह के अनुसार केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य साख पर नियन्त्रण करना है। जबकि अन्य विद्वानों ने जिसमें डी. काक का नाम उल्लेखनीय है केन्द्रीय बैंक के अनेक कार्य बताये हैं। प्रो. डी कॉक ने केन्द्रीय बैंक के सात कार्य बताये हैं। विकासशील राष्ट्रों में केन्द्रीय बैंक के कार्यों में विकास और स्थिरता दोनों का महत्व है जबकि विकसित राष्ट्रों में स्थायित्व का ही अधिक महत्त्व है। केन्द्रीय बैंक के कार्यों को मोटे रूप में अग्रलिखित आठ भागों में विभाजित किया जाता है—

केन्द्रीय बैंक के कार्य

1	2	3	4
↓	↓	↓	↓
नोट निर्गमन का एकाधिकार	सरकार का बैंकर, एजेन्ट एवं परामर्शदाता	बैंकों के बैंक का कार्य	अन्तिम ऋणदाता का कार्य

5	6	7	8
↓	↓	↓	↓
राष्ट्र के स्वर्ण एवं विनिमय कोषों का संरक्षक	निकासी गृह का कार्य	आंकड़ों व सूचनाओं का प्रकाशन	साख नियन्त्रण

इन कार्यों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

1. नोट निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of Note Issue)—आजकल विश्व के सभी राष्ट्रों में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा का प्रचलन है और मुद्रा की चलन की मात्रा और साख में परस्पर सम्बन्ध होने के कारण सभी देशों में नोटों का निर्गमन कार्य देश के केन्द्रीय बैंक को ही सौंपा जाता है। कुछ देशों में तो केन्द्रीय बैंक की स्थापना ही मुख्य रूप से नोट निर्गमन के लिए की गई है। भारत में भी रिजर्व बैंक नोट निर्गमन का एकाधिकारी बैंक है। रिजर्व बैंक में एक विशेष विभाग "निर्गमन विभाग" अब न्यूनतम कोष सिद्धान्त (Minimum Reserve System) के अनुसार 115 करोड़ रु. का स्वर्ण, स्वर्ण सिक्के तथा 85 करोड़ रुपये मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियां रखकर 2, 5, 10, 20, 50 एवं 100 रु. के नोटों का निर्गमन करता है। 1000 रु., 5000 रु., तथा 10,000 रु. के नोटों का निर्गमन अब बंद है।

केन्द्रीय बैंक को ही नोट निर्गमन का एकाधिकार होने से अनेक लाभ और औचित्य हैं। इससे (i) नोटों के प्रचलन में एकरूपता रखी जाती है। (ii) निर्गमन बैंक अपने निर्णयों को विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित करके राजनैतिक प्रभाव से यथासम्भव मुक्त निर्णय लेता है अतः जनता का विश्वास बना रहता है। मुद्रा प्रणाली में लोच रहती है। (iii) साख पर नियन्त्रण सरलता से किया जा सकता है। (iv) केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य में स्थायित्व रख सकता है। (v) नोट निर्गमन से प्राप्त लाभ सार्वजनिक लाभ होता है। (vi) विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक नियोजन में सरकार को हीनार्थ प्रबन्ध नीति का कुशलता से सम्पादन केन्द्रीय बैंक ही कर सकता है क्योंकि सरकार और केन्द्रीय बैंक में निकट सम्पर्क रहता है और वाणिज्य साख नियन्त्रण भी सरल रहता है।

इसी कारण आज विश्व के लगभग सभी देशों में नोट निर्गमन का एकाधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को ही दिया जाता है।

2 सरकारी बंकर, एजेन्ट एव सलाहकार कार्य (Functions as Banker, Agent and Adviser of the Government)—केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंकर, अभिकर्त्ता और सलाहकार के रूप मे अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है। (क) सरकारी बैंकर के रूप म केन्द्रीय बैंक सरकार के विभिन्न विभागो व सस्थाओ की प्राय जमा करता है तथा उनमे से सरकारी व्ययो का चुकारा किया जाता है । सरकार को सकट काल मे असाधारण ऋण प्रदान करता है तथा अल्पकालीन ऋणो की भी व्यवस्था करता है । यह सरकारी धन का एक स्थान से दूसरे स्थान या एक विभाग से दूसरे विभाग म स्थानान्तरण करता है । इसी प्रकार सरकार और केन्द्रीय बैंक म ग्राहक और बैंक का सम्बन्ध होता है । (ख) सरकारी एजेन्ट—केन्द्रीय बैंक सरकार के एजेन्ट के रूप मे सार्वजनिक ऋणो का भुगतान प्राप्त करता है तथा ब्याज व मूल-धन का भुगतान करता है । सरकार की प्रतिभूतिया बेचता है तथा खरीदने म सहायता करता है । सरकार की ओर से करो का धन जमा करता है । सरकार की ओर से देशी विदेशी मुद्राओ के सौदे करता है । केन्द्रीय बैंक सरकार को उसके जमा धन पर कोई ब्याज नही देता और न अपने द्वारा अर्पित सेवाओ के लिए कोई शुल्क लेता है। (ग) आर्थिक सलाहकार के रूप मे केन्द्रीय बैंक सरकार को मौद्रिक एव बैंकिग व्यवस्था सम्बन्धी नीति निर्धारण मे परामर्श देता है । सरकार विदेशी विनिमय दर सार्वजनिक ऋण, मुद्रा, साख एव राजस्व सम्बन्धी नीति निर्णयो मे केन्द्रीय बैंक की सलाह लेती है ।

भारत मे रिजर्व बैंक भी इन तीनो कार्यों को सरकार के लिए सम्पादन करता है । यह सरकारी बैंकर है जो अभिकर्ता के रूप मे उत्तरदायित्व निभाता है । रिजर्व बैंक की सलाह पर ही बैंकिंग कम्पनी अधिनियम 1949 बनाया गया था । इसी प्रकार अन्य आर्थिक नीतियो मे रिजर्व बैंक सलाहकार के रूप मे कार्य करता है ।

3 बैंकों का बैंक एव बैंको के नकद कोषों का संरक्षक (Banker's Bank & Custodian of their Cash Reserves)—केन्द्रीय बैंक देश के बैंको का शीर्ष बैंक होता है । देश के दूसरे सब बैंक इसके अन्तर्गत कार्य करते हैं तथा इससे सम्बद्ध रहते हैं । जिस प्रकार दूसरे बैंक अपने ग्राहको की जमा के सरक्षक होते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक बैंक अपनी जमाओ का कुछ निश्चित प्रतिशत भाग तो अपने पास नकद एव तरल रूप मे रखते हैं जबकि कुछ निश्चित भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा कराना होता है । इस पद्धति का सबसे बडा लाभ यह है कि केन्द्रीय बैंक इन कोषों मे परिवर्तन से साख नियन्त्रण करने म समर्थ होता है तथा मुद्रा एव साख प्रणाली मे लोच उत्पन्न कर देता है । सभी सदस्य बैंको के कुछ नकद कोष केन्द्रीय बैंक के पास जमा होने मे जनता मे विश्वास बना रहता है । केन्द्रीय बैंक जनता की जमाओ का कुछ प्रतिशत अपने पास जमा करवा कर एक बडा काप

बना लेता हैं जिसे संकट काल या आवश्यकता के समय दूसरे बैंकों को उधार दिया जा सकता है।

बैंकों के बैंक होने के रूप में केन्द्रीय बैंक विभिन्न बैंकों की आर्थिक स्थिति से पूर्णतया परिचित रहता है और बैंकों को आवश्यक मार्गदर्शन एवं सहायता देना सम्भव होता है।

बैंकों के बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के अन्तिम ऋणदाता का भी कार्य करता है। (i) बैंक अपने थोड़े नकद कोषों के आधार पर ही अपना व्यवसाय चला सकते हैं क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक से उधार लिया जा सकता है। (ii) संकटकाल में बैंकों को केन्द्रीय बैंक से आर्थिक सहायता मिल सकती है जिससे जनता के विश्वास को आघात पहुंचाये बिना बैंकों को संकट से उबारना सम्भव होता है। (iii) केन्द्रीय बैंक को देश की बैंकिंग व्यवस्था के विकास, विस्तार के साथ-साथ नियन्त्रण का अच्छा अवसर मिलता है।

संक्षेप में यह कहना न्यायसंगत होगा कि भारत का रिजर्व बैंक सभी व्यापारिक या अन्य बैंकों का सिरताज बैंक है। वह उनकी जमाओं का 4% नकद कोष अपने पास रखता है तथा उसे समयावधि जमाओं में 8% तथा माग जमाओं में 20% तक की वृद्धि का अधिकार है। भारत का रिजर्व बैंक देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में भारतीय बैंकों का मित्र, दार्शनिक तथा मार्गदर्शक (Friend, Philosopher and Guide) है। इसने देश के बैंकिंग विकास का सुदृढ आधार तैयार किया है।

4 अन्तिम ऋणदाता (Lender of last Resort)—केन्द्रीय बैंक देश के बैंकों के बैंक के रूप में सामान्य परिस्थितियों में तो ऋण, अग्रिम व अन्य सहायता देता ही है पर संकटकाल में जब बैंक के जमाकर्ताओं में बैंक के प्रति विश्वास उठ जाता है, भारी मात्रा में भुगतान करने की समस्या आती है तो केन्द्रीय बैंक ऐसे संकट ग्रस्त बैंकों को उपयुक्त स्वीकृत प्रतिभूतियों, बिलों एवं हुण्डियों की पुनः कटौती कर पर्याप्त ऋण प्रदान करता है। स्वीकृत अल्पकालीन प्रतिभूतियों पर अग्रिम (Advances) भी दिये जाते हैं। केन्द्रीय बैंक केवल बैंकों के लिये ही अन्तिम ऋणदाता नहीं है वह सरकार को भी संकटकाल व आर्थिक कठिनाई में पर्याप्त ऋण दे सकता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक के पास नोट निर्गमन की अपार शक्ति विद्यमान रहती है। युद्धकाल में केन्द्रीय बैंक एक अन्तिम ऋणदाता बन जाता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया इस दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसने सरकार को आर्थिक नियोजन पर अपार धनराशि खर्च करने की क्षमता प्रदान की है। वह केन्द्र तथा राज्य सरकारों को काफी ऋण प्रदान करता है।

5. राष्ट्र के बहुमूल्य धातुओं और विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक (Custodian of Gold and Foreign Exchange Balances)—देश का केन्द्रीय बैंक देश की बहुमूल्य धातुओं को आरक्षण कोष में रख कर नोटों का

निर्गमन करता है तथा वह देश के धात्विक कोषो व विदेशी विनिमय कोषों को सुरक्षित रखने के लिए उत्तरदायी है। केन्द्रीय बैंक इन कोषो को अपने पास इसलिये भी सुरक्षित रखता है ताकि भुगतान असन्तुलन की स्थिति म इन कोषो के उपयोग से विनिमय दरो मे भारी उच्चावचनो को रोका जा सके तथा विनिमय दरा मे सापेक्षिक स्थिरता रखी जा सके।

6 निकासी-गृह या समाशोधन-गृह का कार्य (Clearing House Functions)—विभिन्न बैंको के पारस्परिक भुगतानों का निपटारा केन्द्रीय बैंक जितनी सुगमता और सरलता से कर सकता है उतना कोई अन्य संस्था नही कर सकती। क्योंकि केन्द्रीय बैंक के पास सब बैंकों के खाते होते हैं अत केन्द्रीय बैंक सब बैंको के अलग-अलग बैंको के लिए जाने वाले भुगतानो तथा प्राप्त होने वाले भुगतानों का एक सामूहिक ब्योरा तैयार करता है और कुल योगो के अन्तर को बैंक के खातो मे नामे या जमा की प्रविष्टियो से ही बिना नकदी हस्तान्तरण व समय की बरबादी के निपटारा हो जाता है। देश मे कम मुद्रा चलन म डालने से ही काम चल जाता है। समाशोधन की पद्धति का प्रारम्भ 1854 से ही हुआ। समाशोधन गृह के रूप मे केन्द्रीय बैंक के महत्व को प्रो विलिस ने लिखा है "इससे न केवल नकदी एव पूजी मे बचत होती है वरन् वह किसी समाज द्वारा समय विशेष मे रखी जाने वाली तरलता पसन्दगी की परीक्षण की पद्धति है जिसका दिन प्रतिदिन का ज्ञान बैंक के लिये आवश्यक है।"

भारत मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भी अपने देश के सब अनुसूचित बैंको के लिए समाशोधन गृह का कार्य करता है। वह अपने सदस्य बैंको को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रकम भेजने मे भी सहायता करता है।

7. सूचनाओं एव आंकडों के सकलन का कार्य—बैंको का बैंक होने, सरकारी बैंकर के रूप मे कार्य करने तथा देश की समूची अर्थव्यवस्था की विभिन्न व्यापारिक, औद्योगिक गतिविधियो से पूर्ण परिचित होने के नाते केन्द्रीय बैंक मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय आदि आंकडो व सूचनाओ का प्रकाशन करता है जो कि सरकार की नीतियो के निर्धारण मे अत्यन्त सहयोगी सिद्ध होते हैं।

भारत म रिजर्व बैंक आफ इण्डिया इसके लिए एक अलग आर्थिक एव साख्यिकी विभाग का सचालन करता है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया बुलेटिन तथा वार्षिक प्रतिवेदनो मे आकडो व सूचनाओ का प्रकाशन होता है। सरकार के आदेशो पर भी रिजर्व बैंक विभागीय जांच समितियो की स्थापना कर सर्वेक्षण का कार्य करता है।

8. साख का नियत्रण (Control of Credit)—केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य साख का नियन्त्रण है। केन्द्रीय बैंक को मौद्रिक नीति के कार्यान्वयन मे उत्तरदायी माना जाता है। साख नियन्त्रण का उद्देश्य देश मे विनिमय दर म

स्थिरता, मूल्य स्तर मे सापेक्षिक स्थायित्व, पूर्ण रोजगार की व्यवस्था के साथ साथ आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करना होता है। ये चारो उद्देश्य एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि उनमें कभी कभी एक उद्देश्य की पूर्ति म, अन्य उद्देश्यो की प्राप्ति म सकट उत्पन्न हो जाता है। अत बडी सतर्कता बरतनी पडती है और इसी लिय साख नियन्त्रण के साथ साथ राजकोषीय नीति का सम्मिश्रण करना पडता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण के अनेक तरीके अपनाने पडते हैं जिनमे बैंक दर, खुले बाजार की प्रवृत्तिया, नकद कोषो मे परिवर्तन, तरल कोषो मे परिवर्तन, प्रत्यक्ष कार्यवाही, नैतिक अनुनय आदि हैं।

प्रो डी काक के मतानुसार साख का नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक का एक ऐसा कार्य है जिसके माध्यम से प्राय सभी कार्यों को एकीकृत किया जाता है और सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव होती है। साख नियन्त्रण का कार्य आजकल इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि विभिन्न केन्द्रीय बैंको के विधानो म इसका स्पष्ट उल्लेख है।

भारत मे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया अधिनियम में स्पष्ट उल्लेख है कि बैंक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह राष्ट्रीय हित को ध्यान मे रखते हुए देश की चलन एव साख का नियन्त्रण करता रहेगा। केन्द्रीय बैंक के रूप म वह अपने इस कार्य को बडी दक्षता से निभाने मे प्रयत्नशील है।

9 अन्य कार्य (Other Functions)—यद्यपि उपर्युक्त कार्य सभी केन्द्रीय बैंको के प्रमुख कार्य बन गये हैं पर निरतर उनके कार्यों का विस्तार होता जा रहा है और अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध म सहमत नही हैं कि उनके कार्यों की सीमा क्या रहे। भारत की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था मे रिजर्व बैंक का कृषि ऋण विभाग कृषि ऋणों की उचित व्यवस्था करता है जबकि अन्य देशो म केन्द्रीय बैंक कृषि साख की व्यवस्था स्वय नही करते।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के कार्यों का सक्षिप्त विवरण हमे स्प्रेग के इस मत को दुहराने को बाध्य करता है कि केन्द्रीय बैंको के कार्यों का उल्लेख मुख्य तीन भागो मे किया जा सकता है—वे सरकार के आर्थिक अभिकर्ता का कार्य करते हैं, नोट निर्गमन के एकाधिकार के कारण उनका चलन पर विस्तृत नियन्त्रण रहता है और अन्त मे, क्योकि उनके पास अन्य बैंकों की निधि का पर्याप्त भाग रहता है, वे समस्त साख कलेवर के आधार के लिए प्रत्यक्ष रूप मे उत्तरदायी होते हैं। अन्तिम कार्य *केन्द्रीय बैंक का सबसे प्रमुख एव महत्वपूर्ण कार्य है।*

साख नियन्त्रण एवं साख नियन्त्रण की रीतियां

(Contrbl of Credit & Methods of Credit Control)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, केन्द्रीय बैंक को अपनी मौद्रिक नीति के क्रियान्वयन एव सफल सम्पादन के साख नियन्त्रण के कार्य को बडी सतर्कता और

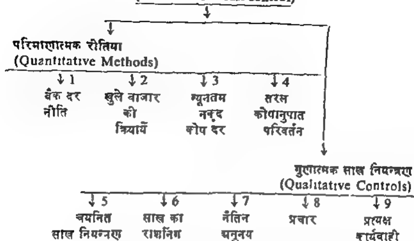
विवेकपूर्ण ढंग से पूरा करना होता है। प्रो स्प्रेग, प्रो डी कॉक और प्रो शाह आदि ने साख नियन्त्रण को केन्द्रीय बैंक का प्रमुख, वास्तविक एवं महत्वपूर्ण कार्य माना है। केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति की सफलता में ही उसकी सफलता निहित होती है।

साख नियन्त्रण का अर्थ—केन्द्रीय बैंक की साख नियन्त्रण नीति का अभिप्राय उस नीति से है जिसके द्वारा केन्द्रीय बैंक देश के व्यापार, वाणिज्य तथा जनसाधारण सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार साख की मात्रा में घटत बढ़त करता है। यदि देश में साख की मात्रा राष्ट्र की आर्थिक क्षमता से अधिक है तो मुद्रा प्रसार का भय रहता है और अगर साख की मात्रा कम हो तो मुद्रा संकुचन के दुष्प्रभावों का सामना करने की नौबत आती है अतः साख की मात्रा में माग के अनुकूल समायोजन करना ही साख नियन्त्रण कहलाता है।

साख नियन्त्रण के उद्देश्य—साख नियन्त्रण के उद्देश्य दो भाग में विभाजित किये जा सकते हैं-पहला, साख नियन्त्रण के वे उद्देश्य है जो आर्थिक जीवन की अस्थिरता को दूर करने के लिए अपनाये जाते हैं जैसे—(i) मुद्रा प्रसार या मुद्रा संकुचन को सुधारना (ii) विदेशी विनिमय दर में परिवर्तनों को रोकना या सुधारना (iii) बेकारी में वृद्धि को रोकना तथा (iv) उत्पादन में गिरावट पर नियन्त्रण। दूसरे भाग में उन उद्देश्यों का समावेश होता है जो धनात्मक है और जनहित में अधिक लाभकारी हैं। इनमें (i) विदेशी विनिमय दरों में स्थायित्व लाना (ii) विदेशी पूँजी के देश से बाह्य गमन पर रोक लगाना (iii) कीमत स्तर में स्थायित्व लाना (iv) रोजगार में वृद्धि करना तथा पूर्ण रोजगार की व्यवस्था (v) उत्पादन में वृद्धि (vi) व्यापार चक्रों से छुटकारा तथा (vii) आर्थिक नियोजन की सफलता एवं तीव्र प्रगति की दर।

साख नियन्त्रण की रीतियां
(Methods of Credit Control)

साख नियन्त्रण के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण के अनेक तरीके अपनाता है। इन रीतियों को दो श्रेणियों में बाटा जा सकता है (क) **परिमाणात्मक विधियाँ (Quantitative Methods)**—इसमें उन विधियों का समावेश होता है जो बैंकों के नकद कोषों पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं तथा उनकी लागत को नियन्त्रित करती हैं। (ख) **गुणात्मक विधियां (Qualitative Methods)**—इनमें वे विधियां सम्मिलित होती हैं जो साख के प्रयोग एवं व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं जिससे साख का प्रयोग उन्ही कार्यों के लिये हो जिसे केन्द्रीय बैंक वाछनीय समझता है तथा अवांछित उपयोगों पर या अनावश्यक क्षेत्रों में साख विस्तार पर रोक लगाई जाती है। व्यावहारिक अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि केवल साख का परिमाणात्मक नियन्त्रण ही पर्याप्त नही होता अतः गुणात्मक नियन्त्रण भी आवश्यक हो जाता है। ये रीतियां अग्रलिखित तालिका से स्पष्ट हैं—



(A) **परिमाणात्मक साख नियन्त्रण रीतिया (Methods of Quantitative Credit Control)**—इन रीतियो के अन्तर्गत हम उन सब रीतियो को सम्मिलित करते हैं जिनके कारण व्यापारिक बैंको के नकद कोषो पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है तथा साख की लागत भी प्रभावित हो सकती है। परिमाणात्मक साख नियन्त्रण की रीतियां क्रमश बैंक दर, खुले बाजार की क्रियायें, न्यूनतम जमाम्रो तथा नकद कोषानुपात मे परिवर्तन आदि हैं। इनसे बैंको के कोषो मे घटत बढत होती है और इस घटत-बढत से उनकी साख-निर्माण क्षमता भी घटती बढती है।

(1) **बैंक दर (Bank Rate)**—बैंक दर साख नियन्त्रण की पुरानी एव महत्वपूर्ण गीति मानी जाती है। बैंक दर वह दर है जिस दर पर केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंकों के प्रथम श्रेणी बिलो की कटौती करता है या स्वीकृत प्रतिभूतियो पर ऋण प्रदान करता है। जब बैंक दर बढा दी जाती है तो बैंको को ऋण महगे पडते हैं इससे वे अपने ऋण कम करते हैं इससे उनकी साख क्षमता घटती है। इसके विपरीत जब बैंक दर घटती है तो बैंको को ऋण सस्ते पडते हैं। अत वे रिजर्व बैंक से ऋण लेकर अधिक साख निर्माण करते हैं। बैंक दर नीची होने पर उसे सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) तथा बैंक दर ऊँची होने पर उसे महगी मुद्रा नीति (Dear Money Policy) कहते हैं। जब रिजर्व बैंक बाजार मे साख कम करना चाहता है तो बैंक दर बढा देता है और साख का विस्तार करने के लिए बैंक दर घटा देता है।

भारत मे साख नियन्त्रण के लिये भारतीय रिजर्व बैंक ने बैंक दर नीति का

व्यापक प्रयोग किया है। योजनाबद्ध विकास के पूर्व 1935 से नवम्बर 1951 तक बैंक दर 3% रही पर नवम्बर 1951 में सर्वप्रथम बैंक दर बढ़ाकर $3\frac{1}{2}$% कर दी गई उसके बाद मई 1957 में इसे बढ़ाकर 4%, 2 जनवरी 1963 में $4\frac{1}{2}$%, 1964 में 5%, फरवरी 1965 में 6% करदी गई। 1966 तथा 1967 में आर्थिक शिथिलता (Economic Recession) के दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए 2 मार्च 1968 को बैंक दर 6% से घटाकर 5% ही करके सस्ती साख नीति का अनुसरण किया। उसके बाद चतुर्थ योजना काल में मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए 9 फरवरी 1971 को बैंक दर पुनः बढ़ाकर 6% करदी गई। 1 जून 1973 को बढ़ाकर 7% करदी गई। जुलाई 1974 में अमेरिका द्वारा अपनी बैंक दर बढ़ाकर 7% तथा 20 जुलाई 1974 को इंगलैण्ड द्वारा बैंक दर बढ़ाकर 9% किये जाने के कारण तथा देश में व्याप्त तीव्र मुद्रा स्फीति के दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने भी 23 जुलाई, 1974 से बैंक दर को एकदम बढ़ाकर 9% कर दिया। अतः वर्तमान बैंक दर 9% है।

बैंक दर नीति का प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था में साख नियन्त्रण पर बहुत कम पड़ता है क्योंकि देश में संगठित मुद्रा बाजार व बिल बाजार का विकास नहीं हो पाया है, बैंकिंग साख के अतिरिक्त "काले धन" का प्रयोग व्याप्त है। अत्यधिक लाभोपार्जन के कारण ऊँची ब्याज दर भी साख प्रयोगकर्त्ताओं को हतोत्साहित नहीं कर पाती। इसका प्रभाव भी अल्पकालीन ही रहता है।

(ii) खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations)—इस रीति के अन्तर्गत जब देश में साख की मात्रा अधिक होती है तो केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में स्वर्ण तथा प्रतिभूतियों का विक्रय करता है इससे जनता व बैंकों से मुद्रा खींचकर केन्द्रीय बैंक के पास आ जाती है इससे बैंकों की साख निर्माण क्षमता घट जाती है और इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक देश में साख की मात्रा बढ़ाना चाहता है तो खुले बाजार में स्वर्ण या प्रतिभूतियों का क्रय करता है इससे जनता के बैंक कोषों में वृद्धि होती है और साख क्षमता बढ़ती है।

खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा साख नियन्त्रण की नीति का भी रिजर्व बैंक ने समय-समय पर अनुसरण किया है। रिजर्व बैंक द्वारा लगभग 350 करोड़ रु. मूल्य की प्रतिभूतियां बेची गई हैं। इस नीति में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि रिजर्व बैंक के पास पर्याप्त प्रतिभूतियों का अभाव है और इसमें रिजर्व बैंक को हानि भी उठाने का भय रहता है। देश में संगठित मुद्रा व बिल-बाजार का अभाव भी इसमें अधिक है।

(iii) बैंकों के प्रारक्षित कोषानुपात में परिवर्तन (Change in Reserve Ratio)—आजकल प्रायः सभी केन्द्रीय बैंक अपने सम्बद्ध बैंकों से उनकी जमाओं (Deposits) का एक निश्चित अनुपात अपने पास नकद प्रारक्षित निधि के रूप में जमा करते हैं जैसे भारत में अभी यह दर 6% है। जब केन्द्रीय बैंक देश से साख की

मात्रा कम करना चाहता है तो कोषो की आनुपातिक राशि म वृद्धि कर देता है और साख का विस्तार करने की दिशा म कोषो के अनुपात को घटा देता है इससे बैंको के पास ऋण देने को अधिक राशि बच जाती है। भारत मे रिजर्व बैंक को इसे 3% से बढाकर समयावधि जमाओ (Time Deposits) को 8% तथा माग जमाओ (Demand Deposits) को 20% तक करने का अधिकार है। जुलाई 1974 म कोषानुपात 7% तक बढा दिय गयेथे पर बाद म 4% तक घटा दिये। अब यह दर 6% है।

(iv) तरल कोष मे परिवर्तन (Change in Liquidity Ratio)—इस रीति के अन्तगत देश के प्रत्येक व्यापारिक बैंक को अपने जमा कोषो का एक निश्चित भाग अपने पास सदैव तरल रूप म रखना पडता है जैसे भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपने दायित्वो का 25% भाग तरल कोषो म रखना पडता है, 1964 से पूव यह केवल 20% ही था। अब इसे बढा कर कुल जमा का 34% तक कर दिया है तथा कुछ मामलो म यह दर 40% तक है। अत केन्द्रीय बैंक तरल कोषो के अनुपात म वृद्धि करके साख निर्माण क्षमता कम कर सकता है तथा अनुपात मे कमी करके साख विस्तार को बढा सकता है। साख नियन्त्रण की इस रीति का विकास द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुआ।

(B) गुणात्मक साख नियन्त्रण रीतियां
(Methods of Qualitative Control of Credit)

साख नियन्त्रण की इस श्रेणी म उन रीतियो का समावेश होता है जिनस बैंक की साख की मात्रा को प्रभावित न कर उनके उपयोग को नियन्त्रित किया जाता है। परिमाणात्मक साख नियन्त्रण का सबसे बडा दुष्प्रभाव यह होता है कि यह नियन्त्रण सभी उद्योगो व उपयोगो म साख की मात्रा को समान रूप से प्रभावित करता है जबकि गुणात्मक साख नियन्त्रण का उद्देश्य साख की कुल मात्रा को नियन्त्रित करना नही वरन् साख के विभिन्न उपयोगो पर नियन्त्रण करना है ताकि साख का उपयोग अवांछित उपयोगो से रोककर वांछित लक्ष्यो एव प्राथमिकताओ के अनुरूप किया जा सके। इसकी मुख्य रीतियाँ इस प्रकार हैं—

(i) चयनित या प्रवृत्य साख नियन्त्रण (Selective Credit Control)—चयन साख नियन्त्रण की व्यवस्था के अन्तगत अर्थव्यवस्था के चुने हुए क्षेत्रो म ही साख की मात्रा को प्रभावित किया जाता है जैसे केन्द्रीय बैंक खाद्यान संग्रह के लिय दिये गये अग्रिमो पर नियन्त्रण कर सकता है तथा लघु एव कुटीर उद्योगो को अधिक ऋण या कृषि को अधिक ऋण देने की व्यवस्था की जा सकती है। इसके लिए प्राय भिन्न भिन्न प्रकार के ऋणो पर भिन्न भिन्न कटौती दरें, साख सीमा निर्धारण, अन्तर निर्धारण (Margin Fixing), ऋणो की जाच एव नियन्त्रण, उपभोक्ता साख नियन्त्रण आदि की व्यवस्था की जा सकती है।

(ii) साख समभाजन (Rationing Credit)—इसके लिए केन्द्रीय बैंक प्रत्येक सदस्य बैंक के लिए पुनर्कटौती तथा अग्रिम ऋण की सीमा निर्धारित कर देता

है। जैसे उपभोक्ताओं को वस्तुओं का राशन कार्ड मिल जाता है उसी प्रकार प्रत्येक बैंक को केन्द्रीय बैंक से दिये जाने वाली राशि भी निर्धारित कर दी जाती है। यह नीति प्रायः सङ्कटकाल मे अपनाई जाती है तथा सावधानी बरतनी पड़ती है। पुनर्वित्त की सुविधा भी कम की गई है।

(iii) नैतिक अनुनय एवं प्रचार (Moral Suation & Publicity)—केन्द्रीय बैंक सभी बैंकों का बैंक एवं सिरताज होने के नाते नैतिक दबाव डालकर बैंकों को निश्चित दिशा में साख-निर्माण का आग्रह कर सकता है तथा अवांछित क्षेत्रों में साख पर रोक का आग्रह कर सकता है। 12 जुलाई 1973 तथा उसके बाद व्यापारिक साख-संकुचन की सलाह दी जाती रही है। इसके साथ ही कभी-कभी केन्द्रीय बैंक पत्र-पत्रिकायें, विचारगोष्ठियों या समारोहों के द्वारा बैंकों के अधिकारियों को निश्चित दिशा-दर्शन कराते हैं पर यह प्रचार व्यवस्था का प्रभाव कम ही रहता है।

(iv) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)—यह साख नियन्त्रण की केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाई जाने वाली कठोर एवं अन्तिम नियन्त्रण नीति है। जब कोई बैंक केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण आदेशों की निरन्तर अवहेलना करता है तो केन्द्रीय बैंक उस बैंक को निश्चित आदेश देता है और चेतावनी दी जाती है। यह उसी प्रकार है कि "लातों के देव अगर बातों से न माने तो लातें पड़ती हैं।"

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के पास साख-नियन्त्रण के अनेक उपकरण होते हैं जो वह उनकी उपयुक्तता को ध्यान में रखते हुए प्रयोग करता है। किसी भी देश में साख-नियन्त्रण की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि देश में व्यवस्थित बैंकिंग व्यवस्था हो तथा केन्द्रीय बैंक को उनके नियन्त्रण का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो। इनकी सफलता के लिये केन्द्रीय बैंक का मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार पर पूर्ण प्रभाव हो। केन्द्रीय बैंक के साधन पर्याप्त हों और बैंक की साख नीति समयानुकूल हो अन्यथा साख-नीति की सफलता संदिग्ध रहती है। भारत में रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति पूर्णतः सफल नहीं हो सकती क्योंकि देश में सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित मुद्रा बाजार का अभाव है। देश में काले धन की पर्याप्तता है। बैंकिंग व्यवस्था का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। रिजर्व बैंक के पास खुले बाजार की क्रियाओं के सम्पादन के लिए पर्याप्त प्रतिभूतियां व साधनों का भी अभाव है। फिर भी कुछ पिछले वर्षों से रिजर्व बैंक ने साख-नियन्त्रण में आंशिक सफलता प्राप्त की है।

केन्द्रीय बैंक एवं व्यापारिक बैंकों में पारस्परिक सम्बन्ध

(Mutual Relations Between Central Bank & Commerical Banks)

केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। केन्द्रीय बैंक देश के बैंकों को लाइसेन्स प्रदान करता है, उन्हें व्यवसाय प्रारम्भ करने की अनुमति देता है, नई शाखाएँ खोलने की अनुमति देता है, उन्हें वित्तीय सहायता व ऋण देता है तथा जन्म से अन्त्येष्टि तक के सारे कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। इस प्रकार से केन्द्रीय

बेंक व्यापारिक बेंकों के लिये मित्र, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक है (Central Bank is a Friend, Philosopher & Guide to Commerical Banks)। भारत के बेंकिंग अधिनियम द्वारा केन्द्रीय बैको को विशेष अधिकार दिये गए हैं। भारत मे व्यापारिक बेंको व केन्द्रीय बेंको के बीच पारस्परिक सम्बन्धो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. बेंक स्थापना का लाइसेन्स देना—चूं कि व्यापारिक बैंक जनता की छोटी छोटी बचतो को जमा पर लेकर विनियोग करते हैं अत: देश के केन्द्रीय बैंक का यह कर्तव्य है कि वह बेंक-व्यवस्था को इस प्रकार सगठित एवं नियन्त्रित करे कि जनता के धन का दुरुपयोग न हो। अतः केन्द्रीय बेंक के बिना लाइसेन्स के कोई बेंक प्रारम्भ नहीं हो सकता। जब केन्द्रीय बेंक, बैंक की आर्थिक स्थिति एव उसके नेक इरादो से आश्वस्त हो जाता है तभी लाइसेन्स देता है।

2. प्रबन्ध मे हस्तक्षेप—केन्द्रीय बेंक यह देखता है कि व्यापारिक बेंको की प्रबन्ध व्यवस्था कुशल है। अगर बेंक के सचालको व प्रबन्धको को केन्द्रीय बेंक अवांछित अनुभव करे तो उन्हें हटाने की व्यवस्था कर सकता है। इस प्रकार केन्द्रीय बेंक व्यापारिक बेंको मे कुशल प्रबन्धन की ओर ध्यान देता है।

3. ऋण नीति का नियन्त्रण—केन्द्रीय बेंक पर देश की मौद्रिक नीति के क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व होता है। अत देश के बैंको की ऋण नीति को इस प्रकार नियन्त्रित करता है कि वह देश हित मे हो। केन्द्रीय बेंक देशो के बैंको की ऋण नीति का निर्धारण एव उसके क्रियान्वयन पर नियन्त्रण रखता है। साख नियन्त्रण की विभिन्न रीतियो का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

4. बेंकों को नई शाखाओं के खोलने की अनुमति भी केन्द्रीय बेंक देता है। केन्द्रीय बेंक की बिना अनुमति देश या विदेश मे न तो कोई नई शाखा खोल सकता है और न शाखा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण कर सकता है। केन्द्रीय बेंक यह देखता है कि बेंक की शाखा खोलने की क्षमता है तथा उस स्थान पर उसकी वास्तव मे जनहित मे आवश्यकता है अन्यथा अनुमति नही दी जाती। इससे बेंको का देश मे सभी क्षेत्रों में सतुलित विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

5. केन्द्रीय बेंक, बेंकों के अन्तिम ऋणदाता का कार्य करता है—केन्द्रीय बेंक देश के बेंको को सामान्य परिस्थितियो मे ऋण, अग्रिम व अन्य वित्तीय सहायता देता ही है पर सकटकाल मे भी सकटग्रस्त बेंको को स्वीकृति अल्पकालीन प्रतिभूतियो पर ऋण व अग्रिम उपलब्ध करता है। व्यापारिक बेंक केन्द्रीय बेंक से बिलो की पुनर्कटौती करवाते हैं या प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण लेते हैं।

6. केन्द्रीय बेंक व्यापारिक बेंकों को अनेक सुविधाएँ भी देते हैं जिनमे ऋण एव बिलो की पुनर्कटौती तो प्रमुख है पर साथ ही व्यापारिक बेंको को धन प्रेषण (Remittance) सुविधाएँ भी देता है, उनके लिये समाशोधन-गृह (Clearing House) का काम करता है।

7. व्यापारिक बैंकों के केन्द्रीय बैंक के प्रति दायित्व—जहां केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको को अनेक सुविधाएँ देता है उसके साथ-साथ व्यापारिक बैंको पर अनेक दायित्व भी हैं (i) बैंको को अपने लेन-देन का साप्ताहिक ब्यौरा केन्द्रीय बैंक को भेजना पड़ता है। (ii) अब प्रत्येक व्यापारिक बैंक को अपने कुल जमाओ का 6% केन्द्रीय बैंक के पास जमा कराना होता है जिसको वह 8% से 20% तक बढ़ा सकता है (iii) केन्द्रीय बैंक के साख नीति सम्बन्धी आदेशो का पालन करना पड़ता है (iv) सम्पत्ति विवरण, प्रतिभूत विवरण, स्थिति विवरण एवं अकेक्षको की रिपोर्ट भेजनी पड़ती है।

8. बैंकों का निरीक्षण तथा उनके एकीकरण या समापन की व्यवस्था—केन्द्रीय बैंक अपनी इच्छा या सरकार की आज्ञा होने पर न केवल असन्तोषप्रद स्थिति वाले बैंको के हिसाब किताब व अन्य सम्बन्धित विवरणो का निरीक्षण कर सकता है वरन् उसका यह कर्त्तव्य है कि वह सब बैंको का यथाक्रम निरीक्षण करे तथा स्वस्थ बैंकिंग प्रणाली के लिये सुझाव दे। असन्तोषजनक स्थिति वाले बैंको के एकीकरण (Amalgamation) की योजना स्वीकार करे अथवा बैंक के समापन (Liquidation) की व्यवस्था करे।

9. केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के सहयोग एव माध्यम के द्वारा भी साख-निर्माण तथा साख नियन्त्रण की नीति को सफल बना सकता है। देश का केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको की साख-निर्माण क्षमता को नियन्त्रित करता है और बैंको को साख-नियन्त्रण नीति निर्देशो को पालन करना अनिवार्य होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंक के कार्यों में जन्म से उनके अन्तिम संस्कार तक सम्बन्धित रहता है। केन्द्रीय बैंक देश मे सतुलित बैंकिंग विकास के लिये बैंको की गतिविधियो पर इस प्रकार नियन्त्रित रखता है कि बैंकिंग का विकास हो। सुदृढ़ बैंकिंग व्यवस्था के लिये वह आर्थिक सहायता देता है, आवश्यक मार्गदर्शन करता है तथा भावी विकास के कार्यक्रमो मे सहायक होता है। इसीलिये व्यापारिक बैंको व केन्द्रीय बैंक का सम्बन्ध इस वाक्य मे निहित है—

केन्द्रीय बैंक बैंकों का शीर्ष बैंक तथा अन्तिम ऋणदाता होता है, वह बैंको का मित्र, दार्शनिक एव मार्गदर्शक (Friend, (Philosopher and Guide) होता है। भारत मे केन्द्रीय बैंक के रूप मे रिजर्व बैंक इन दायित्वो को निभाता है ताकि देश मे बैंकिंग का सुदृढ़ समुचित विकास हो सके।

परोक्षोपयोगी प्रश्न

1 केन्द्रीय बैंक क्या है, इसके विभिन्न कार्यों का वर्णन कीजिए।

(I yr. T.D.C. Collegiate 1977)

अथवा

केन्द्रीय बैंक के मुख्य-मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिय।

(I yr. T D.C. 1973, 1976)

(सकेत–केन्द्रीय बैंक का अभिप्राय स्पष्ट करके दूसरे भाग मे उसके कार्यों का वर्णन देना है ।)

2. साख नियन्त्रण से आप क्या समझते हैं ? केन्द्रीय बैंक साख पर किस प्रकार नियन्त्रण करता है ?

अथवा

केन्द्रीय बैंक के साख नियन्त्रण के विभिन्न तरीको की व्याख्या कीजिये । (Raj I yr T D C 1974)

अथवा

साख नियन्त्रण के विभिन्न उपाय जो एक केन्द्रीय बैंक अपनाता है, उनका वर्णन कीजिये । (Raj I yr. T D C 1980)

अथवा

एक देश मे केन्द्रीय बैंक साख पर नियन्त्रण किस प्रकार करता है ? (Raj I yr T D C 1975)

अथवा

उन विभिन्न विधियो का वर्णन कीजिए जिनके द्वारा किसी देश का केन्द्रीय बैंक देश मे साख की मात्रा व किस्म का नियमन करता है । (Raj I yr T D C Special Exam 1974)

(सकेत–साख-नियन्त्रण का अर्थ बताकर, दूसरे भाग में साख नियन्त्रण नीतियो का उल्लेख कीजिए तथा सक्षेप मे निष्कर्ष बताइये कि यह नीति कब सफल होती है ।)

3. व्यापारिक बैंको तथा केन्द्रीय बैंको मे क्या अन्तर होता है तथा केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंको मे पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होते हैं ?

(सकेत–प्रारम्भ मे व्यापारिक बैंक और केन्द्रीय बैंक का अर्थ स्पष्ट कीजिए, फिर तालिका के रूप मे दोनो मे अन्तर दीजिये तथा तीसरे भाग मे 'केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंक के पारस्परिक सम्बन्ध" शीर्षक के अन्तर्गत दी गई विषय सामग्री दीजिये । यह सब समय को ध्यान में रखते हुए सक्षेप मे देना है)

4. एक केन्द्रीय बैंक के कार्यों का वर्णन कीजिये । (Raj I yr T D C 1973, 1976)

(सकेत–प्रथम भाग मे केन्द्रीय बैंक का अर्थ बताकर द्वितीय भाग मे उसके कार्यों का शीर्षक-वार वर्णन दीजिये ।)

5. केन्द्रीय बैंक क्या है, यह एक देश मे साख को किस प्रकार नियन्त्रित करता है ? (B A (Hons) Pt I 1977)

(सकेत–केन्द्रीय बैंक का अर्थ बताकर दूसरे भाग मे केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण की रीतियो का विवेचन अध्याय के शीर्षकानुसार करना है ।)

21

व्यापारिक बैंक तथा उनके कार्य

(Commercial Banks and their Functions)

साधारण बोलचाल में रुपये का लेन-देन करने वाली संस्था को ही बैंक कहा जाता है जो जनता से धन जमा प्राप्त करती है तथा ऋण के रूप में या जमाकर्त्ताओं के मांगने पर वापिस भुगतान करती है। प्रो. कीजेंट के शब्दों में "बैंक वह है जो बैंक का कार्य करे।" वेब्स्टर कोष में दी गई परिभाषा के अनुसार "बैंक वह संस्था है जो द्रव्य में व्यवसाय करती है, एक प्रतिष्ठान जहां धन का संग्रह, संरक्षण तथा निर्गमन होता है तथा जहां ऋण देने व कटौती की सुविधा प्रदान की जाती है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर धनराशि भेजने की व्यवस्था की जाती है।"

व्यापारिक बैंक

(Commercial Banks)

आर्थिक जगत में परिवर्तनों के साथ-साथ बैंकिंग व्यवस्था में विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति प्रबल हुई। व्यवसायियों की भिन्नता तथा उनकी ऋण आवश्यकताओं की विशिष्टता के कारण अनेक प्रकार के बैंकों की स्थापना हुई। प्रत्येक वर्ग के बैंक विशेष प्रकार के कार्य के लिए ऋण देते हैं तथा उनको ऋण देने की अवधि व साधन जुटाने में भिन्नता पाई जाती है जैसे औद्योगिक बैंक औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घकालीन ऋण देते हैं, कृषि बैंक कृषि के दीर्घ एवं मध्यकालीन ऋणों की व्यवस्था करते हैं, विदेशी विनिमय बैंक विदेशी मुद्रा का क्रय विक्रय करते हैं, केन्द्रीय बैंक देश के प्रमुख बैंक के रूप में मौद्रिक व्यवस्था करता है उसी प्रकार व्यापारिक बैंकों का कार्य भी विशेष प्रकार का है—

व्यापारिक बैंकों से अभिप्राय उन बैंकों से है जो जनता से अल्पकालीन निक्षेप (Deposits) स्वीकार करते हैं तथा व्यापारियों, उद्योगपतियों व व्यवसायियों को अल्पकालीन ऋण उपलब्ध कराते हैं। वे प्रायः तीन महीनों से एक वर्ष की अवधि के लिए ऋण या अग्रिम (Advances) देते हैं। इस प्रकार इन बैंकों का कार्य व्यापार या उद्योग की अल्पकालीन वित्तीय व्यवस्था में सहायता देना है। ये बैंक दीर्घकालीन ऋण प्रदान नहीं करते। ये बैंक ऋण या अग्रिम प्रायः वैयक्तिक प्रतिभूतियों, विनिमय

व्यापारिक बैंकों के कार्य
(Functions of Commercial Banks)

जैसा कि बैंकों का प्रकार बताते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न विशिष्टीकरण ने बैंक के कार्यों में भी विशिष्टीकरण को जन्म दिया है। अतः विभिन्न प्रकार के बैंकों के कार्य में कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है जैसे देश के केन्द्रीय बैंक के कार्य व्यापारिक बैंकों से तथा औद्योगिक बैंकों से भिन्न हैं काम क्षेत्र भी अलग अलग हैं। इस दृष्टि से विशिष्टता को ध्यान में न रखते हुए आधुनिक व्यापारिक बैंकों के सामान्यतः निम्न कार्य बताये जाते हैं इन कार्यों को मोटे तौर पर 5 भागों में बांटा जाता है और निम्न तालिका से स्पष्ट है—

(A) प्रमुख कार्य (Primary Functions)
 (1) जमा प्राप्त करना (Receiving deposits)
 (2) ऋण देना (Advancing Loans)

(B) गौण कार्य (Secondary Functions)
 (3) साख का निर्माण करना (Creating Credit)
 (4) एजेन्सी सम्बन्धी कार्य (Agency functions)
 (5) सामान्य उपयोगी सेवाएँ (General Utility Services) एवं
 (6) विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय (Purchase & Sale of foreign exchange)

इन कार्यों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

1 जमा प्राप्त करना (Receiving Deposits)—बैंकों का प्रमुख कार्य जनता से रुपया जमा पर प्राप्त कर भण्डार बनाना है जिससे वे बाद में उधार दे सकें। छोटी-छोटी मात्रा में व्यक्तिगत एवं संस्थागत बचत मिलकर प्रचुर धनराशि का निर्माण करते हैं। बैंक जनता से, सरकार से अन्य बैंकों से जमा पर रुपया प्राप्त करते हैं। जमाकर्ताओं की बचत के आकार, प्रकृति आदि को ध्यान में रखते हुए चार प्रकार के खातों में रुपया जमा पर प्राप्त किया जाता है।

(i) स्थायी जमा खाता (Fixed Deposit Account)—इसे निश्चित जमा तथा समयावधि जमा खाता (Time Deposit) भी कहा जाता है। यह उन लोगों के लिए है जो निश्चित अवधि तक अपनी बचत को जमा कराना चाहते हैं। उससे पहले उन्हें यह राशि प्राप्त नहीं होती। यह राशि 3 महीने 6 महीने, एक वर्ष, 2 वर्ष तथा प्रायः 10 वर्षों तक की अवधि के लिए जमा होती है। इस प्रकार की जमाओं पर अधिक दर से ब्याज चुकाया जाता है। रुपया जमा कराने वाले को निश्चित जमा की रसीद मिलती है जिसमें भुगतान की अन्तिम तिथि ब्याज की दर आदि शर्तों का संक्षिप्त विवरण होता है। अन्तिम तिथि को ब्याज व रकम लौटाई या पुनः जमा पर प्राप्त की जाती है। यह उन व्यक्तियों के लिए

आधुनिक व्यापारिक बैंकों के कार्य—एक दृष्टि में (At a Glance)

जमा प्राप्त करना	ऋण देना	साख का निर्माण	एजेन्सी कार्य	अन्य कार्य
(i) स्थायी जमा खाता	(i) ऋण एव अग्रिम	जमाओं से ऋण और ऋणों से जमा द्वारा साख निर्माण	(i) चैक हुण्डियों व बिलो के भुगतान लेना	(i) विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय
(ii) चालू जमा खाता	(ii) अधिविकर्ष		(ii) अन्य भुगतान	(ii) व्यापार एव अर्थ प्रबन्ध
(iii) बचत जमा खाता	(iii) नकद साख		(iii) ग्राहकों के नाम बिलो, हुण्डियो व चैक का भुगतान	(iii) यात्री चैक एव साख-पत्र प्रबन्ध
(iv) घरेलू बचत जमा खाता	(iv) बिलो, हुण्डियो व साख-पत्रों की कटौती या भुनाना		(iv) ग्राहकों के अन्य भुगतान चुकाना	(iv) सम्पत्ति की सुरक्षा
			(v) अंश एव प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय	(v) आकड़ो का सकलन
			(vi) धन हस्तान्तरण	(vi) वित्तीय सलाह
			(vii) अभिगोपन	(vii) साख सम्बन्धी सूचना
			(viii) ट्रस्टी, प्रबन्धक एव मुख्तार	(viii) विनिमय बिलो को स्वीकार करना
				(ix) व्यक्तिगत साख

की सुरक्षा का भी ध्यान रखा जाता है। साधारणतः उधार या अग्रिम की निम्न विधियां हैं--

(i) ऋण एवं अग्रिम (Loans and Advances)—उचित जमानत के आधार पर बैंक निश्चित अवधि के लिए किसी कार्य विशेष के लिए ऋण व अग्रिम देते हैं। सामान्यतः यह राशि बैंक नकद न देकर उस राशि को ऋणी के खाते में जमा कर ली जाती है जिससे वह उस राशि में से समय समय पर आवश्यकतानुसार राशि निकाल सके। सम्पूर्ण ऋण की वापसी पर ही ऋण का अन्त माना जाता है। ब्याज कुल रकम पर लगता है। ब्याज की दर अधिक होती है और ऋण पूरी जमानत पर ही सुरक्षा के अनुसार दिये जाते हैं।

(ii) अधिविकर्ष (Overdraft)—जब बैंक अपने ग्राहकों को उनकी जमा रकम से अधिक रुपया निकालने की अनुमति देता है तो इसे अधिविकर्ष के नाम से पुकारा जाता है। यह केवल अल्पकाल के विश्वासपात्र ग्राहकों को ही प्रदान की गई सुविधा होती है। यह ध्यान रखने योग्य है कि ऋण एवं अग्रिम का उपयोग किसी को भी दिया जा सकता है पर अधिविकर्ष का अधिकार केवल जमाकर्त्ता को ही मिलता है जिसका बैंक में चालू खाता होता है, अन्य को नहीं। इस प्रकार के ऋण पर ब्याज की दर अधिक होती है तथा अधिविकर्ष के अधिकार में सरकार की नीति केन्द्रीय बैंक के आदेशों तथा बैंक की ऋण नीति के साथ ग्राहक की साख का ध्यान रखा जाता है।

(iii) नकद साख (Cash Credit)—इसके अन्तर्गत बैंक व्यापारिक माल, स्वीकृति प्रतिभूतियों, ग्राम व ग्राण्ड आदि की जमानत पर ग्राहकों को निश्चित मात्रा में ऋण देता है। ग्राहक के खाते में ऋण की रकम जमा करली जाती है और जमानत में दी गई वस्तुओं को बैंक अपने अधिकार एवं संरक्षण में ले लेता है। ग्राहक ऋण समय-समय पर चुकाता रहता है और अपनी जमानत की वस्तुएं लेता रहता है। बकाया राशि पर ही ब्याज लिया जाता है। नकद साख और अधिविकर्ष में यह मौलिक अन्तर है कि नकद साख किसी को भी स्वीकार की जा सकती है पर अधिविकर्ष केवल चालू खाता रखने वाले व्यक्तियों को ही दिये जाते हैं। नकद साख में जमानत पर एक वर्ष के लिए कुछ अधिक ब्याज पर जबकि अधिविकर्ष बिना जमानत के अल्पकाल के लिए कम ब्याज पर दिये जाते हैं।

(iv) बिलों व हुण्डियों की कटौती या भुनाना (Discounting of the Bills & Hundies)—बैंकों द्वारा अपनी जमाओं का सर्वाधिक भाग व्यावसायिक बिलों व हुण्डियों के रूप में विनियोजित होता है। ये वे साख पत्र होते हैं जो उधार बेचे गये माल के भुगतान के वायदे या आदेश के रूप में निश्चित अवधि में देय होते हैं। विक्रेता भुगतान जल्द नकद में चाहता है जबकि क्रेता भुगतान निश्चित अवधि के बाद देना चाहता है। बैंक इन दोनों की इच्छा की पूर्ति करते हैं। विक्रेता बिल या हुण्डी को बैंक से कटौती करा लेता है या भुनाता है। बैंक इसमें उल्लिखित राशि में

मे भुगतान अवधि तक का ब्याज काटकर विक्रेता का नकद तत्काल भुगतान कर देता है और देय तिथि को क्रेता से भुगतान प्राप्त कर लेता है। अगर क्रेता निर्धारित तिथि पर इस बिल या हुण्डी का भुगतान नहीं करता तो बैंक विक्रेता को ही उत्तरदायी ठहराकर उससे रकम वसूल कर लेता है।

3 बैंक द्वारा साख निर्माण (Creation of Credit)—बैंक जनता से रुपया जमा के रूप प्राप्त करते हैं और उधार देते हैं। इसमे जहा एक ओर जमा से ऋण उत्पन्न होता है वहा दूसरी ओर ऋणो से जमा को भी जन्म मिलता है। यह प्रक्रिया चलती रहती है इससे बैंक अपने पास नकद जमाओं से कहीं अधिक ऋण देने मे समर्थ हो जाते हैं। केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक) नोट निर्गमन कर साख निर्माण करता है दूसरे बैंक नहीं। बैंको द्वारा साख निर्माण का विवरण "ऋण जमा की सन्तान है और जमा ऋणों की सन्तान" अध्याय 19 'साख का निर्माण' मे दिया गया है।

4 बैंक के एजेंसी अथवा प्रतिनिधित्व सम्बन्धी कार्य (Agency Functions)—इस अभिकर्ता कार्य भी कहा जाता है क्योंकि आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों के प्रतिनिधि के रूप मे अनेक सेवाएँ प्रदान करते हैं। कुछ सेवाएँ नि शुल्क और कुछ सेवाएँ साधारण शुल्क पर प्रदान की जाती हैं। प्रतिनिधित्व सम्बन्धी कार्य निम्न हैं—

(i) चैकों, हुण्डी व बिलो के भुगतान संग्रहण (Collection)—बैंक ग्राहकों के प्रतिनिधि के रूप मे उनके द्वारा प्राप्त चैको, बिलो, हुण्डियो तथा अन्य साख पत्रो का भुगतान इकट्ठा करता है तथा संग्रहण कर ग्राहक के खाते म जमा कर देता है। स्थानीय सेवाएँ प्राय नि शुल्क और बाहर के (Outdoor) साख पत्रों के लिए शुल्क वसूल किया जाता है।

(ii) ग्राहकों के भुगतान प्राप्त करना—बैंक द्वारा ग्राहक के प्रतिनिधि के रूप म ग्राहक के लाभांश, ब्याज, किराया, कमीशन आदि एकत्र कर ग्राहक के खाते म जमा कर दी जाती है।

(iii) साख पत्रो का भुगतान—ग्राहकों के द्वारा जिन चैको, साख पत्रो, बिलो व हुण्डिया का भुगतान अन्तिम तिथि पर दूसरे ऋणदाताओं को करना है, बैंक भुगतान कर रकम ग्राहक के नाम लिख देता है।

(iv) ग्राहक के अन्य भुगतान चुकाना – जिस प्रकार से बैंक ग्राहकों के भुगतान प्राप्त करता है उसी तरह ग्राहको के प्रतिनिधि के रूप मे भुगतान चुकाता भी है अर्थात् ब्याज, किराया, लाभाश, बीमा प्रीमियम, कमीशन तथा अन्य देय भुगतान करता है। इसके लिए बैंक कुछ कमीशन वसूल करता है।

(v) अंशों तथा प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय—बैंक प्रतिनिधि के रूप म अपने ग्राहको के लिए अंशो तथा प्रतिभूतियो का क्रय करता है और उन्हे आवश्यकता न होने पर बेच देता है क्योंकि बैंक ग्राहको की अपेक्षा शेयर बाजार से भली-भांति परिचित

ही नहीं रहते बल्कि शेयर बाजार के दलालों व कमीशन एजेंटों से भी निकटतम सम्पर्क में रहते हैं। इस कार्य के लिए बैंक कुछ कमीशन वसूल करते हैं।

(vi) धन हस्तान्तरण एवं प्रेषण (Remittance)—बैंक द्वारा अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर रकम भेजने की व्यवस्था की जाती है। नकद धन जमा कर बैंक ड्राफ्ट के रूप में दूसरी जगह भेजना या एक स्थान से दूसरे स्थान पर उसी व्यक्ति के खाते में धनराशि का हस्तान्तरण करना महत्वपूर्ण सेवा है।

(vii) अभिगोपन (Underwriting)—बैंक अपने व्यावसायिक ग्राहकों द्वारा निर्गमित अंश पूँजी या ऋण पत्रों व प्रतिभूतियों की बिक्री का उत्तरदायित्व स्वयं ले लेते हैं। अगर कम्पनी निर्धारित अवधि में अंश, पूँजी, ऋण-पत्र बेचने में असमर्थ रहे तो बैंक स्वयं खरीद लेते हैं। इससे कम्पनी को तो समय पर धन प्राप्त हो जाता है और बैंक को कमीशन मिलता है।

(viii) ट्रस्टी प्रबन्धक व मुख्तार (Attorney) के रूप में काम करना—बैंक अपने ग्राहकों के आदेशों पर उसकी सम्पत्ति की व्यवस्था, विभाजन या प्रबन्ध का दायित्व उठाता है और उनकी वसीयता का मृत्योपरान्त कार्यान्वित करता है। *न्यायालय व अन्य आदेशित कार्य में प्रतिनिधित्व करता है।*

(5) बैंक के अन्य कार्य (Miscellaneous Functions)—बैंक के अन्य कार्यों में भी अनेक कार्यों का समावेश होता है, जो वह अपने सहायक कार्यों के रूप में करता है।

(i) विदेशी मुद्रा का क्रय विक्रय—साधारणतः विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय का कार्य विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks) करते हैं परन्तु जिन देशों में विदेशी विनिमय बैंकों का विकास पर्याप्त नहीं हो पाया है वहाँ व्यापारिक बैंक ही इस कार्य को करते हैं। भारत में भी विदेशी विनिमय क्रय विक्रय का कार्य व्यापारिक बैंकों की शाखाओं द्वारा किया जाता है।

(ii) आंतरिक एवं विदेशी व्यापार का अर्थ प्रबन्ध—बैंकों के अल्पकालीन ऋणों में व्यापार के अर्थ प्रबन्ध का कार्य महत्वपूर्ण है। वे यह कार्य बिलों, हुण्डियों, साख पत्रों के क्रय विक्रय या कटौती द्वारा करते हैं।

(iii) यात्री चैक एवं साख पत्रों की व्यवस्था—बैंक अपने ग्राहकों को यात्री चैक व साख-पत्रों को देकर उन्हें देश विदेश में यात्रा की वित्त-व्यवस्था करते हैं। यहां धन जमा किया जाता है और देश विदेश में जहां भुगतान प्राप्त करना चाहें पूर्व नियोजित व्यवस्था के अनुसार प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार धन को साथ लेकर चलने की जोखिम या विदेशी मुद्रा के परिवर्तन की समस्या से छुटकारा पा लेते हैं।

(iv) सम्पत्ति या मूल्यवान वस्तुओं की सुरक्षा—बैंक अपने ग्राहकों को अपने सोना चांदी के जेवरात, जोखिमपूर्ण प्रलेखों (documents), कम्पनियों के हिस्से,

ऋण-पत्रों को साधारण वार्षिक शुल्क पर लाकर्स (Lockers) की व्यवस्था से सुरक्षित रखते हैं। चोरी, डकैती आदि का भय नहीं रहता।

(v) **आर्थिक, आकडों का सकलन**—आजकल देश का केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक अपने व्यवसाय के आधार पर मुद्रा, व्यापार, उद्योग आदि से सम्बन्धित तथ्यों तथा आकडों का सकलन कर आवश्यक आर्थिक जानकारी उपलब्ध करते हैं जिसके आधार पर बैंक या सरकार अपनी नीतियों का निर्माण एव सचालन करते है।

(vi) **वित्तीय विषयो पर परामर्श**—बैंक पूर्णत वित्तीय सस्थाएँ होने से वित्तीय विशेषज्ञो की सेवाओं का नियोजन करते हैं और अपने ग्राहकों को भी वित्तीय मामलो पर उपयोगी सलाह देते हैं।

(vii) **साख सम्बन्धी सूचनायें**—व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने मे प्रत्येक उद्योगपति, व्यापारी परस्पर एक दूसरे की आर्थिक स्थिति एव वित्तीय सुदृढता की जानकारी चाहते हैं ताकि भावी भुगतानो के बारे मे विश्वास हो जाये और नुकसान से मुक्ति मिल सके। इस सम्बन्ध मे बैंक अपने ग्राहको के लिए साख सम्बन्धी सूचना ज्ञात करते हैं तथा देते है। इसमे जोखिम कम हो जाती है।

(viii) **ग्राहको की ओर से विनिमय बिलो को स्वीकार करना**—जब बैंक यह कार्य करते है तो ऋणदाता को ऋणी की साख का विश्वास हो जाता है। इससे व्यापार विस्तार मे सहायता मिलती है।

(ix) **व्यक्तिगत साख**—कभी-कभी बैंक अपने ग्राहको की आय साधनो की कमी की पूर्ति कर उन्हे ऐसी वस्तुओं के उपभोग का अवसर प्रदान करता है जो उनकी सामान्य बचत से परे है। किश्तो पर भुगतान के आधार पर स्कूटर, रेफ्रीजरेटर, मशीनें या अन्य सामान की गारन्टी द्वारा विक्रय की व्यवस्था करते हैं। भारत मे भी कुछ बैंक यह कार्य करने लगे हैं। इससे औद्योगिक विकास को बल मिलता है तथा जीवन-स्तर मे वृद्धि होती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आधुनिक आर्थिक शरीर मे बैंक रक्तवाहिनी नाडियो की भाति कार्य करते है और देश की अर्थव्यवस्था को स्वस्थ, सबल और अधिकाधिक सक्रिय बना कर आर्थिक विकास और आर्थिक स्थायित्व की ओर अग्रसर करते हैं। देश के साधनो को प्राथमिकताओ के अनुसार वितरण कर नियोजन की सफलता मे योगदान देते हैं। आधुनिक युग म बैंक हीन समाज की कल्पना असह्य एव अव्यावहारिक लगती है।

आर्थिक विकास मे बैंको की भूमिका या महत्व

(Role of Banks in Economic Development or Importance of Banks)

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के सफल सचालन व आर्थिक विकास मे आधुनिक बैंक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अर्थव्यवस्था के विकास

स्थायित्व के लिए एक उन्नत एव सुसगठित बैंकिंग व्यवस्था आवश्यक है क्योंकि आज समूची उत्पादन एव वितरण व्यवस्था बैंको पर ही आश्रित होती है। बैंको के विकास ने पूँजी निर्माण को सम्भव बनाया जिससे औद्योगिक विकास की जडें पनपती हैं। बचतो को प्रोत्साहन मिलता है, साधना की गतिशीलता बढती है और बडे पैमाने की उत्पत्ति को सम्भव बनाया है। यही कारण है कि अनेक अर्थशास्त्रियों ने बैंक को व्यापारिक तथा औद्योगिक व्यवस्था का हृदय एव केन्द्र बिन्दु माना है। अत आधुनिक बैंको का अर्थ-व्यवस्था के विकास म निम्न महत्व है—

1 बचतों को प्रोत्साहन—बैंक लोगो को बचत करने की आदत को प्रोत्साहन देते हैं और उनकी छोटी-छोटी बचतो को सग्रहित करते हैं। बचतकर्त्ताओ को ब्याज का प्रलोभन तो रहता ही है परन्तु बैंको द्वारा नियमित भुगतान से विश्वास तथा सुरक्षा की भावना बढती है। पिछडे राष्ट्रो म जहा लोगो मे बचत करने की आदत कम है तथा आय स्तर कम होने से बचत बहुत कम होती है, उनकी छोटी-छोटी बचतो को जमा कर बिखरे धन को एक जगह इकट्ठा कर व्यापार एव उद्योग के लिये उपलब्ध करते हैं।

2. पूंजी निर्माण—बैंक साख निर्माण तथा लोगो से अनेक प्रकार के खातो मे धन जमा कर पूँजी निर्माण करते हैं, आर्थिक विकास म पूँजी-निर्माण प्राथमिक आवश्यकता है। जो लोग जोखिम नही उठाना चाहते, बैंक उनके धन को जमा कर व्यापार, उद्योग, व्यवसाय आदि उत्पादन कार्यों मे लगाते हैं।

3 विनियोग एव अर्थ प्रबन्ध—वित्तीय साधन उद्योगो के लिये रक्तदान हैं। आज बडे पैमाने के उद्योगों मे बडी मात्रा मे स्थायी एव कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। आज कोई भी व्यक्ति कितना ही धनवान क्यो न हो अकेला वित्तीय साधन नही जुटा सकता। उसके साधनो की व्यवस्था बैंकिंग व्यवस्था से होती है। आज व्यापार, उद्योग, व्यवसाय सभी मे बडी मात्रा मे बैंको द्वारा पूँजी विनियोग किया जाता है।

4 साधनों मे गतिशीलता—बैंक उत्पत्ति के साधनो मे गतिशीलता प्रदान करते हैं। बैंक उन कार्यो म धन लगाते हैं जो अधिक उत्पादन, कम जोखिमपूर्ण तथा आर्थिक प्रगति के लिये उपयुक्त हो अत बैंको के कारण साधनो का स्थानान्तरण कम उत्पादक उद्योगो से अधिक उत्पादक उद्योगो म होता है जिससे उत्पादन और रोजगार मे वृद्धि के साथ-साथ सामान्य जीवन स्तर म वृद्धि होती है और देश के विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

5 मुद्रा प्रणाली मे लोच एव कीमतों मे स्थायित्व—आर्थिक विकास के लिए मुद्रा प्रणाली म लोच और कीमतो मे सापेक्षिक स्थायित्व आवश्यक है। बैंक साख निर्माण मे मुद्रा प्रणाली को लोच प्रदान करते है। बैंक साख एव मुद्रा मात्रा पर प्रभावी नियन्त्रण करके मूल्य स्थायित्व मे योग देते हैं।

6 सरकारी वित्त व्यवस्था—आजकल राज्य का आर्थिक गतिविधियों में हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। आधुनिक राज्य को अनेक प्रकार से आय प्राप्त होती है और अनेक प्रकार से व्यय करने पड़ते हैं। बैंक ही राज्य के प्रतिनिधि के रूप में सार्वजनिक ऋणों का संग्रह करते हैं। सरकार को वित्तीय परामर्श देते हैं तथा सरकार को ऋण प्रदान कर उनको आर्थिक विकास के कार्यों के लिए प्रेरित करते हैं।

7 क्षेत्रीय आधार पर कोषों का उपयुक्त वितरण—बैंक पूँजी को अत्यधिक पूँजी वाले क्षेत्रों से कमी वाले क्षेत्रों को स्थानान्तरित करते हैं जिससे उस पूँजी का लाभदायक तथा कुशल उपयोग होता है। पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है क्षेत्रीय विषमता (Regional Imbalances) कम होती है।

8 बहुमूल्य धातुओं की बचत एवं विनिमय का सस्ता साधन—बैंकों के द्वारा साख पत्रों चैकों ड्राफ्टों आदि के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलता है जिनसे विनिमय में अत्यधिक सुविधा ही नहीं होती बल्कि उनके उपयोग से स्वर्ण, रजत या बहुमूल्य धातुओं की बचत हुई है और उनका उपयोग अधिक महत्वपूर्ण कार्यों में होने लगा है।

9 मुद्रा हस्तान्तरण सुगम एवं सस्ता—बैंकों ने आन्तरिक एवं बाह्य भुगतानों में मुद्रा हस्तान्तरणों को बहुत ही सस्ता सुविधाजनक एवं कम से कम जोखिमपूर्ण बना दिया है। इससे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिला है और आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। आज बैंकों के माध्यम से विदेशी पूँजी देश में उत्पादक कार्यों में लगाई जा रही है।

10 प्रतिनिधित्व एवं परामर्श—बैंक अनेक ग्राहकों, उत्पादकों, व्यापारियों एवं व्यवसायियों के लिए प्रतिनिधित्व का कार्य कर अनेक सेवाएँ प्रदान करते हैं।

11 रोजगार में वृद्धि—बैंकिंग विकास से न केवल बैंकिंग क्षेत्र में लोगों को रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं बल्कि बैंकों द्वारा पूँजी विनियोग, अर्थ-प्रबन्ध आदि से व्यापार एवं सभी क्षेत्रों में विकास से रोजगार की वृद्धि होती है।

इस प्रकार निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक बैंक अर्थव्यवस्था में अनेक कार्यों से आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं तथा अर्थव्यवस्था के सफल संचालन में योग देते हैं। इसलिये प्रो टामस ने लिखा है—"बैंक साख-पत्रों के चलन तथा निर्गमन को संगठित एवं नियन्त्रित करते हैं। ऋण तथा अग्रिमों के रूप में बैंक साख की स्वीकृति का निर्गमन करते हैं। वे उधार देय पूँजी के विनियोग को सुविधाजनक बनाते हैं तथा उसका सबसे लाभदायक प्रयोग तथा वितरण सम्भव बनाते हैं। जब और जहाँ चलन की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ति करते हैं तथा कुछ क्षेत्रों के अत्याधिक चलन को कम पूर्ति वाले स्थानों पर स्थानान्तरित करते हैं। इस प्रकार से आधुनिक बैंक अर्थव्यवस्था के केन्द्र-बिन्दु

संचालक एवं नियन्त्रक के रूप में काम करते हैं और इस प्रकार वे आर्थिक विकास में भारी योगदान कर सकते हैं जैसे आजकल बैंकों के साधनों का ग्रामीण उद्योगों, कृषि क्षेत्र तथा लघु उद्योगों में प्रयोग होने से समाजवाद का मार्ग प्रशस्त होगा, रोजगार बढ़ेगा तथा आर्थिक प्रगति होगी।

व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Commercial Banks)

व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का अभिप्राय इन बैंकों का स्वामित्व, प्रबन्ध, नियन्त्रण एवं नीति निर्धारण आदि सभी कार्य सरकार के हाथ में आ जाने से है। चूँकि बैंकिंग व्यवसाय राष्ट्र के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का प्रमुख केन्द्र बिन्दु है अतः कुछ लोग बैंकों के राष्ट्रीयकरण को राष्ट्रहित में आवश्यक मानते हैं जबकि कुछ लोग बैंकों के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार देश में व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण का प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद रहा है फिर भी 19 जुलाई, 1969 को 14 बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर बैंकिंग विकास में एक नये युग का सूत्रपात किया। राष्ट्रीयकृत 14 बैंकों के नाम हैं, सैन्ट्रल बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, यू को बैंक, बैंक ऑफ बड़ोदा, कनारा बैंक, बैंक ऑफ इण्डिया, यूनाइटेड बैंक, सिन्डीकेट बैंक, इलाहाबाद बैंक, महाराष्ट्र बैंक, देना बैंक, यूनियन बैंक, इण्डिया बैंक तथा इण्डियन ओवरसीज बैंक। इन बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश में बैंकों के जमाओं का लगभग 94% सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में आ गया है। 6 और बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में तर्क
(Arguments in Favour of Nationalisation)

बैंकों के राष्ट्रीयकरण से अर्थव्यवस्था में बैंकों के साधनों का सदुपयोग, बैंकिंग का सन्तुलित विकास तथा कुशलता में वृद्धि आदि के तर्क दिये जाते हैं जो इस प्रकार हैं—

(i) बैंकों के साधनों का राष्ट्रीय हित में उपयोग—अब 20 बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश के बैंकों के जमाओं (Deposits) का 97% भाग सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में आ गया है। पहले उद्योगपति इन साधनों का अपने स्वार्थों की पूर्ति में उपयोग करते थे अब सरकार इन साधनों का उपयोग देश के विकास कार्यों में प्राथमिकता के अनुसार कर राष्ट्र-हित में वृद्धि कर रही है।

(ii) बैंकिंग सुविधाओं का सन्तुलित एवं समुचित विकास—अब तक बैंक केवल शहरी क्षेत्रों तक सीमित रहे। ग्रामीण क्षेत्रों की उपेक्षा की गई जिसके कारण बैंकिंग सुविधाओं का सन्तुलित एवं समुचित विकास एवं विस्तार नहीं हो पाया। अब सरकार ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में भी इनका विस्तार कर रही है।

(iii) कुशल प्रबन्ध एवं प्रतियोगिता का अन्त—बैंकों के राष्ट्रीयकरण से जहाँ एक ओर उनमें पारस्परिक अवांछित प्रतियोगिता समाप्त हो गई है जिससे मितव्ययता

बढ़ी है। सरकारी बैंको में कर्मचारियो को अधिक सुरक्षा, साधन एव उपयुक्त वातावरण से कुशलता बढी है। विशेषज्ञ एव कुशल प्रबन्धक सरकारी बैंको की ओर आकर्षित हुए हैं।

(iv) **जनता मे विश्वास एव बचतो को बढावा**—सरकारी स्वामित्व एव नियन्त्रण से जनसाधारण मे बैंको के प्रति विश्वास बढा है क्योकि बैंको के फेल होने का डर नही रहा है अब लोगो के विश्वास मे वृद्धि से बचतो को प्रोत्साहन मिला है। लोग अपनी बचतो को बैंक मे जमा कराने को आकर्षित हुए हैं। ग्रामीण क्षेत्रो मे भी बैंकिंग का विकास होने से वहा की बचतें भी विनियोगो के लिए उपलब्ध होना सम्भव हुआ है।

(v) **कर्मचारियो की सुरक्षा एव सेवाओ की शर्तों मे सुधार** हुआ है। निजी बैंको म कर्मचारियो का शोषण होता है। सेवा मे असुरक्षा रहती है तथा सेवा शर्तें अनुकूल नही होती। अब बैंको मे राष्ट्रीयकरण से उनके हितो की रक्षा व हितो को बढ़ावा मिल रहा है।

(vi) **बैंको के लाभ का लोक कल्याण मे उपयोग**—बैंको पर निजी पूंजीपतियो का स्वामित्व होने पर वे लाभ को अपने निजी हितो की वृद्धि पर लगाते हैं पर राष्ट्रीयकरण के कारण लाभ अब सरकारी कोष मे जमा होता है जहा उसका प्रयोग जनता के कल्याण कार्यों पर होता है और देश के लोगो की आर्थिक समृद्धि बढ रही है।

(vii) **समाजवाद के सिद्धान्त के अनुकूल है**—भारत मे समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। इस दिशा मे बैंको का राष्ट्रीयकरण एक महत्वपूर्ण कदम है।

(viii) **पचवर्षीय योजनाओ मे सहयोग**—अब बैंको मे जमाओ का बहुत बडा भाग केन्द्र सरकार के हाथ मे आ गया है व उन विशाल साधनो का प्रयोग पचवर्षीय योजनाओ के क्रियान्वयन मे प्रयुक्त कर वित्तीय साधनो की योजनाओ मे प्राथमिकता के अनुसार व्यय करने का मौका मिल गया है। इससे आर्थिक विकास मे तेजी आयेगी। जहा पहले कृषि क्षेत्र की उपेक्षा की गई थी लघु एव कुटीर उद्योग को पर्याप्त ऋण नही दिया जाता था अब सरकार उनके लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध कर रही है।

(ix) **साख निर्माण व साख प्रयोग पर प्रभावी नियन्त्रण**—केन्द्रीय बैंक के रूप मे रिजर्व बैंक का अब प्रभावी नियन्त्रण सम्भव हो गया है तथा सरकारी नीति को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा रहा है।

बैंको के राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में तर्क
(Arguments Against Nationalisation)

जहां एक ओर बैंको के राष्ट्रीयकरण से अनेक आशाओ का पुन बधा है वहां राष्ट्रीयकरण से अनेक सम्भावित खतरे भी है—

1. नौकरशाही का प्रमुत्व—सरकारी संस्थानों व कार्यालयों के संचालन में जो नौकरशाही, लालफीताशाही तथा कागजी कार्यवाही चलती है वह बैंकों जैसी व्यावसायिक संस्थाओं में भी व्याप्त हो जाने का भय निरन्तर बढ़ रहा है।

2. प्रबन्ध में अकुशलता—नौकरशाही का प्रमुत्व, राजनीतिज्ञों का बढ़ता हुआ प्रभाव तथा निजी लाभ के अभाव में उत्साह एवं प्रेरणा की कमी, प्रबन्धकों में व्यावसायिक कुशलता का अभाव आदि सब कारण बैंकों के प्रबन्ध में ढिलाई आई है। उसका बैंकिंग के विकास पर दुष्प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

3. राजनीतिज्ञों का प्रभुत्व—जिस प्रकार भारत में सहकारी आन्दोलन में राजनीतिज्ञों के अत्यधिक प्रभुत्व से उसकी असफलता रही है ठीक उसी प्रकार में बैंकों के राष्ट्रीयकरण से प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित भारतीय शासन व्यवस्था में सत्ताधारी पार्टी के राजनीतिज्ञ बैंकों के साधनों को अपने स्वार्थों की पूर्ति में प्रयोग करने का प्रयास करेंगे। अगर वे इसमें सफल रहे, जैसा अन्य सरकारी उपक्रमों में हुआ है, तो बैंकों के साधनों का दुरुपयोग होने की पूर्ण सम्भावना है।

4. उद्योग व जमाकर्ताओं की गोपनीयता अब सम्भव नहीं है, इससे वे लोग अपने काले धन को बैंकों में जमा नहीं करते तथा ऐसी जमाओं से जो साधन उपलब्ध होते उनका प्रयोग अब सम्भव नहीं हो रहा है।

5. मुआवजे की समस्या—राष्ट्रीयकरण के कारण सरकार को अपने कोष से बहुत बड़ी राशि निजी पूँजीपतियों को मुआवजे में देनी पड़ी है। इसका भार करों के रूप में जनता पर ही पड़ा है।

6. निजी उद्योग व व्यापार को आवश्यक वित्तीय साधनों का अभाव रहने से उनके विकास पर बुरा प्रभाव पड़ा है क्योंकि सरकार का वित्तीय साधनों पर पूरा नियन्त्रण होने से वे साधनों को सार्वजनिक क्षेत्र योजनाओं पर व्यय करते हैं जबकि बैंकों से निजी उद्योगपतियों, व्यापारियों व व्यवसायियों को साधनों के अभाव में अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने में बाधा उत्पन्न होती है।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफल कैसे बनाया जाय?

भारत में बैंकों के राष्ट्रीयकरण को सफल बनाने की तत्काल आवश्यकता है। यदि राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग का समुचित एवं सन्तुलित विकास न हुआ, साधनों का सदुपयोग नहीं हुआ, कुशलता में वृद्धि नहीं हुई तथा बैंकिंग सुविधाओं में सुधार न हुआ तो बैंकिंग का राष्ट्रीयकरण कोई मायने नहीं रखता। अतः इसको सफलता के लिए कुछ कदम उठाने की आवश्यकता है। (1) **बैंकों में अल्पाधिक बचत संग्रह को प्रोत्साहन दिया जाए।** इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधायें बढ़ाई जाय। चलते फिरते बैंकों की व्यवस्था की जाय। अन्य बचतकर्ताओं के लिए आकर्षक बचत योजनायें लागू की जायें तथा जनता में बैंकों के प्रति रुचि एवं विश्वास उत्पन्न

करने के लिए बैंकिंग कार्य-प्रणाली को सरल बनाया जाय तो अच्छा है। **(2) बैंक कर्मचारियों की मनोवृत्ति, नीति में परिवर्तन**—अगर बैंक कर्मचारी अपने को जनता का सेवक मानें उनमें ग्राहक ही राजा है (Customer is the King) तथा कोई ग्राहक छोटा नहीं है (No customer is small) की भावना जागृत हो तो बचतकर्त्ता व ऋण लेने वाले सभी बैंकों की ओर आकर्षित होंगे। इसके अतिरिक्त बैंक कर्मचारी बैंक कार्य में पूर्ण रुचि लें कुशलता से कार्य करें तो बैंकों की सफलता सुनिश्चित है। अतः बैंक कर्मचारियों में इस मनोवृत्ति के लिए आवश्यक प्रशिक्षण दिया जावे तथा उनके लिये रिफ्रेशर कोर्स चालू किये जायें तो लाभ की पूर्ण आशा है। **(3) बैंकों की सेवाओं में सुधार** किया जाय तथा उनका यथासम्भव विस्तार किया जाय तो लाभ होगा। **(4) बैंकों के साधनों को पंचवर्षीय विकास योजनाओं को** प्राथमिकता की पूर्व निर्धारित नीति के अनुसार उपयोग किया जाना चाहिये। इसके लिए कृषि लघु उद्योगों को अधिक ऋण सुविधायें मिलनी चाहिये। **(5) नवीन योजनाओं को प्रोत्साहन** देना चाहिये जिससे लोगों को आर्थिक विकास में योग देने का पर्याप्त अवसर मिले। **(6) बैंकों को क्षेत्रीय निगमों के रूप में** संगठित करना चाहिये ताकि राजनैतिक हस्तक्षेप कम हो।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. एक आधुनिक व्यापारिक बैंक के कार्यों का वर्णन कीजिये।
   (Raj I yr. T D C Supple 1973 Special 1974, Annual 1975)

   अथवा

   व्यापारिक बैंक किसे कहते हैं तथा उनके मुख्य कार्य क्या क्या हैं?

   अथवा

   व्यापारिक बैंकों से आपका क्या अभिप्राय है तथा वे किन-किन कार्यों का सम्पादन करते हैं?

(संकेत—प्रथम भाग में व्यापारिक बैंक का अर्थ बताइये—दूसरे भाग में उनके कार्यों—जमा प्राप्त करना, ऋण देना, साख निर्माण करना, एजेन्सी कार्य तथा अन्य कार्यों का उल्लेख कीजिए।)

2. व्यापारिक बैंक किस प्रकार आर्थिक विकास में अपनी भूमिका निभाते हैं?

   अथवा

   "बैंकों के घने बुने जाल पर राष्ट्र की समृद्धि निर्भर करती है" व्याख्या कीजिए।

   अथवा

   बैंकों का आर्थिक महत्व स्पष्ट कीजिये।

(संकेत—व्यापारिक बैंकों का अर्थ बताइये फिर "बैंकों की आर्थिक विकास भूमिका" शीर्षक के अन्तर्गत दी गई विषय सामग्री का उल्लेख कीजिये।)

3. बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष एव विपक्ष मे तर्क दीजिये।

अथवा

भारत मे व्यापारिक बैंक मे राष्ट्रीयकरण के औचित्य की तुलनात्मक व्याख्या कीजिये। राष्ट्रीयकरण को सफल बनाने के उपाय सुझाइये।

(संकेत–प्रथम भाग मे राष्ट्रीयकरण का अर्थ बताइए। फिर दूसरे भाग मे बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे और तत्पश्चात् विपक्ष मे तर्क देकर राष्ट्रीयकरण को उपयुक्त बताइए। फिर सफलता के तत्वो का उल्लेख शीर्षकानुसार कीजिए।)

4 बैंक से आप क्या समझते हैं और बैंक साख का सृजन कैसे करते हैं ?

(संकेत–प्रथम भाग मे अर्थ बताइए, दूसरे भाग मे बैंको द्वारा साख-निर्माण अध्याय 19 के शीर्षकानुसार दीजिए।)

22

मुद्रा की पूर्ति और कीमत-स्तर (मूल्य-स्तर)

(Supply of Money & The Price Level)

मुद्रा की पूर्ति और कीमत-स्तर मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इसके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ विद्वान मुद्रा की पूर्ति और कीमत स्तर मे प्रत्यक्ष आनुपातिक सम्बन्ध मानते है। जैसे प्रो फिशर के अनुसार मुद्रा की मात्रा और कीमत स्तर मे प्रत्यक्ष आनुपातिक सम्बन्ध है। अगर मुद्रा की मात्रा बढाकर दुगनी कर दी जाय तो कीमत स्तर भी दुगुना तथा मुद्रा की मात्रा आधी कर देने पर कीमत-स्तर भी घट कर आधा रह जायगा। इसके विपरीत कुछ विद्वानो जैसे कीन्स आदि का विचार है कि मुद्रा की पूर्ति और कीमत स्तर मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होकर अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है और इसका आनुपातिक होना भी आवश्यक नहीं है। इन विभिन्न दृष्टिकोणो को समझने से पूर्व मुद्रा की पूर्ति का अभिप्राय समझना आवश्यक है।

मुद्रा की पूर्ति का अर्थ

(Meaning of Supply of Money)

मुद्रा पूर्ति का आशय उन सब वस्तुओ की सामूहिक मात्रा से है जो सब देश मे मुद्रा के रूप मे प्रचलित रहती हैं। विस्तृत दृष्टिकोण के आधार पर मुद्रा की पूर्ति के अन्तगत देश मे सभी प्रकार के ऐच्छिक व विधिग्राह्य विनिमय माध्यमो का समावेश होता है। किसी समय म मुद्रा की पूर्ति मे तीन प्रकार की मुद्राओ का समावेश होता है—(1) धात्विक मुद्रा (Metallic Money) जिसमे सोने चादी के सिक्को व घटिया सिक्को का समावेश होता है, (ii) कागजी मुद्रा (Paper Money) जो सरकार द्वारा विधिग्राह्य मुद्रा के रूप मे प्रचलित किये जाते हैं, इसमें कागजी नोटो का समावेश होता है, तथा (iii) साख मुद्रा (Credit Money) अथवा बैंक मुद्रा (Bank Money) जिनमे चैक, हुण्डी, ड्राफ्ट आदि साख पत्रो का समावेश होता है। अगर हम राजकीय विधिग्राह्य धात्विक एव कागजी मुद्रा के लिए M तथा साख मुद्रा के लिए M^1 का प्रयोग करें तो मुद्रा की पूर्ति $= M + M^1$ होगी।

यहा उल्लेखनीय है कि मुद्रा की पूर्ति मे केवल उसी राजकीय एव साख मुद्रा का समावेश होता है जो उत्पत्ति तथा उपभोग के कार्यों मे विनिमय मे प्रयुक्त

की जाती है अर्थात् जो वास्तविक प्रचलन (Circulation) में रहती है जो मुद्रा प्रचलन में नहीं रहती, गाड़कर या संग्रह कर रखी जाती है वह मुद्रा की पूर्ति में नहीं मानी जाती।

मुद्रा की पूर्ति की गणना करते समय हमारे सामने एक महत्वपूर्ण बात और आती है कि मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में अनेक हाथों में हस्तान्तरित होती है। अगर 10 रु का एक नोट A से B, B से C, C से D तथा D से E और इस प्रकार 10 व्यक्तियों के पास क्रय-विक्रय में हस्तान्तरित होता है तो यहां मुद्रा की वास्तविक मात्रा 10 रु होते हुए भी उसने 100 रु के सौदे पूरे किये हैं अतः मुद्रा की कुल सप्रभावी पूर्ति (Total Effective Supply) मालूम करने के लिए हम प्रचलित मुद्रा की मात्रा को उसकी हस्तान्तरित होने की गति या चलन वेग (Velocity of Circulation) से गुणा कर देना चाहिये। "किसी दिये हुए समय में मुद्रा की कोई इकाई वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिए जितनी बार एक हाथ से दूसरे हाथ में हस्तान्तरित होती है अर्थात जितनी बार वह मुद्रा विनिमय का कार्य करती है उसके औसत को मुद्रा की चलन गति (Velocity of Circulation of Money) कहते हैं।" अगर हम विधिग्राह्य धात्विक एवं कागजी मुद्रा की चलन गति को V तथा साख मुद्रा की चलन-गति को V^1 कहें तो मुद्रा की कुल सप्रभावी पूर्ति को हम निम्न समीकरण द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं—

(Total Effective Supply of Money)

मुद्रा की कुल प्रभावी पूर्ति
या
कुल प्रभावी मुद्रा पूर्ति } $= MV + M^1V^1$ होगी

जिसमें M कुल धात्विक मुद्रा और कागजी मुद्रा, M^1 कुल साख मुद्रा, V धात्विक एवं कागजी मुद्रा की चलन-गति तथा V^1 साख मुद्रा की चलन गति को व्यक्त करती है।

मुद्रा के चलन-वेग को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors Affecting the Velocity of Circulation)

मुद्रा का प्रयोग वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय के माध्यम के रूप में होता है और इस प्रकार विनिमय के माध्यम के रूप में विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख-मुद्रा का हस्तान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को तेजी से होता है। अतः जितनी बार मुद्रा एक हाथ से दूसरे हाथ अथवा जितनी बार मुद्रा विनिमय का काय करती है वही मुद्रा की चलन गति या चलन वेग (Velocily of Circulation of Money) कहलाती है। मुद्रा की कुल प्रभावी पूर्ति (Total Effective Supply of Money) ज्ञात करने के लिए मुद्रा की कुल मात्रा को मुद्रा की चलन-गति या चलन वेग से गुणा कर देना चाहिये। मुद्रा की चलन गति पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है—

(1) मुद्रा की मात्रा अगर देश में मुद्रा व्यापार की मात्रा की तुलना में कम है तो मुद्रा की चलन गति अधिक और अगर मुद्रा की मात्रा व्यापार की मात्रा से अधिक हुई तो

मुद्रा की चलन गति कम होगी। (ii) **नकद विक्रय की आदत अधिक** होने पर मुद्रा की चलन गति अधिक और उधार क्रय-विक्रय मे मुद्रा की चलन गति कम होगी। (iii) **बचत प्रवृत्ति** अधिक होने पर मुद्रा की चलन गति कम और बचत प्रवृत्ति कम होने पर मुद्रा की चलन गति अधिक होती है। (iv) **द्रव्य की तरलता पसन्दगी** अधिक होने पर मुद्रा की चलन गति कम और द्रव्य की तरलता पसन्दगी (नकद रूप मे रखने की इच्छा) कम होने पर चलन गति अधिक होती है। (v) **उधार की अवधि** थोड़ी होने पर मुद्रा की चलन गति अधिक अन्यथा कम होती है। (vi) **यातायात एव सचार साधनो का विकास** होने पर चलन गति अधिक होती है और परिवहन साधनो के पिछड़ा होने पर चलन गति कम होती है। (vii) **आर्थिक विकास** जितना अधिक होगा उतनी ही चलन गति अधिक होगी। पिछड़े देशो मे मुद्रा की चलन गति कम होती है। (viii) **मजदूरी भुगतान का ढग व अवधि**—अगर मजदूरी नकद व जल्दी-जल्दी दी जाती है तो मुद्रा की चलन गति अधिक होगी और अगर मजदूरी देर देर से व वस्तुओ मे चुकाई जाती है तो मुद्रा की चलन गति कम हो गी। (ix) **जनसख्या का घनत्व** जितना अधिक होगा मुद्रा की चलन गति अधिक एव जनसख्या का घनत्व कम होने पर चलन गति अपेक्षाकृत कम होगी। (x) **राजनैतिक शाति एव स्थायित्व** अधिक होने पर मुद्रा की चलन गति धीमी होती है जबकि युद्ध व अशान्ति की परिस्थितियो मे मुद्रा की चलन गति अधिक होती है।

इस प्रकार मुद्रा की चलन गति (Velocity of Circulation of Money) अनेक घटको से एक साथ प्रवाहित होती है और उन सब तत्वो का सामूहिक प्रभाव ही मुद्रा की औसत चलन गति निर्धारित करते है। इस चलन गति से मुद्रा की कुल मात्रा जो वैधानिक मुद्रा तथा साख मुद्रा के रूप मे प्रचलित रहती है, गुणा करने से मुद्रा की कुल सम्प्रभावी पूर्ति (Total Effective Supply of Money) ज्ञात होती है।

मुद्रा की माँग
(Demand of Money)

मुद्रा की माग वस्तुओ और सेवाओ के क्रय विक्रय के लिए की जाती है क्योकि मुद्रा वह क्रय शक्ति है जिससे दूसरो से वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। मुद्रा की माग प्रत्यक्ष माग नही क्योकि मुद्रा प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति नही करती परन्तु अप्रत्यक्ष व्युत्पन्न (Derived Demand) है। कुछ लोग मुद्रा की माग सचय करने के लिए भी करते है। अत मुद्रा की कुल माग = वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा + सचय प्रवृत्ति।

मुद्रा की माग (Demand of Money) भी अनेक घटको से प्रभावित होती है। अगर अर्थव्यवस्था मे उत्पादन के साधनो की बहुलता हो, उत्पादन मे कुशलता हो, तकनीकी ज्ञान का पर्याप्त विकास हो गया हो और बड़े पैमाने की उत्पत्ति एव व्यापार हो, साधनो के पूर्ण रोजगार की अवस्था हो तथा उपभोग एव उत्पादन दोनो का उच्च

स्तर हो तो मुद्रा की मांग अधिक होगी अन्यथा इसकी विपरीत स्थिति में कम होगी। इसके अतिरिक्त मुद्रा की माग पर देश मे जनसंख्या के आधार, विनियोग की गति, देश के आकार तथा लोगो मे धन को अपने पास तरल रूप मे रखने की प्रवृत्ति पर भी निर्भर करती है। इस तरह मुद्रा की माग भी मुद्रा की भाति अनेक तत्वो से प्रभावित होती है।

मुद्रा की पूर्ति व कीमत स्तर
(Supply of Money & Price Level)

जिस प्रकार हम वस्तुओं और सेवाओ का मूल्य मुद्रा के रूप में व्यक्त करते हैं उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य वस्तुओ और सेवाओ की उस मात्रा से लगाया जाता है जो मुद्रा की एक इकाई से क्रय की जा सकती हैं अर्थात् मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय शक्ति (Purchasing Power) मे निहित है। कीमत स्तर तथा मुद्रा के मूल्य मे विपरीत सम्बन्ध है। प्रो ह्यूम (Hume) ने कीमत स्तर को मुद्रा की मात्रा का प्रतिफल कहा है अर्थात् P=Q (M)। प्रतिष्ठावादी अर्थशास्त्रियों ने कीमत-स्तर को मुद्रा की मात्रा से सम्बद्ध किया। प्रो. टाजिग के शब्दों में "यदि अन्य बातें समान रही हो तो मुद्रा की मात्रा पहले से दुगुनी कर देने पर कीमतें दुगुनी व मुद्रा की मात्रा आधी कर देने पर कीमत भी आधी रह जाती है।" इस दृष्टिकोण को वैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत करने का श्रेय प्रो. इविंग फिशर (Irving Fisher) को जाता है जिन्होंने मुद्रा की पूर्ति व कीमत स्तर का सम्बन्ध मुद्रा परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) मे व्यक्त किया है। इसके बाद कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों पीगू, मार्शल, केनन, रोबर्टसन तथा हाट्रे आदि ने उसका सशोधित रूप प्रस्तुत किया। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने कीमत-स्तर की व्याख्या बचत, विनियोग एव आय सिद्धान्त के रूप मे की है।

अतः मुद्रा की पूर्ति और कीमत-स्तर के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या तीन अलग-अलग दृष्टिकोणों से की जाती है—

(A) फिशर का मुद्रा परिमाण सिद्धान्त या नकद आदान-प्रदान दृष्टिकोण (Cash Transaction Approach)।

(B) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की कैम्ब्रिज व्याख्या या नकद सचयन दृष्टिकोण (Cash Balance Approach)।

(C) आय-व्यय दृष्टिकोण (Income Expenditure Approach)। इनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(A) फिशर मुद्रा परिमाण सिद्धान्त या नकद आदान-प्रदान दृष्टिकोण
(Quantity Theory of Money or Cash Transation Approach)

अमेरिका के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फिशर (Fisher) ने मुद्रा की पूर्ति व कीमत स्तर के सम्बन्ध मे एक वैज्ञानिक एव व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है। फिशर के अनुसार मुद्रा की कुल पूर्ति मे वैधानिक मुद्रा या उसकी चलन गति तथा साख मुद्रा

एवं उसकी चलन गति का समावेश होता है तथा मुद्रा की माँग व्यापार की मात्रा पर निर्भर करती है और इनके द्वारा कीमत स्तर निर्धारित होता है।

सूत्र के रूप

$$P = \frac{MV + M^1V^1}{T}$$

जिसमे

P = कीमत स्तर (Price Level)

M = प्रचलन मे कुल विधिग्राह्य मुद्रा की औसत मात्रा

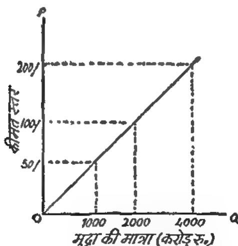
V = प्रचलित वैधानिक मुद्रा की चलन गति

M^1 = प्रचलन मे साख मुद्रा की कुल मात्रा

V^1 = साख मुद्रा की चलन गति

T = व्यापार मात्रा

फिशर ने उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए बताया कि कीमत स्तर (P) और मुद्रा की कुल पूर्ति ($MV + M^1V^1$) मे प्रत्यक्ष आनुपातिक सम्बन्ध होता है तथा सामान्यतया कीमत स्तर और मुद्रा की पूर्ति में एक ही दशा मे समानुपातिक परिवर्तन होता है अर्थात् अगर मुद्रा की पूर्ति दुगुनी कर दी जाय तो कीमत स्तर भी दुगुना हो जायगा और मुद्रा की पूर्ति घटाकर आधी कर देने पर कीमत स्तर भी आधा रह जायगा जैसा कि निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट है—



चित्र न. 1

जब देश मे मुद्रा की मात्रा 2000 करोड रु है तो कीमत स्तर 100% है पर जब मुद्रा की मात्रा बढाकर 4000 करोड रु कर दी जाती है तो कीमत स्तर भी 200% हो जाता है और अगर मुद्रा की मात्रा घटाकर 1000 करोड रु कर दी गई तो कीमत स्तर गिरकर 50% ही रह गया है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

माना कि मुद्रा की मात्रा 1000 करोड रु हो वास्तविक मुद्रा की चलन गति 8 तथा साख मुद्रा की मात्रा 500 करोड रु तथा साख मुद्रा की चलन गति 5 हो और व्यापार की कुल मात्रा 5000 हो तो मूल्य स्तर फिशर के समीकरण द्वारा निम्न प्रकार ज्ञात होगा

$$P = \frac{MV + M^1V^1}{T}$$

$$P = \frac{(1000 \times 8) + (500 \times 5)}{5000}$$

$$= \frac{8000 + 2500}{5000}$$

$$= \frac{10500}{5000}$$

$$= 2\ 1$$

व्यापार की मात्रा स्थिर रखते हुए अगर मुद्रा और साख की मात्रा दुगुनी कर दी जाय तो मूल्य स्तर भी दुगुना हो जायगा जैसे—

$$P = \frac{(2000 \times 8) + (1000 \times 5)}{5000}$$

$$= \frac{16000 + 5000}{5000}$$

$$= \frac{21000}{5000}$$

$$= 4\ 2$$

इसके विपरीत अगर व्यापार की मात्रा स्थिर रखते हुए मुद्रा एव साख की मात्रा को घटाकर आधा कर दिया जाय तो मूल्य स्तर भी घटकर आधा रह जायेगा

$$P = \frac{(500 \times 8) + (250 \times 5)}{5000}$$

$$= \frac{4000 + 1250}{5000}$$

$$= \frac{5250}{5000}$$

$$= 1\ 05$$

फिशर अपनी व्याख्या में अल्पकाल में V, V^1 तथा T को स्थिर मानता है तथा उसके अनुसार M तथा M^1 में एक निश्चित अपरिवर्तन अनुपात बना रहता है अत: मुद्रा की पूर्ति (M) में ही परिवर्तन सामान्य कीमत स्तर में प्रत्यक्ष आनुपातिक परिवर्तन को जन्म देता है।

फिशर अपने इस सिद्धान्त में P को निष्क्रिय घटक मानता है, V, V^1 तथा T को भी स्थिर मानता है अत: अन्य बातें स्थिर रहने की मान्यता पर ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। पर व्यवहार में अन्य बातें स्थिर नहीं रहती इसलिए इस सिद्धांत की आलोचनायें की गई हैं।

फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की आलोचनायें

(Criticisms of Fisher's Quantity Theory of Money)

यद्यपि प्रो. फिशर ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की माग एवं पूर्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण करने का प्रयास किया पर उसकी अनेक गलत मान्यताओं के कारण उनके सिद्धांत की निम्न आलोचनाएँ की गई हैं—

1. "अन्य बातें समान रहने की मान्यता" इस अव्यावहारिक एवं परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था में कोरी कल्पना है। न तो कीमत ही निष्क्रिय घटक है, व्यापार की मात्रा, मुद्रा की चलन गति, साख-मुद्रा व वैधानिक मुद्रा में निश्चित अनुपात व पूर्ण रोजगार की कल्पना उचित नहीं है।

2. यह सिद्धान्त व्यापार चक्रों (Trade Cycles) का स्पष्टीकरण नहीं करता। जब तेजी काल में मुद्रा की मात्रा कम हो या घटा दी जाय फिर भी कीमत स्तर बढ़ता जाता है और मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने या वृद्धि कर देने पर भी मंदी काल में कीमत-स्तर गिरता जाता है जबकि इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसा नहीं होना चाहिये।

3. कीमत-स्तर को केवल मुद्रा की मात्रा ही प्रभावित नहीं करती अन्य तत्व भी कीमतों को प्रभावित करते हैं उनकी इस सिद्धान्त में अवहेलना की गई है। हम देखते हैं कि मुद्रा की मात्रा में घटत-बढ़त न होने पर भी अच्छी फसल होने या फसल बिगड़ने, अकस्मात राजनैतिक अशान्ति या युद्ध, जनसंख्या में परिवर्तन आदि कीमत-स्तर में उतार चढ़ाव लाते हैं। अतः कीमत-स्तर केवल मुद्रा की मात्रा का ही परिणाम नहीं अपितु अनेक घटकों का परिणाम है।

4. कीमत स्तर में परिवर्तन की प्रक्रिया को यह सिद्धांत स्पष्ट नहीं करता— यह सिद्धांत केवल यह बताता है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन कीमत स्तर में परिवर्तन लाता है परन्तु यह परिवर्तन कैसे होता है उसकी प्रक्रिया स्पष्ट नहीं करता। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि प्रत्यक्ष रूप से मूल्यों को प्रभावित नहीं करती वरन् मुद्रा की मात्रा सर्वप्रथम ब्याज दर को प्रभावित करती है। उससे विनियोग में परिवर्तन आता है, उससे रोजगार, आय व उत्पादन मात्रा

प्रभावित होती है और फिर उत्पादन व्यय में परिवर्तन कीमत-स्तर में परिवर्तन लाता है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा और कीमत-स्तर मे अप्रत्यक्ष और दूरस्थ सम्बन्ध है।

5 यह सिद्धात दीर्घकालीन सिद्धात है—अल्पकाल मे मुद्रा की मात्रा, उसकी चलन गति, लेन देन की मात्रा आदि का पता लगाना कठिन है अतः यह सिद्धान्त दीर्घकालीन विश्लेषण है जबकि प्रो. कीन्स के अनुसार दीर्घकाल मे तो हम सब मर जाते हैं। अत इस सिद्धांत मे अल्पकाल की उपेक्षा अनुपयुक्त है।

6. समयांतर (Time lag) की उपेक्षा—मुद्रा परिमाण सिद्धात के अनुसार ज्योंही मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होता है त्योंही कीमत-स्तर भी एकदम परिवर्तित हो जाता है पर प्राय यह देखा गया है कि मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन होने के कुछ समय बाद ही कीमत स्तर परिवर्तित होता है।

7. यह सिद्धात एकपक्षीय है—यह केवल मुद्रा की पूर्ति को अधिक बल देता है जबकि मुद्रा की मांग पक्ष को विशेष महत्व नही दिया जाता है। मुद्रा के चलन वेग की भांति वस्तुओं मे भी चलन वेग होता है उसकी उपेक्षा की गयी है।

8 यह सिद्धात स्थैतिक (Static) अर्थव्यवस्था के लिए ही उपयुक्त है। हमारा वास्तविक आर्थिक जीवन तो प्रावैगिक (Dynamic) है अत मुद्रा परिमाण-सिद्धांत अव्यावहारिक एव काल्पनिक है।

निष्कर्ष—इन आलोचनाओ के बावजूद भी हम फिशर सिद्धांत मे ऐतिहासिक सत्यता पाते हैं (i) 19वीं शताब्दी मे सोने चादी की खानों से धात्विक मुद्रा मे वृद्धि के कारण कीमत-स्तर म वृद्धि हुई। (ii) युद्धोत्तर काल मे जर्मनी मे मुद्रा की मात्रा बढने से कीमत-स्तर बढा (iii) 1931 की विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी का प्रमुख कारण साख-मुद्रा की कमी होना था (iv) द्वितीय विश्व युद्ध मे मुद्रा की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि से कीमत स्तर बढा (v) भारत मे हीनार्थ प्रबन्ध और सस्ती साख नीति से कीमतो मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई है, ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अगर हम इस सिद्धान्त को पूर्णत सत्य न भी मानें तो भी यह सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सत्य का सकेत देता है कि मुद्रा की मात्रा और कीमत-स्तर परस्पर सम्बन्धित हैं। मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण करने से कीमत स्तर पर बहुत कुछ नियन्त्रण सम्भव होता है।

(B) मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की केम्ब्रिज व्याख्या अथवा नकद संचय दृष्टिकोण

(Cambridge Version of Quantity Theory or Cash Balance Approach)

फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की अनेक आलोचनाओ के कारण केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो—(मार्शल, पीगू तथा रावर्टसन आदि) ने नया दृष्टिकोण अपना कर इस सिद्धात को सशोधित रूप मे प्रस्तुत किया। जहा फिशर ने अपने सिद्धात मे मुद्रा की मात्रा को व्यापार मे प्रयुक्त किए जाने से सम्बन्धित किया जबकि केम्ब्रिज

व्याख्या मुद्रा की उस मात्रा से सम्बन्धित है जो लोग किसी समय विशेष मे अपने पास नकद रूप म रखना चाहते है। इसमे तीन आधारभूत बातें हैं (i) समाज म आय का कुछ भाग नकद कोष के रूप मे रखा जाता है (ii) मुद्रा की माग लोगो की द्रव्य की तरलता पसन्दगी पर निभर करती है तथा (iii) मुद्रा की माग पर कई अन्य बातो का भी प्रभाव पडता है।

केम्ब्रिज व्याख्या की आधारभूत विशेषताएं

1 समाज मे आय का कुछ भाग नकद सचय किया जाता है। प्रो फिशर ने मुद्रा के सचयन काय की उपेक्षा की। उसने केवल मुद्रा की विनिमय माग पर ही ध्यान दिया। अत केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा की माग सचयन के लिए की जाती है जिस प्रकार मकान की वास्तविक माग मकानो मे रहने वालो की होती है न कि खरीदने बेचने वालो की या उसका व्यवसाय करने वालो की, उसी प्रकार मुद्रा की वास्तविक मांग मुद्रा की उस मात्रा से सम्बन्धित है जो लोग खर्च चलाने के लिए मुद्रा अपने पास नकद रूप मे रखते हैं।

2 मुद्रा की मांग लोगो की द्रव्य तरलता पसन्दगी (Liquidity Preference) पर निर्भर करती है। बैंक म रखा गया धन या स्वय के पास नकद रूप मे रखा गया आय का भाग सर्वाधिक तरल होता है, जबकि मकान, जायदाद इत्यादि मे तरलता कम होती है।

3. व्यक्ति की तरलता पसन्दगी को अनेक घटक प्रभावित करते हैं। यह आय प्राप्ति की अवधि, वस्तुओ की कीमतें, धन का वितरण, व्यापार की दिशा, लेन देन की आदत व जनसख्या पर निर्भर करती है।

4 मुद्रा की पूर्ति अल्पकाल मे स्थिर होती है क्योकि मुद्रा की पूर्ति सरकार की या केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति पर निर्भर करती है। इसमे बार बार जल्दी जल्दी परिवर्तन की सम्भावना कम होती है। अत. अल्पकाल मे मुद्रा की पूर्ति तो प्राय स्थिर रहती है।

मुद्रा मूल्य और कीमत स्तर मे बिल्कुल विपरीत सम्बन्ध है। अत जब मुद्रा की पूर्ति तो स्थिर रहती है जबकि द्रव्य की माग मे लोगो की तरलता पसदगी मे परिवर्तन के कारण परिवर्तन होता है तो मुद्रा के मूल्य पर मुद्रा की पूर्ति की अपेक्षा मुद्रा की मांग का अधिक प्रभाव पडता है।

केम्ब्रिज समीकरण

केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो ने फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धात को एक नये समीकरण के रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया—

$$P = \frac{M}{KR}$$

जिसमे P = कीमत स्तर (Price Level)

M = मुद्रा की कुल मात्रा जो किसी समय विशेष म प्रचलन मे रहती है।
K = समाज की कुल वार्षिक वास्तविक आय
R = वास्तविक आय का वह भाग जो मुद्रा के रूप म रखा जाता है।

उदाहरण निए माना कि किसी देश मे मुद्रा की मात्रा 90 लाख है और समाज की कुल वार्षिक वास्तविक आय वस्तुओ और सेवाओ के रूप म 60 लाख इकाइया है और समाज मे व्यक्ति औसतन 30% अपने पास तरल रूप म रखते हैं तो कीमत स्तर उपर्युक्त सूत्र मे निम्न होगा।

$$P = \frac{M}{KR}$$

अथवा

$$P = \frac{90,00\,000}{\frac{30}{100} \times 60\,00,000}$$

= 5 रु० प्रति इकाई

फिशर और केम्ब्रिज विचारधाराओ की तुलना

यद्यपि दोनो दृष्टिकोणो म मुद्रा की मात्रा को मूल्य-स्तर को प्रभावित करने वाला घटक माना जाता है और दोना म बीजगणितीय समीकरण का प्रयोग किया गया है। दोनो ने साख मुद्रा व बैंक डिपोजिटों को मुद्रा की पूर्ति म सम्मिलित किया है तथा उनके समीकरणो म चिन्ह (Symbols) भी लगभग समान हैं फिर भी दोनो म काफी मौलिक अन्तर है—

(1) फिशर का सिद्धात आदान प्रदान दृष्टिकोण पर आधारित है जो मुद्रा की माग उसके विनिमय सम्बन्धी कार्य के लिए करता है जबकि केम्ब्रिज अर्थशास्त्रिया का सिद्धात नकद सचयन दृष्टिकोण पर आधारित है जिसम मुद्रा की माग सचयन के लिए की जाती है।

(2) फिशर मुद्रा की पूर्ति को कीमत स्तर म परिवर्तन का घटक मानता है जबकि केम्ब्रिज अर्थशास्त्री मुद्रा की माग को कीमत स्तर म परिवर्तन का घटक मानते हैं।

(3) फिशर ने मुद्रा की माग को स्थिर तथा मुद्रा की पूर्ति को परिवर्तनशील माना है जबकि केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा की पूर्ति को स्थिर माना है और मुद्रा की माग को परिवर्तनशील माना है।

(4) फिशर का सिद्धात दीर्घकालीन दृष्टिकोण रखता है जबकि केम्ब्रिज अर्थशास्त्री अल्पकालीन दृष्टिकोण पर व्याख्या करते हैं।

(5) फिशर के अनुसार कीमत स्तर मुद्रा की कुल पूर्ति से प्रभावित होता है जबकि केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा की कुल मात्रा कीमत-स्तर को

प्रभावित नहीं करती, वरन् मुद्रा की वह मात्रा मूल्य स्तर को प्रभावित करती है जो लोग तरल रूप में अपने पास नकद रखते हैं।

केम्ब्रिज व्याख्या की आलोचना

(Criticisms of Cambridge Version)

(1) वास्तविक आय को मापना कठिन होता है क्योंकि वस्तुओं की विभिन्नता तथा एकरूपता का अभाव होने से मापना कठिन है।

(2) ऋण निक्षेपों की उपेक्षा की गई है—बैंक निक्षेपों को दो प्रकार से जन्म देते हैं प्रथम बचतों की जमा प्राप्त कर तथा दूसरे ऋण देकर उन्हें पुनः ऋणी के खाते में जमा करके—इससे बैंक साख का गुणात्मक निर्माण (Multiple Creation of Credit) होता है।

(3) यह सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में गतिशील आचरण (Dynamic Price Behaviour) का पर्याप्त स्पष्टीकरण देने में असमर्थ है।

(4) माँग पक्ष पर अधिक बल दिया गया है जबकि यह सिद्धांत मुद्रा की पूर्ति तथा उत्पादन के परिवर्तनों का कीमत स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव को भुला देता है। न केवल नकद कोषों की माँग से मूल्य स्तर प्रभावित होता है वरन् मुद्रा की पूर्ति तथा उत्पत्ति की मात्रा का भी मूल्य स्तर पर काफी प्रभाव पड़ता है।

केम्ब्रिज विचारधारा की श्रेष्ठता

(Superiority of Cambridge Version)

केम्ब्रिज व्याख्या फिशर के सिद्धांत पर महत्वपूर्ण सुधार कहा जा सकता है और यह फिशर के सिद्धांत से कई मानों में श्रेष्ठ व्याख्या मानी जा सकती है। इसके निम्न कारण हैं—

(1) व्यावहारिक—फिशर का सिद्धांत दीर्घकालीन विश्लेषण प्रस्तुत करता है जबकि केम्ब्रिज व्याख्या अल्पकालीन विश्लेषण देकर इसे अधिक व्यावहारिक रूप प्रदान करती है।

(2) व्यापार चक्रों का स्पष्टीकरण—केम्ब्रिज दृष्टिकोण व्यापार चक्रों की व्याख्या द्रव्य की तरलता पसन्दगी के आधार पर करता है। मन्दीकाल में लोगों में तरलता पसन्दगी बढ़ जाती है अतः मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करने पर भी कीमतें गिरती हैं। इसके विपरीत तेजी काल में लोगों में द्रव्य की तरलता पसन्दगी घट जाती है अतः मुद्रा की मात्रा यथावत् रहने या घटने के बावजूद भी कीमत स्तर में वृद्धि होती है।

(3) मनोवैज्ञानिक घटकों को महत्व—फिशर ने तकनीकी एवं संस्थागत घटकों पर बल दिया है जबकि केम्ब्रिज समीकरण में आर्थिक क्रियाओं के प्रमुख आधार मनोवैज्ञानिक घटकों पर बल दिया जाता है।

(4) सरल—फिशर के सिद्धांत में व्यापारिक सौदों का मूल्यांकन करना कठिन है जबकि लोगों द्वारा संचित किये जाने वाले द्रव्य की मात्रा का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

(5) स्पष्ट व्याख्या—फिशर का सिद्धान्त यन्त्रवत् है । यह सिद्धान्त यह बताने में असमर्थ है कि मुद्रा की मात्रा यथावत् रहने पर भी मूल्य स्तर में परिवर्तन क्यों आता है जबकि कैम्ब्रिज सिद्धान्त कारण और परिणाम की भली भांति व्याख्या करता है कि मुद्रा की मात्रा यथावत् रहने पर भी लोगों की तरलता पसन्दगी में परिवर्तन कीमत स्तर को प्रभावित करता है ।

(6) वास्तविकता के निकट—फिशर का P क्रय विक्रय समाप्त होने के बाद की स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता है जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में P (कीमत स्तर) क्रय विक्रय के पूर्व का चित्र प्रस्तुत करता है जिससे व्यक्ति यह निश्चित कर सकता है कि उसे अपनी आय से कौन सी वस्तुएँ मिल सकेंगी ।

आय व्यय दृष्टिकोण—आधुनिक सिद्धान्त

(Income Expenditure Approach or Modern Theory)

आय व्यय दृष्टिकोण का उद्भव कीन्स (Keynes) के वास्तविक एवं मौलिक विचारों से हुआ है । कीन्स भी इस परम्परागत विचार से सहमत हैं कि मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन कीमत स्तर में भी परिवर्तन लाता है । परन्तु कीन्स कीमत स्तर में परिवर्तन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में पूर्णतः मौलिक विचार प्रस्तुत करता है । उसके अनुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन न केवल कीमत स्तर में परिवर्तन लाता है वरन् वह रोजगार, उत्पादन तथा कीमत स्तर तीनों में परिवर्तन को जन्म देता है । प्रत्येक में प्रभाव की मात्रा अर्थव्यवस्था में विद्यमान परिस्थितियों पर निर्भर करती है । प्रो कीन्स यह मानता है कि मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन कीमत स्तर में प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन नहीं लाता वरन् कीमत स्तर में परिवर्तन परोक्ष रूप से होता है । उसके अनुसार मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन कीमत स्तर में निम्न क्रम में परिवर्तन लाता है—

(1) जब मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होता है तो उसका सर्वप्रथम प्रभाव ब्याज दर (Rate of Interest) पर पड़ता है अर्थात् मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन ब्याज दर में परिवर्तन लाता है ।

(2) ब्याज दर में परिवर्तन होने से अर्थव्यवस्था में विनियोग (Investment) की मात्रा में परिवर्तन होता है ।

(3) विनियोग की मात्रा में परिवर्तन होने से अर्थव्यवस्था में रोजगार, आय तथा उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होता है ।

(4) रोजगार, आय और उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन से उत्पादन लागत तथा माँग में परिवर्तन होता है, और

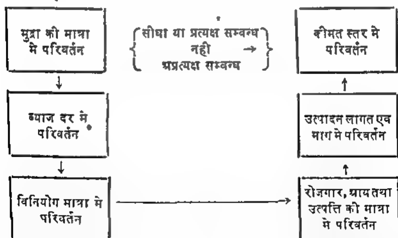
(5) उत्पादन लागत तथा माँग में परिवर्तन अन्तत: कीमत स्तर को प्रभावित करता है ।

उदाहरण—उदाहरण के लिये अगर देश में मुद्रा की पूर्ति या मात्रा में वृद्धि हो जाती है तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि का सबसे पहला प्रभाव ब्याज दर को कम कर देगा । ब्याज दर कम होने से विनियोग की मात्रा बढ़ेगी । विनियोग बढ़ने

से विनियोग सम्बन्धी सप्रभावित माग (Effective Demand) बढेगी और रोजगार, आय और उत्पादन तीनो मे वृद्धि होगी। रोजगार और उत्पादन बढने से माग एव उत्पादन लागतें बढेंगी। क्योकि (i) श्रमिक अपनी बढती माग के कारण अधिक मजदूरी मागेंगे, (ii) उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होगा जिससे लागत बढेगी, (iii) सभी उत्पादन साधनो मे पूर्ति लोचदार न होने से उनकी कीमत बढेगी। आय बढने से माग बढेगी अन्तत कीमत स्तर मे वृद्धि होगी।

प्रो कीन्स की यह मान्यता है कि प्रारम्भिक अवस्था में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि अपना प्रभाव मुख्यत रोजगार बढाने में दिखाती है। कीमतो में वृद्धि होते हुए भी उसका विशेष महत्व नही होता। परन्तु ज्यो-ज्यो अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार स्तर के निकट पहुँचती है कीमत वृद्धि की गति बढती जाती है क्योकि उत्पादन उस गति से नहीं बढता। पर जब पूर्ण रोजगार का स्तर पहुँच जाता है तो मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि के बावजूद भी रोजगार, आय व उत्पादन मे वृद्धि न होने से कीमत स्तर मे तेजी से वृद्धि होगी। यह मुद्रा स्फीति की अवस्था का द्योतक होगी।

अगर देश मे बड़े पैमाने पर बेरोजगारी है तो मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि का प्रभाव रोजगार और उत्पादन पर पड़ेगा और शायद कीमतों पर कोई प्रभाव न पड़े। अत: अगर देश मे मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि से रोजगार और उत्पादन मे उसी गति से वृद्धि होती है तो वह कीमतों मे वृद्धि को जन्म नहीं देगी। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति और कीमत स्तर मे अप्रत्यक्ष (परोक्ष) सम्बन्ध है। इसे तालिका के रूप में इस प्रकार बता सकते हैं—



आधुनिक आय व्यय दृष्टिकोण सिद्धांत की मुख्य विशेषतायें

कीन्स के इस सिद्धात मे मुद्रा के महत्व को स्वीकार करते हुए उसके समग्र विश्लेषण पर ध्यान दिया गया है। कीन्स के अनुसार केवल मुद्रा की मात्रा म

परिवर्तन ही मूल्य-स्तर मे परिवर्तन लाने के लिए पर्याप्त नही है । दूसरे तत्वो पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है—

(1) मुद्रा की माँग केवल व्यावसायिक सौदो के लिए ही नही होती वरन् सतर्कता व सट्टे के उद्देश्यो के कारण भी होती है ।

(2) मुद्रा की पूर्ति पर सरकार का नियन्त्रण भी महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है ।

(3) मुद्रा की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप से मूल्य-स्तर को प्रभावित न कर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है । उपर्युक्त क्रम स्पष्ट करता है कि मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन पहले ब्याज दर मे परिवर्तन लाता है उससे विनियोग मे परिवर्तन आता है तथा विनियोग म परिवर्तन उत्पादन, रोजगार व आय आदि म परिवर्तन कीमतो मे परिवर्तन लाता है ।

(4) यह सिद्धात अधिक व्यापक और समस्त पहलुओं का अध्ययन करता है । इसकी विशेषता इस बात म निहित है कि यह मूल्यो मे परिवर्तन की विधि एव क्रम को स्पष्ट कर विभिन्न घटको के पारस्परिक तालमेल को सरल बना देता है ।

(5) अगर मुद्रा की कुल पूर्ति कुल माग से अधिक होती है ता कीमत स्तर बढता है तथा मुद्रा का मूल्य घटता है अन्यथा कीमत स्तर घटता और मुद्रा-मूल्य बढता है ।

(6) समयान्तर (Time lag) पर ध्यान दिया गया है कि मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन तत्काल मूल्य स्तर को प्रभावित नही करता उसमे कुछ समय लग जाता है ।

मुद्रा की पूर्ति व कीमत-स्तर के सम्बन्ध में आय-व्यय दृष्टिकोण की श्रेष्ठता

आधुनिक अर्थशास्त्री कीन्स के उपर्युक्त आय-व्यय दृष्टिकोण को अनेक कारणो से श्रेष्ठ मानते हैं जो इस प्रकार हैं—

1. अधिक व्यापक और समस्त पहलुओं का अध्ययन—कीन्स का यह सिद्धात मुद्रा मूल्यो के सम्बन्ध मे इस प्रकार प्रभाव डालने वाले सभी तत्वो का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करता है । यह आय, बचत, विनियोग, उपभोग आदि सभी शक्तियो के प्रभावो को समन्वित करता है ।

2. व्यावहारिक एव सरल—यह सिद्धात मूल्यो म परिवर्तन व कारणों की विधि एव क्रम के साथ-साथ तत्वो के पारस्परिक सम्बन्ध मे ताल-मेल बैठाकर सरल बनाता है ।

3. व्यापार चक्रों की व्याख्या—यह सिद्धात व्यापार चक्रो की सन्तोषजनक व्याख्या करता है । जब समाज के व्यय मे कमी होती है तो आय घटती है, वस्तुओ की माग घटती है, विनियोग घटते हैं, बेरोजगारी फैलती है और पूर्ति स्थिर रहने से, मूल्य गिरते हैं । इसके विपरीत जब व्यय बढता है, आय बढती है, निवेश और रोजगार बढते हैं तथा उत्पादन मे और आय मे वृद्धि से कीमतें बढती है ।

4. अर्थव्यवस्था पर प्रभाव—आय सिद्धान्त मे मुद्रा के द्वारा अन्य क्षेत्रो मे परिवर्तन को जन्म देने की व्याख्या है। मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने पर ब्याज दर मे कमी, विनियोग म वृद्धि, उत्पादन मे वृद्धि, स्वभावत आय म वृद्धि से माग वृद्धि और मूल्य-स्तर म वृद्धि आदि की प्रक्रिया स्पष्ट होती है।

5 मौद्रिक एव रोजगार नीति का आधार—यह सिद्धान्त न केवल कीमत-स्तर की व्याख्या करता है पर इसके कारण नीति निर्धारको को उपयुक्त मार्गदर्शन मिलता है।

6 अर्थतन्त्र की जटिलता को समझने मे योगदान देता है और यह सिद्धान्त समष्टि अर्थशास्त्र का आधार है।

7 मुद्रा और मूल्यों का सम्बन्ध—इस सिद्धान्त म कीन्स ने बहुत ही व्यवस्थित ढग से यह बताया है कि मुद्रा की मात्रा का प्रत्यक्ष प्रभाव मूल्यो पर नही होता पर यह प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है। मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि से पहले ब्याज दर प्रभावित होती है, फिर विनियोग, रोजगार, उत्पादन और आय म परिवर्तन से उत्पादन व्यय म परिवर्तन और फिर कीमत स्तर प्रभावित होता है।

निष्कर्ष—कीन्स के इस दृष्टिकोण की सबसे बडी आलोचना यह की जाती है कि यह सिद्धान्त केवल विकसित अर्थव्यवस्थाओ म मुद्रा की पूर्ति व कीमत स्तर की ठीक-ठीक व्याख्या करता है पर अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थाओ मे इसकी सत्यता सदिग्ध है। भारत मे बडे पैमाने पर बेरोजगारी है तथा पर्याप्त मात्रा मे अप्रयुक्त प्राकृतिक साधन हैं पर मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि से कीमतो मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई है जिसको नियन्त्रण करना कठिन हो रहा है। यहां पूर्ण रोजगार से पूर्व ही मुद्रा स्फीति की अवस्था कीन्स के उपर्युक्त दृष्टिकोण का विरोधाभास प्रस्तुत करती है। अत हम यह कह सकते हैं कि कीन्स के आय-व्यय दृष्टिकोण का विकसित राष्ट्रो मे विशेष महत्व है जबकि पिछड़े राष्ट्रो मे फिशर का मुद्रा परिमाण सिद्धात न्यूनाधिक रूप में क्रियाशील होता है।

कीमत स्तर (मूल्य स्तर) मे परिवर्तन के विभिन्न रूप

(Various Forms of Changes in Price Level)

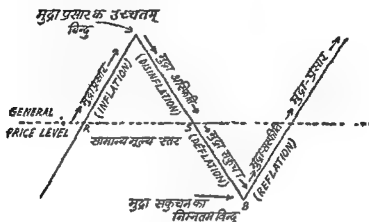
मुद्रा की पूर्ति और कीमत-स्तर के सम्बन्ध मे विभिन्न दृष्टिकोणो के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि मुद्रा की मात्रा (पूर्ति) मे परिवर्तन से कीमत स्तर पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। देश मे कीमत स्तर मे परिवर्तन का देश के उत्पादन, उपभोग, वितरण एव रोजगार पर अत्यन्त व्यापक एव गहन प्रभाव पडता है, अत कीमत स्तर म यथासम्भव स्थिरता (Stability) की बात कही जाती है। कीमत स्तर में परिवर्तन के मुख्य पाच रूप हैं—

1 सामान्य कीमत स्तर (General Price Level)

2 मुद्रा स्फीति या मुद्रा प्रसार (Inflation)

3 मुद्रा अस्फीति (Disinflation)
4 मुद्रा सकुचन या मुद्रा अवस्फीति (Deflation)
5 मुद्रा सस्फीति (Reflation)

इनको हम रेखाचित्र क रूप म इस प्रकार निरूपित कर सकत हैं—



1 सामान्य कीमत स्तर या सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) का अभिप्राय कीमतो के उस स्तर से है जब अर्थव्यवस्था म मूल्य स्तर अपने आदर्श सम या सर्वोत्तम स्तर पर है। अर्थव्यवस्था म तत्कालीन परिस्थितियो मे मूल्यो में उतार चढाव अवाछनीय हैं। उपर्युक्त चित्र म RST रेखा सामान्य कीमत स्तर की रेखा है।

2 मुद्रा प्रसार या मुद्रा स्फीति (Inflation)—जब मूल्य स्तर सामान्य मूल्य स्तर से ऊपर उठता है तो बढती हुई कीमतो की स्थिति को मुद्रा प्रसार कहा जाता है। इस अवस्था म मुद्रा की क्रय शक्ति कम होती जाती है और वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य बढते हैं। जब कीमतों मे वृद्धि बहुत तीव्र गति से होती है तो उसे कूदता हुआ, या उछलता हुआ मुद्रा प्रसार (Galloping Infl tion) कहते हैं और अगर कीमतों में वृद्धि धीमी गति से होती है तो उसे रेंगता हुआ मुद्रा प्रसार, (Creeping Inflation) कहते हैं। बढते हुए मूल्यो से व्यापारियो, उद्योगपतियो, कृषको, विनियोगकर्त्ताओ और ऋणियो को लाभ रहता है। रोजगार म भी तेजी से वृद्धि होती है पर उपभोक्ताओ, मजदूरों और निश्चित आय वालो को हानि उठानी पडती है, क्योकि वस्तुओ की कीमतें बहुत बढ जाती हैं, बढती हुई कीमतो का लाभ उठाने क लिए अर्थव्यवस्था म तेजी का वातावरण (Boom) होना है। उपयुक्त चित्र म R स A तक मुद्रा स्फीति की अवस्था है, A मुद्रा स्फीति का सर्वोच्च बिन्दु है।

3 मुद्रा अस्फीति (Disinflation)—जब मुद्रा-प्रसार अपने सर्वोच्च बिन्दु पर पहुंच जाता है तो समाज में अत्यधिक तेजी के दुष्प्रभावों को दूर करने का प्रयास किया जाता है। इससे जब मूल्य सर्वोच्च बिन्दु से गिरते हैं और जब तक सामान्य मूल्य स्तर तक नहीं पहुंच पाते तब तक की अवस्था (चित्र में A से S तक) मुद्रा अस्फीति की अवस्था कही जाती है। इसमें मूल्यों के गिरने से कुछ उपभोक्ताओं, मजदूरों तथा सरकार को राहत मिलती है, सट्टा प्रवृत्तियां समाप्त होती हैं, मुनाफाखोरी पर नियन्त्रण होता है।

4 मुद्रा-संकुचन या मुद्रा-अवस्फीति (Deflation)—जब अर्थव्यवस्था में मूल्य सामान्य कीमत-स्तर से नीचे गिरने लगते हैं तो मूल्यों के सामान्य स्तर से नीचे गिरने की अवस्था को मुद्रा संकुचन की स्थिति कहा जाता है जैसा कि 1917 की विश्व-व्यापी आर्थिक मन्दी-काल में हुआ। मुद्रा-संकुचन की स्थिति में सभी प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में निरन्तर कमी आती-जाती है यहां तक कि कीमतें लागत से भी कम हो जाती हैं। इसमें उत्पादकों, व्यापारियों, विनियोगकर्ताओं, कृषकों—सभी को हानि होती है। अर्थव्यवस्था में सर्वत्र मन्दी के कारण रोजगार के अवसर भी समाप्त हो जाते हैं और कारखानों व उत्पादन कार्यों के ठप्प होने से बेरोजगारी और भुखमरी के ताण्डव नृत्य होने लगते हैं। उपभोक्ता के रूप में लोगों को लाभ रहता है क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य बहुत गिर जाते हैं। पर उपभोक्ता को लाभ तो तब हो जबकि उसकी आय का स्रोत बना रहे। जब मन्दी के कारण उत्पादन के साधनों की मांग में गिरावट से वे बेकार हो जाते हैं तो आय ही समाप्त या कम हो जाती है। ऐसी अवस्था में क्रय-शक्ति के अभाव में समाज के सभी वर्गों को यातनायें भोगनी पड़ती हैं। इसलिये मुद्रा-संकुचन को सबसे भयंकर माना जाता है। मुद्रा-संकुचन मुद्रा-स्फीति के मुकाबले में कई गुना अधिक है क्योंकि मुद्रा-संकुचन में तो सारी अर्थव्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाती है। बेकारी, भुखमरी और सम्पन्नता में विषमता की स्थिति होती है जबकि मुद्रा-प्रसार में लोगों को आय प्राप्त होती है और अधिकाधिक उत्पादन होता है, लाभ बढ़ते हैं।

उपर्युक्त स्थिति में S से B तक की स्थिति मुद्रा-संकुचन की अवस्था है। B मन्दी का निम्नतम बिन्दु है और यहां जनता को सर्वाधिक यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं।

5. मुद्रा संस्फीति (Reflation)—जब मुद्रा-संकुचन पर नियन्त्रण के प्रयासों से मूल्य-स्तर में वृद्धि होती है और अर्थव्यवस्था में मूल्य-स्तर बढ़कर वापिस सामान्य मूल्य-स्तर के बराबर नहीं हो जाता तब तक मूल्य-वृद्धि की अवस्था मुद्रा संस्फीति (Reflation) कही जाती है जैसे चित्र में B से T तक मूल्यों में वृद्धि मुद्रा संस्फीति की द्योतक है।

ऊपर दिये गये संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट होता है कि मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन दो ऐसी विपरीत स्थितियां हैं जिनमें जनता को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता

है और सरकार के प्रयत्नों से कृत्रिम तरीको से मूल्यो को सामान्य स्तर तक लाने का प्रयास किया जाता है।

मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण के तरीके
(Methods of Controlling Inflation)

मुद्रा प्रसार के दुष्प्रभावो से बचने व मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए मौद्रिक राजकोषीय तथा भौतिक सभी प्रकार के उपचार किए जाते हैं जिनम प्रमुख इस प्रकार हैं—(1) मुद्रा की मात्रा में कमी की जाती है। उसके लिए नोटों के निगमन पर रोक लगा दी जाती है अथवा प्रचलित मुद्रा म कमी के लिए कुछ मुद्रा का अमौद्रीकरण (Demonetisation) कर दिया जाता है। (2) साख दर नियन्त्रण किया जाता है, इसके विभिन्न तरीके देश का केन्द्रीय बैंक अपनाता है जैसे बैंक दर म वृद्धि, प्रतिभूतियो की बिक्री, न्यूनतम जमा कोषो मे वृद्धि, बैंको को आदेश आदि। (3) करों मे वृद्धि की जाती है जिससे जनता के पास क्रय शक्ति कम रह जाती है और बाजार में माग घटती है। (4) सार्वजनिक ऋणो मे वृद्धि कर दी जाती है जिससे मुद्रा सरकारी खजान म पहुच जाती है। (5) सार्वजनिक व्यय मे कमी कर दी जाती है। सन्तुलित बजट बनाया जाता है। (6) व्यक्तिगत बचतों को प्रोत्साहन दिया जाता है ताकि लोग अपनी समस्त आय को व्यय न कर अपनी बाजार माग म कमी करें। (7) उत्पादन में वृद्धि के प्रयास किये जाते हैं ताकि वस्तुओ की पूर्ति माग के साथ स[illegible]नित की जा सके। (8) कृत्रिम कमी, सग्रह प्रवृत्ति और सट्टेबाजी पर रोक लगाई जाती है ताकि वस्तुओं के मूल्य अधिक न बढने पायें। (9) मूल्य नियन्त्रण एव राशनिंग किया जाता है। वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य निर्धारित कर दिय जाते हैं और उनसे अधिक मूल्य लेने पर दण्ड व्यवस्था की जाती है। आवश्यक वस्तुओ के न्यायोचित वितरण के लिए राशनिंग व्यवस्था की जाती है। (10) आयात-निर्यात नियन्त्रण स सरकार आयात बढाती है तथा निर्यात को कम करती है जिससे देश म उपलब्ध वस्तुओ और सेवाओं की पूर्ति को मांग के अनुकूल बनाया जा सके।

मुद्रा संकुचन पर नियन्त्रण के तरीके
(Methods of Controlling Deflation)

मुद्रा सकुचन मुद्रा स्फीति स भी अधिक भयकर है, अत उसके नियन्त्रण के लिए मुद्रा प्रसार के नियन्त्रण के विपरीत तरीके अपनाय जाते हैं जैसे—(i) मुद्रा की मात्रा म वृद्धि, (ii) साख का विस्तार और साख सृजन म वृद्धि, (iii) करो म कमी व छूट म वृद्धि, (iv) सार्वजनिक व्यय म वृद्धि, (v) घाटे का बजट बनाना, (vi) बचतो को हतोत्साहित करना, (vii) उत्पादन म कमी करना, (viii) निर्यात म वृद्धि तथा आयात पर रोक लगाना, (ix) मूल्यो को स्थिर करना तथा और अधिक नीचे गिरने से रोकना तथा मूल्य गारन्टी व्यवस्था लागू करना, (x) सग्रह की प्रवृत्ति को बढावा देना। ये सब तरीके देश म वस्तुओ और सेवाओ की माग मात्रा म वृद्धि को जन्म देंगे और वस्तुओं के मूल्य म वृद्धि का मार्ग प्रशस्त होगा।

मूल्य स्तर (कीमत स्तर) को नापने की विधि
(Method of Measuring Price-Level)

अर्थव्यवस्था में कीमत-स्तर को नापने के लिए सूचकांक (Index Number) का प्रयोग किया जाता है। जब बाजार में मुद्रा की एक इकाई से वस्तुओं और सेवाओं की क्रय की जाने वाली इकाइयों में कमी आती है तो उसे मूल्य-स्तर में वृद्धि की संज्ञा दी जाती है और इसके विपरीत जब मुद्रा की एक इकाई से पहले की अपेक्षा वस्तुओं और सेवाओं की अधिक मात्रा खरीदी जा सके तो उसे मूल्य-स्तर में कमी कहा जाता है अर्थात् मुद्रा की क्रय शक्ति और मूल्य-स्तर में विपरीत सम्बन्ध है। मुद्रा का मूल्य किसी वस्तु विशेष में व्यक्त न किया जाकर उसकी सामान्य क्रय-शक्ति में व्यक्त किया जाता है अर्थात् मुद्रा के मूल्य अथवा उसकी क्रय शक्ति को नापने के लिए समस्त वस्तुओं और सेवाओं की औसत मात्रा मालूम की जाती है। जब एक समय के मूल्य स्तर की तुलना दूसरे समय के मूल्य स्तर से की जाती है तो जो अंक इस स्तर को व्यक्त करता है उसे सूचकांक कहते हैं।

सूचकांक वह प्रतिशत अंक है जो किसी समय किसी वस्तुस्थिति के सापेक्षिक स्तर का दिग्दर्शन उसके प्रामाणिक प्रारम्भिक स्तर से करता है। जैसे 1960 के मुकाबले 1970 में सूचकांक 100 से बढ़कर 200 हो जाता है तो यह बताता है कि मूल्य-स्तर दुगुना हो गया है और अगर सूचकांक घटकर 50 रह जाता है तो इसका अभिप्राय यह है कि मूल्य-स्तर 1960 के मुकाबले आधा रह गया है।

सूचकांक बनाने की विधि—सूचकांक आर्थिक क्षेत्र में होने वाले सापेक्षिक परिवर्तनों का मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार मूल्य-स्तर में परिवर्तनों को भी सूचकांक में नापा जाता है। मार्शल के अनुसार यद्यपि "मूल्य-स्तर का सर्वथा ठीक माप न केवल असम्भव है वरन् विचारणीय भी है" फिर भी मोटे रूप में उचित सावधानी बरतने पर सूचकांक के द्वारा मूल्य-स्तर को नापा जा सकता है। यह एक सांख्यिकी विधि (Statistical Method) है जिसमें आंकड़ों का संकलन कर उनका विश्लेषण किया जाता है। इसकी विधि इस प्रकार है—

(1) **सर्वप्रथम आधार वर्ष का चुनाव** किया जाता है जिससे हम मूल्य-स्तर में परिवर्तनों की तुलना करना चाहते हैं। (2) **वस्तुओं और सेवाओं का चयन करना** पड़ता है, थोक भावों के लिए थोक वस्तुओं व सामान्य मूल्य-स्तर के लिए उपभोग की जाने वाली सामान्य वस्तुएँ ली जाती हैं। (3) **वस्तुओं के मूल्य एकत्रित करना जो बाजार में प्रचलित हैं,** आधार वर्ष तथा आलोच्य वर्ष दोनों के मूल्य एकत्रित किए जाते हैं। (4) फिर आधार वर्ष के मुकाबले में आलोच्य वर्ष के मूल्यों के प्रतिशत परिवर्तन ज्ञात कर प्रतिशत अंक मालूम किया जाता है। (5) भार दान करना भी महत्वपूर्ण है क्योंकि कुछ वस्तुओं का महत्व दूसरी वस्तुओं की तुलना में अधिक होता है। औसत निकालना—जितने प्रतिशत अंक आते हैं उनका औसत ज्ञात किया जाता है और जो अंक आता है वह वर्ष की तुलना में आलोच्य वर्ष में कीमत-स्तर का द्योतक है। उदाहरण इस प्रकार है—

मूल्य सूचकांक साधारण सूचकाक

वस्तुओं की सख्या	वस्तु	1960 (आधार वर्ष)		1970 (आलोच्य वर्ष)		
		मूल्य	सूचकाक	मूल्य	मूल्य सम्बन्ध प्रतिशत म	
1	गहू	60 रु प्रति क्वि	100	120 रु प्रति क्वि	200	$\frac{p_1}{p_0} \times 100$; सूत्र = $\frac{\text{चालू वर्ष की मूल्य}}{\text{आधार वर्ष का मूल्य}} \times 100$
2	चावल	80 रु प्रति क्वि	100	240 रु प्रति क्वि	300	
3	चीनी	3 रु प्रति कि	100	1 50 रु प्रति कि	50	
4	कपडा	1 50 प्रति मी	100	3 00 रु प्रति मी	200	
5	मसाल	5 रु प्रति कि	100	5 00 रु प्रति कि	100	
6	मकान	10 रु प्रति माह	100	15 00 रु प्रतिमाह	150	
7	दूध	1 रु प्रति लि	100	1 50 रु प्रति लि	150	
8	घी	10 रु प्रति कि	100	12 50 रु प्रति कि	125	
		कुल	180		1275	

औसत 800 – 8   1275 – 8 = 159 37

– 100   =159 37

अत 1960 के मुकाबले 1970 म मूल्यो म (159 37–100)=59 37% की वद्धि हुई है ।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 मुद्रा की पूर्ति (मात्रा) तथा कीमत स्तर (मूल्य स्तर) के पारस्परिक सम्बन्धो का स्पष्टीकरण कीजिए ।

अथवा

मुद्रा की पूर्ति म परिवतन मूल्य-स्तर (Price Level) को किस प्रकार प्रभावित करते है ? (Raj I yr T D C (Non Collegiate) 1976)

(सकेत—प्रथम भाग म मुद्रा की पूर्ति को सक्षेप म समझाइय, फिर फिशर, केम्ब्रिज आय -व्यय दृष्टिकोणो का सक्षिप्त विश्लेपण कर अन्त म बतलाइये कि आय व्यय दृष्टिकोण उपयुक्त है । मुद्रा की पूर्ति और कीमत स्तर म प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । समीकरणो की भी व्याख्या कर आय व्यय दृष्टिकोण का निरूपण चित्र द्वारा कीजिये ।)

2 फिशर द्वारा प्रतिपादित मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या कीजिय । (Raj I yr T D C 1980)

(सकेत—फिशर क सिद्धान्त की व्याख्या समीकरण व चित्र द्वारा समझाइये तथा उसके बाद आलोचनाएँ देकर निष्कर्ष दीजिये कि यह सिद्धान्त कुछ सत्य होते हुए भी अपूर्ण है ।)

3 मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की केम्ब्रिज व्याख्या को स्पष्ट कीजिए। केम्ब्रिज व्याख्या फिशर के सिद्धान्त पर क्या सुधार है ?

अथवा

नकद आदान प्रदान दृष्टिकोण (Cash Transaction Approach) तथा नकद सचयन दृष्टिकोण (Cash Transaction Approach) की तुलना कीजिये तथा उनमे कौनसा श्रेष्ठ है उसको बतलाइये।

(संकेत—मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की केम्ब्रिज व्याख्या को समीकरण सहित बताइये तथा दोनो मे समानता बताते हुए केम्ब्रिज व्याख्या की श्रेष्ठता स्पष्ट कीजिये।)

4 मुद्रा की मात्रा तथा कीमत स्तर मे सम्बन्ध के विषय मे प्रो. कीन्स के आय व्यय दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये। यह दृष्टिकोण और दृष्टिकोणो से क्यो श्रेष्ठ है ?

(संकेत—कीन्स के आय व्यय दृष्टिकोण के शीर्षक के अन्तर्गत दी गई सामग्री को मय श्रेष्ठता व निष्कर्ष दीजिये।)

5. *"सिद्धान्त रूप मे मुद्रा परिमाण सिद्धान्त सही है पर व्यवहार मे अपर्याप्त है।"* व्याख्या कीजिए।

(संकेत—पहले फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को समझाकर उसकी कमियां व आलोचनाएँ बताइये कि मुद्रा की पूर्ति व कीमत स्तर मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही अतः कीन्स के आय-व्यय दृष्टिकोण को समझाकर उसकी श्रेष्ठता सिद्ध कीजिए।)

6. मुद्रा की चलन गति से आप क्या समझते हैं और चलन गति किन-किन बातो पर निर्भर करती है ?

(संकेत-चलन गति का अर्थ बताकर फिर उसको प्रभावित करने वाले घटक दीजिये।)

7. समझाइये कि मुद्रा की पूर्ति मे होने वाले परिवर्तन कीमत-स्तर पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं ? (I yr. T.D.C. 1973, Supple. 1973 Annual 1975)

(संकेत—प्रश्न 1 के उत्तर संकेत के अनुसार समझाना है।)

8. इस विचारधारा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए "कीमत स्तर सामान्यतः मुद्रा पूर्ति मे होने वाले परिवर्तनो के अनुपात मे बदलता है।"

(I yr. T.D.C. 1974)

(संकेत—*फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त को देकर विवेचना करनी है कि मुद्रा पूर्ति* एव मूल्य स्तर मे प्रत्यक्ष आनुपातिक सम्बन्ध नही है, अप्रत्यक्ष एवं अनिश्चित सम्बन्ध होता है।)

23

व्यावसायिक संगठन के स्वरूप

(Forms of Business Organisation)

सभ्यता के विकास एवं आर्थिक गतिविधियों के आकार-प्रकार में परिवर्तनों के साथ साथ व्यावसायिक संगठन के भी विभिन्न नये-नये रूप सामने आये हैं। जब उत्पादन प्रणाली सरल और छोटे पैमाने पर थी तो एकाकी व्यवस्था व साझेदारी प्रथा प्रचलित थी। पर बड़े पैमाने की उत्पत्ति, जटिल श्रम विभाजन व बड़ी मात्रा में पूँजीगत उद्योगों ने संयुक्त पूँजी कम्पनी व सहकारी व्यवस्था को जन्म दिया है। आज संयुक्त पूँजी कम्पनी प्रायः सभी देशों में सर्वाधिक लोकप्रिय संगठन व्यवस्था मानी जाती है। व्यावसायिक संगठन के प्रमुख स्वरूप (प्रारूप) निम्न हैं—

(1) एकाकी व्यवस्था (Sole Proprietorship)

(2) साझेदारी (Partnership)

(3) संयुक्त पूँजी कम्पनी या आधुनिक कारपोरेशन (Joint Stock Company or Modern Corporation)

(4) सार्वजनिक उपक्रम (Public Enterprises)

(5) सहकारी उपक्रम (Co operative Enterprises)

1. एकाकी स्वामित्व व्यवस्था
(Sole Proprietorship)

यह व्यावसायिक संगठन का सबसे प्राचीन तथा सर्वाधिक प्रचलित स्वरूप है। जब व्यवसाय में पूँजी की आवश्यकता सीमित, संगठन सरल तथा उत्पादन व्यवस्था कम जटिल हो तो यह संगठन बहुत उपयुक्त होता है। एकाकी व्यवस्था को व्यक्तिगत उपक्रम, एकल स्वामी, व्यक्तिगत साहसी तथा एकाकी व्यापारी आदि नामों से भी पुकारा जाता है। अर्थ—एकाकी व्यवस्था व्यवसाय का वह स्वरूप है जिसमें एक ही व्यक्ति व्यवसाय का स्वामी, संचालक तथा संगठनकर्ता होता है और वही व्यवसाय की सम्पूर्ण लाभ हानि का उत्तरदायी होता है। लुई हैने के शब्दों में एकाकी व्यवस्था व्यवसाय का वह स्वरूप है जिसका स्वामी एक ही होता है जो उसके समस्त कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है उसकी क्रियाओं का संचालन करता है एवं

लाभ-हानि का सम्पूर्ण भार स्वयं उठाता है।" पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में फुटकर विक्रेता, कृषि करने वाले, छोटे-छोटे कारीगर, व्यक्तिगत उत्पादक एकाकी व्यवसाय के ही उदाहरण हैं।

एकाकी व्यवसाय की विशेषताएँ (Characteristics)—एकाकी व्यवसाय में निम्न लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं—(i) **एकाकी स्वामित्व** होता है अर्थात् एक ही व्यक्ति व्यवसाय का मालिक होता है। (ii) एक ही व्यक्ति उसका प्रबन्धक व पूँजी प्रदान करने वाला होता है। (iii) वही व्यवसाय में लाभ हानि के प्रति उत्तरदायी होता है। (iv) ऐसे व्यवसाय में पूँजी की मात्रा सीमित, प्रबन्ध सरल तथा स्थापना में वैधानिक उपचारों का प्रायः अभाव रहता है। (v) एकाकी व्यवसायी का असीमित दायित्व होता है। (vi) एकाकी व्यवसाय को इच्छानुसार कभी भी स्थापित या समाप्त किया जा सकता है। (vii) वैधानिक उपचारों की जटिलता नहीं होती।

एकाकी व्यवस्था के लाभ अथवा गुण (Advantages or Merits of Sole Trade)—एकाकी व्यवस्था में निम्न लाभ हैं—(1) स्थापना या समाप्ति में सुविधा रहती है क्योंकि एकाकी व्यवसाय में वैधानिक उपचारों की जटिलता नहीं होती। छोटे पैमाने पर कहीं भी चलाया जा सकता है। (2) शीघ्र निर्णय की सुविधा रहती है। एक ही व्यक्ति व्यवसाय का स्वामी तथा हानि लाभ के लिए उत्तरदायी होने से बिना समय नष्ट किये स्वयं ही शीघ्र निर्णय ले सकता है। (3) ग्राहक व कर्मचारियों से निकट सम्पर्क व्यवस्था की सफलता में सहायक होता है। छोटे पैमाने की उत्पत्ति में निकटतम सम्पर्क के कारण पारस्परिक मतभेदों को तथा गलतफहमी को शीघ्र मिटाया जा सकता है जिससे ग्राहकों व कर्मचारियों से सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध व्यवसाय की सफलता में योग देते हैं। (4) रुचि एवं मितव्ययिता एकाकी व्यापार का सबसे बड़ा गुण है क्योंकि एक ही व्यक्ति लाभ एवं हानि के लिये उत्तरदायी होता है अतः वह व्यवसाय में परिश्रम, रुचि से काम करता है, प्रबन्ध में मितव्ययिता लाता है। निजी हित में तन्मयता बनी रहती है। (5) व्यावसायिक गोपनीयता रखना सम्भव होता है क्योंकि एक ही व्यक्ति सर्वेसर्वा होता है। (6) व्यक्तिगत गुणों का विकास होता है क्योंकि एक व्यक्ति स्वामी, श्रमिक, पूँजीपति, प्रबन्धक तथा साहसी होता है। अतः कार्य की समस्त जोखिम व्यक्ति में सतर्कता, आत्मविश्वास और तन्मयता को बढ़ाती है इसके कारण व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास होता है। (7) सामाजिक दृष्टि से इस व्यवस्था में लोगों को अपनी योग्यता, क्षमता तथा इच्छानुसार व्यवसाय चुनने तथा उनके संचालन का अवसर मिलता है अतः स्व-नियोजितों की संख्या बढ़ती है।

एकाकी व्यवस्था के दोष, अवगुण या हानियाँ (Demerits or Disadvantages of Sole Trade)—जहाँ एकाकी व्यवस्था से अनेक लाभ हैं वहाँ उसकी अनेक सीमायें भी हैं। इसी कारण दूसरे प्रकार के व्यावसायिक संगठनों का तेजी से विकास हुआ है। ये दोष इस प्रकार हैं—(1) सीमित आर्थिक साधन होते हैं अतः

बड़े पैमाने की उत्पत्ति, अनुसंधान परीक्षण व नवीनतम मशीनों के खरीद की सामर्थ्य नहीं होती। अत: बड़े लाभ के अवसर कम ही होते हैं। (2) असीमित दायित्व भी एकाकी व्यवस्था का बहुत बड़ा दोष है। सम्पूर्ण हानि जोखिम एक ही व्यक्ति पर होना उसमें भय और आशंकाओं को जन्म देता है तथा वह कोई साहसपूर्ण निर्णय लेने में असमर्थ रहता है। (3) प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना कठिन होता है क्योंकि बड़े पैमाने की इकाइयों में अधिक पूँजी, कुशल विशेषज्ञ तथा सक्षम संचालक होते हैं जबकि एकाकी व्यवसाय में साधनों की सीमितता उन्हें प्रतिस्पर्द्धा में बाधक होती है। (4) वित्तीय साधनों का अभाव रहता है क्योंकि एक ही व्यक्ति की साख सीमित होती है, स्वयं की पूँजी भी कम होती है तथा व्यवसाय में गोपनीयता के कारण ऋणदाता भी अधिक ऋण देने की जोखिम नहीं उठाते। (5) प्रबन्ध व नियन्त्रण की सीमा होती है क्योंकि एकाकी व्यवसायी की कुशलता एवं अनुभव सीमित होना है वह अकेला उचित नियन्त्रण व प्रबन्ध करने में असमर्थ होता है। (6) गलत निर्णय की आशंका रहती है क्योंकि एकाकी व्यवसायी जल्दी जल्दी में निर्णय लेता है दूसरों से परामर्श नहीं लेता और गोपनीयता की प्रवृत्ति आदि से गलत निर्णय व्यवसाय के लिये घातक सिद्ध हो सकते हैं। "जल्दी का काम शैतान का" वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है। (7) अनुपस्थिति में अकुशलता व क्षति का भय रहता है क्योंकि व्यवसाय का संचालन, प्रबन्ध, नीति-निर्धारण एक ही व्यक्ति के हाथ में होता है अगर वह कदाचित बीमार पड़ जाय या बाहर चला जाय तो व्यवसाय ही चौपट हो जाता है। (8) अनिश्चित जीवनकाल—एकाकी व्यवसाय की सफलता तथा निरन्तरता स्वामी के गुणों, कुशलता, योग्यता, स्वास्थ्य तथा जीवनकाल से सम्बद्ध होती है। जब तक व्यक्तिगत स्वामी स्वस्थ, सक्रिय तथा जीवित रहता है एकाकी व्यवसाय रहता है तथा स्वामी की अस्वस्थता व मृत्यु एकाकी व्यवसाय के समापन के सूचक होते हैं। प्राय: उत्तराधिकारियों में आवश्यक गुणों का अभाव होता है तथा दूसरी व तीसरी पीढ़ी तक कमजोर हाथों में पहुँच जाता है।

निष्कर्ष—एकाकी व्यवस्था के उपर्युक्त गुणों व अवगुणों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "**एकाकी व्यापार विश्व में सर्वश्रेष्ठ है यदि वह एक व्यक्ति इतना बड़ा हो कि समस्त व्यवसाय को भली भांति सम्भाल सके।**" व्यवसाय सदैव इतना छोटा या बड़ा हो कि व्यक्ति उसकी समस्याओं को भली भांति समझ सके। उसके कार्यों को कुशलता से संचालन कर सके। कृषि तथा अनेक छोटे-छोटे व्यापारिक संस्थानों, कुटीर एवं छोटे उत्पादक उद्योगों जिसमें कम पूँजी, कम प्रबन्ध, कुशलता व कम जोखिम हो उनके लिये एकाकी व्यवस्था उपयुक्त होने के कारण एकाकी व्यवस्था भविष्य में भी जीवित रहेगी।

2. साझेदारी
(Partnership)

आधुनिक युग में अधिक पूँजी, कुशल प्रबन्ध एवं व्यावसायिक योग्यता की

आवश्यकता पड़ती है । एक ही व्यक्ति के लिये इन सब की पूर्ति प्राय असम्भव ही है । अत बडे पैमाने की उत्पत्ति म बढती जोखिमो, अधिक पूंजी तथा कुशल प्रबन्ध के लिये साझेदारी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ ।

साझेदारी का अर्थ—जब दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर किसी व्यवसाय को चलाने का इकरार (Cont act) करते हैं, मिलकर पूंजी की व्यवस्था, सगठन एव सचालन का भार उठाते हैं तथा हानि लाभ का उत्तरदायित्व उठाते हैं तो इस व्यवस्था को साझेदारी व्यवस्था कहा जाता है । भारतीय साझेदारी अधिनियम 1... के अनुसार भारत म एक साझेदारी फर्म मे कम से कम 2 तथा अधिक से 20 साझेदार हो सकते हैं । बैंकिंग सस्थाओ म सदस्यो की सख्या 10 से अधिक हो सकती है । एक साझेदारी व्यक्तियो का समूह है जिन्होने किसी उपक्रम को के लिए सयुक्त रूप से पूंजी अथवा सेवाओ को प्रयुक्त करने का इकरार किया भारतीय साझेदारी अधिनियम के अनुसार "साझेदारी उन व्यक्तियो के सम्बन्ध को कहते हैं जिन्होने किसी ऐसे व्यवसाय के लाभ को आपस मे करना स्वीकार किया हो जो उनमे से सभी अथवा किसी व्यक्ति के द्वारा सबके सचालित किया जाता हो ।' (Partnership is the rel tionship betw persons who have agreed to share the profits of business carri on by all or any of them acting for all) इस प्रकार हम एक साझेदारी निम्न विशेषतायें पाते हैं—

साझेदारी की प्रमुख विशेषतायें (Characteristics of Partnership)

(1) साझेदार एक प्रसविदे (Contract) का परिणाम होता है । (2) मे दो या दो से अधिक लेकिन भारत में बैंकिग सस्थाओ म 10 तथा व्यावसायिक सस्थाओ मे 20 से अधिक साझेदार नही हो सकते । (3) व्यवसाय सचालन एव प्रबन्ध मे सभी या कुछ या सबके लिये एक साझेदार कार्य करता है । (4) साझेदारी म साझेदारो का दायित्व असीमित होता है अर्थात् साझेदारी फर्म मे नुकसान के लिये साझेदार सामूहिक एव व्यक्तिगत रूप म जिम्मेदार होते हैं । (5) साझेदारी का उद्देश्य लाभ कमाना व साझेदारो मे वितरण करना है । (6) साझेदारी म सभी सदस्यो का पूंजी लगाना आवश्यक नही, कुछ पूंजी लगा सकते हैं तो कुछ मानसिक या शारीरिक श्रम दे सकते हैं ।

साझेदारी के लाभ, गुण या अच्छाइयां
(Advantages or Merits of Partnership)

साझेदारी व्यवस्था म एकाकी व्यवस्था के लाभ के साथ साथ अतिरिक्त लाभ मिलते हैं । एकाकी व्यवस्था के दुगुणो ने ही साझेदारी के विकास का मार्ग प्रशस्त किया है । इसके गुण है—(1) स्थापना एव समापन दोनो मे अपेक्षाकृत बहुत कम वैधानिक औपचारिकताओ का पालन करना पडता है । (2) अधिक पूंजी की प्राप्ति होती है क्योकि एक व्यक्ति की अपेक्षा अनेक साझेदार मिलकर बडे व्यवसाय

के लिए काफी पूंजी जुटा सकते हैं। उन सबकी साख क्षमता भी अधिक होती है। (3) अधिक योग्य एवं कुशल प्रबन्ध भी प्राप्त होता है क्योंकि साझेदारों को उनकी योग्यता के अनुसार अलग-अलग कार्य सौंपा जा सकता है, वे परस्पर निकट सम्पर्क में रहने के कारण उचित निर्णय ले सकते हैं। निर्णय जल्दी में नहीं किन्तु परामर्श के बाद लिये जाते हैं जिसमें *अविवेकपूर्ण निर्णय की सम्भावनाएँ कम होती हैं।* सब साझेदारों का असीमित उत्तरदायित्व होने तथा लाभ का प्रलोभन होने से मितव्ययिता तथा तत्परता बनी रहती है और व्यवसाय का कुशल प्रबन्ध व्यावसायिक सफलता का मूल आधार है। (4 ग्राहकों एवं कर्मचारियों से निकट सम्पर्क बना रहने से गलतफहमी को दूर कर सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में सुविधा रहती है। यह व्यवसाय की सफलता के लिये जरूरी भी है (5) मितव्ययिता एवं प्रेरणा—साझेदारों में निजी लाभ का तत्व तथा जोखिम का भय दोनों के कारण साझेदार व्यवसाय में निपुणता, सावधानी एवं मितव्ययिता बरतते हैं तथा अधिक लाभ के लिये आर्थिक-प्रेरणा मिलती है। (6) बड़े पैमाने पर उत्पत्ति के लाभ मिलते हैं क्योंकि अधिक पूंजी, कुशल प्रबन्ध तथा साझेदारों में सर्वांगीण गुणों के समामेलन से ये लाभ मिलते हैं। (7) एकाकी व्यवस्था की अपेक्षा यह दीर्घजीवी भी है। (8) सहकारिता को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि सभी साझेदार सब एक के लिये और एक सबके लिये इसी सिद्धान्त पर कार्य करते हैं। (9) लोच बनी रहती है। सब साझेदार सर्वसम्मति से निर्णय ले व्यवसाय के आकार-प्रकार में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन कर सकते हैं। (10) गोपनीयता साझेदारी में भी बनी रहती है क्योंकि साझेदारों की संख्या सीमित होती है और वे परस्पर विश्वसनीय होते हैं।

साझेदारी के दोष, अवगुण या हानियाँ

(Demerits or Disadvantages of Partnership)

जहां साझेदारी में अनेक लाभ व गुण हैं वहां उनकी कुछ ऐसी सीमाएँ भी हैं जो व्यावसायिक विस्तार में बाधक हैं। साझेदारी के मुख्य दोष ये हैं—(1) सीमित पूंजी—आधुनिक बड़े पैमाने की उत्पत्ति में बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है जबकि साझेदारी में साझेदारों की संख्या सीमित होने के कारण अधिक पूंजी एकत्रित नहीं हो पाती। (2) असीमित दायित्व के कारण कोई भी साझेदार जोखिम उठाने को प्रेरित नहीं होते तथा व्यवसाय को भयभीत होकर छोटे पैमाने पर ही चलाते हैं इससे अधिक लाभ की सम्भावना नहीं रहती। (3) प्रबन्ध में अकुशलता बढ़ती है क्योंकि साझेदारों की संख्या अधिक होने पर निर्णय लेने में देरी होती है, उनमें मतभेद की सम्भावनाएँ रहती हैं तथा उत्तरदायित्व के अभाव में गलत कार्यों से अपव्यय को बढ़ावा मिलता है। एक दूसरे पर छींटाकशी की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार साझेदारी का सबसे बड़ा दोष केन्द्रित संचालन का अभाव होता है। (4) अनिश्चित अस्तित्व बना रहता है। साझेदारों में फूट, अस्वस्थता, मृत्यु व

इस प्रकार हम यों कह सकते हैं कि **"संयुक्त पूँजी कम्पनी कानून द्वारा निर्मित एक ऐसा कृत्रिम व्यक्ति है जिसका अपना अलग अस्तित्व तथा निरन्तर उत्तराधिकार होता है और जिसकी एक सार्वमुद्रा होती है।"** (Joint Stock Company is an artificial person created by law having a separate entity with a perpetual succession and a Common Seal) इस प्रकार एक कारपोरेशन या संयुक्त पूँजी कम्पनी की निम्न विशेषतायें होती हैं—

संयुक्त पूँजी कम्पनी या आधुनिक कारपोरेशन की विशेषताएँ (लक्षण)— उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी या कारपोरेशन में कुछ ऐसी विशेषतायें पाते हैं जो उसे सदस्यों से पृथक् अस्तित्व प्रदान करती हैं— **(1) कम्पनी लाभ के लिए व्यक्तियों का ऐच्छिक संगठन होता है।** ये व्यक्ति लाभोपार्जन के उद्देश्य से व्यवसाय में संगठित होते हैं। सदस्यता ऐच्छिक होती है। **(2) पृथक वैधानिक अस्तित्व होता है।** यह कानून द्वारा निर्मित एक व्यक्ति के समान है जो अदृश्य, अमूर्त एवं कृत्रिम होता है। इसका सदस्यों से भिन्न पृथक अपना कानूनी अस्तित्व होता है। यह एक व्यक्ति की भांति क्रय विक्रय करती है, मुकदमा चला सकती है, इस पर मुकदमा चलाया जा सकता है। इसके वैधानिक व्यक्तित्व के कारण एक सार्व-मुद्रा (Common Seal) इसके सामूहिक अस्तित्व का प्रतीक होती है। बिना इसके कम्पनी के सब कार्य अवैध होते हैं। **(3) सीमित दायित्व**—कम्पनी के सदस्यों या अंशधारियों का दायित्व कम्पनी में उनके द्वारा लगाई गई पूँजी तक ही सीमित होता है। चाहे कम्पनी को कितना ही घाटा क्यों न हो अंशधारियों का आर्थिक दायित्व उनके अंशों की कीमत तक ही सीमित होता है। **(4) पूँजी हस्तान्तरणीय अंशों में विभाजित होती है**—कम्पनी की पूँजी अनेक छोटे-छोटे हिस्सेदारों में विभक्त होती है और इन हिस्सों को वे सामान्य नियमों के अन्तर्गत बेरोकटोक दूसरों को हस्तान्तरित कर सकते हैं। **(5) निरन्तर उत्तराधिकार** कम्पनी की सबसे बड़ी विशेषता है। कम्पनी के नये सदस्य बनते हैं, पुराने छोड़ते हैं। सदस्यों के निरन्तर आवागमन से कम्पनी के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कम्पनी का अस्तित्व शाश्वत (Eternal) और निरन्तर बना रहता है जब तक कि कानून द्वारा ही इसका समापन न किया जाय। **(6) प्रतिनिधि प्रबन्ध** कम्पनी का प्रबन्ध कम्पनी के चुने हुए कुछ विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता है। सभी अंशधारी दिन प्रतिदिन के प्रबन्ध में भाग नहीं लेते। कम्पनी के चुने प्रतिनिधि संचालन के रूप में इसका प्रबन्ध करते हैं। इस प्रकार कम्पनी का स्वामित्व एवं प्रबन्ध अलग-अलग रहता है। **(7) सार्व मुद्रा (Common Seal)** कम्पनी के वैधानिक अस्तित्व का प्रतीक होती है। इस पर कम्पनी का नाम अंकित होता है तथा यह कम्पनी के अधिकारयुक्त हस्ताक्षर (Official Signatures) का काम करती है। **(8) कम्पनी एक कानूनी कृत्रिम व्यक्ति है।** अतः इसका जन्म और मरण दोनों कानून से ही होता है। यह अपनी मौत नहीं मर सकती। कम्पनी का अस्तित्व कानून की परिधि में बंधा हुआ

(4) हस्तान्तरण—निजी कम्पनी के हिस्सो के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध होता है जबकि सार्वजनिक कम्पनी के हिस्से स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरणीय होते हैं। कोई प्रतिबन्ध नही होता है।

(5) वैधानिक औपचारिकतायें—निजी कम्पनियो के वैधानिक औपचारिकताओ की सख्या कम व सीमित है जबकि सार्वजनिक कम्पनियो को अनेक वैधानिक औपचारिकताओ (Legal formalities) का पालन करना पडता है जैसे—प्रपत्र जारी करना, प्रलेख फाइल करना, शेयर वारन्ट, सचालक को रिटायर करना, अशो का आवटन आदि आदि।

(6) सदस्य—निजी कम्पनियो मे प्रायः मित्र या सम्बन्धी ही सदस्य होते हैं जबकि सार्वजनिक कम्पनियो मे सर्वसाधारण को सदस्यता का अवसर मिलता है।

(7) प्राइवेट शब्द—निजी कम्पनियो को अपने नाम के साथ "प्राइवेट" शब्द जोडना अनिवार्य है जबकि सार्वजनिक कम्पनियो को इस प्रकार नही करना पडता।

संयुक्त पूंजी कम्पनी की स्थापना या निर्माण

(Incorporation or Formation of Joint Stock Company)

एक सयुक्त पूजी कम्पनी का निर्माण विधान द्वारा होता है अत. कम्पनी के निर्माण मे विभिन्न कानूनी औपचारिकताओ का पालन करना पडता है तथा कम्पनी के निर्माण म निम्न अवस्थाएँ (Stages) आती हैं—

1 **प्रवर्तन की अवस्था** (Stage of Promotion)—सर्वप्रथम एक व्यक्ति या जिन व्यक्तियो के मस्तिष्क म किसी लाभदायक उपक्रम की स्थापना का विचार आता है तो वे कम्पनी को वैधानिक अस्तित्व प्रदान करने तथा कम्पनी के कार्य सम्बन्धी योजना आदि के कार्य को मूर्तरूप देना प्रवर्तन कहलाता है और इन कार्यों को पूरा करने वालो को-प्रवर्तक (Promotors) कहते हैं। ये लोग योजना बनाते हैं, उसका निरीक्षण करते हैं, विशेषज्ञो की सहायता लेते हैं, वित्त तथा अन्य साधनो को एकत्रित करने की व्यवस्था करते है।

2 **समामेलन की अवस्था** (Stage of Incorporation)—कम्पनी को वैधानिक अस्तित्व प्रदान करने के लिय प्रवर्तको को कई प्रलेख—(i) पार्षद सीमा नियम (Memorandum of Association), ii) पार्षद अन्तर्नियम (Articles of Association) तथा (iii) प्रविवरण (Prospectus) आदि तैयार कर कम्पनी के रजिस्ट्रार से समामेलन प्रमाण-पत्र (Certific te of Incorpo ation) प्राप्त करने लिये प्रेषित करना पडता है। पार्षद सीमा नियमो पर निजी कम्पनी मे 2 तथा सार्वजनिक कम्पनी म कम से कम 7 व्यक्तियो के हस्ताक्षर होना आवश्यक है।

3 **पूजी प्राप्त करने की अवस्था** (Stage of Arranging Capital —कम्पनी रजिस्ट्रार से समामेलन प्रमाण-पत्र मिलने के पश्चात् प्रवर्तक कम्पनी के विभिन्न प्रकार के हिस्से (Shares) बेचने की व्यवस्था करते हैं। सामान्यत दो प्रकार के हिस्से बेचे जाते हैं—

2 सीमित दायित्व—सयुक्त पूँजी कम्पनी मे अशधारियो का आर्थिक दायित्व केवल उनके द्वारा लिये गये अशो की कीमत तक सीमित होता है अत जोखिम नाम मात्र की होती है और साधारण तौर पर पूँजी विनियोग मे हिचकिचाहट नही होती ।

3. कुशल प्रबन्ध—कम्पनी का प्रबन्ध विशेषज्ञो व अनुभवी सचालको के हाथ मे होता है और वे आधुनिक बडे पैमाने की उत्पत्ति, नये नये यन्त्रो, उत्पादन विधियो व श्रम विभाजन पद्धतियो से परिचित होते हैं । अत प्रबन्ध मे कुशलता रहती है । **इस प्रकार कम्पनी व्यवस्था पूँजी तथा प्रबन्ध मे कुशल सयोग बैठाती है ।**

4 स्वामित्व या लोकतन्त्रीकरण—कम्पनी व्यवस्था आर्थिक प्रजातन्त्र का ज्वलन्त उदाहरण है । कम्पनी की पूँजी छोटे-छोटे विभिन्न प्रकार के हिस्सो मे विभाजित होती है जिसमे जोखिम का श्रेणीकरण हो जाता है और सभी व्यक्तियो को अपने स्वाभावानुकूल अश खरीदने का अवसर मिलता है और वे स्वामित्व प्राप्त करते है । वे प्रबन्धको को नियुक्त करते हैं तथा उन्हें हटाने का अधिकार होता है । यद्यपि सिद्धान्त मे कम्पनी के सभी अशधारी उसके स्वामी होते हैं पर व्यवहार मे कम्पनी की सारी सत्ता कतिपय प्रभावशाली अशधारियो के हाथ मे केन्द्रित हो जाती है ।

5 बडे पैमाने की उत्पत्ति—कम्पनियो मे सीमित दायित्व के गुण के कारण अनेक व्यक्ति अश खरीदकर बडी मात्रा मे पूँजी एकत्रित कर लेते हैं जिससे बडे-बडे उद्योगो की स्थापना सम्भव होती है । बडे पैमाने की उत्पत्ति मे आन्तरिक एव बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं । नवीनतम मशीनो, आधुनिक रीतियो, औद्योगिक अनुसधान आदि को प्रोत्साहन मिलता है ।

6 विनियोगो को प्रोत्साहन—कम्पनी मे अशो के हस्तान्तरण की सुविधा सभी प्रकार के बचनकर्ताओ के लिये छोटी छोटी रकम के अश तथा सीमित उत्तरदायित्व के कारण लोगो का विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है ।

7 अशो की हस्तान्तरणीयता—यह कम्पनी व्यवस्था का सबसे बडा लाभ है । अगर कोई पूँजी विनियोगकर्त्ता कम्पनी व्यवस्था से सन्तुष्ट नही हो तो वह अपने हिस्सो को बेच सकता है, सन्तुष्ट होने पर अधिक शेयर खरीद सकता है ।

8 निरन्तर अस्तित्व—कम्पनी व्यवस्था साझेदारी या एकाकी व्यवस्था की तुलना मे अधिक स्थायी होती है क्योकि एक तो यह वैधानिक कृत्रिम व्यक्ति अशधारियो की मृत्यु, पागलपन व आवागमन से कम्पनी का अस्तित्व प्रभावित नही होता । स्थायी अस्तित्व के कारण कम्पनी दीर्घकालीन इकरार कर सकती है तथा दीर्घकालीन योजनाओ को लागू कर सकती है ।

9 सरकारी नियन्त्रण के कारण जनता की बचतो का दुरुपयोग नहीं होने पाता । हिसाब किताब की जाच प्रमाणित अकेक्षक द्वारा होती है । हिसाब किताब

को प्रकाशित किया जाना है जिससे घोखाधड़ी, गबन, दुरुपयोग का पता लग जाता है । *सरकार भी कानून द्वारा प्रभावी नियन्त्रण रखती है ।*

संयुक्त पूंजी कंपनी अथवा निगमों की साझेदारी से श्रेष्ठता

(Superiority of Joint Stock Company Organisation over Partnership)

संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियां (निगम) साझेदारी संगठन के मुकाबले कहीं *अधिक श्रेष्ठ माना जाता है इसके निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—*

(1) **असंख्य भागीदार**—सार्वजनिक संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी में असंख्य अंशधारी हो सकते हैं, निजी कम्पनी में भी 50 अंशधारी हो सकते हैं जबकि साझेदारी में अधिकतम सदस्य 20 और बैंकिंग साझेदारी में तो अधिकतम 10 भागीदार हो सकते हैं ।

(2) **पर्याप्त पूंजी**—संयुक्त पूंजी कम्पनी में अनेक अंशधारियों से काफी पूंजी एकत्रित की जा सकती है और बड़े व्यवसाय में अधिक पूंजी की पूर्ति इसी के द्वारा प्राप्त हो सकती है जबकि साझेदारी में पूंजी का अभाव रहता है ।

(3) **स्थायी अस्तित्व**—*कम्पनी का अस्तित्व स्थायी होता है ।* अंशधारी की मृत्यु, बहिर्गमन, पागलपन आदि कम्पनी के अस्तित्व को कोई खतरा उत्पन्न नहीं करते जबकि साझेदारी का अस्तित्व अनिश्चित एवं अस्थायी रहता है । साझेदारों की मृत्यु, बहिर्गमन, पागलपन आदि से साझेदारी समाप्त हो जाती है ।

(4) **कुशल संचालन**—कम्पनी का संचालन चुने हुये कुशल प्रबन्धकों एवं *विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है । अंशधारी स्वयं प्रबन्ध नहीं करते* जबकि साझेदारी का संचालन साझेदारों द्वारा स्वयं ही किया जाता है जो उसमें प्रायः अकुशल रहते हैं ।

(5) **सीमित दायित्व**—कम्पनी में अंशधारियों का दायित्व उनके कम्पनी में खरीदे गये अंशों तक सीमित होता है जबकि साझेदारी में सदस्यों का दायित्व असीमित होता है वे सामूहिक एवं निजी दोनों प्रकार से हानि का दायित्व उठाते हैं ।

(6) **स्वतन्त्र अस्तित्व**—कम्पनी का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है अंशधारी आते जाते रहते हैं । कम्पनी अपने नाम से सौदे कर सकती है, मुकदमा लड़ सकती है, मुकदमा दायर कर सकती है जबकि साझेदारी का साझेदारों से कोई अलग अस्तित्व नहीं होता ।

(7) **अंश हस्तान्तरण**—कम्पनी के अंश हस्तान्तरणीय होते हैं । कोई भी अंशधारी बन सकता है अथवा अंश बेच सकता है जबकि साझेदारी में अंश *(भागीदारिता) को बेचना एवं हस्तान्तरण करना सम्भव नहीं होता ।*

(8) **असीमित साख**—कम्पनी की साख (Credit) उसके बड़े आकार और पर्याप्त पूंजी के कारण असीमित होती है जबकि साझेदारी में सदस्यों की सीमितता,

अपर्याप्त पूँजी एव छोटे व्यवसाय के कारण साख सीमित होती है ।

(9) बडे पैमाने का व्यवसाय—कम्पनी संगठन बडे पैमाने के व्यवसाय के लिये श्रेष्ठ होता है क्योंकि सीमित दायित्व, कुशल प्रबन्ध, पर्याप्त पूँजी एव असीमित साख उपलब्ध रहती है जबकि साझेदारी मे बडे पैमाने की उत्पत्ति एव व्यवसाय नहीं हो पाता ।

(10) कानूनी सुरक्षा—कम्पनियो पर कानून की कडी निगरानी रहती है जिससे धोखा-धडी की सम्भावनायें सीमित होती हैं किन्तु साझेदारी समझौते का प्रतिफल है अत गोपनीयता के कारण भोले-भाले साझेदार धोखा खा जाते हैं ।

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के दोष, अवगुण या हानियां

(Demerits or Disadvantages of Joint Stock Company)

1. स्थापना कार्य कठिन—संयुक्त पूँजी कम्पनी की स्थापना का कार्य कई वैधानिक औपचारिकताओं व उलझनों से भरपूर होता है । सामान्य व्यक्तियों की समझ से दूर होता है जबकि साझेदारी व एकाकी व्यवस्था मे अपेक्षाकृत सरलता रहती है ।

2. नियन्त्रण एव प्रबन्ध का विकेन्द्रीकरण—सैद्धान्तिक दृष्टि से तो संयुक्त पूँजी कम्पनी एक लोकतन्त्र है, किन्तु व्यवहार में कुछ प्रभावशाली पूँजीपतियों व सचालको का अल्पतन्त्र एव तानाशाही होती है । संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी मे अशधारी यत्र तत्र बिखरे होते हैं, वे रुचि नही लेते । अतः कुछ ही सक्रिय व स्वार्थी अशधारी या अभिकर्त्ता अपने ही सचालक नियुक्त कर मनमानी करते हैं । स्वामित्व एव प्रबन्ध मे पृथकत्व पाया जाता है ।

3. सचालकों का शोषण—प्रबन्ध एव आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण कुछ ही प्रभावी सचालको के हाथो में हो जाता है । वे अपने लिए अनेक प्रकार के भत्ते आदि का निर्धारण करते हैं अपने स्वार्थी तत्वो की पूर्ति करते हैं इससे अशधारियो के हितो की उपेक्षा होती है ।

4. प्रबन्ध मे अकुशलता को बढावा मिलता है—प्रबन्धक और स्वामित्व मे पृथकता के कारण महत्वपूर्ण निर्णयो मे देर होती है । अगर सचालक योग्यता के आधार पर न चुने जायें, केवल उनके आर्थिक प्रभाव मे वे सचालक बन बैठें तो कम्पनी प्रबन्ध मे अकुशलता का बोलबाला होता है ।

5 गोपनीयता का अभाव रहता है क्योंकि सरकारी नियन्त्रण व विधान के कारण सार्वजनिक कम्पनी के हिसाब-किताब की अकेक्षको द्वारा जाच होती है, रिपोर्ट व हिसाब-किताब प्रकाशित होते हैं । अत कम्पनी के अन्तर्गत साझेदारी व एकाकी व्यवस्था जैसी गोपनीयता सम्भव नहीं । गोपनीयता के अभाव में व्यवसाय का हानि भी हो सकती है ।

6 बडे पैमाने की उत्पत्ति के दोष—यह कम्पनी प्रणाली का सबसे महत्व-पूर्ण अवगुण है । जैस अति उत्पादन, श्रमिक कल्याण कार्यों की उपेक्षा, औद्योगिक

झगड़े एवं अशान्ति तथा श्रमिकों का शोषण होता है। व्यवसाय की जटिलता म अकुशल प्रबन्ध बढ़ता है।

7 एकाधिकार एवं आर्थिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियां बढ़ती हैं। बड़ी-बड़ी कम्पनियां अपने छोटे एवं माध्यम प्रतिस्पर्धियों को समाप्त करने का प्रयास करती हैं। वे कृत्रिम कमी कर ब्लैक मार्केट करते हैं। उपभोक्ताओं का शोषण होता है। छोटे उत्पादकों की स्थिति बिगड़ती जा रही है। बड़ी कम्पनियां निरन्तर बड़ी-बड़ी होती जाती हैं और एकाधिकारी प्रवृत्तियां बढ़ती जाती हैं।

8 सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। कम्पनी के सचालक लाभांश दरों में कमी बेशी करके स्टाक एवं शेयर बाजार मे अंशों की कीमतों म उतार-चढ़ाव लाते हैं। जब कम्पनी के हिस्सों पर कम लाभांश दर घोषित की जाती हैं तो सामान्य अंशधारी सस्ते दामों पर अपने अंश बेच देते हैं। इसमें उन्हें घाटा उठाना पड़ता है।

9 रुचि, पहलपन एवं उपक्रम में कमी—कम्पनी व्यवस्था मे स्वामित्व अंशधारियों के पास होता है जबकि कम्पनी प्रबन्ध संचालकों के हाथों मे रहता है। लाभ और प्रयत्नों में दूरी होती है। प्रबन्धक लाभ बढ़ाने के प्रति उदासीन होते हैं। ये कम्पनी के कार्यों को निश्चित नियमों की परिधि मे संकीर्ण बना लेते हैं। संचालकों का स्वामित्व सीमित होने से वे अधिकांश अंशधारियों के हितों की उपेक्षा करते हैं। नये कार्यों की पहल नहीं होती।

10. राजनैतिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है क्योंकि बड़ी-बड़ी कम्पनियां आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण कर लेती हैं। वे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राज्य अधिकारियों, संसद सदस्यों, राजनैतिक दलों के नेताओं व सत्ताधारियों को भारी मात्रा मे रिश्वत देकर अपने स्वार्थों के अनुकूल नीतियों का क्रियान्वयन तथा निर्माण करवाती हैं। कभी-कभी गैर कानूनी गतिविधियों से लाभोपार्जन कर समाज विरोधी कार्यों के प्रति भी अधिकारियों को उदासीन रखने के लिए बाध्य कर देती हैं।

निष्कर्ष—आधुनिक युग मे बड़े पैमाने की उत्पादन एवं औद्योगिक व्यवस्था में संयुक्त पूंजी कम्पनी ही सर्वाधिक उपयुक्त मानी जाती है। देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास बहुत कुछ ऐसी कम्पनियों के विकास पर ही निर्भर करता है। कैम्पनियों पर उचित नियन्त्रण रखने से उनके दोषों को दूर किया जा सकता है।

4. सार्वजनिक उपक्रम या सरकारी उपक्रम
(Public Enterprises)

अब राज्य का आर्थिक क्षेत्र मे इतना हस्तक्षेप बढ़ गया है कि वह न केवल अप्रत्यक्ष नियन्त्रण करता है वरन् स्वयं एक व्यवसायी एवं साहसी के रूप मे व्यवसाय एवं उद्योग स्थापित करता है। सार्वजनिक उपक्रमों का अभिप्राय उन औद्योगिक एवं व्यावसायिक संस्थानों से है जिनका स्वामित्व, नियन्त्रण एवं प्रबन्ध सरकार अथवा सामाजिक इकाइयों के हाथों मे होता है।" सार्वजनिक उपक्रमों का नियन्त्रण एवं संचालन, उत्पादन तथा वितरण आदि की व्यवस्था सरकारी अधिकारी करते हैं

राष्ट्रीयकृत (Nationalised) तथा सरकार द्वारा स्थापित उद्योग इस श्रेणी म आते हैं जैसे भारत में डाक-तार विभाग, रेलवे, बिजली, पानी आदि-आदि।

सार्वजनिक उपक्रमो के उद्देश्य—सार्वजनिक उपक्रमो की स्थापना के पीछे अनेक उद्देश्य होते हैं (1) सामाजिक हित–कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जिनम प्रतियोगिता सामाजिक दृष्टि से हानिकारक होती है तथा जिनका प्रबन्ध व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत सम्भव नहीं होता। उन्हे सार्वजनिक क्षेत्र म स्थापित किया जाता है जैसे डाकतार, बिजली, पानी आदि। (2) सतुलित विकास—जिन उद्योगों की स्थापना म विशाल पूँजी की आवश्यकता पडती है तथा निजी उद्योगपति इतनी विशाल पूँजी के जुटाने तथा जोखिम उठाने मे असमर्थ होते हैं तो देश के सन्तुलित विकास के लिये ऐसे उद्योग—जैसे लोहा, इस्पात, पेट्रोलियम, मशीन टूल्स, भारी बिजली का सामान आदि का उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र मे ही होता है। (3) सुरक्षा—देश की सुरक्षा के लिए सुरक्षा उद्योगो को निजी हाथो में छोडना उपयुक्त नहीं होता। (4) अर्थव्यवस्था के प्रमुख अगो पर राष्ट्र हित मे नियन्त्रण एव स्वामित्व आर्थिक केन्द्रीकरण व देश के समुचित विकास के लिए आवश्यक होता है।

साम्यवादी एव समाजवादी राष्ट्रों में तो देश के प्राय सभी उद्योगो पर सरकार का स्वामित्व एव नियन्त्रण होता है जबकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था म देश के सुरक्षा उद्योगो व प्रमुख इकाइयो पर ही सार्वजनिक स्वामित्व एव नियन्त्रण होता है। जैसे भारत मे चार इस्पात कारखाने—भोपाल इलेक्ट्रोनिक्स, एच एम टी, भारतीय खाद्य निगम आदि-आदि।

सार्वजनिक उपक्रमों का वर्गीकरण—सार्वजनिक उपक्रमो का वर्गीकरण उनके कार्य की प्रवृत्ति, स्वामित्व तथा सगठनात्मक सरचना के आधार पर किया जा सकता है।

(A) कार्यात्मक वर्गीकरण (Functional Classification)—इसके अन्तर्गत सार्वजनिक उपक्रम, निर्माण उपक्रम, खनन उपक्रम, परिवहन उपक्रम, व्यापारिक उपक्रम, वित्त बीमा एव बैंकिंग उपक्रम, विकास एवं प्रवर्तन उपक्रम तथा बिजली एव बहु उद्देशीय परियोजनायें आदि आते हैं।

(B) स्वामित्व व नियत्रण के आधार पर वर्गीकरण म चार प्रकार के उपक्रम आते हैं (1) केन्द्रीय सरकार, (2) राज्य सरकार, (3) केंद्रीय एव राज्य सरकारो के सम्मिलित उपक्रम तथा (4) सयुक्त उपक्रम जिनम निजी, राज्य सरकारो व केन्द्रीय सरकार का सयुक्त स्वामित्व एव नियत्रण हो सकता है।

(C) सगठनात्मक वर्गीकरण (Oraganisational Classification)—राजकीय उपक्रमो या राज्य के सचालित उद्योगो व व्यवसायो का सगठन प्राय चार प्रकार से किया जाता है—

(1) विभागीय उपक्रम (Departmental Undertaking)—यह सरकारी उपक्रमो के सगठन की सबसे प्राचीन रूढिवादी पद्धति है। यह पद्धति मुख्य रूप से

सुरक्षात्मक उद्योगों में तथा सामान्यतया ऐसे उद्योगों में अपनाई जाती है जिसमें सरकार को सार्वजनिक सेवा के साथ-साथ पर्याप्त आय प्राप्त होने की आशा होती है। ऐसे उपक्रम प्रतिरक्षा विभाग, रेल, डाक-तार व औषधि उपक्रम हैं। भारत में रेल उपक्रम में 5000 करोड़ रु., डाक-तार विभाग में 500 करोड़ रु की पूँजी लगी है। इन उपक्रमों से संसदीय नियन्त्रण होता है। वे सरकारी विभाग की भांति संचालित होते हैं। अतः लाल-फीताशाही, राजनैतिक भ्रष्टाचार तथा निर्णयों में विलम्ब आदि की समस्याएं प्रमुख हैं।

(ii) **संवैधानिक सार्वजनिक उपक्रम (Statutory Public Corporation)**— सार्वजनिक उपक्रमों के संगठन की आधुनिक अधिक लोकप्रिय पद्धति स्वशासित निगमों (Autonomous Corporations) की स्थापना है। इन निगमों की स्थापना लोक सभा या विधान-सभा द्वारा पारित विशेष अधिनियमों द्वारा होती है। इन विशेष अधिनियमों में उपक्रम की स्थापना, पूँजी, प्रबन्ध संचालन एवं कार्य-क्षेत्र आदि का प्रावधान स्पष्ट होता है। ये सरकार के स्वतन्त्र उपक्रम के रूप में कार्य करते हैं। सम्बन्धित मन्त्रालय उन्हें केवल निर्देश जारी कर सकता है, दिन-प्रतिदिन के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। सरकार केवल सामान्य सिद्धांतों व नीतियों का निर्माण करती है। पूँजी लगाती है, उधार देती है पर प्रबन्ध स्वयं निगम द्वारा होता है। भारत में इसके उदाहरण रिजर्व बैंक, स्टेट बैंक, जीवन-बीमा निगम, दामोदर घाटी निगम, औद्योगिक वित्त निगम, खाद्य निगम आदि-आदि हैं।

(iii) **संयुक्त पूँजी कम्पनी प्रबन्ध (Joint Stock Company Management)**—इसके अन्तर्गत सरकार किसी भी सार्वजनिक उपक्रम का निर्माण कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत करती है। कम्पनी के सब अंशों या अधिकांश अंशों का स्वामित्व सरकार का होता है। प्रबन्ध के लिए प्रायः सभी सचालकों की नियुक्ति सरकार द्वारा होती है। वार्षिक प्रतिवेदन संसद में प्रस्तुत किया जाता है। भारत में हिन्दुस्तान स्टील लि., एच. एम. टी., हिन्दुस्तान शिपयार्ड, इण्डियन आयल कम्पनी आदि इसके कतिपय उदाहरण हैं।

संयुक्त पूँजी कम्पनी द्वारा राजकीय उपक्रमों की व्यवस्था के अनेक लाभ हैं (i) कार्यविधि सरल होती है, (ii) व्यापारिक सिद्धांतों के अन्तर्गत संचालित होती है, (iii) निर्णयों में शीघ्रता रहती है। डा. गोरवाला ने ठोस वाणिज्यिक कार्यों के सम्पादन में इस प्रबन्ध व्यवस्था को श्रेष्ठ माना है। पर इसकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसमें सरकारी नियन्त्रण की मात्रा निश्चित करना कठिन होता है। अकुशल प्रबन्ध, लाल फीताशाही, अधिकारियों की लापरवाही से घाटे की समस्या रहती है।

(iv) **बोर्डों द्वारा राजकीय उपक्रमों का प्रबन्ध (Public Enterprises Managed by a Board)**—राजकीय उपक्रमों के प्रबन्ध की एक विधि "बोर्ड" या "समिति" का संगठन है जिन्हें नियन्त्रण मण्डल कहते हैं। यह नियन्त्रण की अत्यन्त ढिलमिल व्यवस्था होती है। इसमें केंद्र या राज्य या दोनों के मनोनीत प्रतिनिधि

प्रबन्ध करते हैं। इन सगठनों मे कानूनी, प्रशासकीय तथा वित्तीय नियन्त्रण मे एकरूपता नहीं होती। भारत मे ऐसे बोर्ड—भाखरा कन्ट्रोल बोर्ड, चम्बल कन्ट्रोल बोर्ड, हस्तकला बोर्ड, चाय बोर्ड आदि इसके कुछ उदाहरण हैं।

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों का विकास

भारत मे देश के औद्योगिक विकास में गति लाने तथा सार्वजनिक क्षेत्र के सक्रिय योगदान के लिए सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना बडी तेजी से हुई है। जहा प्रथम पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ मे देश मे केन्द्र सरकार के उपक्रमों की सख्या केवल 5 थी और उनमे 29 करोड रु की पूंजी लगी हुई थी। यह सख्या 1960–61 मे बढकर 48 तथा विनियोजित पूंजी 953 करोड रु हो गई। 1970–71 मे केन्द्र सरकार के उपक्रमों की सख्या 97 थी उनमे कुल मिलाकर 4682 करोड रु. की पूंजी लगी हुई थी। जहां पहले राज्य का कुल औद्योगिक उत्पादन में 5% भाग था वह अब बढकर 43% तक हो गया है। 1979–80 मे सार्वजनिक क्षेत्र उपक्रमों की संख्या 160 थी और उनमें लगभग 14000 करोड रु से अधिक की पूंजी लगी हुई थी।

सार्वजनिक उपक्रमों के लाभ
(Advantages of Public Enterprises)

1 सामाजिक हितों की रक्षा—सामाजिक उपक्रमों का उद्देश्य पूंजीवादी उत्पादन के दोषों को दूर करना होता है। वे लाभ से प्रेरित न होकर जन-हित से प्रेरित होते हैं, घ कम लागत पर उत्तम सेवा प्रदान करने का प्रयास करते हैं जिससे श्रमिकों को उचित मजदूरी व उपभोक्ताओं को कम मूल्य पर अच्छी वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती हैं जो सामाजिक कल्याण म वृद्धि करती हैं।

2. पर्याप्त पूंजी—निजी उत्पादकों की तुलना मे सरकार के साधन तथा साख दोनों अधिक होते हैं जिसके कारण सरकार बडी मात्रा मे पूंजी जुटाकर विशालकाय बडे पैमाने के उद्योगों की स्थापना कर सकती है जो निजी व्यक्तियों की शक्ति से परे होते हैं।

3. सुदृढ औद्योगिक आधार तैयार करने मे सरकारी उपक्रमों का विशेष महत्व होता है। अर्द्ध-विकसित देशों मे जहा निजी व्यक्ति न बडी मात्रा मे पूंजी लगाना चाहते हैं न जोखिम उठाना चाहते हैं वहा सरकार आधारभूत उद्योगों की स्थापना कर सकती है जैसे भारत मे लोहा-इस्पात उद्योग, रासायनिक उद्योग, बिजली एव परिवहन, सिचाई एव विद्युत् परियोजनाएं जिनमे अधिक पूंजी लगती है, जोखिम भी अधिक होती है तथा एकदम लाभ भी नहीं मिलता। अत सरकार ऐसे उद्योगों की स्थापना मे पहल करके आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

4 सुरक्षा उद्योगों को निजी हाथों मे सौंपना कभी भी देश की स्वतंत्रता को खतरे मे डालना है, अत. देश को बाह्य आक्रमणों से बचाने तथा सुरक्षा उद्योगों सम्बन्धी गोपनीयता के लिए सरकारी उपक्रम सदा ही उपयुक्त रहते हैं, सभी राष्ट्रों मे ऐसे उद्योग सरकार के हाथ मे होते हैं।

5. कुशल प्रबन्ध—सरकारी नौकरी मे सुरक्षा तथा समाज के लोगो मे सरकारी पदाधिकारियो के प्रति उच्च-आदर होने से सरकारी नौकरी प्राय सभी लोगो का आकर्षण केन्द्र होता है। अत सरकार को कुशल प्रबन्धक आसानी से मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार अपने पर्याप्त आर्थिक साधनो के कारण ऊँचे-ऊँचे वेतन देकर सुयोग्य विशेषज्ञो की सेवाओ का प्रयोग कर सकती है।

6. नवीनतम प्रणालियो व आधुनिकतम मशीनो के प्रयोग की पहल सरकार आसानी से कर सकती है क्योकि सरकार के आर्थिक साधन असीमित होने हैं तथा सरकार उत्पादन मे कुशलता लाकर उपभोक्ताओ को लाभान्वित कर सकती है।

7 श्रमिको को लाभ होता है। निजी उपक्रमो के स्वामी श्रमिको का शोषण करने की नीति अपनाते है जबकि एक कल्याणकारी सरकार अपने उपक्रमो मे नियोजित श्रमिको को अच्छी दर से मजदूरी देती है। उनके रोजगार मे स्थिरता व सुरक्षा बनी रहती है तथा कार्य की दिशा भी स्वास्थ्यप्रद होती है।

8 सरकारी उपक्रमो से प्राप्त लाभ को जनहित पर व्यय किया जाता है इससे सामाजिक कल्याण मे वृद्धि होती है जबकि निजी उपक्रमो का लाभ पूँजीपतियो की जेब म जाता है। इससे देश मे धन के असमान वितरण को बढावा मिलता है।

9. समाजवादी सिद्धातो के अनुकूल व्यवस्था है। इससे सरकार का अर्थ-व्यवस्था के प्रायः सभी केन्द्र बिन्दुओ पर स्वामित्व एव नियन्त्रण होता है। समाजवाद के स्वरूप को साकार करने मे सहायता मिलती है। पूँजीवादी तत्वो के समापन मे सहायता मिलती है।

सार्वजनिक उपक्रमों के दोष व हानियां

(Disadvantages or Demerits of Public Enterprises)

1. लाल फीताशाही (Red Tapism)—सरकारी उपक्रमो मे कार्य बहुत धीरे-धीरे होता है, तत्काल निर्णय नही किये जाते। काम नियत क्रम-प्रणाली (Routine) मे चलता है। कर्मचारियो की अरुचि रहती है अत उपक्रमो का प्रबन्ध लाल फीताशाही का शिकार होता है। कार्य सचालन मे नौकरशाही प्रवृत्तिया हावी रहती हैं।

2. श्रमिकों व प्रबन्धको की कुशलता का निम्न स्तर रहता है। श्रमिको की सेवा सुरक्षा तथा वेतन क्रम निश्चित होने से वे कार्य के प्रति उदासीन बनते है। अधिकारियो की आज्ञा की उपेक्षा की जाती है, कर्मचारियो म भी लाल फीताशाही की प्रवृत्ति होती है। वे कार्य को धीरे-धीरे क्रमवार करते हैं, निर्णयो मे विलम्ब होता है। व्यावसायिक कुशलता का अभाव रहता है। सरकारी नौकरी मे प्राय पदोन्नति व्यक्ति की योग्यता व कार्यानुसार नही होती वरन् वरीयता (Seniority) के आधार पर होती है अत कठिन परिश्रम के लिए उत्साह नहीं रहता।

3 अपव्यय को प्रोत्साहन मिलता है जिसका समाज व करदाताओं पर भार पडता है। "सार्वजनिक सम्पत्ति किसी की सम्पत्ति नहीं" की भावना के कारण काफी अपव्यय होता है। आज हम देखते हैं कि भारत सरकार के अनेक उपक्रमों मे घाटा चल रहा है। अकेले हिन्दुस्तान स्टील लि मे उसकी स्थापना के बाद अब तक लगभग 220 करोड रु का घाटा हो चुका है जबकि उनमे सरकारी पूंजी 2400 करोड रु नियोजित है। यह घाटा जनता पर भारस्वरूप रहता है।

4. सरकारी एकाधिकार के कारण उपभोक्ताओं और श्रमिकों को सरकार की मर्जी पर आश्रित रहना पडता है। कभी-कभी सरकारी एकाधिकार भी निजी एकाधिकार के समान सिद्ध होता है। यह एक विषम स्थिति उत्पन्न कर देता है।

5. राजनैतिक भ्रष्टाचार बढता है। अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति और पदोन्नति राजनैतिक स्वार्थों से प्रेरित होती है अधिकारियों के स्थानान्तरण मे भी राजनैतिक दबाव होता है। पक्षपात तथा कुनबा-परस्ती का बोलबाला होता है। राजनैतिक सत्ताधारी पार्टी राजकीय उपक्रमो के कर्मचारियों व श्रमिकों को अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त करती है। इसके अतिरिक्त क्रय विक्रय सौदों मे घोटाले होते हैं।

निष्कर्ष—सार्वजनिक उपक्रमो के गुणो व अवगुणो के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि विकासशील राष्ट्रो म सार्वजनिक उपक्रमो की स्थापना एव विस्तार औद्योगिकरण व आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। श्रमिको, उपभोक्ताओं व सामान्य जनता को लाभ रहता है। समाजवाद की स्थापना सम्भव होती है। पर सार्वजनिक उपक्रमो मे अपव्यय, राजनैतिक भ्रष्टाचार, एकाधिकारी प्रवृत्ति और अकुशलता पर नियन्त्रण आवश्यक है।

5. सहकारी उपक्रम
(Co-operative Enterprises)

सहकारिता पूंजीवादी अर्थव्यवस्था म समाज के कमजोर तथा गरीब लोगो का एक ऐसा ऐच्छिक सगठन है जो बराबरी के आधार पर अपने आर्थिक हितो की रक्षा व उनकी वृद्धि के लिए मिलकर कार्य करते हैं। पूंजीवाद मे निजी लाभ की प्रेरणा से बडी मछली छोटी मछली को हडप जाती है। कमजोर व गरीबो का शोषण होता है। ऐसी अवस्था मे सहकारिता उन्हे सगठित कर शोषण से मुक्त करती है। आज विश्व की सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओ—पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद या मिश्रित अर्थव्यवस्था मे सहकारिता को प्रोत्साहन दिया जाता है।

सहकारी उपक्रम का अर्थ—सहकारी उपक्रम व्यावसायिक सगठन का वह रूप है जिसमे आर्थिक दृष्टि से कमजोर एव पिछडे व्यक्ति ऐच्छिक रूप से अपने सामान्य आर्थिक हितों की रक्षा व उनकी पूर्ति के लिए मिलते हैं तथा जनतान्त्रिक सिद्धान्तों पर व्यवसाय का सचालन करते हैं जिससे उनका आर्थिक कल्याण सम्भव

हो। प्रो कॅल्वर्ट (Calvert) के शब्दो म "सहकारिता सगठन का वह रूप है जिसमे व्यक्ति मनुष्य की भाति बराबरी के आधार पर अपने आर्थिक हितों की अभिवृद्धि के लिए ऐच्छिक रूप से सगठित होते हैं।" (Co operation is a form of organisation wherein persons voluntarily associate together as human beings on a basis of equality for the promotion of economic interests of themselves) प्रो सैलिगमैन के अनुसार "तकनीकी अर्थ मे सहकारिता का अभिप्राय उत्पादन तथा वितरण मे प्रतियोगिता का समापन एव बिचोलियों (Middlemen) का हटाना है।"

सहकारिता की विशेषतायें (Characteristics) या सिद्धान्त

1 सहकारिता एक ऐच्छिक सगठन है जिसमे मिलने वालो की इच्छा सर्वोपरि है, कोई अनिवार्यता नही। जो व्यक्ति चाहे वह सहकारी उपक्रम का सदस्य बन सकता है और चाहे तो पृथक हो सकता है।

2. सहकारिता मनुष्य का सगठन है पूजी का नहीं, आर्थिक दृष्टि से कमजोर एव शोषित व्यक्ति मानवता के आधार पर ऐच्छिक रूप से सगठित होते हैं। मनुष्य को प्रथम एव पूँजी को गौण स्थान प्राप्त होता है।

3 समानता का अधिकार होता है। सहकारिता मे प्रत्येक व्यक्ति को समानता का अधिकार मिलता है। जनतत्र की भाति, "एक व्यक्ति की वोट" के सिद्धात का पालन होता है चाहे उनके द्वारा उद्योग मे लगाई गई पूँजी मे काफी अन्तर क्यो न हो।

4. आर्थिक हितो की रक्षा एव अभिवृद्धि ही सहकारिता का उद्देश्य होता है। सहकारिता के द्वारा उपभोक्ता, श्रमिक, ऋणी एव पूँजीपतियो के शोषण से बचने तथा अपने आर्थिक कल्याण (Material Welfare) के उद्देश्य से सगठित होते हैं।

5. पारस्परिक सहयोग एव स्वय सहायता (Self Help) सहकारिता का आधारभूत अग है। प्रो होरेश प्लिकेट के अनुसार "सगठन द्वारा सार्थक की गई स्वय सहायता ही सहकारिता है।" दूसरे शब्दो मे सहकारिता म "प्रत्येक सबके लिए तथा सब प्रत्येक के लिए" (Each for All and All for Each) का सिद्धात सर्वोपरि है।

6. सहकारिता से सदाचार व नैतिकता के विकास को भी उतना ही महत्व दिया जाता है जितना आर्थिक कल्याण को।

7 सहकारिता का उद्देश्य "लाभ कमाना (Profit Motive) नहीं पर सेवा उद्देश्य (Service Motive) होता है।"

इस प्रकार सहकारिता विनाशकारी प्रतियोगिता और पूजीवाद के शोषण के विरुद्ध एक सग्राम है जिसमे निजी लाभ की ज्वाला को शान्त कर पारस्परिक सेवा एव सहयोग की भावनाओं को विकसित एव प्रेरित किया जाता है।

सहकारी उपक्रमों के विभिन्न रूप
(Various Forms of Co-operative Enterprises)

सहकारिता मे कमजोर एव आवश्यक्ता-ग्रस्त व्यक्ति अपने आर्थिक हितों की रक्षा व अभिवृद्धि के लिए पारस्परिक सहयोग करते हैं। अत आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे चाहे वह उत्पादन हो, चाहे उपभोग या वितरण, सहकारिता को बल मिला है। यो तो सहकारिता के अनेक प्रकार हैं परन्तु मुख्यत· निम्न हैं—

I. उत्पादक सहकारी उपक्रम (Producers Co-operative Enterprises)—इस प्रकार के उपक्रमो मे उत्पादन या श्रमिक मिलकर उत्पादन का कार्य करते है। वे व्यवसाय मे स्वय पूँजी लगाते हैं और स्वय श्रम करके उत्पादन करते हैं। वे ही व्यवसाय के मालिक और मजदूर दोनो होते हैं। वे ही प्रबन्ध करते हैं अत पूँजी और श्रम की पृथक्ता को समाप्त कर दिया जाता है। श्रमिको को अपने श्रम के बदले मजदूरी मिलती है जबकि पूँजी पर लाभ मिलता है।

उत्पादक सहकारी उपक्रमो का आकार प्राय बडा होता है अत· व्यवस्था एव सचालन श्रमिक स्वय करते हैं। उपक्रमो का सगठन प्रजातान्त्रिक सिद्धातो के अनुरूप होता है।

उत्पादक सहकारिता के लाभ (Advantages)—(i) उत्पादक सहकारी उपक्रमो म पूँजीपति का लोप होता जाता है अत श्रमिक ही मालिक और मजदूर दोनो होते है। इससे **वर्ग सघर्ष (Class-Struggle) का समापन होता है।** (ii) **आत्म-निर्भरता और पारस्परिक सहयोग के कारण उत्पादन मे वृद्धि होती है।** (iii) **अप-व्यय पर नियन्त्रण रहता है** क्योकि व्यवसाय श्रमिको का अपना होता है। वे रुचि, उत्साह एव कठिन परिश्रम से कार्य करते हैं तथा हर प्रकार के अपव्यय पर नियन्त्रण रखते हैं। (iv) **आत्म-सम्मान की भावना** बढती है क्योकि वे सब उद्योग मे नौकर या दास नही बरन् मालिक होते हैं। वे स्वय प्रबन्धक होते हैं। (v) **प्रजातन्त्र सिद्धातों पर** आधारित प्रबन्ध मे सभी को समान अवसर मिलता है। (vi) **शोषण से मुक्ति** मिल जाती है इससे श्रमिको के आर्थिक हितों की रक्षा व अभिवृद्धि होती है।

उत्पादक सहकारी उपक्रमों के दोष (Disadvantages)—उत्पादक सहकारी उपक्रमो की अपनी अनेक सीमाएँ हैं। (i) **पूँजी की कमी रहती है** क्योकि श्रमिको के आर्थिक साधन सीमित होते हैं तथा उनकी साख कम होने से ऋण भी कम मिल पाता है। (ii) **प्रबन्ध मे अकुशलता** रहती है क्योकि श्रमिक स्वय न योग्य प्रबन्धक होते हैं और न उन्हे तकनीकी तथा वित्तीय जटिलता का भान होता है। इसके अतिरिक्त श्रमिकों मे प्रबन्ध मे बार-बार हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति से **अनुशासन** भग होता है और **प्रशासन ढीला** हो जाता है। (iii) प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे अपव्यय को बढावा मिलता है। (iv) कुछ **स्वार्थी तत्व** अपना प्रभुत्व जमाकर साधनो का दुरुपयोग करते हैं। भारत मे इसके अनेको उदाहरण हैं। इससे आन्दोलन को भारी धक्का पहुँचा है।

2 उपभोक्ता सहकारी उपक्रम (Consumers' Co-operative Enterprises)–मध्यस्थो के शोषण मे बचने के लिए उपभोक्ता अपना एक ऐच्छिक सगठन बना लेते हैं जिनमे वे स्वय पूँजी लगाते हैं और सहकारी उपक्रम के द्वारा सीधे उत्पादको या थोक व्यापारियो से वस्तुएँ खरीदी जाती हैं और उन्हे न्यायोचित भावो पर सदस्यो मे बेची जाती है। समिति को होने वाले लाभ को सदस्यो मे दो आधारो पर बाटा जाता है। पहला पूँजी पर लाभ तथा दूसरा उनके द्वारा की गई खरीद के मूल्य के अनुपात मे बोनस दिया जाता है। इस प्रकार उपभोक्ताओ को इन उपक्रमो से अनेक लाभ होते हैं।

उपभोक्ता सहकारी उपक्रमो से लाभ—(i) उपभोक्ताओ को मध्यस्थों (Middlemen) से छुटकारा मिल जाता है। (ii) वस्तुए अच्छी और सस्ती मिल जाती हैं। (iii) उपभोक्ताओ को दुहरा आर्थिक लाभ मिलता है। एक ओर वे मध्यस्थो के शोषण से बच जाते हैं और दूसरी ओर उन्हे पूँजी पर लाभ तथा खरीद पर बोनस मिलता है। (iv) प्रबन्धक अवैतनिक कर्मचारियो द्वारा होने पर प्रबन्ध का व्यय का भार नहीं उठाना पडता। (v) सभी सदस्य इस उपक्रम से माल खरीदते हैं अत विज्ञापन व्यय की बचत होती है। (vi) सरकार द्वारा भी आर्थिक सहायता व अनुदान का लाभ मिलता है।

उपभोक्ता सहकारी उपक्रमों के दोष—(i) प्रबन्ध मे अकुशलता रहती है क्योकि अवैतनिक प्रबन्ध पर्याप्त रुचि व उत्साह नही दिखाते। (ii) पूजी का अभाव रहता है क्योकि उपभोक्ताओ के साधन सीमित होते हैं। (iii) सहकारी समिति मे स्वार्थी तत्व सक्रिय होकर घोटाला करते हैं उसका सब सदस्यो पर दुष्प्रभाव पडता है।

3 साख सहकारी उपक्रम (Credit Co-operative Enterprises)—इस प्रकार की सहकारिता म ऋणी या निर्धन व्यक्ति अपनी ऋण आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए स्वय सहयोग (Self-Help) के सिद्धान्त पर सगठित होते हैं ताकि वे साहूकारो व पूँजीपतियो के शोषण से मुक्त हो सकें। इस प्रकार के सगठनो म व्यक्ति मिलकर साख-सहकारी समिति की स्थापना करते हैं जिसमे वे अशों के रूप मे पूँजी देते हैं। ये समितियाँ फिर केन्द्रीय सहकारी बैंको से ऋण प्राप्त करती हैं जिन पर ब्याज की दर व उचित भुगतान की शर्तें सुगम होती है।

ये समितियाँ दो प्रकार की होती हैं। ग्रामीण क्षेत्रो मे किसानो की साख आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए **ग्रामीण साख समितिया** (Rural Credit Societies) होती हैं जबकि शहरी क्षेत्र के लोगो की साख एव ऋण आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए **शहरी साख समितिया** (Urban Credit Societies) होती हैं।

इन समितियो का हमारे देश म बोलबाला है। सदस्यो मे ऋण वापिस भुगतान की प्रवृत्ति कम होने से अनेक ऐसी समितिया बन्द होती हैं या घाटा उठाती हैं। (i) इन समितियो के सदस्यो को कम ब्याज पर ऋण मिलता है व शोषण मे छुटकारा मिल जाता है। (ii) बचत की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। (iii) सदस्यो मे पारस्परिक सहयोग एव भ्रातृत्व की भावना प्रबल होती है। पर

इन सब समितियों के साधन सीमित होते है, ऋणों मे पक्षपात होता है, ईमानदार प्रबन्धकों के अभाव मे क्षति होती है।

अन्य सहकारी उपक्रम—इन तीन प्रमुख रूपों के अतिरिक्त आजकल दूसरे क्षेत्रों मे सहकारी उपक्रम पनप रहे हैं जैसे—

(1) गृह-निर्माण सहकारिता (Housing Co-operatives)—जिसके अन्तर्गत आवास-गृहहीन व्यक्ति मिलकर अपने गृह निर्माण के उद्देश्य से समिति बना लेते हैं। वे अपनी अंश पूँजी लगाते हैं तथा बाद मे सरकार या गृह निर्माण समितियों से ऋण लेकर अपने सदस्यों मे बाटती हैं। सदस्य इन ऋणों का उपयोग आवास-गृह निर्माण मे ही कर सकते हैं। ये आवास-गृह तब तक रहन माने जाते हैं जब तक कि ऋण का कुल भुगतान नहीं होता।

(2) परिवहन सहकारिता (Transport Co-operatives)—वे संस्थाएँ होती हैं जो परिवहन चालक पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने तथा पूँजीपतियों के शोषण से बचने के लिये निर्मित करते हैं। वे थोड़ी-थोड़ी अंश पूँजी जुटाते हैं तथा वित्तीय व्यवस्था ऋण लेकर करते हैं। ये संस्थाएँ बड़ तेजी से बढ़ रही हैं।

(3) क्रय-विक्रय सहकारिता—इसमे छोटे-छोटे उत्पादक अपनी उत्पत्ति को बाजार में उचित मूल्यों पर बेचने के लिये तथा मध्यस्थों के शोषण से बचने के लिये सहकारी उपक्रम स्थापित करते हैं। ये संस्थाएँ सदस्यों की आवश्यकता की वस्तुयें थोक व्यापारियों व उत्पादकों से सीधे खरीदकर कम मूल्यों पर उपलब्ध करती हैं जैसे किसानों को खाद, बीज, उपकरण आदि क्रय करने में सुविधा रहती है तथा अपनी उत्पत्ति को भी इन समितियों के माध्यम से बेचते हैं।

(4) अन्य—इसके अतिरिक्त सहकारी कृषि, चकबन्दी सहकारिता, सिंचाई में सहकारिता आदि की प्रवृत्ति भी है।

सहकारी उपक्रमों में प्रबन्ध का स्वरूप

सहकारिता मे उपक्रमों का प्रबन्ध प्रजातान्त्रिक सिद्धांतों पर आधारित होता है। सहकारी संस्था के सभी सदस्यों से एक सामूहिक साधारण सभा (General Assembly) का निर्माण होता है। इसमे प्रत्येक सदस्य को एक मत (One Member One Vote) की व्यवस्था होती है। चाहे किसी सदस्य की पूँजी दूसरे से अधिक क्या न हो। सदस्यता मे मतदान अधिकार निहित है पूँजी मत का आधार नहीं। साधारण सभा समिति सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय लेती है। आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करती है। प्रबन्ध-कार्यकारिणी का चुनाव करती है। वार्षिक हिसाव-किताब तथा वार्षिक प्रतिवेदन पर विचार एवं अनुमोदन करती है। इस प्रकार साधारण सभा सहकारी उपक्रमों मे सर्वोच्च सभा होती है जिनमे सब सदस्यों को समानता का अधिकार होता है। साधारण सभा वर्ष म एक बार मिलती है पर आवश्यकता पड़ने पर अधिक बार भी मिलती है।

साधारण सभा के नीचे उनके अपने सदस्यों मे से चुने हुए सदस्यों की एक

कार्यकारिणी समिति (Executive Committee) होती है जो साधारण सभा के निर्णयो को कार्यान्वित करती है तथा सहकारी उपक्रमो की व्यवस्था करती है। इसमे अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, सचिव, कोषाध्यक्ष व अन्य सदस्य होते है।

कार्यकारिणी के नीचे प्रबन्धक (Manager) होता है जो दिन-प्रतिदिन के कार्य का सचालन करता है तथा कार्यकारिणी के आदेशो को कार्यान्वित करता है। उसके अन्तर्गत कर्मचारी भी होते हैं। ये वैतनिक या अवैतनिक होते हैं।

सहकारी उपक्रमों के लाभ
(Advantages)

सहकारी उपक्रमो के अनेक लाभ हैं—(i) सहकारिता मे कमजोर एव निर्धन वर्ग के लोगो को पूँजीपतियो व मध्यस्थो के शोषण से मुक्ति मिलती है। (ii) वर्ग सघर्ष का समापन होता है क्योकि स्वामित्व एंव श्रम मे पृथकता नही होती। (iii) उत्पादन मे वृद्धि होती है क्योंकि अपने कार्य मे सभी श्रमिक उत्साह एव रुचि दिखाते हैं। कठोर परिश्रम करते हैं इससे उनका आर्थिक कल्याण होता है। (iv) श्रमिको व सदस्यो मे भ्रातृत्व भाव को बढावा मिलता है। (v) स्वय सहयोग की भावना से सभी व्यक्तियो को अपने आर्थिक समृद्धि के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है। (vi) सहकारी उपक्रम लाभ की भावना से प्रेरित न होकर सेवा भावना से प्रेरित होते हैं इससे समाज के लोगो मे त्याग, सहयोग की भावना बढती है। (vii) प्रजातान्त्रिक ढग से व्यवसाय का सचालन होने से उनमे समानता की भावना आती है और हीनता महसूस नही होती है। इससे उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है। (viii) औद्योगिक शाति को बढावा मिलता है।

सहकारी उपक्रमों के दोष

सहकारी उपक्रमो मे अनेक दोष भी दृष्टिगोचर होते हैं—(1) पूजी की अपर्याप्तता रहती है क्योकि साधनो की सीमितता व साख कम होने से पूँजी का अभाव उपक्रमो की प्रगति मे बाधा बनता है। (2) प्रबन्ध मे अकुशलता *रहती है क्योकि सामान्य सदस्या मे प्रबन्ध कुशलता तो होती नही पर अनावश्यक* हस्तक्षेप करते हैं, अनुशासन भग करते हैं तथा कभी-कभी ऐसे व्यक्तियो का चुनाव कर लेते हैं कि वे अपने स्वार्थों के लिए उपक्रमो के हितो की बलि दे देते हैं। (3) धोखाधडी से भोले-भाले सदस्यो को हानि उठानी पडती है। भारत मे ऐसे अनेको उदाहरण है। (4) सहकारी सस्थाओ मे राजनैतिक भ्रष्टाचार का भी बाहुल्य होता *जाता है क्योकि उसम हारे राजनीतिज्ञ आश्रय पाते हैं।* (5) अस्तित्व हमेशा अनिश्चित रहता है क्योकि सदस्यो म सहयोग से समाप्ति का निर्णय लिया जा सकता है।

निष्कर्ष—यद्यपि सहकारी उपक्रमो मे अर्थव्यवस्था के कमजोर व निर्धन वर्गों के आर्थिक कल्याण का स्वप्न निहित है पर सिद्धान्त एव व्यवहार मे अत्यधिक अन्तर होने से शोषण से मुक्ति तथा आर्थिक हितो की अभिवृद्धि होने के बजाय दुष्परिणाम भी दृष्टिगोचर होते हैं। भारत मे सहकारिता के विकास के लिये सरकार की ओर से काफी प्रयत्न हुए हैं पर यह ऐसा पौधा है जो भारतीय भूमि में अभि

तक अपनी जड पकड नहीं पाया है। जनता मे धोखा-धडी के कारण इन उपक्रमों की सदस्यता प्राप्त करने म सदिग्धता है। फिर भी अब धीरे धीरे इनका प्रसार तेजी से बढ रहा है। लोगो म शिक्षा, जागृति आर्थिक सतर्कता आदि से इन उपक्रमो का विकास सम्भव है।

संयुक्त क्षेत्र
(Joint Sector)

भारतीय मिश्रित अर्थव्यवस्था के आवरण म निजी क्षेत्र का आर्थिक सत्ता म केन्द्रीयकरण बढता जा रहा है अत आर्थिक सत्ता मे निजी क्षेत्र के बढते प्रभुत्व और केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए 1967 मे दत्त समिति (औद्योगिक लाइसेन्स जाच समिति) ने 'संयुक्त क्षेत्र" निर्माण पर बल दिया जिसका बाद म भारत क प्रमुख उद्योगपति जे आर डी टाटा ने भी समर्थन किया। वैसे तो 1956 की औद्योगिक नीति म भी 'संयुक्त क्षेत्र' की धारणा निहित है पर इस मूर्त रूप देने का श्रेय दत्त समिति की सिफारिश का जाता है।

संयुक्त क्षेत्र का अभिप्राय (Meaning of Joint Sector)—'संयुक्त क्षेत्र का अभिप्राय व्यावसायिक सगठन के उस स्वरूप से है जिसमे सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र दोनों का सह अस्तित्व पाया जाता है।" दूसरे शब्दो म, संयुक्त क्षेत्र उपक्रम म सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र का सह-अस्तित्व पूर्ण सहयोग और सामञ्जस्य होना है जिसके अन्तर्गत दोनो क्षेत्र पूँजी, प्रबन्ध अथवा साहस म सह भागिता और सहयोग करते हैं। सामान्यत संयुक्त क्षेत्र म पूँजीगत साधन सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओ अथवा सरकार द्वारा जुटाये जाते हैं और निजी क्षेत्र की प्रबंध दक्षता का लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता है। "इस प्रकार संयुक्त क्षेत्र आधुनिक मिश्रित अर्थव्यवस्था मे व्यावसायिक सगठन का वह नया स्वरूप है, जिसमे सार्वजनिक क्षेत्र की पूजी और निजी क्षेत्र की प्रबन्ध दक्षता का लाभप्रद सगम है किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि संयुक्त-क्षेत्र म पूँजी सरकार ही लगाये और प्रबन्ध निजी क्षेत्र म निहित हो। संयुक्त क्षेत्र के विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं जिनम मुख्य निम्न हैं—

(1) संयुक्त पूजी एव संयुक्त प्रबन्ध साझेदारी—सरकार द्वारा ऐसे उपक्रम की स्थापना किया जाना जिसम सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र दानो मिलकर पूँजी और प्रबन्ध में साझेदार बनें।

(2) सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को संयुक्त क्षेत्र मे बदलना—यह प्राय तब उपयुक्त है जब सार्वजनिक क्षेत्र कम्पनियों म निजी क्षेत्र की प्रबन्ध दक्षता क प्रयोग स अधिक लाभप्रद परिणामो की आशा हो।

(3) निजी क्षेत्र के बडे औद्योगिक घरानो की कम्पनियों में विनियोजित सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओं के ऋणों को अंश पूजी मे परिवर्तन कर कम्पनियो म स्वामित्व एव प्रबन्ध सचालन पर सार्वजनिक हित म प्रभुत्व जमाना भी संयुक्त क्षेत्र का लोकप्रिय स्वरूप है।

(4) औद्योगिक विकास निगमो को प्रदत्त लाइसेंसो के अन्तर्गत राज्यो मे औद्योगिक इकाइया स्थापित करने म निजी क्षेत्र द्वारा पूँजी एव प्रबन्ध मे भागीदारिता भी राज्यो म सयुक्त क्षेत्र निर्माण का अच्छा स्वरूप है।

(5) दो अलग-अलग राज्यो की सार्वजनिक क्षेत्र इकाइयो के सयुक्त साहस एव प्रबन्ध से स्थापित औद्योगिक इकाई भी सयुक्त क्षेत्र की श्रेणी मे गिने जा सकते हैं किन्तु कुछ विद्वान् इसे सार्वजनिक क्षेत्र इकाई ही मानते हैं।

सयुक्त क्षेत्र के निर्माण के उद्देश्य एव लाभ (Objectives and Advantages of Joint Sector)—सयुक्त क्षेत्र निर्माण के अनेक उद्देश्य हैं जिनमे कतिपय निम्न हैं—

(1) निजी क्षेत्र द्वारा आर्थिक सत्ता पर केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पर रोक लगाना।

(2) दोनो क्षेत्रो मे सहयोग, साझेदारी एव सहभागिता का यथासम्भव लाभ उठाना,

(3) निजी क्षेत्र की क्रियाओ पर सामाजिक नियन्त्रण का यह सर्वाधिक व्यावहारिक तरीका है ताकि बिना राष्ट्रीयकरण का मुआवजा चुकाए औद्योगिक उत्पादन को राष्ट्रहित मे बढाया जा सकता है।

(4) सयुक्त पूँजी और सयुक्त प्रबन्ध व्यवस्था से वित्तीय साधनों की अभिवृद्धि और प्रबन्ध मे कुशलता लाना।

(5) क्षेत्रीय विकास और संतुलित विकास मे निजी क्षेत्र का यथासम्भव पूर्ण प्रयोग करना।

(6) औद्योगीकरण मे तीव्र प्रगति मे निजी क्षेत्र की योग्यता एव दक्षता का राष्ट्रीय हित म प्रयोग करना।

(7) निजी क्षेत्र मे बडे औद्योगिक घरानो की कम्पनियो मे विनियोजित सार्वजनिक वित्त सस्थाओ के ऋणो को पूँजी मे बदलकर उनकी आर्थिक सत्ता को विकेन्द्रित करना।

(8) निजी क्षेत्र के साधनहीन किन्तु प्रबन्ध-दक्षता वाले व्यक्तियो की उद्यमशीलता का समुचित उपयोग करना।

(9) निजी क्षेत्र की एकाधिकारी एव प्रतिबन्धात्मक शक्तियो पर प्रभावी नियत्रण करना ताकि उनके दुष्प्रभावो का निराकरण हो।

(10) औद्योगिक क्षेत्र म प्रजातान्त्रिक समाजवाद की स्थापना करना आदि हैं।

सयुक्त क्षेत्र और सरकारी नीति—औद्योगिक क्षेत्र मे निजी क्षेत्र की आर्थिक सत्ता केन्द्रीयकरण को कम करने तथा रोकने के उद्देश्य से 1970 मे ही नई लाईसेंस नीति के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था के भारी विनियोग वाले क्षेत्रो और "प्रमुख

क्षेत्र" (Core Sector) म संयुक्त क्षेत्र के विचार को मूर्त रूप देने के लिए सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओ को अपने भविष्य के ऋणो को अ श-पूँजी मे परिवर्तित करने का अधिकार प्रदान किया है और भूतकाल मे दिये गये ऋणों के भुगतान मे गडबडी की अवस्था मे पुराने ऋणो को भी अ श-पूजी म बदलने की व्यवस्था की गई। 1973 की लाइसेंस नीति मे सरकार ने संयुक्त क्षेत्र के सम्बन्ध मे निम्न नीति निर्देश रखे थे—

1 संयुक्त क्षेत्र, सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र का जनहित मे सामाजिक नियन्त्रण एव सहभागिता का प्रयास है।

2 संयुक्त क्षेत्र नए और मध्यम उद्यमियो को प्राथमिकता वाले उद्योगो म उनकी कुशलता का सवर्द्धनात्मक और मार्गदर्शक उपाय हैं।

3 संयुक्त क्षेत्र को उन क्षेत्रो मे लागू नही किया जायगा जिनमे बडे घराने व प्रमुत्व सम्पन्न विदेशी कम्पनियो का प्रवेश जनहित म वर्जित है।

4. संयुक्त क्षेत्र म सरकार प्रमुख स्वामी के रूप मे उद्योग के नीति निर्धारण, प्रबन्ध एव सचालन मे प्रमुख भूमिका निभायेगी।

स्पष्ट है कि संयुक्त क्षेत्र मुख्य रूप से निजी क्षेत्र में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने तथा उन्हें सरकारी प्रभावी नियन्त्रण में लाने का प्रयास है। इसमे नवोदित उद्यमियो की प्रबन्ध-दक्षता का जनहित मे प्रयोग करने तथा नए एवं मध्यम साहसियों को प्रोत्साहित करने की उचित व्यवस्था है।

मजदूर क्षेत्र (Worker's Sector)—आपात स्थिति की घोषणा के बाद प्रधानमन्त्री द्वारा घोषित 20–सूत्रीय कार्यक्रम के कारण भारत मे 'मजदूर क्षेत्र' की धारणा सामने आई थी जिसके अन्तर्गत श्रमिको को औद्योगिक उपक्रम मे स्वामित्व एव प्रबन्ध व्यवस्था के लिए निजी क्षेत्र अथवा सार्वजनिक क्षेत्र के साथ सह-अस्तित्व माना गया। औद्योगिक शांति, मालिक और मजदूरो म मधुर सम्बन्धो और श्रमिको को उद्योग के सचालन व उसकी नीति-निर्धारण मे भागीदार बनाने की यह धारणा काफी लोकप्रियता के पथ पर अग्रसर है। अब देखना है कि इस धारणा को कैसे मूर्त-रूप दिया जाता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 एक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी या आधुनिक कॉरपोरेशन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए तथा आधुनिक युग म उनकी लोकप्रियता के कारण बताइए।

(संकेत—प्रारम्भ मे संयुक्त पूँजी कम्पनी का अर्थ व विशेषताएँ बताइए, फिर उनके लाभ के कारण उनकी लोकप्रियता सिद्ध कीजिये।)

2 सार्वजनिक उपक्रमो की स्थापना का क्या उद्देश्य होता है ? उनके संगठन के क्या क्या रूप हैं तथा उनके सापेक्षिक लाभो व हानियो का उल्लेख कीजिए।

(सकेत—सार्वजनिक उपक्रम का अर्थ बताइये फिर उनके उद्देश्य (स्थापना के कारण) दीजिये, तीसरे भाग मे सक्षेप मे उनकी सगठन सरचना देकर लाभ हानि को सक्षेप मे बताना है उसके लाभ ही उनकी लोकप्रियता के कारण हैं ।)

3 सहकारी उपक्रमो की स्थापना किस प्रकार पूंजीवादी शोषण से मुक्ति दिलाने मे सहायक होती है ?

अथवा

सहकारी उपक्रमो के मुख्य स्वरूपो तथा उनके सापेक्षिक गुण-दोषो (लाभ-हानि) का उल्लेख कीजिये ।

(सकेत—सहकारी उपक्रमो का अर्थ, उनके मुख्य रूप तथा उनके लाभ-हानि का सक्षेप म समझाइये । विषय सामग्री शीर्षकानुसार दी जानी चाहिये ।)

4. व्यावसायिक सगठनो मे सबसे अधिक उपयुक्त कौनसा सगठन है और क्यो ?

(सकेत—प्रारम्भ मे सभी प्रकार के व्यावसायिक सगठनो का सक्षिप्त विवरण दीजिए तथा दूसरे सगठनो के दोषो की ओर सकेत दीजिए ताकि सार्वजनिक उपक्रमो की श्रेष्ठता सिद्ध हो जाय ।)

5. सार्वजनिक उपक्रम किसे कहते हैं ? इनके गुण व दोष समझाइये ।

(Raj I yr. T D. C 1974)

अथवा

सार्वजनिक उपक्रम क्या हैं, इनके लाभ-हानियो का उल्लेख कीजिए ।

(I yr. T. D. C. Collegiate 1973)

(संकेत—अर्थ बताकर दूसरे भाग मे गुण-लाभ बताना है तीसरे भाग मे सम्भावित दोष बताकर निष्कर्ष दीजिए ।)

6. एक आधुनिक निगम की विशेषताओ का वर्णन कीजिए । व्यवसाय सगठन मे इस रूप के क्या प्रमुख लाभ हैं ? (I yr. T. D. C. Supple 1973)

(सकेत—आधुनिक कम्पनी बनाम निगम की विशेषता बताकर दूसरे भाग मे उसके लाभो का विवरण दीजिए ।)

7. टिप्पणी—सयुक्त क्षेत्र तथा मजदूर क्षेत्र ।

8. सयुक्त पूंजी कम्पनी क्या है ? क्या आप व्यवसाय संगठन के इस रूप को साझेदारी से श्रेष्ठतर समझते हैं ?

(सकेत—प्रथम भाग मे सयुक्त पूंजी वाली कम्पनी का अर्थ एव विशेषताएँ बताकर दूसरे भाग मे साझेदारी की तुलना म इसे बेहतर बताना है ।)

24

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अथवा पूंजीवाद

(Capitalist Economic System or Capitalism)

"आर्थिक प्रणाली का अभिप्राय अर्थव्यवस्था की उस वैधानिक एव सस्थागत सरचना से है जिसके अतर्गत उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण एव राजस्व आदि से सम्बन्धित आर्थिक क्रियाएं सम्पादित की जाती हैं ।" आर्थिक प्रणाली का स्वरूप राज्य के हस्तक्षेप की मात्रा, उसकी सीमा तथा सामाजिक परम्पराओ पर निर्भर करता है । इस प्रकार आर्थिक प्रणाली का सम्बन्ध किसी समाज मे समस्त आर्थिक क्रियाओ के सगठन से होता है । आज विश्व के विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की आर्थिक प्रणालिया प्रचलित है । रूस और चीन मे समाजवादी एव साम्यवादी आर्थिक प्रणालियां है, अमेरिका, फास व इगलैण्ड मे पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली है तो भारत म मिश्रित अर्थव्यवस्था है । इन प्रमुख आर्थिक प्रणालियो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं—

1. पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अथवा पूंजीवादी प्रणाली

(Capitalist Economy or Capitalist System)

यह आर्थिक सगठन की अत्यन्त प्राचीन प्रणाली है । इगलैड मे औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इसका जन्म हुआ । समय गुजरने के साथ इसम भारी धक्के व झटके लगे तथा उसमे नये परिवर्तनो व समायोजनो की प्रवृत्ति बढी । आज विशुद्ध पूजीवादी (Pure Capitalism) ससार म कही नही है । आज वह अपने परिष्कृत रूप मे विश्व के समृद्ध राष्ट्रो अमेरिका, इगलैंड, फ्रास, जापान व अन्य देशो म विद्यमान है ।

पूजीवाद का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Capitalism)—पूजीवादी अर्थव्यवस्था वह अर्थव्यवस्था है जिसमे उत्पत्ति एव

वितरण के प्रमुख साधनो पर निजी स्वामित्व होता है और निजी व्यक्ति उन साधनो को प्रतिस्पर्धा के आधार पर अपने निजी लाभ के लिए प्रयुक्त करते हैं। लूक्स व हूटस (Louks & Hoots) के शब्दो म 'पूजीवाद आर्थिक सगठन की एक ऐसी प्रणाली है जिसम निजी सम्पत्ति पाई जाती है और मनुष्यकृत तथा प्राकृतिक पूजी का प्रयोग निजी लाभ के लिये किया जाता है। इसी प्रकार आधुनिक पूँजीवाद को डी एम राईट (D M Wright) ने इस प्रकार परिभाषित किया है "पूजीवाद एक ऐसी प्रणाली है जिसमे औसत तौर पर आर्थिक जीवन का अधिकाश भाग विशेषतया विशुद्ध नया विनियोग निजी अर्थात् गैर सरकारी इकाइयो द्वारा सक्रिय तथा पर्याप्त स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा की दशाओ के अन्तगत लाभ की आशा की प्रेरणा में किया जाता है।' इस प्रकार हम देखते है कि पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली म खेता, कारखानो व व्यवसायो पर निजी स्वामित्व होता है। उत्पादन के साधना पर वे लोग काम करते है जो उसके स्वामी नही होते। पूजीवाद मे ससार स्नेह स नहीं वरन लाभ की प्रेरणा पर घूमता है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था पर सरकार का बहुत कम नियन्त्रण एव हस्तक्षेप होता है। अत इसे अनियोजित अर्थव्यवस्था (Un planned Economy) भी कहा जाता है।

पूंजीवादी अथवा अनियोजित अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषतायें
(Main Characteristics of Capitalist or Un planned Economy)

1 **निजी सम्पत्ति अधिकार (Right of Private Property)**—पूँजीवाद की प्रमुख विशेषता निजी सम्पत्ति का अस्तित्व है। प्रत्येक व्यक्ति को (i) निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार है (ii) सम्पत्ति के प्रयोग मे पूर्ण स्वतन्त्रता होती है तथा (iii) मृत्यु के पश्चात् अपनी सम्पत्ति को अपने उत्तराधिकारियों को देने का अधिकार (Right of Inheritance) होता है।

2 **आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Freedom)**—पूजीवाद की दूसरी प्रमुख विशेषता आर्थिक स्वतन्त्रता है जिसमे लोगो को अपनी इच्छानुसार (i) व्यावसायिक स्वतन्त्रता होती है, (ii) उन्ह सौदा करने की या किसी भी प्रकार का आर्थिक प्रसविदा करने की स्वतन्त्रता होती है और (iii) वे अपनी निजी सम्पत्ति को अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने को स्वतन्त्र होते है। प्रो रोबर्टसन के अनुसार आर्थिक स्वतन्त्रता मे (i) व्यावसायिक स्वतन्त्रता (ii) प्रसविदा स्वतन्त्रता तथा (iii) चयन की स्वतन्त्रता होती है। आधुनिक पूँजीवाद म व्यवसाय की स्वतन्त्रता व सम्पत्ति के प्रयोग की स्वतन्त्रता पर सरकार का न्यूनाधिक हस्तक्षेप बढ गया है।

3 **उपभोक्ता की सार्वभौमिकता (Consumer's Sovereignty)**—यह पूँजीवाद की तीसरी विशेषता है। उपभोक्ता को वस्तुओ के चयन की स्वतन्त्रता होती है वे चाह तो उपभोग करें, चाह जो कीमत दें, चाह जितनी मात्रा उपभोग कर। अत उत्पादक उपभोक्ताओ की इच्छानुसार उत्पादन करते हैं। अत उत्पादन एव उपभोग म उपभोक्ताओ का प्रभुत्व रहता है।

4 निजी लाभ उद्देश्य (Private Profit Motive)—निजी लाभ का उद्देश्य पूंजीवादी संस्थाओं का हृदय तथा आर्थिक क्रियाओं का प्रेरणा-स्रोत होता है। अर्थव्यवस्था मे आर्थिक क्रियाओं का संचालन सामाजिक हित के उद्देश्य से नही, वरन् निजी लाभोपार्जन के लिये होता है। जान स्ट्रेची के शब्दो म "लाभ वह धुरी है, जिसके चारों ओर स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था परिक्रमा करती है। लाभ ही पूंजीवादी उत्पादन का एकमात्र आकर्षण है।"

5 मूल्य यन्त्र (Price Mechanism)—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे सभी आर्थिक क्रियाओं का सचालन, उनमे परस्पर समन्वय एव नियन्त्रण किसी केन्द्रीय सत्ता द्वारा नही होकर मूल्य-यन्त्र (Price Mechanism) द्वारा होता है। क्या उत्पादन किया जाय ? कैसे उत्पादन किया जाय ? वितरण कैसे और किन मे हो आदि कार्यों को मूल्य-यन्त्र द्वारा ही पूरा किया जाता है। यही नहीं, बचत, विनियोग एव उपभोग भी मूल्य-यन्त्र से शासित होते हैं।

6 अन्य विशेषतायें (Other Chracteristics)—उपर्युक्त पाच प्रमुख विशेषताओं के अतिरिक्त पूंजीवाद की कुछ गौण विशेषताएँ भी है (i) पूंजीवाद में प्रतिस्पर्धा और सयोगीकरण सबसी सहगामी होते हैं, जहां एक ओर उत्पादक, क्रेता, विक्रेता तथा श्रमिक आपस मे प्रतिस्पर्धा करते हैं, वहा दूसरी ओर उनमे सगठन की प्रवृत्ति भी प्रबल होती है, ताकि अधिकतम निजी लाभ सम्भव हो सके। (ii) समाज के विभाजन एवं वर्ग-संघर्ष को बढावा मिलता है। समाज दो बड़े वर्गों—पूंजीपति एवं श्रमिक अथवा निर्धन और अमीर मे बट जाता है और उनमे वर्ग-सघर्ष पनपता है (iii) आर्थिक विषमतायें अथवा असमानतायें बढती हैं, धन और आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण कुछ ही हाथो मे हो जाता है तथा समाज का एक बहुत बडा भाग साधनहीन हो जाता है। (iv) जोखिम और नियन्त्रण साथ-साथ चलते हैं। यह पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। जो व्यक्ति व्यवसाय की जोखिम उठाता है, वही उसका नियन्त्रण करता है। यह पूंजीवाद का स्वर्णिम नियम (Golden Rule) है। (v) व्यापार चक्रों की प्रवृत्ति रहती है पूंजीवादी अर्थव्यवस्था नियमित रूप से मन्दी, तेजी अथवा अति-उत्पादन (Over Production) और कम उत्पादन (Under-Production) के दौर से गुजरती रहती है (vi) साहसी का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वह उत्पादन प्रणाली की आत्मा (Soul) होता है। वह जोखिम उठाता है और नवीन प्रवर्तनो को जन्म देता है (vii) पूंजीवाद मे अपने विनाश के बीज विद्यमान होते हैं अर्थात् पूंजीवाद अपने विनाश के लिये स्वय ही पृष्ठभूमि तैयार करता है। उसकी प्रकृति आत्मघाती (Self-destructive) है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था या अनियोजित अर्थव्यवस्था के लाभ या गुण (उपलब्धियां)

(Advantages or Merits of Capitalist Un-planned Economy)

पूंजीवाद मे प्रतिस्पर्धा, निजी सम्पत्ति का अधिकार, निजी लाभ आदि

ऐसे तत्व है, जिनके कारण उत्पादन म कुशलता ग्राती है तकनीकी प्रगति होती है तथा व्यक्ति को पूर्ण रूप से विकास करन का अवसर मिलता है। पूँजीवाद के मुख्य लाभ या गुण इस प्रकार हैं—

1 उत्पादन कुशलता—निजी लाभ की प्रेरणा, बाजार म पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा अत्यधिक सम्पत्ति सचय की इच्छा के कारण प्रत्यक उत्पादक कम स कम लागत पर अत्यधिक उत्पादन करना चाहता है। (i) साधनो का अनुकूलतम सयोग बैठाया जाता है, (ii) अपव्यय पर नियन्त्रण रखा जाता है, (iii) व्यक्तिगत देखभाल रखी जाती है, नवीनतम मशीनो का प्रयोग किया जाता है, इससे उत्पादन के क्षत्र मे चतुर्दिक प्रगति होती है। इससे उत्पादको, उपभोक्ताओ व श्रमिको सभी को लाभ रहता है।

2 व्यक्तित्व का विकास—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था म पूर्ण प्रतियोगिता के कारण योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) होती है। अत प्रत्यक व्यक्ति कडे प्रयत्न करता है, अपनी योग्यता बढाता है इससे लोगो को स्वतन्त्र आर्थिक वातावरण म अपना सर्वांगीण विकास करने का अवसर मिलता है। उनको योग्यता के अनुसार ही प्रतिफल भी मिलता है।

3 साधनों का सर्वोत्तम उपयोग—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम लाभ की चेष्टा करता है। इसके लिये उत्पादन के साधनो मे अनुकूलतम सयोग बैठाता है, अपव्यय को रोकता है, कम उपयोगी साधनो के स्थान पर अधिक उपयोगी साधनो का सयोग बैठाता है। उपलब्ध साधनो की मितव्ययता करता है। इससे साधनो का सर्वोत्तम उपयोग सम्भव है।

4 स्वय सचालितता—अर्थव्यवस्था के सचालन मे मूल्य यन्त्र (Price-Mechanism) की अदृश्य शक्ति का हाथ रहता है। मूल्य यन्त्र के कारण अर्थव्यवस्था म साधनो का वितरण समायोजित होता रहता है। किसी भी प्रकार की गडबडी को ठीक करने के लिये किसी केन्द्रीय निर्देशन की आवश्यकता नही होती। पर वास्तव मे स्वय सचालितता व्यवहार म दृष्टिगोचर नही होती। इसी कारण तो तेजी मन्दी आती है।

5 तकनीकी प्रगति—पूँजीवाद और तकनीकी प्रगति म घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्रतियोगी उत्पादक आपसी प्रतिस्पर्धा म अपनी वस्तुओ को कम से कम लागत म उत्पादन की होड मे नई नई उत्पादन विधियो की खोज व अनुसधान पर व्यय करते हैं। इससे तकनीकी प्रगति (Technological Progress) होती है।

6 आर्थिक समृद्धि एव पूँजी सचय को प्रोत्साहन—तकनीकी प्रगति, उत्पादन कुशलता, व्यक्तित्व के विकास तथा साधनो के सर्वोत्तम उपयोग के कारण अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रो मे समृद्धि बढती है। लोगो की आय बढने से बचत और पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है। लोगो के जीवन स्तर मे सुधार होता है। आज पाश्चात्य राष्ट्रों मे अभूतपूर्व सम्पन्नता तथा उच्च जीवन स्तर पूँजीवाद का परिणाम है।

7. लोचपूर्ण एवं प्रावैगिक प्रभाव—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में बदली हुई परिस्थितियों में ढालने की क्षमता होती है तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तन का गुण होता है। इस कारण पूंजीवाद आज विश्व के बहुत से देशों में अपने परिष्कृत रूप में फल-फूल रहा है।

8. आर्थिक स्वतन्त्रता एवं प्रजातान्त्रिक स्वरूप—पूंजीवाद में लोगों को आर्थिक स्वतन्त्रता होती है, उत्पादक चाहे तो उत्पादन करे, उपभोक्ता उपभोग में सार्वभौमिक होते हैं। जो व्यक्ति जिस क्षेत्र में कार्य करना चाहे उसके चयन की स्वतन्त्रता होती है। पूंजीवाद में उपभोक्ता सम्राट और उत्पादक सेवक होता है। व्यक्तियों को अपने हितों एवं रुचि के अनुकूल अपने श्रम व सम्पत्ति के प्रयोग का अधिकार प्रजातान्त्रिक व्यवस्था प्रदान करती है।

9. अधिकतम संतुष्टि एवं उच्च जीवन-स्तर—उपभोक्ताओं को उपभोग में स्वतन्त्रता से वे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकते हैं। उत्पादन के क्षेत्र में प्रगति निजी लाभ की दृष्टि से होने के कारण उत्पादन वृद्धि व आर्थिक समृद्धि से लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा होता है।

पूंजीवाद अथवा अनियोजित अर्थव्यवस्था के दोष (अवगुण) अथवा कमियां

(Defects or Demerits of Capitalist or Unplanned Economies)

यद्यपि पूंजीवाद में अनेक गुण बताये जाते हैं पर इन गुणों की वास्तविकता-व्यवहार में नहीं होती, जिसके कारण पूंजीवाद में आत्मघाती प्रवृत्ति है। पूंजीवाद के इन दोषों के कारण ही समाजवाद का मार्ग प्रशस्त हुआ। मुख्य दोष इस प्रकार हैं—

1. आर्थिक क्रियाओं में सामजस्य का अभाव—पूंजीवाद में अनेक उत्पादक, व्यापारी एवं उपभोक्ता स्वतन्त्र रूप में अपने निजी लाभ के लिए कार्य करते हैं, उनके परस्पर विरोधी निर्णयों में सामजस्य बैठाने के लिए कोई केन्द्रीय शक्ति या सत्ता नहीं होती, जिसके कारण अर्थव्यवस्था में असन्तुलन उत्पन्न होता है और गड़बड़ फैलती है। प्रो. लरनर (Lerner) ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की तुलना एक ऐसी ड्राइवर-हीन मोटरगाड़ी से की है, जिसमें प्रत्येक यात्री वाहन को अपनी ओर ले जाने का प्रयास करता है।

2. व्यापार चक्र एवं आर्थिक अस्थायित्व—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं में सामजस्य का अभाव होने से गलत अनुमान और गलत निर्णयों की सम्भावना रहती है, जिससे प्रायः अति उत्पादन और कम उत्पादन के कारण आर्थिक मन्दी (Depression) और तेजी (Boom) का सृजन होता है। व्यापार चक्रों के कारण देश में अनिश्चितता और अस्थिरता का वातावरण पनपता है। आर्थिक मन्दी अर्थव्यवस्था की प्रगति को अवरुद्ध कर देती है। बेरोजगारी, भुखमरी और सामाजिक विद्रोह भड़कता है जिससे समूचा आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। 1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

3 वर्ग-संघर्ष—पूँजीवाद में सम्पूर्ण समाज दो बड़े वर्गों—पूंजीपति एवं गरीब अथवा मालिक एवं मजदूर में विभाजित हो जाता है। उनके हितों में पारस्परिक विरोध वर्ग संघर्ष का कारण बनता है जो अन्ततः औद्योगिक अशांति एवं खूनी क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है।

4 आर्थिक असमानता—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति की असमानता तथा उसका स्वतन्त्र उपयोग अवसरों की असमानता और राष्ट्रीय आय के वितरण में असमानता को जन्म देता है। उत्तराधिकार का अधिकार तथा स्वतन्त्र मूल्य यन्त्र सम्पत्ति और धन के वितरण में असमानता को और बढ़ाते हैं जिससे समाज में उत्पादन एवं वितरण का सम्पूर्ण ढांचा ही बिगड़ जाता है। देश की सारी समृद्धि कुछ ही हाथों में केन्द्रित हो जाती है। धनवान अधिक धनवान और गरीब और अधिक गरीब बनते जाते हैं। प्रो. कोल के अनुसार "उद्योग के मन्दिर में पुजारी तथा दासों में जमीन आसमान का अन्तर पाया जाता है, एक ओर रहने के लिए गगनचुम्बी अट्टालिकाएं तो दूसरी ओर खुले आसमान के नीचे शरण लेना पड़ती है। साधन सम्पन्न अधिक खाने से मरते हैं, तो गरीब भूख से तड़पते हैं।'

5 सामाजिक कल्याण एवं अधिकतम सामाजिक संतुष्टि की अनुपस्थिति—पूंजीवाद में निजी लाभ के उद्देश्य की पूर्ति में सामाजिक कल्याण की बलि दे दी जाती है। देश में साधनों का प्रयोग चन्द धनिकों के लिए विलासिता की वस्तुओं के निर्माण में होता है, जबकि निर्धनों की अनिवार्यता की उपेक्षा की जाती है। धनिकों को बहुमूल्य शराब, भवन व अच्छे वस्त्र मिलते हैं, पर गरीबों को रोटी भी नसीब नहीं हो पाती है। अतः पूंजीवाद में सामाजिक कल्याण तथा अधिकतम सन्तुष्टि केवल मिथ्या धारणा है।

6. बेरोजगारी एवं सामाजिक असुरक्षा—पूँजीवाद में व्यापार चक्रों के कारण बेकारी का भय सदैव रहता है। श्रमिक साधनहीन और पूँजीपतियों पर आश्रित होते हैं। धन का असमान वितरण होने से उनके जीवन में सदैव असुरक्षा रहती है क्योंकि वृद्धावस्था, दुर्घटना, मृत्यु, बीमारी एवं बेरोजगारी के समय उनकी आय का स्रोत समाप्त हो जाता है उस समय उन्हें आजीविका के भी लाले पड़ जाते हैं।

7 शोषण का बोलबाला—पूंजीवाद में एकाधिकारी प्रवृत्तियां पनपती हैं उसका दुष्परिणाम यह होता है कि उद्योगपति उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं। पूंजीपति अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये श्रमिकों को कम मजदूरी देते हैं, बच्चों व स्त्रियों को अधिक समय काम कराके कम मजदूरी देते हैं इस प्रकार पूंजीपति उपभोक्ताओं व श्रमिकों की विवशता का लाभ उठाकर उनका शोषण करते हैं।

8 प्रतियोगिता से अपव्यय—गला-घोट प्रतियोगिता (Cut Throat Competition) में साधनों का अपव्यय होता है। विज्ञापन, विक्रयकला आदि पर बड़ी मात्रा में व्यय किया जाता है जिसका भार अन्ततः लागत के रूप में उपभोक्ताओं को उठाना पड़ता है। यह सामाजिक दृष्टि से साधनों का अपव्यय ही है।

9. एकाधिकारी प्रवृत्तियां प्रबल होती हैं। जहां एक ओर प्रतिस्पर्द्धा होती है वहां दूसरी ओर कुछ बडे उत्पादक या तो प्रतिस्पर्द्धियों को समाप्त कर देते हैं या उनको एकाधिकारी संघों में मिलाकर बाजार पर पूर्ण नियन्त्रण कर लेते हैं, इससे कृत्रिम कमी व शोषण का मार्ग प्रशस्त होता है। मूल्य-यन्त्र का क्रियान्वयन उपयुक्त नहीं रहता और अर्थव्यवस्था की स्वयचालितता मिथ्या सिद्ध होती है।

10 साधनों का दुरुपयोग एवं दूरदर्शिता का अभाव—पूंजीवाद में तात्कालिक निजी लाभ को प्राथमिकता दी जाती है, जिससे स्वल्प साधनों को अधिकतम उत्पादन में या दीर्घकालीन विकास में प्रयुक्त नहीं किया जाता। दीर्घकालीन बड़ी योजनाओं की अवहेलना की जाती है। सामाजिक पूंजी–सड़कें, नहरें, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के अभाव में भावी विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

11. अन-अर्जित आय और सामाजिक परजीविता (Parasitism)—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के कारण तथा उत्तराधिकार के अधिकार के कारण, समाज में कुछ व्यक्तियों को बिना परिश्रम के ही आय प्राप्त होती है जैसे जमींदारों को लगान, पूंजीपतियों को ब्याज व किराया आदि। इससे वे पीढ़ी दर पीढ़ी दूसरों के श्रम पर जीते हैं। ये व्यक्ति समाज के लिये "गेहूं पर घुन" के समान हैं। समाज ऐसे व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रहता है जो दूसरों के खून-पसीने पर जीते हैं।

12 प्रचुरता में निर्धनता (Poverty in midst of Plenty)—पूंजीवाद में प्रचुरता में निर्धनता का विरोधाभास पनपता है। जब अर्थव्यवस्था में अति उत्पादन के कारण बेरोजगारी फैलती है तो श्रमिकों की क्रय-शक्ति समाप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में वस्तुएं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हुए भी क्रय-शक्ति के अभाव में उनका उपभोग सम्भव नहीं होता जैसे आर्थिक मन्दी के समय कोयले के ढेर पड़े हुए थे पर क्रय शक्ति के अभाव में बच्चे ठंड से ठिठुर रहे थे, खाद्यान्न के ढेर पर लोग भूखों मर रहे थे। यह विरोधाभास पूंजीवाद का सबसे बड़ा अवगुण है।

पूंजीवाद का आधुनिक स्वरूप
(Modern Capitalism)

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उपर्युक्त अनेक दोषों के कारण उसमें समय-समय पर कुछ ऐसे परिवर्तनों का जन्म हुआ, जिसके कारण पूंजीवाद अब भी अपने परिष्कृत रूप में जीवित है। 19वीं शताब्दी का विशुद्ध पूंजीवाद (Pure Capitalism) तो अब विश्व में कहीं नहीं रहा। उसमें अनेक संशोधन हो चुके हैं और इन संशोधनों के कारण ही पूंजीवाद अब भी अमेरिका, इंगलैंड व पाश्चात्य देशों में जीवित है। अब राज्य का हस्तक्षेप बढ़ गया है। पूंजीवाद अब नियन्त्रित पूंजीवाद है।

आधुनिक पूंजीवाद की मुख्य-मुख्य विशेषताएं
(Characteristics of Modern Capitalism)

सरकारी हस्तक्षेप, राजनैतिक एवं आर्थिक जागरूकता तथा समाजवाद की

बढती प्रवृत्तियो के कारण अब पूंजीवाद अपने परिष्कृत रूप मे पनप रहा है। इसकी प्रमुख विशेषताए इस प्रकार हैं—

(1) बाजार की अपूर्णतायें (Market Imperfections) बढ गई हैं। पूंजीवाद म अब पूर्ण-प्रतियोगिता दृष्टिगोचर नही होती। व्यवहार मे क्रेता और विक्रेता दोनो पक्षो म अपूर्णताए हैं। क्रेता पक्ष मे एक क्रेता (Monopsony) द्वै-क्रेता (Duopsony) अथवा कुछ क्रेता (Oligopsony) हैं तो दूसरी ओर विक्रेता पक्ष म भी एकाधिकारी (Monopoly) द्वै-विक्रेता (Duopoly) अथवा अल्प-विक्रेताधिकार (Oligopoly) की दशाए पाई जाती हैं। बाजार मे वस्तुविभेद की नीति विज्ञापन व पारस्परिक गठबन्धन की प्रवृत्तिया प्रबल होने से पूर्ण-प्रतियोगिता अदृश्य हो गई है।

(2) आधुनिक निगम व एकीकरण (Mergers) की प्रमुखता—आधुनिक बडे पैमाने की उत्पत्ति, तकनीकी ज्ञान के बढते प्रयोग व कुशल प्रबन्ध के लिए आधुनिक निगमो (Modern Corporations) की प्रधानता पूंजीवाद की प्रमुख विशेषता बन गई है, इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि एक ओर एकाधिकारी प्रवृत्तिया बढ रही हैं वहा दूसरी ओर प्रबन्ध एव स्वामित्व के बीच खाई बढती जा रही है। छोटे-छोटे निगम बडे-बडे निगमो मे मिल जाते है जिससे बाजार म कीमतें स्वतन्त्र रूप से निर्धारित न होकर गठबन्धनो के द्वारा निर्धारित होती हैं। इसका क्रेताओ पर बुरा प्रभाव पडता है।

(3) श्रमिक सघो का प्रभुत्व बढ रहा है—राजनैतिक जागृति और आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज के कारण आधुनिक पूंजीवाद मे श्रमिक सघो (Trade Unions) का प्रभुत्व बढ गया है। सुदृढ श्रम सगठन अपने सदस्यो को उचित मजदूरी दिलाने तथा उनको पूंजीवादी तत्वो के शोषण से मुक्त करने मे काफी सफल हो रहे हैं।

(4) सार्वजनिक उपक्रमो का विकास—अर्थव्यवस्था के केन्द्र-बिन्दुओ पर प्रभावी नियन्त्रण के लिये आधुनिक पूंजीवाद मे उत्पादन तथा वितरण के क्षेत्रो मे सार्वजनिक उपक्रमो की भूमिका महत्वपूर्ण बनती जा रही है जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा सार्वजनिक उपयोगी सेवायें—गैस, बिजली, टेलीफोन-तार तथा न्याय आदि पर सार्वजनिक सस्थाओ का स्वामित्व एव नियन्त्रण है।

(5) राज्य का परोक्ष नियन्त्रण—निजी क्षेत्र को जन-हित मे कार्य करने के लिये सरकार परोक्ष रूप से नियन्त्रण एव नियमन करती है। सरकार अब पूंजीवादी देशो मे उद्योग, कृषि, यातायात व सेवाओ के क्षेत्र में अपनी राजकोषीय, मौद्रिक, औद्योगिक, श्रमिक आदि नीतियो के द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन, रोजगार, उपभोग, बचत, विनियोग, कीमतो तथा आय के वितरण आदि पर व्यापक एव प्रभावी नियन्त्रण लागू करती है। अर्थव्यवस्था मे उतार चढाव को रोकने, आर्थिक विषमता को

कम करने, क्षेत्रीय सतुलित विकास करने के लिए सरकारें अनेक परोक्ष नियन्त्रण रखती है।

क्या आधुनिक पूँजीवाद विशुद्ध-पूँजीवाद पर एक सुधार है ?

यद्यपि आधुनिक पूँजीवाद मे अब भी विशुद्ध पूँजीवाद के आधार-तत्व विद्यमान हैं। आज भी अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी, पश्चिमी यूरोपीय देशो तथा जापान आदि मे निजी सम्पत्ति को कानूनी मान्यता प्राप्त है तथा सरकार निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करती है। उपभोक्ता की सार्वभौमिकता है, निजी लाभ की प्रेरणा है। प्रतिस्पर्द्धा कुछ सीमा तक पाई जाती है। उद्यम की स्वतन्त्रता है, पर राज्य के प्रत्यक्ष एव परोक्ष नियन्त्रणो के बढने तथा श्रमिको व मालिको मे सगठनात्मक प्रवृत्तियो के प्रबल होने से परम्परागत पूँजीवाद अब अपने सशोधित रूप मे प्रचलित है। आधुनिक पूँजीवाद एक नियन्त्रित पूँजीवाद (Controlled Capitalism) अथवा परिष्कृत पूँजीवाद (Enlightened Capitalism) है। आधुनिक पूँजीवाद मे पुरातन पूँजीवाद के अनेको दोषो को दूर करने के लिए पर्याप्त सुधार हुआ है। इसमे निम्न उल्लेखनीय हैं—

1. स्थिर एव सन्तुलित विकास—अर्थव्यवस्था मे स्थायित्व एव सतुलित विकास के लिए सरकार का प्रभावी हस्तक्षेप बढ गया है। सरकार अपनी मौद्रिक, व्यापारिक, राजकोषीय एव औद्योगिक नीतियो द्वारा उत्पादन, रोजगार, आय, बचत, उपभोग एव विनियोग को नियन्त्रित कर आर्थिक स्थायित्व बनाये रखती है। व्यापार-चक्रो की पुनरावृत्ति को रोकने के लिये सरकार प्रभावी नियन्त्रण करती है।

2. केन्द्र बिन्दुओ पर अकुश—जन हित मे अर्थव्यवस्था के केन्द्र-बिन्दुओ तथा आधारभूत उद्योगो पर सरकार का पर्याप्त अकुश है। बहुत से क्षेत्रो मे सार्वजनिक उपक्रमो का तेजी से विकास हुआ है।

3. विषमता मे कमी—आय व सम्पत्ति के वितरण की विषमताओ को दूर करने के लिए प्रगतिशील करारोपण, राष्ट्रीयकरण, सार्वजनिक उपक्रमों की स्थापना उपयुक्त औद्योगिक नीति, सामाजिक कल्याण व राज्य द्वारा निर्धनो को आर्थिक सहायता का सहारा लिया गया है।

4. शोषण से मुक्ति—श्रमिको को शोषण से मुक्ति दिलाने तथा औद्योगिक शान्ति बनाये रखने के लिए श्रमिको को सगठित किया गया है। उन्हे प्रबन्ध लाभ आदि मे हिस्सा, बोनस देना तथा सामाजिक सुरक्षा एव कल्याण कार्यों की भूमिका महत्वपूर्ण है।

5. एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर रोक—स्वतन्त्र बाजार प्रणाली व एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर सरकार का प्रभावी नियन्त्रण है।

विशुद्ध पूँजीवाद मे जो सरकार एक दर्शक मात्र थी अब सशोधित पूँजीवाद मे आर्थिक क्षेत्र मे अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आज का सशोधित पूँजीवाद मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) के रूप मे परिणित हो गया है।

पूँजीवाद का परिष्कृत रूप तथा उसमें पर्याप्त लोच की प्रवृत्ति के कारण पूँजीवाद का भविष्य अन्धकारमय नहीं कहा जा सकता। नये परिवर्तनों एवं संशोधनों से पूँजीवाद का भविष्य सुनिश्चित एवं सुरक्षित है। स्वयं समाजवादी राष्ट्र रूस और चीन भी अमेरिका तथा जापान की आर्थिक समृद्धि एवं सम्पन्नता से प्रभावित हुए हैं। सामाजिक व आर्थिक हितों की रक्षा एवं उनके सम्वर्द्धन के लिए पूँजीवादी तत्वों पर राजकीय नियन्त्रण तथा सरकारी हस्तक्षेप आधुनिक पूँजीवाद की मुख्य विशेषता है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. पूँजीवाद क्या है, इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये और इसके दोष समझाइये। (Raj I yr T D C 1974)

अथवा

पूँजीवाद की विशेषताओं का वर्णन कीजिये और उसके दोष समझाइये।

(Raj I yr Supple 1974, Special Exam 1974)

अथवा

पूँजीवाद के विविध दोषों का परीक्षण कीजिये।

(Raj I yr T. D C. 1975)

(संकेत—तीनों प्रश्नों में उत्तर के प्रथम भाग में पूँजीवाद का अर्थ बताकर दूसरे भाग में विशेषताएं बतानी हैं तथा तीसरे भाग में उसके दोषों/अवगुणों का वर्णन कीजिये।)

2 पूँजीवाद के विभिन्न अवगुणों का परीक्षण कीजिये और बतलाइये क्या पूँजीवाद आज अपने मौलिक एवं शुद्ध रूप में विद्यमान है?

(Raj I yr. T D C 1978, 1980)

(संकेत—प्रथम भाग में पूँजीवाद का अर्थ स्पष्ट करके दूसरे भाग में उसके दोषों (अवगुणों एवं हानियों) का विवेचन करना है। तीसरे भाग में बताना है कि पूँजीवाद अपने विशुद्ध एवं मौलिक रूप में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। आधुनिक पूँजीवाद नियन्त्रित पूँजीवाद (Controlled Capitalism) है।)

3 पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण बताते हुए उसके गुण-दोषों का विवेचन कीजिये।

(संकेत—प्रथम भाग में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का अर्थ एवं परिभाषा देकर उसकी प्रमुख विशेषताएँ देना है। तीसरे भाग में गुण (लाभ) बताना है।

25

समाजवादी अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था एवं विशुद्ध साम्यवादी अर्थव्यवस्था

(Socialist or Planned Economy & Pure Communist Economy)

पूँजीवाद के दोषों के कारण समाजवाद का जन्म हुआ है पर अलग अलग देशों में समाजवाद के स्वरूपों में इतनी भिन्नता रही है कि अलग-अलग विद्वानों ने समाजवाद को अपने विचारों का जामा पहनाया है। इसी कारण जोड (Joad) ने कहा है कि "समाजवाद एक ऐसी टोपी है जिसका स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के पहनने के कारण बिगड़ गया है।" समाजवाद का बहु पक्षीय स्वभाव है और उनको अलग-अलग नामों से पुकारा गया है।

समाजवाद का अर्थ एवं परिभाषा—समाजवाद आर्थिक प्रणाली का वह रूप है जिसमें उत्पत्ति एवं वितरण के प्रमुख साधनों पर सरकार (समस्त समाज) का वह स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है तथा सहकारिता के आधार पर इन साधनों का प्रयोग अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Benefit) के लिए किया जाता है। प्रो डिकिन्सन के अनुसार "समाजवाद समाज का एक ऐसा आर्थिक संगठन है जिसमें उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होता है और इनका प्रयोग एक सामान्य आर्थिक नियोजन के अनुसार ऐसी संस्थाओं द्वारा किया जाता है जो समस्त समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा उसके प्रति उत्तरदायी होती हैं। समाज के सभी सदस्य समान अधिकारों के आधार पर ऐसे समाजीकृत नियोजित उत्पादन के लाभों के अधिकारी होते हैं।"

प्रो मोरीसन के अनुसार "समाजवाद में सभी बड़े-बड़े उद्योगों का भूमि पर सार्वजनिक स्वामित्व होता है और उनको एक राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन के साथ निजी लाभ के लिए नहीं वरन् सामान्य हित के लिए प्रयोग किया जाता है।" (इस प्रकार समाजवाद पूँजीवाद के ठीक विपरीत है। इसमें सरकार का हस्तक्षेप सर्वोपरि होता है राज्य अर्थव्यवस्था को प्रभावी रूप से नियन्त्रित एवं संचालित करता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था को नियोजित अर्थव्यवस्था (Planned Economy) भी कहा जाता है क्योंकि उसका संचालन योजनानुसार होता है।

साम्यवाद, समाजवाद अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें

(Main Features or Characteristics of Socialist or Planned Economies or Communism)

1 उत्पत्ति के साधनो पर समस्त समाज (सरकार) का स्वामित्व होता है—समाजवाद की प्रमुख विशेषता यह है कि उत्पादन के समस्त साधनो पर सरकार का स्वामित्व होता है। निजी व्यक्तियो को सम्पत्ति का अधिकार नही होता है और न वे उत्पादन के साधनो का प्रयोग अपने निजी लाभ के लिए कर सकते हैं। देश मे प्राकृतिक साधनो, कारखानो, बैको, परिवहन एव सचार साधनो आदि सब पर सरकार का स्वामित्व एव नियन्त्रण होता है।

2. केन्द्रीय आर्थिक नियोजन—समाजवादी अर्थव्यवस्था मे उत्पादन एव वितरण तथा अर्थव्यवस्था का सचालन निश्चित उद्देश्यो के लिये केन्द्रीय सत्ता द्वारा निश्चित योजना के अनुसार होता है। प्रो पीगू के शब्दो मे "उत्पादन के साधनो पर सार्वजनिक स्वामित्व के साथ नियोजन समाजवाद की प्रमुख विशेषता है।"

3 उत्पादन एव वितरण पर सरकार का प्रभावी नियत्रण होता है, सरकार की केन्द्रीय सत्ता ही निश्चित करती है कि क्या उत्पादन किया जाय? कितना उत्पादन किया जाय? कैसे उत्पादन किया जाय और किनको कितना-कितना वितरित किया जाय? और कैसी व्यवस्था हो?

4. सामाजिक कल्याण उद्देश्य की प्रधानता—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे अर्थव्यवस्था का सचालन निजी लाभ उद्देश्य (Private Profit Motive) से प्रेरित होता है जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था का सचालन अधिकतम सामाजिक कल्याण उद्देश्य (Maximum Social Welfare Motive) से होता है।

5. अनर्जित आय का निराकरण—समाजवाद मे निजी सम्पत्ति व उत्तराधिकार का अधिकार न होने से अनर्जित आय (Unearned Income) का समापन हो जाता है तथा परजीवियो का समापन होता है। "No Work No Bread" "काम नहीं तो खाना नहीं" के सिद्धान्तो का पालन किया जाता है।

6. शोषण का समापन—समाजवादी अर्थव्यवस्था का सचालन लाभ-उद्देश्य से नही होता। अत. श्रमिकों, बाल-बच्चो व उपभोक्ताओ का शोषण होने का प्रश्न ही नही उठता।

7. आर्थिक असमानता में कमी—आर्थिक विषमता पूँजीवाद की उपज है, उसका समाजवाद मे निराकरण होता है। सभी व्यक्तियों को अर्थव्यवस्था मे समान लाभ का अधिकार होता है। शोषण का अभाव होता है। निजी स्वामित्व की अनुपस्थिति होती है। अत. समाज मे आर्थिक समानता आती है।

8. प्रतियोगिता व बेरोजगारी का निराकरण—समाजवादी अर्थव्यवस्था का सचालन प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर नही होता, वरन् सहकारिता (Co-operation) के

आधार पर चलता है। प्रतिस्पर्द्धा केवल स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा के रूप में सरकारी उपक्रमों में रहती है। ऐसी अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी की समस्या का समाधान हो जाता है।

9. उपभोक्ता की सार्वभौमिकता का अन्त—समाजवाद में सरकार सार्वजनिक हितों को ध्यान में रखते हुए निर्धारण करती है कि क्या उत्पादन किया जाय। अतः उपभोक्ता की सार्वभौमिकता समाप्त हो जाती है। उत्पादन का ढांचा माग के अनुसार न होकर सरकार के आदेशानुसार होता है। समाजवादी राष्ट्रों में पूंजीगत माल के उत्पादन पर अधिक बल दिये जाने से उपभोक्ताओं की उपेक्षा हो जाती है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था के विभिन्न रूप
(Different Forms of Socialist Economy)

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाजवाद आदर्शवादी कल्पनाओं से परिपूर्ण था। रोबर्ट ओवेन तथा सेन्ट साइमन जैसे स्वप्नदर्शी भाईचारे, शिक्षा तथा समाज के संगठन से पूंजीवाद के दोषों को दूर करने का प्रयास करते थे, किन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कार्ल मार्क्स, एन्जिल्स तथा लैसली आदि के प्रभाव से वैज्ञानिक समाजवाद का विकास हुआ। तब से समाजवाद के अनेक स्वरूप सामने आये हैं जिनमें कुछ रूपों का वर्णन इस प्रकार है—

(1) मार्क्स का समाजवाद या वैज्ञानिक समाजवाद (Marxian Socialism or Scientific Socialism)—इसके जन्मदाता कार्ल मार्क्स थे। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (Das Capital) से समाजवाद के सिद्धान्त को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया जिसे एन्जिल्स, लेनिन तथा स्टालिन ने आगे बढ़ाया। मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद में कुछ ऐसे तत्व हैं जिनमें पूंजीवाद के विनाश के बीज विद्यमान हैं। पूंजीवाद में आर्थिक असमानता व शोषण से समाज दो वर्गों—धनिकों (Haves) तथा निर्धनों (Have-Nots) में बट जाता है। पूंजीपति अधिक धनी और गरीब अधिक गरीब होते जाते हैं, उनमें परस्पर वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) बढ़ता जाता है। श्रमिकों की संख्या बहुत बढ़ जाती है और वे संघर्ष में पूंजीपतियों पर आधिपत्य जमा लेते हैं। पूंजीपतियों तथा पूंजीवाद की समाप्ति तथा श्रमिकों की तानाशाही के बाद एक वर्ग-विहीन समाज (Classless Society) का जन्म होगा। इसे ही वैज्ञानिक समाजवाद की संज्ञा दी गई। मार्क्सवाद, क्रान्ति एवं विद्रोह द्वारा समाजवाद की स्थापना में विश्वास रखता है।

साम्यवाद (Communism) समाजवाद का उग्र रूप है। अतः समाजवाद की विशेषताएं, लाभ व दोष, सम्यवाद की विशेषताएं, लाभ, दोष हैं।

(2) साम्यवाद (Communism)—साम्यवाद मार्क्स के समाजवाद का अन्तिम एवं उग्र रूप है। साम्यवाद के अन्तर्गत उत्पादन तथा उपभोग पर राज्य का (सामूहिक स्वामित्व एवं नियन्त्रण) नियन्त्रण होना है। राज्य ही निर्धारित करता है कि किन-किन वस्तुओं का कितनी कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय तथा उसका

वितरण किन-किन म कितना हो ? लोगो की निजी सम्पत्ति, लाभ इत्यादि का अस्तित्व ही मिट जाता है। लोग सरकारी मकानो म रह, सरकारी भोजनालयो म भोजन करें। प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था सरकार करे और व्यक्ति का निजी स्वतन्त्रता न होकर वह वही कार्य करे जो सरकार उसे करने को सौपती है। साम्यवाद का नारा है "प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और प्रत्येक को अपनी आवश्यकतानुसार मिलेगा (Each according to his ability and to each according to his need) इस प्रकार साम्यवाद एक सर्वसत्तावादी सामूहिक (Totalitarian Collectivism) है जिसका अन्तिम उद्देश्य शान्ति द्वारा वर्गहीन समाज की स्थापना करना है।

प्रो हॉम के शब्दो मे "निरकुश समाजवाद (या साम्यवादी) अर्थव्यवस्था मे उत्पादन के समस्त साधनो पर राज्य का स्वामित्व होता है। उत्पादन के उद्देश्य सरकार द्वारा निर्धारित होते हैं और एक सर्वव्यापी योजना पाई जाती है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्यवाद म निजी सम्पत्ति का अधिकार समाप्त हो जाता है, उत्पादन के सभी साधनो का राष्ट्रीयकरण कर उनका सार्वजनिक हित म प्रयोग किया जाता है। उत्पादन के लक्ष्य, उनके प्राप्त करने की व्यूह रचना आदि सभी केन्द्रीय नियोजन सस्था के द्वारा निर्धारित होते हैं। स्वतत्र कीमत प्रणाली के स्थान पर कृत्रिम मूल्य प्रणाली का सहारा लिया जाता है। उपभोक्ताओ की सार्वभौमिकता समाप्त-प्राय हो जाती है, उन्हे नियोजको द्वारा प्रदान की गई वस्तुओ म चुनाव का अवसर दिया जाता है पर उन्हें अपनी पसन्द से उत्पादन का प्रवाह बदलने की स्वतन्त्रता नही होती। साम्यवाद मे उपभोक्ताओ की उपेक्षा की जाकर भारी एव आधारभूत उद्योगो के विकास पर बल दिया जाता है।

कार्ल मार्क्स के साम्यवादी घोषणा पत्र (Communist Manifesto) के अनुसार "साम्यवाद विधि का एक सिद्धान्त है, यह उन विचारो की स्थापना करता है जिसके द्वारा पूँजीवाद समाजवाद मे परिवर्तित होता है।"

मार्क्स के अनुसार समाजवाद वह पहली मजिल है जब समाज के उत्पादन के सभी साधनो पर जनता का अधिकार होता है, शोषण समाप्त होता है और सुनियोजित उत्पादन व्यवस्था से पैदावार बढती है परन्तु साम्यवाद की मजिल और अधिक ऊँची है। साम्यवाद मे मजदूर वर्ग सत्ता पर अधिकार करता है लोगों के दृष्टिकोण मे परिवर्तन होने से विभिन्न प्रकार के बधन ढीले पडते हैं और अन्त मे भग हो जाते हैं। सभी को शिक्षा एव विकास के समान अवसर खुल जाते हैं जाति-पाति का भेद भाव समाप्त हो जाता है, हर आदमी बुद्धिजीवी बनकर शारीरिक श्रम से भागना बन्द कर देता है। इस प्रकार साम्यवाद समाजवाद की अन्तिम मजिल अथवा अधिक उच्च एव उन्नत Extreme and Developed) रूप है। समाजवादी व्यवस्था एक सक्रमणकालीन व्यवस्था है और इसका अन्तिम उद्देश्य साम्यवाद की स्थापना करना है। रूस अभी सक्रमणकालीन स्थिति से गुजर रहा है।

(3) सामूहिकवाद या राजकीय समाजवाद (Collectivism or State Socialism)—इसके अन्तर्गत उत्पादन एव वितरण के सभी साधनो पर राज्य का स्वामित्व एव नियन्त्रण होता है। निजी उपक्रम (Private Enterprise) का अन्त हो जाता है। राज्य ही समस्त वस्तुग्रो का उत्पादन करता है, सब उपक्रम राजकीय ग्रधिकारियो द्वारा सचालित किये जाते हैं। राज्य ही वितरण व्यवस्था करता है। उत्पादन एव वितरण मे सारा लाभ राज्य को प्राप्त होता है जिसे जनहित मे व्यय किया जाता है। वास्तव मे राजकीय समाजवाद "राजकीय पूँजीवाद' के समान है जिसमे राज्य ही व्यक्तिगत पूँजीवादी का रूप धारण कर लेता है। राजकीय समाजवाद ग्रौर मार्क्स के समाजवाद मे यह ग्रन्तर है कि जहां मार्क्सवादी खूनी क्रांति एव विद्रोह से समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं वहा राजकीय समाजवादी शांतिपूर्ण एव ससदीय ढग से समाजवाद लाना चाहते हैं।

(4) फासिज्म (Fascism)—यह व्यवस्था प्रथम विश्व-युद्ध के बाद इटली मे मुसोलिनी (Mussolini) की तानाशाही मे दृष्टिगोचर हुई। जर्मनी मे हिटलर का नाजीवाद (Nazism) भी बहुत कुछ इसका रूपातर मात्र था। इसके ग्रन्तर्गत निजी सम्पत्ति, उपक्रम की स्वतन्त्रता, निजी लाभ, मूल्य-यत्र तथा प्रतिस्पर्द्धा ग्रादि पूँजीवादी तत्व ज्यों-त्यों बने रहते हैं पर ग्रर्थव्यवस्था मे कदम कदम पर सरकार का ग्रत्यधिक कठोर नियन्त्रण रहता है। राष्ट्रीय हित मे सरकार उत्पादन साधनों पर जबरदस्ती कब्जा जमा लेती है। इस दृष्टि से यह राज्य नियन्त्रित पूँजीवाद (State Controlled Capitalism) होता है जिसमें सरकार, सर्वशक्तिमान (All Powerful) होती है, राज्य से बडी कोई शक्ति नहीं मानी जाती है। राज्य ग्रार्थिक, धार्मिक, सामाजिक, सास्कृतिक क्षेत्रों में शक्तिशाली हस्तक्षेप करता है।

(5) विविध—इसमे हम श्रमिक-सघवाद, शिल्प समाजवाद तथा फेबियन समाजवाद ग्रादि को लेते हैं—(i) **श्रमिक सघवाद** (Syndicalism) के ग्रन्तर्गत उद्योगो पर राज्य का नियन्त्रण एव स्वामित्व नही होता, वरन् प्रत्येक कारखाने के श्रमिको के सघ (Trade Unions or Syndicates) उद्योगो के स्वामी एव नियन्त्रणकर्त्ता होते हैं। वे राजकीय ग्रधिकारियो को ग्रकुशल मानते हैं। वे राजनैतिक सत्ता को ग्रपने नियत्रण मे रखते हैं। (ii) **शिल्प समाजवाद** (Guild Socialism) के ग्रन्तर्गत उत्पादन के साधनो व उद्योगो का स्वामित्व तो राज्य के हाथ मे रहता है पर उनका सचालन एव नियन्त्रण, श्रमिकों, मैनेजरो व तकनीशियनो के हाथ मे रहता है। यह उद्योगो के सचालन मे केन्द्रीयकरण व नौकरशाही प्रवृत्तियो के समापन की उचित व्यवस्था है। यह शातिपूर्ण रीतियो से समाजवाद की स्थापना का एक उचित ढग है। (iii) **फेबियन समाजवाद** का जन्म इगलैण्ड मे हुग्रा जिसके ग्रन्तर्गत (ग्र) ग्राधारभूत उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया जाता है। (ब) प्रगतिशील करारोपण व सामाजिक सुरक्षा कार्यों पर व्यय से धन के वितरण मे समानता लाई जाती है तथा (स) ग्रार्थिक नियोजन का सहारा लिया जाता है। यह एक प्रकार से मिश्रित समाजवादी ग्रर्थ-व्यवस्था होती है।

साम्यवाद या समाजवाद की पूंजीवाद से श्रेष्ठता
(Superiority of Socialism or Communism Over Capitalism)

साम्यवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था में कई ऐसे गुण हैं जिसके कारण ये पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से श्रेष्ठतर मानी जाती है। साम्यवाद एवं समाजवाद की पूंजीवाद पर श्रेष्ठता निम्न विवरण से स्पष्ट है—

(1) अधिकतम सामाजिक कल्याण—समाजवाद में उत्पादन एवं वितरण के प्रमुख साधनों पर सरकार अथवा समाज का स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है और नियोजित ढंग से इन साधनों का प्रयोग अधिकतम सामाजिक लाभ के लिए किया जाता है जबकि पूंजीवाद में निजी लाभ के तत्व के कारण शोषण पनपता है।

(2) शोषण से मुक्ति—समाजवाद में साधनों का उपयोग सामाजिक लाभ के लिए होता है अतः शोषण से मुक्ति मिलती है जबकि पूंजीवाद में निजी लाभ की प्रवृत्ति से शोषण को बढ़ावा मिलता है।

(3) अवसर की समानता—समाजवाद में प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाति वर्ण एवं लिंग भेद के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रगति का समान अवसर दिया जाता है जबकि पूंजीवाद में धनी व्यक्ति ही आगे बढ़ जाते हैं, निर्धनों को उन्नति का अवसर ही नहीं मिल पाता।

(4) आर्थिक समानता—समाजवादी अर्थव्यवस्था में आय एवं सम्पत्ति की असमानता को समाप्त कर सभी को आर्थिक समानता का अवसर मिलता है जबकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में धन एवं सम्पत्ति की असमानता का बोलबाला होता है।

(5) वर्ग संघर्ष का समापन—समाजवाद में आर्थिक समानता शोषण के अन्त और निजी लाभ का अभाव होने से वर्गहीन समाज की स्थापना होती है जिससे वर्ग संघर्ष का समापन होता है जबकि पूंजीवाद में वर्ग संघर्ष के कारण खूनी क्रांतियां होती हैं।

(6) आर्थिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग—समाजवाद में देश के भौतिक एवं मानवीय साधनों का प्रयोग पूर्णतः केन्द्रीय नियोजन के अन्तर्गत होता है अतः साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग कुल उत्पादन एवं उपभोग को अधिकतम करते हैं जबकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमत-यन्त्र से साधनों का प्रयोग विलासिताओं एवं अनावश्यक कार्यों में होता है।

(7) आर्थिक स्थिरता एवं तीव्र विकास—समाजवाद में नियोजित विकास आर्थिक प्रगति में तीव्र गति लाता है। अर्थव्यवस्था में स्थायित्व रहता है और व्यापार चक्रों के कुप्रभाव नहीं आते जबकि पूंजीवाद में निजी लाभ से प्रेरित स्वार्थी निर्णयों से न केवल साधनों का दुरुपयोग होता है वरन् व्यापार चक्रों के दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं, विकास की गति भी बहुत धीमी होती है।

(8) बेकारी का अन्त एव पूर्ण रोजगार—समाजवाद में मानव शक्ति को बहुमूल्य पूँजी माना जाता है अत मानव शक्ति के प्रयोग को सर्वोच्च प्राथमिकता देने से बेकारी का अन्त होता है और अन्तत पूर्ण रोजगार का मार्ग प्रशस्त होता है जबकि पूँजीवाद मे बेकारी का बोलबाला होता है और व्यापार चक्रो की बेकारी भयावह होती है।

(9) उन्नत आर्थिक जीवन—समाजवाद म देश के सभी नागरिको को आर्थिक समानता, पूर्ण रोजगार एव तीव्र आर्थिक विकास से लोगो का आर्थिक जीवन स्तर काफी ऊँचा होता है जबकि पूँजीवाद में दरिद्रता और सम्पन्नता का सह अस्तित्व वर्ग सघर्ष का कारण बनता है।

(10) अनर्जित आय का अन्त—समाजवाद म अनर्जित आय का अन्त हो जाता है क्योकि बिना काम के आय नही मिलती प्रत्येक को कार्य करना आवश्यक है जबकि पूँजीवाद म उत्तराधिकार के कारण धनिको को अनर्जित आय का अवसर मिलता है।

(11) सामाजिक सुरक्षा—समाजवाद म प्रत्येक नागरिक को भूख, बीमारी बेकारी, गरीबी और मृत्यु से सुरक्षा मिलती है जबकि पूँजीवाद म सामाजिक सुरक्षा का ढाचा अपेक्षाकृत कमजोर होता है।

स्पष्ट है कि समाजवाद एव साम्यवाद पूँजीवाद से कई मानो मे श्रेष्ठ है पर कभी कभी पूँजीवाद के समर्थक समाजवाद मे नौकरशाही एव लालफीताशाही तथा आर्थिक तानाशाही का आरोप लगाते हैं। कभी कभी कृत्रिम मूल्य-यन्त्र के कारण साधनो के दुरुपयोग पर तक प्रस्तुत करते हैं। समाजवाद मे निजी लाभ की अनुपस्थिति से प्रेरणाओ (Incentives) की कमी भी दृष्टिगोचर होती है। पर ये आरोप नगण्य और महत्वहीन हैं क्योकि आर्थिक स्वतन्त्रता एव सम्पन्नता के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कुछ त्याग करना ही पडता है। आर्थिक नियोजन की व्यापक व्यवस्था साधनो के सदुपयोग को बढाती है। प्रोत्साहन, पुरस्कार आदि से प्रेरणाओ का मार्ग प्रशस्त किया जाता है। अत समाजवाद पूँजीवाद से श्रेष्ठ है।

साम्यवाद, समाजवाद या नियोजित अर्थव्यवस्था के लाभ या गुण

(Advantages or Merits of Socialist or Planned Economy or Communism)

समाजवादी अर्थव्यवस्था म, व सब लाभ मिलते हैं, जो पूँजीवाद म दोषो का कारण हैं। इन्ही गुणो के कारण पूँजीवाद का पतन एव समाजवाद का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

1 आर्थिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग—समाजवाद म अर्थव्यवस्था के सभी प्राकृतिक एव मानवीय साधनो का उपयोग केन्द्रीय नियोजन के आधार पर किया जाता है इसस आर्थिक साधनों का सर्वोत्तम एव सतुलित प्रयोग होता है। अर्थ व्यवस्था म सर्वांगीण विकास साधनो के श्रेष्ठ उपयोग को बढावा देता है।

2. व्यापार चक्रों एवं आर्थिक अस्थिरता का अन्त—सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पूर्णतया नियोजित होता है। वस्तुओं की माँग एवं उत्पादन में समन्वय एवं तालमेल बैठाकर अति उत्पादन तथा कम उत्पादन की सम्भावनाओं को समाप्त कर दिया जाता है। अर्थव्यवस्था में तेजी-मंदी की चक्रीय घटनाओं का निराकरण होने से आर्थिक स्थायित्व आता है।

3 आर्थिक विषमता (असमानता) में कमी—समाजवाद में सम्पत्ति पर निजी अधिकार नहीं होता और न धन का वितरण असमान होता है, इससे आर्थिक समानता की प्रवृत्ति होती है। प्रो. पीगू के शब्दों में "**आर्थिक विषमता को समाप्त करने में पूँजीवाद की अपेक्षा समाजवाद अधिक सार्थक सिद्ध होता है।**"

4 आर्थिक शोषण का अन्त—समाजवाद में अर्थव्यवस्था निजी लाभ से प्रेरित न होकर, सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित होती है। अतः शोषण का समापन हो जाता है। व्यक्ति व्यक्ति का शोषण करने में असमर्थ रहते हैं क्योंकि आर्थिक साधनों पर सरकार का स्वामित्व होता है।

5. बेकारी का अन्त एवं पूर्ण रोजगार—समाजवाद में मानवीय साधनों के उपयोग को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है। श्रम को उत्पादन की मूल्यवान पूँजी माना जाता है। अतः बेकारी का निराकरण होता है। रूस ने 1928-32 की अपनी पहली पंचवर्षीय योजना में ही बेकारी की समस्या को समाप्त कर दिया तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति बन गई है।

6. अधिकतम सामाजिक कल्याण—समाजवाद में देश के साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग होता है, बेकारी एवं शोषण का अन्त होता है। व्यापार-चक्रों के समापन से आर्थिक स्थायित्व आता है। समाज के सभी वर्गों को सामाजिक सुरक्षा मिलती है। इस कारण अधिकतम सामाजिक कल्याण सम्भव होता है।

7. वर्ग-संघर्ष का समापन—समाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पत्ति तथा वितरण पर सरकार का नियन्त्रण एवं स्वामित्व होने से आर्थिक विषमताएँ घटती हैं, शोषण का समापन होता है। इससे समाज में समानता की प्रवृत्ति होती है। पूँजीवाद की भाँति श्रमिकों व पूँजीपतियों में संघर्ष नहीं होता। इसके अतिरिक्त सामाजिक पर-जीविता (Social Parasitism) समाप्त होती है क्योंकि समाजवाद में प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करना अनिवार्य है।

8. तीव्र गति से आर्थिक एवं सैनिक शक्ति का विकास—समाजवाद (साम्यवाद) की सफलता इस बात में निहित है कि इसके अन्तर्गत उत्पादन साधनों के नियोजित उपयोग से न केवल तीव्र आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है वरन् देश की सैन्य शक्ति को सुदृढ़ करने की सुविधा रहती है। साम्यवादी रूस एवं चीन अपने तीव्र औद्योगिक एवं कृषि विकास, पूर्ण रोजगार व्यवस्था तथा मानव शक्ति के सदुपयोग से आज विश्व की महान् शक्तियों में गिने जाने लगे हैं। रूस में पिछले

50 वर्षों मे जो प्रगति हुई है उसे प्राप्त करने में पाश्चात्य राष्ट्रों को 300 वर्ष लगे हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद रूस औद्योगिक उत्पादन म विश्व के दूसरे स्थान पर है जबकि 1914 म रूस एक कृषि प्रधान पिछड़ा राष्ट्र था। रूस व चीन सैन्य-शक्ति की दृष्टि से भी बहुत सुदृढ बन गये गये हैं।

साम्यवादी, समाजवादी अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था के दोष या अवगुण (हानियां)

(Defects or Disadvantages or Demerits of Socialist or Planned Economy or Communism)

पूँजीवाद के समर्थक तत्व समाजवाद म अनेक कमियां ढूँढते हैं तथा उन्होंने समाजवाद के विपक्ष मे अनेक तर्क प्रस्तुत किय हैं—

1. उत्पादन साधनो का दोषपूर्ण वितरण—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे तो मूल्य यन्त्र स्वतः उत्पादन साधनो का वितरण उनके महत्वपूर्ण उपयोगो मे कर देता है पर समाजवादी अर्थव्यवस्था मे न स्वतन्त्र बाजार होता है और न मूल्य यन्त्र ही। अत साधनो का वितरण अविवेकपूर्ण ढग स होता है। प्रो. हायेक (Hayek) तथा माइसेस (Mises) जैसे अर्थशास्त्रियों के अनुसार समाजवादी अर्थव्यवस्था मे साधनों का वितरण मूल्य-यन्त्र के अभाव मे मनमाने ढग से होता है।

पर अनेक आधुनिक अर्थशास्त्रियो—प्रो. लांगे (Lange), टेलर (Tailor) आदि का यह विचार है कि पूँजीवाद म मूल्य-यन्त्र सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक माना जाता है जबकि व्यवहार म साधनो का वितरण समाजवादी अर्थव्यवस्था मे ही उपयुक्त होता है। रूस तथा अन्य समाजवादी राष्ट्रों की तीव्र आर्थिक प्रगति इनका प्रतीक है।

2 उपभोक्ताओं की सार्वभौमिकता का समापन हो जाता है—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था म तो उपभोक्ता सम्राट और उत्पादक उसके सेवक होते हैं। पर समाजवाद मे उपभोक्ताओ को चयन की स्वतन्त्रता नहीं होती। वे केवल उन वस्तुओं का उपभोग कर पाते हैं जिन्हे सरकार उन्हे उपलब्ध करती है। वास्तविक रूप मे देखा जाय तो पूँजीवाद म भी उपभोक्ताओं की प्रभुसत्ता एक मिथ्या धारणा है क्योकि अधिकाश उपभोक्ता तो निधन होते हैं जबकि कुछ ही धनिक अपने चाह की वस्तुए उत्पादन करवाने मे समर्थ होते हैं। क्रय-शक्ति-हीन उपभोक्ता की सार्वभौमिकता केवल नाम मात्र होती है।

3 व्यक्तिगत प्रेरणा (Incentive) तथा प्रारम्भ (Initiative) का अभाव—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे निजी सम्पत्ति का अधिकार तथा व्यक्तिगत लाभ उद्देश्य (Private Profit Motive) दो ऐसे तत्व हैं जो मनुष्य म काय की प्रेरणा तथा नये परिवर्तनो के प्रारम्भन की प्रवृत्ति बढाते हैं पर समाजवादी अर्थव्यवस्था म इन तत्वो के अभाव मे उत्पादन म प्रेरणा का अभाव रहता है। यह अवगुण स्वय समाजवादी स्वीकार करते हैं और यही कारण है कि अब समाजवादी राष्ट्रों मे भी व्यक्तिगत प्रेरणा के नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं।

4 उत्पादकता एवं कुशलता का अभाव—पूंजीवाद में साधनों के आदर्शतम उपयोग का प्रयास किया जाता है ताकि लाभ अधिकतम हो सके। पर समाजवादी अर्थव्यवस्था में न तो साधनों का विवेकपूर्ण वितरण होता है और न ही लाभ की प्रेरणा होती है। अतः अधिक उत्पादन की प्रेरणा न होने से उत्पादकता कम होती है। उत्पादन कुशलता में कमी के मुख्य कारण हैं (i) नौकरशाही (ii) लालफीताशाही (iii) जन आलोचना का भय, जोखिम न झेलने की प्रवृत्ति तथा (iv) सरकारी नौकरी में कर्त्तव्यनिष्ठा का अभाव आदि।

5 नौकरशाही का बोलबाला—समाजवाद का सबसे बड़ा दोष उसमें नौकरशाही (Bureaucracy) की प्रधानता होना है। केन्द्रीय आर्थिक सत्ता के निर्णयों को लागू करने पर बड़ी संख्या में सरकारी नौकर लगते हैं जिन्हें कोई निजी स्वार्थ नहीं होता और उनकी पदोन्नति भी कार्य पर निर्भर न होकर वरिष्ठता (Seniority) पर निर्भर करती है। भ्रष्टाचार फैलता है। नौकरशाही में न नवीन जोखिमों की प्रेरणा होती है और न वे अधिक कर्त्तव्यपरायण होते हैं। सरकारी काम में लाल-फीताशाही भी प्रबल होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था नौकरशाही के फन्दे में फंस जाती है और आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

यह आलोचना तथ्यपूर्ण है पर समाजवादी देशों में इस दोष के निराकरण के लिए अनेक ऐसे तरीके अपनाए हैं जिसमें कार्य के प्रति अरुचि में मृत्यु दण्ड तक की व्यवस्था होती है। प्रारम्भिक अवस्था में यह दोष अधिक रहता है।

6 सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण तथा मानव शक्ति का दुरुपयोग—कुछ विद्वान समाजवाद में सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण का विरोध करते हैं तथा कहते हैं कि आर्थिक नियोजन में अत्यधिक मानव-शक्ति जो उत्पादन कार्य में प्रत्यक्ष योगदान कर सकती है उन्हें योजना बनाने, गणना करने तथा उनके क्रियान्वयन की देखभाल करने पर लगाई जाती है।

वास्तव में यह दोष नहीं है। यह तो मानव शक्ति का ऐसा प्रयोग है जो अनियोजित अर्थव्यवस्था में होने वाले भावी दोषों का निराकरण करने में प्रयुक्त होता है। अतः सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण में व्यक्ति की स्वतन्त्रता सामाजिक हित में नियन्त्रित की जाती है। अतः यह उपयुक्त ही है।

निष्कर्ष—यद्यपि पूंजीवाद के समर्थकों ने समाजवाद के विरुद्ध अनेक तर्क दिये पर ये तर्क वास्तविकता से परे हैं। जब पूंजीवाद के दोषों से समाजवाद के दोषों की तुलना करें तो हम देखते हैं कि पूंजीवाद के दोष इतने भयंकर और खतरनाक हैं कि वे न केवल अर्थव्यवस्था को अस्त व्यस्त कर देते हैं वरन् मानवीय जीवन को नारकीय बना देते हैं। प्रो शुम्पीटर (Schumpeter) ने समाजवाद को पूंजीवाद से श्रेष्ठ माना है क्योंकि समाजवाद में राजकीय प्रबन्ध में उत्पादन कुशलता और साधनों का अधिक विवेकपूर्ण उपयोग होता है। व्यापार चक्रों का

अभाव रहता है, एकाधिकारी प्रवृत्तियों का अभाव होता है। आर्थिक विषमतायें कम होती हैं, बेकारी और शोषण का अन्त होता है। आज कल्याणकारी राज्यो मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सामाजिक हित मे विमन्वित किया जाता है।

फिर भी समाजवाद म सरकार द्वारा सत्ता के केन्द्रीकरण, आर्थिक क्षेत्र मे अत्यधिक नियन्त्रण से उपभोक्ताओ की प्रभुसत्ता पर आघात पहुचता है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन होता है और लोगो मे प्रारम्भन एव काय के प्रति प्रेरणा घटती है। इन दोषो के निराकरण के लिए सीमित स्वतन्त्रता दी जाने लगी है। आधुनिक युग मे लोग पूजीवाद और समाजवाद के मिश्रण की बात करने लगे हैं। पूजीवाद राष्ट्रो में मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) इसका परिणाम है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1 समाजवाद के प्रमुख लक्षण दीजिये। क्या आप इसे पूजीवाद से श्रेष्ठतर मानते हैं? (B A (Hons) Part I Raj 1977)

अथवा

समाजवाद के प्रमुख लक्षण दीजिये और प्रदर्शित कीजिये कि यह पूजीवाद से श्रेष्ठतर कैसे कहा जा सकता है?

(सकेत—समाजवाद का अभिप्राय स्पष्ट करके दूसरे भाग म उसके लक्षण बताना है तथा तीसरे भाग म समाजवाद की पूजीवाद पर श्रेष्ठता शीपक की विषय सामग्री देना है।)

2 समाजवाद के गुण दोषो का परीक्षण कीजिये। (I yr Non Collegiate, 1976)

(सकेत—समाजवाद का अभिप्राय स्पष्ट कर समाजवाद के लाभ हानि बताना है।)

3 विशुद्ध साम्यवादी अर्थव्यवस्था के गुणो की विवेचना कीजिये। (I yr T D C Raj 1973)

(सकेत—साम्यवाद का अर्थ बताकर साम्यवाद के गुणो को समाजवाद के समान ही बताना है और तीसरे भाग मे उसके दोषो का विवेचन करना है।)

4 टिप्पणी—(i) विशुद्ध साम्यवादी अथव्यवस्था (I yr T D C 1974)

(ii) समाजवादी अथव्यवस्था (I yr T D C 1976)

(सकेत—दोनो का अर्थ बताकर, विशेपताएँ देना है फिर गुण दोपो का सक्षप म विवेचन करना है।)

5 साम्यवाद के प्रमुख लक्षण दीजिये और प्रदर्शित कीजिय कि यह पूजीवाद से श्रेष्ठतर कैसे कहा जाता है? (I yr T D C 1979)

(सकेत—प्रथम भाग म साम्यवाद का अर्थ एव परिभाषायें देना है। दूसरे भाग मे उसकी विशपताय (समाजवाद) के अनुसार देनी है तथा तीसरे भाग मे श्रष्ठता भी शीपकानुसार देना है।)

26
मिश्रित अर्थव्यवस्था
(Mixed Economy)

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में गलाघोट प्रतियोगिता से अपव्यय, व्यापार चक्रों की नियमितता से बेकारी और आर्थिक अस्थिरता तथा वर्ग-संघर्ष एवं शोषण की परिस्थितियों में राजकीय हस्तक्षेप आवश्यक समझा जाने लगा। दूसरी ओर समाजवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन, नौकरशाही तथा सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीयकरण से अत्यधिक राजकीय हस्तक्षेप भी लोगों को खटकने लगा। अतः एक ऐसी आर्थिक प्रणाली का विकास हुआ जिसमें पूंजीवाद एवं समाजवाद के गुणों का सम्मिश्रण कर दोनों के दोषों का निराकरण करने का प्रयास है। आज विश्व के अधिकांश विकासशील राष्ट्र इस आर्थिक प्रणाली को अपना रहे हैं।

मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ (Meaning of Mixed Economy)—मिश्रित अर्थव्यवस्था पूंजीवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक समन्वित रूप है। यह पूर्णतः स्वतन्त्र एवं समाजवादी आर्थिक प्रणालियों के बीच सौहार्दपूर्ण संयोग (Happy Combination) है। "मिश्रित अर्थव्यवस्था एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमें निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र का पर्याप्त सहअस्तित्व (Co-existence) होता है। दोनों के कार्यक्षेत्र सरकार द्वारा इस प्रकार निर्धारित किये जाते हैं कि दोनों मिलकर *अधिकतम सामाजिक कल्याण एवं तीव्र आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करें।*"

- चूंकि मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के तत्व विद्यमान होते हैं इस कारण प्रो. हेन्सन ने मिश्रित अर्थव्यवस्था को दोहरी अर्थव्यवस्था (Dual Economy) की संज्ञा दी है। इसमें राज्य का पूंजीवादी तत्वों पर पर्याप्त नियन्त्रण होने के कारण प्रो. लरनर (Lerner) ने इसको नियन्त्रित अर्थव्यवस्था (Controlled Economy) कहा है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में कुछ क्षेत्रों में सरकार स्वयं उद्योगों का स्वामित्व, नियन्त्रण एवं निर्देशन अपने हाथ में रखती है जबकि कुछ क्षेत्रों में निजी उपक्रमियों को पनपने का पर्याप्त अवसर दिया जाता है। बहुत सारे उद्योग ऐसे होते हैं जिन पर निजी उपक्रमियों का स्वामित्व होता है। वे लाभ-उद्देश्य से प्रतिस्पर्धा के आधार

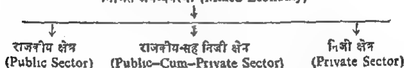
पर उनका संचालन करते हैं। कुछ उद्योग ऐसे भी होते हैं जो सरकार तथा निजी साहसियों दोनों के सहयोग से चलते हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को मोटे रूप मे तीन क्षेत्रो मे विभाजित कर दिया जाता है। भारत जैसे विकासशील देशों मे सहकारिता क्षेत्र भी पनप रहा है।

1. राजकीय क्षेत्र (Public Sector)–प्रथम श्रेणी मे राजकीय क्षेत्र आता है जिस क्षेत्र का स्वामित्व, नियन्त्रण एव निर्देशन सब सरकार के हाथ म होता है।

2 राजकीय सह-निजी-क्षेत्र (Public-Cum-Private Sector)—द्वितीय श्रेणी में वह क्षेत्र आता है जिसमे सरकार तथा निजी उपक्रमियों की साझेदारी मे उपक्रमों का संचालन होता है। स्वामित्व, नियन्त्रण एव निर्देशन भी साझेदारी मे होते हैं पर सरकार का प्रभावी नियन्त्रण होता है।

3. निजी क्षेत्र (Private Sector)–यह वह क्षेत्र है जिसका स्वामित्व, नियन्त्रण आदि निजी व्यक्तियों के हाथ मे होता है वे निजी लाभ के लिए इनका प्रयोग करते हैं।

4 सहकारिता क्षेत्र (Coopervative Sector)—इस क्षेत्र मे कमजोर एव आर्थिक दृष्टि से सुरक्षा चाहने वाले निजी व्यक्तियो के स्वामित्व एव नियन्त्रण की व्यवस्था होती है। सरकार भी आर्थिक सहयोग देती है। विकासील राष्ट्रो मे सहकारिता क्षेत्र को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जा रहा है।



मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषताएं (Characteristics)

1. मिश्रित अर्थव्यवस्था पूंजीवाद और समाजवाद के बीच का रास्ता है—इसमे पूंजीवाद और समाजवाद दोनो के ऐसे तत्वों का समावेश होता है जो आर्थिक विकास एव सामाजिक कल्याण के लिए अधिक उपयोगी होते हैं।

2 सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र दोनों का सह अस्तित्व होता है–दोनो क्षेत्रो का अर्थव्यवस्था मे पर्याप्त एव महत्वपूर्ण भाग होता है।

3 सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को मोटे रूप मे तीन क्षेत्रो—राजकीय क्षेत्र, सम्मिलित क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र म बाटा जाता है।

4 क्षेत्रों का निर्धारण उनके सापेक्षिक महत्व के आधार पर सरकार द्वारा होता है—क्षेत्रा के निधारण मे स्थैतिक दृष्टिकोण नही अपनाया जाता वरन् परिस्थितियो के अनुकूल उनम पर्याप्त लोचता होती है। जनहित मे किसी भी उद्योग को सरकारी क्षेत्र म लिया जा सकता है।

5 लाभ उद्देश्य एव कीमत यन्त्र (Price mechanism)—दोनो को

सामाजिक हित में इस प्रकार नियन्त्रण किया जाता है कि साधनों का वितरण आर्थिक विकास एवं सामाजिक कल्याण के अनुरूप हो।

6 निजी उपक्रमों का महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी उनकी स्वतन्त्रता को सामाजिक हित में सीमित किया जाता है।

7 अर्थव्यवस्था में समान वितरण के लिए प्रगतिशील करारोपण, सामाजिक सुरक्षा कार्यों पर व्यय, तथा एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण की नीति अपनाई जाती है। सम्पत्ति, भूमि, आदि की अधिकतम सीमा निर्धारित की जाती है।

8 आर्थिक नियोजन (Economic Planning)—यह मिश्रित अर्थव्यवस्था की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। नियोजन के अभाव में किसी अर्थव्यवस्था को मिश्रित अर्थव्यवस्था नहीं कहा जा सकता चाहे उसमें राज्य का नियन्त्रण व हस्तक्षेप भले ही हो। मिश्रित अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सचालन एवं नियोजन एक केन्द्रीय नियोजन सत्ता (Central Planning Authority) द्वारा नियोजनबद्ध ढंग से होता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की लोकप्रियता-आवश्यकता अथवा मिश्रित अर्थव्यवस्था क्यों ?

(Necessity of Mixed Economy or Why Mixed Economy)

पूँजीवादी तथा समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं के अध्ययन के बाद विभिन्न विकासशील राष्ट्रों द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाने की प्रबल प्रवृत्ति को देखते हुए यह प्रश्न स्वाभाविक है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था का सहारा क्यों लिया जा रहा है ? इसकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था पूँजीवाद तथा समाजवाद के बीच एक ऐसी सरचना है जिसमें पूँजीवादी एवं समाजवादी तत्वों में एक उपयुक्त समन्वय स्थापित कर दोनों के दोषों को दूर किया जाता है तथा पूँजीवादी तत्वों को नियन्त्रित कर समाजवाद के लक्ष्यों की ओर प्रेरित किया जाता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था एक ऐसी लचीली अर्थव्यवस्था है जिसमें पूँजीवाद तथा समाजवाद दोनों के लाभ व गुण निहित हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था की लोकप्रियता व उसके अपनाने के कारण इस प्रकार हैं—

1. आर्थिक विकास में तेजी करना—अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास की गति तेज करने के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था लोकप्रिय हुई है क्योंकि इसमें निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनों मिलकर अर्थव्यवस्था के विकास में योग देते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र अर्थव्यवस्था में भारी एवं आधारभूत उद्योगों—सड़क बिजली, सिंचाई, सार्वजनिक उपयोगी सेवायें व सुरक्षा उद्योगों का विकास कर अर्थव्यवस्था का सुदृढ आधारभूत ढाँचा (Infra-Structure) तैयार करता है जबकि निजी क्षेत्र उपभोग्य वस्तुओं का दायित्व ले लेता है। दोनों के सयुक्त प्रयासों से आर्थिक विकास में तेजी आती है। भारत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

आर्थिक विषमता को कम करना—आय और सम्पत्ति की असमानता को दूर कर समानता स्थापित करना प्रत्येक अर्थव्यवस्था का मूल उद्देश्य बना हुआ है अत मिश्रित अर्थव्यस्था म सार्वजनिक क्षेत्र को बढावा देने से सामाजिक हितो की सुरक्षा होती है। सरकार प्रगतिशील करारोपण, राजकीय व्यय राष्ट्रीयकरण, सामाजिक सुरक्षा आदि से आर्थिक विषमताओ को कम करती है। अत मिश्रित अर्थव्यवस्था म आर्थिक समानता स्थापित करना अधिक सुविधाजनक हो जाता है।

3 **औद्योगिक शांति एव श्रमिकों के हितों की सुरक्षा**—पू जीवाद म श्रमिका का शोषण होना है अत श्रमिको व मालिका मे परस्पर झगडे हडतालें, तालाबन्दी व लूटपाट से अशान्ति बनी रहती है जबकि समाजवाद व साम्यवाद म श्रमिका पर कठोर नियन्त्रण होता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था म श्रमिका व मालिको म परस्पर सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मजदूरो को प्रबन्ध व लाभ म हिस्सा, सयुक्त साहस उचित मजदूरी, सामाजिक एव कल्याणकारी कार्यों आदि म अर्थव्यवस्था मे शाति बनी रहती है तथा श्रमिको को शोषण से मुक्ति मिल जाती है।

4 **एकाधिकार व आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण पर रोक**—मिश्रित अर्थव्यवस्था म सार्वजनिक क्षेत्र के प्रभावी हस्तक्षेप से आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण पू जीवादी तत्वो क अन्तर्गत नही होने पाता। सरकार प्रभावी हस्तक्षेप व नियन्त्रण से वस्तुओ व सेवाओ की कीमतो को नियन्त्रित करती है। उचित वितरण व्यवस्था करती है। अत आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो जाता है और एकाधिकारी प्रवृत्तिया कमजोर होती हैं।

5 **उद्यम व उपभोग की स्वतन्त्रता बनाये रखना**—निजी लाभ व निजी स्वामित्व की भावना विकास के प्रेरणा स्रोत है जबकि उपभोग म स्वतन्त्रता से उपभोक्ता को सार्वभौमिकता का आभास होता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था म य दोनो तत्व आवश्यक नियन्त्रण क अन्तर्गत विद्यमान रहत हैं। उपभोक्ता को अपनी पसन्द व चुनाव का अवसर मिलता है तो उद्यमी को अपनी प्रतिभा का प्रयोग जनहित म करने का सुअवसर रहता है। अत मिश्रित अर्थव्यवस्था लोकप्रिय हो रही है।

6 **लोकतन्त्र की रक्षा व नियोजन के लाभ**—मिश्रित अर्थव्यवस्था की लोकप्रियता उसके अन्तर्गत मिलने वाले नियोजन के लाभो तथा लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता म निहित है। इसम न तो तानाशाही शासन व्यवस्था पनपती है और न असीमित स्वतन्त्रता मिलती है। अत लोकतान्त्रिक नियोजन (Democratic Planning) को बढावा मिलता है।

अत **मिश्रित अर्थव्यवस्था की लोकप्रियता, उत्पादन वृद्धि वितरण व्यवस्था में सुधार, नियोजन के लाभ, लोकतान्त्रिक व्यवस्था व आर्थिक स्वतन्त्रता मे निहित है।**

पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था एवं समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था
(Capitalist Mixed Economies & Planned Socialist Mixed Economies)

मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र के महत्व तथा अर्थव्यवस्था के लक्ष्य के आधार पर मिश्रित अर्थव्यवस्था में दो भाग हो सकते हैं—

1 पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था (Capitalist Mixed Economy)—यह मिश्रित अर्थव्यवस्था का वह रूप है जिसमें पूंजीवादी तत्वों—सम्पत्ति अधिकार व्यक्तिगत लाभ मूल्य-यन्त्र तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को विशेष महत्व दिया जाता है। इसमें निजी क्षेत्र का राजकीय क्षेत्र की अपेक्षा बहुत विस्तृत क्षेत्र होता है। राज्य तो केवल राष्ट्रीय सुरक्षा तथा आधारभूत उद्योगों पर स्वामित्व एवं नियन्त्रण रखता है। ऐसी अर्थव्यवस्था में नियोजन सीमित होता है और उसकी विधि प्रलोभन से नियोजन (Planning by Inducement) होती है। पूंजीवादी राष्ट्र अमेरिका, इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था के रूप हैं। इनमें पूंजीवाद के परिवेश में ही आर्थिक समृद्धि है पर धीरे-धीरे राज्य का हस्तक्षेप बढ़ रहा है जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है। आधुनिक पूंजीवाद पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था का ही रूप है। इसके गुण-दोष आधुनिक पूंजीवाद के समान ही हैं।

पूंजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं

1. निजी साहस का अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता है।

2 अर्थव्यवस्था के उत्पादन एवं वितरण के प्रमुख साधनों पर निजी व्यक्तियों एवं संस्थाओं का स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है।

3. व्यक्तिगत लाभ (Private Profit) की प्रेरणा से उद्योगों एवं व्यवसायों का संचालन होता है। निजी लाभ एक महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति होती है।

4 उपभोक्ताओं को नियन्त्रित स्वतन्त्रता होती है। उन्हें उपभोग के चयन में बहुत कुछ स्वतन्त्रता रहती है।

5 साधन आवंटन और चयन में मूल्य-यन्त्र की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

6 सरकार अर्थव्यवस्था के कुशल संचालन एवं समस्याओं के समाधान के लिए मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का सहारा लेती है।

7 अर्थव्यवस्था में विकास एवं स्थायित्व के लिये सरकार प्रलोभन द्वारा नियोजन (Planning by Inducement) का सहारा लेती है। नियोजन सीमित होता है।

8 सरकार अर्थव्यवस्था के प्रभावों हस्तक्षेप नहीं करती किन्तु आवश्यक मार्ग दर्शन एवं स्थायित्व का प्रयास करती है।

2 नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था (Planned Socialist Mixed Economies)—आर्थिक संगठन का यह परिष्कृत एवं समन्वित रूप है जिसमें आधुनिक पूंजीवादी तत्वों का समाजवादी सिद्धान्तों में मिश्रण किया गया

है ताकि दोनों की अच्छाइयों का लाभ मिल सके। इस प्रकार की मिश्रित अर्थव्यवस्था युगोस्लाविया, पौलैण्ड व अन्य समाजवादी देशों में विद्यमान है। भारत में भी प्रजातान्त्रिक नियोजन पद्धति द्वारा नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था का सूत्रपात किया गया है ताकि दीर्घकाल में लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना हो सके।

नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था को बाजार समाजवाद (Maket Socialism) की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इसके अन्तर्गत देश के प्रमुख क्षेत्रों में सरकारी नियोजन एवं नियन्त्रण तथा गौण क्षेत्रों में निजी साहसियों को सीमित स्वतन्त्रता से देश में अधिकतम उत्पादन एवं न्यायपूर्ण वितरण की व्यवस्था का प्रयास किया जाता है। ऐसी अर्थव्यवस्था में निम्न विशेषताएँ होती हैं—

1. अर्थव्यवस्था के सभी प्रमुख क्षेत्रों पर समाज का प्रभावी नियन्त्रण होता है, उन पर सरकार का स्वामित्व होता है। अतः सार्वजनिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका होती।
2. निजी क्षेत्र को आर्थिक जगत में सीमित स्वतन्त्रता होती है। निजी क्षेत्र की सभी आर्थिक क्रियाओं को सामाजिक हित में योजनाबद्ध ढंग से नियन्त्रित किया जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र सर्वोपरि होता है।
3. राष्ट्र के सभी उत्पादन साधनों का प्रयोग योजनाबद्ध ढंग से किया जाता है ताकि अधिकतम उत्पादन से अधिकतम सामाजिक कल्याण हो सके।
4. आर्थिक नियोजन को प्रधानता होती है और उसके द्वारा अर्थव्यवस्था को अन्ततः समाजवादी बनाने का प्रयास होता है।
5. आर्थिक समानता और अवसरों की समानता का भरसक प्रयत्न किया जाता है।
6. नियन्त्रित कीमत प्रणाली अर्थव्यवस्था में साधनों के आवंटन का कार्य करती है।
7. सरकार श्रम कल्याण कार्यों, चिकित्सा सुविधाओं एवं सामाजिक सुरक्षा कार्यों में निरन्तर वृद्धि का प्रयास करती है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के लाभ-गुण (उपलब्धियां)

(Advantages or Merits or Achievements)

1. **पर्याप्त आर्थिक स्वतन्त्रता**—मिश्रित अर्थव्यवस्था में लोगों को आर्थिक क्षेत्र में पर्याप्त स्वतन्त्रता होती है। (i) उपभोक्ता अपनी आय को व्यय करने में स्वतन्त्र होते हैं, (ii) लोगों को अपनी योग्यता व रुचि से व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होती है, (iii) निजी सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत लाभ की कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता होती है, लोग अपनी रुचि से नये व्यवसायों को प्रारम्भ करने में भी प्रायः स्वतन्त्र होते हैं। इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार परोक्ष रूप से अपव्यय को रोकती है किन्तु पर्याप्त स्वतन्त्रता प्रदान करती है।

2. आर्थिक विषमता में कमी की जाती है जो आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से भी आवश्यक है। आर्थिक विषमता के समापन के लिए प्रगतिशील करारोपण एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर रोक तथा राष्ट्रीय आय के वितरण में समानता का प्रयास होता है। इससे वर्ग-संघर्ष कम होता है।

3. उत्पादन साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग—देश में उपलब्ध साधनों को एक निश्चित योजना के अनुसार लक्ष्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इससे उनका श्रेष्ठतम उपयोग होता है। देश की उत्पादन क्षमता बढ़ती है और लोगों की आर्थिक समृद्धि और उच्च जीवन-स्तर का मार्ग प्रशस्त होता है। बेकारी मिटती है।

4. आयोजित एवं तीव्र आर्थिक विकास—मिश्रित अर्थव्यवस्था में मूल्य-यन्त्र को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं दी जाती है। देश के साधनों का पूर्व सर्वेक्षण तथा आयोजित ढंग से आर्थिक विकास का प्रयास किया जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर मिलता है। अतः देश के सन्तुलित विकास का प्रयास किया जाता है। पूँजी निर्माण की गति तीव्र होती है और देश का तीव्र गति से सर्वांगीण विकास होता है।

5. निजी सम्पत्ति, लाभ उद्देश्य एवं मूल्य-तन्त्र के तत्व विद्यमान रहते हैं—ये तत्व लोगों में कुशलता में वृद्धि, कठिन परिश्रम तथा साधनों के मितव्ययतापूर्ण और श्रेष्ठतम उपयोग की प्रेरणा देते हैं। सरकार इन तत्वों के शोषणात्मक पहलू (Exploitative Aspect) को नियन्त्रित कर उनको सामाजिक हित (Social welfare) की ओर अग्रसर करती है।

6. आर्थिक कल्याण में वृद्धि—उपर्युक्त सब गुणों से समाज में आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के दोष-अवगुण (हानियां)

(Defects, Demerits or Disadvantages of Mixed Economy)

यद्यपि मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद तथा समाजवाद के सभी अच्छे गुणों का सम्मिश्रण एवं समन्वय किया जाता है ताकि उनसे अधिकतम सामाजिक कल्याण संभव हो सके पर जब पूँजीवादी तत्व हावी हो जाते हैं तो शोषण पनपता है और जब समाजवाद के तत्व हावी हो जाते हैं तो तानाशाही, नौकरशाही की अकुशलताओं की वृद्धि से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन होता है। अतः मिश्रित अर्थव्यवस्था में कुछ सम्भावित खतरे हैं जो हम भारत में भली-भाँति महसूस कर रहे हैं।

1. व्यवहार में मिश्रित अर्थव्यवस्था का कुशल क्रियान्वयन कठिन है—क्योंकि पूँजीवाद और समाजवाद जैसी दो परस्पर विपरीत विचारधाराओं का सम्मिश्रण है। शुम्पीटर के शब्दों में मिश्रित अर्थव्यवस्था एक प्रकार से 'आक्सीजन टेन्ट में पूँजीवाद (Capitalism in Oxygen Tent)' है अर्थात् पूँजीवाद और समाजवाद का सह-अस्तित्व अस्थायी होता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में न तो

व्यापक रूप मे आर्थिक नियोजन सफलतापूर्वक कार्य करता है और न मूल्य-यन्त्र ही ठीक प्रकार से कार्य करता है। इसमे लाभ-उद्देश्य भी दबा रहता है, इसम आवश्यक प्रेरणा का अभाव रहता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था एक ऐसे पुराने वस्त्र के समान है जिसमे ज्योही एक छिद्र की मरम्मत की जाती है दूसरा नया छिद्र हो जाता है। सार्वजनिक एव निजी क्षेत्रो के परस्पर विरोधी उद्देश्य मे सामजस्य स्थापित करना कठिन होता है।

यह आलोचना अधिक महत्वपूर्ण नही है। अनेक देशो मे यह व्यवस्था कुशलतापूर्वक कार्य कर रही है और मिश्रित अर्थव्यवस्था की लोकप्रियता बढ रही है। भारत मे मिश्रित अर्थव्यवस्था की सफलता देश के आर्थिक विकास से स्पष्ट है।

2 **अस्थिरता या अस्थायित्व**—मिश्रित अर्थव्यवस्था का अस्तित्व अस्थिर (Instable) रहता है। कालान्तर मे या तो समाजवादी शक्तिया प्रबल होकर निजी क्षेत्र को समाप्त कर देती हैं जिससे समाजवाद की स्थापना हो जाती है अथवा पू जीवादी तत्व सार्वजनिक क्षेत्र के अस्तित्व को ही मिटा देते हैं इसमे पू जीवाद छा जाता है। इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्थायी अस्तित्व नही होता। यह भय भी निराधार है क्योकि ऐसा प्राय देखने को नही मिलता।

3. **लोकतन्त्र को भय**—आर्थिक नियोजन और सरकार की नीति से निजी क्षेत्र को समाजवादी शक्तिया धीरे-धीरे समाप्त कर सकती हैं उससे तानाशाही का भय बना रहता है। लोकतन्त्र का अस्तित्व ही खतरे म पड जाता है। यह भय भी अधिक महत्वपूर्ण नही क्योकि प्रजातन्त्र में जनता की आवाज का आदर होता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त गुण-दोषो के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था मे अकुशलता तथा तानाशाही का भय रहता है लेकिन फिर भी आर्थिक नियोजन, सार्वजनिक एव निजी क्षेत्र के सह अस्तित्व और उचित सामजस्य से आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। सरकार की प्रभावी नियन्त्रण नीतियों से व्यापार-चक्रो, बेकारी शोषण और वर्ग सघर्ष को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है जिससे सामाजिक कल्याण मे वृद्धि होती है। अधिकाश प्रमुख पू जीवादी राष्ट्रो—अमेरिका, इगलैण्ड, फ्रास, स्वीडन आदि म पू जीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य कर रही है। भारत मे मिश्रित अर्थव्यवस्था को आर्थिक विकास का आधार बनाया गया है ताकि निजी उपक्रमो को सामाजिक हित ने मोडा जा सके। भारत का दीर्घकालीन उद्देश्य "लोकतात्रिक समाजवाद" (Democratic Socialism) की स्थापना है अत धीरे-धीरे सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तृत किया जा रहा है और निजी क्षेत्र को सीमित किये जाने के प्रयास हैं। अधिकाश विकासशील राष्ट्र पू जीवाद और समाजवाद दोनो के लाभो के लिये मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपना रहे हैं। अत आधुनिक प्रवृत्ति मिश्रित अर्थव्यवस्था की ओर है।

भारत मे मिश्रित अर्थव्यवस्था
(Mixed Economy in India)

भारत की कृषि प्रधान अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था के तीव्र विकास एव

भारतीय मिश्रित अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें
(Main Characteristics of Indian Mixed Economy)

तीव्र आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय एवं बेरोजगारी के समापन के उद्देश्यो से प्रेरित भारतीय अर्थव्यवस्था मे नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था के आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने का निरन्तर प्रयास किया जा रहा है उसके प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

(1) **अर्थव्यवस्था के चार क्षेत्र**—अर्थव्यवस्था को मोटे रूप मे चार वर्गों मे विभाजित किया है—(1) सार्वजनिक क्षेत्र (2) निजी क्षेत्र (3) सार्वजनिक सह निजी क्षेत्र (4) सहकारी क्षेत्र।

(2) **प्रजातान्त्रिक आर्थिक नियोजन** देश के आर्थिक विकास का आधार माना गया है जिसमे आर्थिक नियोजन थोपा न जाकर जन सहयोग एवं जन-सहमति को मूर्तरूप दे रहा है। पचवर्षीय योजनाओ के माध्यम से आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया जाता है।

(3) **नियन्त्रित बाजार संयंत्र एवं प्रतिस्पर्द्धा**—अर्थव्यवस्था मे बाजार सयत्र तथा प्रतिस्पर्द्धा की पर्याप्त छूट होते हुए भी जनहित मे आवश्यक नियन्त्रण की व्यवस्था की गई है।

(4) **आर्थिक नियन्त्रणो द्वारा अर्थव्यवस्था का संचालन**—अर्थव्यवस्था के सफल सचालन के लिये नियन्त्रण और नियमन की पर्याप्त व्यवस्था की गई है जैसे औद्योगिक लाइसेन्स नीति, उपभोक्ता वस्तुओ के मूल्य नियन्त्रण एव राशनिंग नीति, आयात एवं निर्यात नीति, विदेशी विनिमय नियन्त्रण, आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण पर नियन्त्रण, श्रम-नीति आदि।

(5) **विकेन्द्रित एवं सन्तुलित आर्थिक विकास**—अर्थव्यवस्था मे विकेन्द्रित एव सन्तुलित आर्थिक विकास हेतु कृषि एव औद्योगिक विकास, ग्रामीण तथा शहरी विकास, बडे एव छोटे उद्योग, क्षेत्रीय विकास आदि की ओर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

(6) **सार्वजनिक क्षेत्र का निरन्तर विस्तार एवं प्रभुत्व**—अन्तत: भारतीय अर्थव्यवस्था लोकतान्त्रिक समाजवाद के लक्ष्य से प्रेरित है अत: निरन्तर सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया जा रहा है ताकि यह प्रभुसत्ता सम्पन्न स्थिति म पहुच जाय। व्यापार, उद्योग, वितरण आदि सभी क्षेत्रो मे सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किये जाने की प्रवृत्ति प्रबल है। राष्ट्रीयकरण मे भी हिचकिचाहट नही है। 20 बडे बैंको तथा तेल कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण उसी की कडियां हैं।

(7) **संयुक्त क्षेत्र का विकास**—अर्थव्यवस्था म सार्वजनिक क्षेत्र के साधनो व निजी क्षेत्र की प्रबन्ध क्षमता का समुचित उपयोग करने के लिये दोनो क्षेत्रो के सम्मिश्रण से सयुक्त क्षेत्र (Joint Sector) का विकास किया जा रहा है जिससे सयुक्त क्षेत्र के उद्योगो को सार्वजनिक साधनो और निजी क्षेत्र प्रबन्ध व्यवस्था का समन्वित लाभ मिलेगा।

(3) कृषि विकास—जहा 1950–51 मे कृषि विकास 05% की दर वार्षिक थी वह अब बढकर लगभग 5% है। खाद्यान्न का उत्पादन भी 1978–79 मे 13 1 करोड टन था जबकि 1979–80 मे खाद्यान्नो का उत्पादन 11 6 करोड टन ही होने का अनुमान है। जबकि 1950–51 मे खाद्यान्न का उत्पादन 5 4 करोड टन था। हरित क्राति के कारण कृषि उत्पादन का सूचकाक (1949 = 100) अब 210 होने का अनुमान है। जहा 1950–51 में केवल 208 लाख हैक्टर क्षेत्र में सिंचाई होती थी अब लगभग 550 लाख हैक्टर मे सिंचाई होती है।

(4) उद्योग एव खनिज विभाग—भारत सरकार की औद्योगिक नीति व आधारभूत उद्योगो के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता के कारण भारत म औद्योगीकरण का सुदृढ आधार तैयार हो गया है। जहा 1950–51 म औद्योगिक विकास की दर 2 5% थी वह 1976–77 मे 10 4% पहुच गई। आधारभूत उद्योगो मे सार्वजनिक क्षेत्र के रूरकेला, भिलाई, दुर्गापुर एव बोकारो के इस्पात कारखाने, बगलौर, पिंजौर तथा रांची के मशीन टूल्स कारखाने, चितरजन एव वाराणसी मे रेल इजन के कारखाने, हिन्दुस्तान उर्वरक निगम के अन्तर्गत सात कारखाने, भोपाल हैवी इलैक्ट्रिकल्स, जिंक स्मेल्टर, तांबा शोधक कारखाना आदि उल्लेखनीय हैं। खनिज उत्पादन का मूल्य 1950–51 के 89 करोड रु से बढकर अब लगभग 800 करोड रु होने का अनुमान है। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमो की सख्या 5 से बढकर 160 तथा उनमे लगी पूजी 29 करोड रु से बढकर 14000 करोड रु से अधिक है।

(5) परिवाहन एव सचार—सार्वजनिक क्षेत्र म परिवहन एव सचार विकास पर लगभग 2000 करोड रु व्यय हो चुका है। 1950–51 के मुकाबले अब रेलो की लम्बाई 54 हजार किलोमीटर से बढकर 61 हजार किलोमीटर है। सतहदार सडकें 1 6 लाख किलोमीटर से बढकर 5 8 लाख किलोमीटर हैं। जहाजरानी क्षमता 3 9 लाख जी आर टी. से बढकर 55 लाख GRT हुई है। भारत से 35 राष्ट्रों का वायुयान जाते हैं। डाक, तार, एव सचार व्यवस्था भी काफी सुधरी है।

(6) सामाजिक एव स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार—भारतीय नियोजित अर्थव्यवस्था की सफलता इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य सेवाओ, आवास व्यवस्था, पिछडी जाति उत्थान, पेयजल आदि कार्यक्रमो पर काफी व्यय करके सुविधाओं का विस्तार किया गया है। साक्षरता 1950–51 के मुकाबले 16 5% से बढकर 1971 म 29 4% हो गई है। औसत आयु 32 वर्ष से बढकर 52 हो गई है अब देश म लगभग 100 मेडिकल कालेज हैं, लोगो के जीवन स्तर म बहुत सुधार हुआ है।

(7) रोजगार वृद्धि—मानव शक्ति नियोजन पर पर्याप्त ध्यान न दिया जाने से यद्यपि बेकारी बढी है फिर भी पिछले 28–29 वर्षों म देश म लगभग 6 5 करोड अतिरिक्त रोजगार उपलब्ध किए गए। छठी योजना म लगभग 5 करोड अतिरिक्त रोजगार प्रदान करने का लक्ष्य है।

भारतीय नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था की विफलतायें
(Failures of Indian Planned Mixed Economy)

जहा एक ओर भारतीय अर्थव्यवस्था में तीव्र आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ है वहा दूसरी ओर जन सहयोग के अभाव, प्रशासनिक अकुशलता तथा गलत प्राथमिकताओ के कारण देश म बेकारी, गरीबी, आर्थिक असमानता, मुद्रा-स्फीति एव तस्करी व मुनाफाखोरी को बढावा मिला है।

(1) लक्ष्यों व उपलब्धियों की गहरी खाई—देश मे योजनाओ के लक्ष्यो व उपलब्धियो के अन्तराल से जन साधारण मे अविश्वास फैला है। 28–29 वर्षों के योजनाबद्ध विकास के बाद भी देश मे 50 से 60% जनसख्या गरीबी रेखा के नीचे है। औसत भारतीय का जीवन स्तर काफी नीचा है।

(2) बेकारी एव अर्द्ध बेकारी की बढती समस्या—भारत मे बेकारी की समस्या निरन्तर जटिल होती जा रही है। जहा 1950-51 मे बेकारो की सख्या 40 लाख थी वहां अब बेकारो की सख्या 3 5 से 4 5 करोड होने का अनुमान है। छठी योजना म 5 करोड लोगो को रोजगार दिये जाने पर भी बेकारी बनी रहेगी।

(3) भीषण मुद्रा स्फीति और आर्थिक सकट—भारतीय मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढीले एव अकुशल सचालन के कारण समय-समय पर भीषण मुद्रा स्फीति का सकट आया है। 1974–75 मे देश के मूल्यो मे 23% वृद्धि चौका देने वाली थी इससे जन जीवन अस्त व्यस्त हुआ। देश मे मुद्रा स्फीति के कारण मुनाफाखोरी, कालाबाजारी, हडतालें, तोड-फोड आदि को बढ़ावा मिला। पिछले एक वर्ष मे 20% की मुद्रा स्फीति भी भयावह है।

(4) आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण तथा आर्थिक असमानता मे वृद्धि–मिश्रित अर्थव्यवस्था के कारण भारत मे धनवान अधिक धनवान एव गरीब अधिक गरीब हुए हैं। दोषपूर्ण आर्थिक एव वित्तीय नीतियो के कारण बडे-बडे उद्योगपतियो एव व्यापार गृहो के हाथों में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण हुआ है। डा. के एन राज के शब्दों मे "आज आय व धन की असमानताएं नियोजित विकास के प्रारम्भ की तुलना मे अधिक हुई हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था के तत्व हमे समाजवाद की अपेक्षा पूंजीवाद के ही अधिक समीप लाये हैं।

(5) आत्म निर्भरता एव समाजवाद कोरी कल्पना बन कर रह गये हैं—खाद्यान्न तक के लिये आयातों पर निर्भर हैं। प्रति वर्ष बडी मात्रा म पैट्रोलियम, लोह इस्पात एव मशीनरी का आयात करना पडता है। कार्यशील जनसख्या का लगभग 30% बेकारी का शिकार है। गरीबी का साम्राज्य व्याप्त है। देश की लगभग 30 करोड़ जनता गरीबी रेखा के नीचे जीवन बिता रही है आर्थिक विषमताए बढी है। यह कैसा समाजवाद है कुछ समझ मे नहीं आता।

सरकार के समक्ष चुनौतियाँ (Challenges)

भारत की नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था की विफलताओं ने सरकार के सामने कई चुनौतियां रखी हैं जिसका समता करने के लिए व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाना है, आर्थिक नीतियों मे क्रांतिकारी परिवर्तन कर उनको कारगर ढग से क्रियान्वित करना है। मुख्य चुनौतियां हैं–बेकारी की समस्या का समापन, दरिद्रता व गरीबी का समापन, तीव्र आर्थिक विकास, अर्थव्यवस्था मे आत्म निर्भरता, आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण पर रोक तथा आर्थिक समानता के साथ राष्ट्रीय आय एव प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि। इसी परिप्रेक्ष्य मे सरकार की आर्थिक नीति म कृषि एव ग्रामीण क्षेत्र मे विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जायेगी। अगले दस वर्षों मे बेकारी के समापन का प्रयास किया जायगा। इसके लिए लघु एव कुटीर उद्योगो के विकास पर विशेष ध्यान दिया जायगा। बड़े उद्योगो का उत्पादन व क्षेत्र नियन्त्रित किया जायगा। अधिक प्रगतिशील करारोपण मे आर्थिक असमानता को दूर किया जायगा। मूल्यो पर नियन्त्रण के लिए अनिवार्य वस्तुओं के वितरण मे सुधार लाया जायगा तथा उपयुक्त मौद्रिक एवं राजकोषीय नीति अपनाई जायगी।

भारत की पचवर्षीय योजना में मिश्रित अर्थव्यवस्था के आदर्श को व्यावहारिक रूप दिया गया है। देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को तीन वर्गों–(1) राजकीय क्षेत्र, (2) राजकीय सह निजी क्षेत्र तथा, (3) निजी क्षेत्र मे बाँटा गया है। यह विभाजन न तो बिल्कुल पूर्ण और न कोई स्पष्ट विभाजन रेखा ही है वरन प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि मे किया गया है। योजना आयोग के शब्दो मे '**निर्योजित अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक एव निजी क्षेत्र का अन्तर सापेक्षिक महत्व का है। वास्तव मे दोनों क्षेत्र एक ही शरीर के दो अविभाज्य अग हैं और उन्हें उसी के अनुसार कार्य करना है।**"

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था ठीक प्रकार से कार्य कर रही है पर राजनैतिक भ्रष्टाचार, प्रशासनिक अकुशलता एव भ्रष्टता, सरकारी नीतियो के क्रियान्वयन मे अवांछित ढिलाई तथा देश म जन सहयोग के अभाव म मिश्रित अर्थव्यवस्था का पर्याप्त लाभ नही मिल पा रहा है। मिश्रित अर्थव्यवस्था के बावजूद भी देश मे बेकारी और भुखमरी बढ़ी है। बढ़ते मूल्यो पर सरकार नियत्रण करने मे अशत समर्थ रही है। एकाधिकारी प्रवृत्तियो और मुनाफाखोरी से आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण हुआ है। आर्थिक विषमता बढ़ी है।

सरकार गरीबी को कम करने, अगले वर्षों मे बेकारी समाप्त करने व आत्मनिर्भरता के लिए दृढ़ सकल्प है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

1. मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा तक पूँजीवाद एव समाजवाद मे एक अच्छा तालमेल है ? (Delhi–1974)

(संकेत—प्रथम भाग में मिश्रित अर्थव्यवस्था का अभिप्राय स्पष्ट करना है तथा द्वितीय भाग में बताना है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था में दोनों की प्रमुख विशेषताएँ हैं और दोनों के अच्छे गुणों को मिलाया है जबकि दोनों के दोषों का दूर करने का प्रयास है।)

2 टिप्पणी लिखिये—
(i) मिश्रित अर्थव्यवस्था (1974, पूरक परीक्षा 1973, 1976)
(ii) पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था
(iii) नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था (1977)

(संकेत—(i) मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ विशेषताएँ एवं सक्षेप में गुण दोष बताना है। (ii) पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था (Capitalist Mixed Economy) ढीली-ढाली मिश्रित अर्थव्यवस्था का वह रूप है जिसमे पूँजीवाद के अनेक गुण विद्यमान हैं। उसकी विशेषताएं बताना है तथा गुण-दोष देने हैं। (सक्षेप में)। (iii) नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था (Planned Socialistic Mixed Economy) का स्पष्टीकरण शीर्षक के अनुसार करना है फिर सक्षेप में इसके गुण दोष बताने हैं।)

3. मिश्रित अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? इसकी बढ़ती लोकप्रियता के कारण दीजिये।

(संकेत—मिश्रित अर्थव्यवस्था का अभिप्राय देकर दूसरे भाग में उसकी विशेषताएँ देनी हैं। तीसरे भाग में उसकी बढ़ती लोकप्रियता के कारण लिखना है।)

4 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की कार्य विधि समझाइये तथा उसकी सफलताओं एवं विफलताओं का विवेचन कीजिये।

(संकेत—भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था शीर्षक के अन्तर्गत दी गई विषय सामग्री देकर नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था की भारत में सफलताओं और असफलताओं का विवरण देना है।)

5 पूँजीवाद प्रधान मिश्रित अर्थव्यवस्था के गुण-दोषों का विवेचन कीजिये।
(Raj I yr. T D C 1980)

(संकेत—पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था का अर्थ बताकर मिश्रित अर्थव्यवस्था के गुण-दोष देने हैं।)